मैं और मेरा भाषा-चिन्तन

डा. अम्बाप्रसाद 'सुमन'

卐 सरस्वती-समर्चना का ३० वाँ सुमन

मैं और मेरा भाषा-चिन्तन

लेखक

साहित्यवाचस्पति डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'
डी० लिट्०

संपादक

डा० कमल सिंह
पी-एच० डी०

डा० (श्रीमती) शारदा शर्मा,
डी० लिट्०

प्रकाशक

वासन्ती प्रकाशन, ए ८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड, सहारनपुर (उ०प्र०)

प्रकाशक : वासन्ती प्रकाशन,
ए–८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड, सहारनपुर–२४७००१ (उ०प्र०)
वितरक : कुसुम प्रकाशन,
नवेन्दु सदन, आदर्श कालोनी, मुजफ्फरनगर–२५१००१ (उ० प्र०)
लेखक : डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' (सर्वाधिकार)
संस्करण : प्रथम, सन् १९९४ ई०
मूल्य : ३८०.०० (तीन सौ अस्सी रुपये मात्र)
आवरण : प्रो० सुबोध मिश्र
मुद्रक : मलिक प्रिण्टर्स,
१५५–संजय मार्ग, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर–२५१००१

MAIN AUR MERA BHASHA CHINTAN
by.
Dr. AMBA PRASAD SUMAN.

卐 सरस्वती-समर्चना का ३० वाँ सुमन

卐 श्रद्धामय समर्पण 卐

ममतामयी दादी माँ, पूज्य गुरुवर पं० गोकुलचन्द्र जी शर्मा, पूज्य गुरुवर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल एवं गुरुकल्प पूज्य आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी की पुण्य स्मृति में, तथा 'भारतभारती' से सम्मानित, पद्मभूषण अग्रजकल्प समादरणीय डा० नगेन्द्र जी एवं अन्य सब इष्ट-मित्रों को कृतज्ञतापूर्वक।

परितोष :
ए-८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड,
सहारनपुर-२४७००१ (उ०प्र०)
दूरभाष-२५०३२

विनीत :
अम्बाप्रसाद 'सुमन'
(जन्म-२१ मार्च, १९१६ ई०)

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

मेरा भाषा–चिन्तन और मेरी मान्यताएँ १४१–४३९

० सम्पादकीय

हिन्दी–साहित्य–सर्जन, साहित्यालोचन एवं भाषा–चिन्तन के क्षेत्र में मौलिक चिन्तक डा० अम्बाप्रसाद जी 'सुमन' की यह तीसवीं कृति उनकी मेधा और तपस्या का परिणाम है। "मैं और मेरा भाषा–चिन्तन" नाम की इस पुस्तक के दो खण्ड हैं—१. मेरी जीवन–यात्रा, २. मेरा भाषा–चिन्तन और मेरी मान्यताएँ। प्रथम खण्ड आत्मकथात्मक है तथा दूसरा साहित्य–भाषा–विवेचनात्मक। भाषा–विवेचन सुमन जी के जीवन का पर्याय है। यही कारण है कि आपके आत्मकथात्मक खण्ड में भाषा–विवेचन के सूत्र अनुस्यूत हैं और साहित्य–भाषा–विवेचन के सूत्रों में आपके संघर्षमयी जीवन की झाँकियाँ निहित हैं। 'पुरोवाक्' में वे लिखते हैं, "वास्तव में यह पुस्तक हिन्दी–शब्द–जगत् की ऐसी कहानी है, जो एक व्यक्ति के जीवन की शिला पर लिखी गयी है।" (पृष्ठ २)

प्रथम खण्ड में सुमन जी ने लोकद्रष्टा और लोकस्रष्टा साहित्यकार की भाँति अपने जीवन की मार्मिक घटनाओं का वर्णन आकर्षक एवं मर्मस्पर्शी शैली में किया है।

हिन्दी–साहित्य में अब तक जितनी आत्मकथाएँ मिलती हैं, उनसे सुमन जी की आत्मकथा विषय–प्रतिपादन–शैली में थोड़ी भिन्न है। सुमन जी ने आत्मकथा नितान्त वर्णनात्मक नहीं लिखी। संस्कृति, साहित्य और भाषा के पण्डित होने के कारण वे आत्मकथात्मक तत्त्वों एवं सूत्रों की व्याख्या भी साथ–साथ करते चलते हैं। जैसे, जब वे लिखते हैं कि मेरे प्रपितामह पं० गंगाराम गौड़ 'भागवती' भारद्वाज गोत्रीय गौड़ ब्राह्मण थे और उनकी शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिता शाखा थी तो रुकर यजुर्वेद की शाखा और संहिताओं पर विचार करने लगते हैं, "यजुर्वेद की दो संहिताएँ प्रसिद्ध हैं—(१) कृष्ण–यजुर्वेदीय संहिता, जिससे याज्ञवल्क्य वंचित कर दिये गये थे। (२) शुक्ल–यजुर्वेदीय संहिता। शुक्ल यजुर्वेद की तीन संहिताएँ प्राप्त हैं—(१) वाजसनेयि संहिता (२) काण्व संहिता (३) माध्यन्दिन संहिता।" (पृष्ठ६) इतना ही नहीं विवेचन इससे आगे भी चला है।

सुमन जी की दादी उनके दो छोटे भाइयों से कहा करती थीं–"बजमारे औ!

तुम तौ बघर्रा हौ। केहरी तौ मेरौ अम्बरिया है।" सुमन जी इतना कहकर ही आगे की घटना पर नहीं बढ़ते। यहाँ से उनकी प्रतिभा का स्रोत फूटता है, "शक्ति में शार्दूल सिंह से छोटा या हेठा माना गया है। इसका प्रमाण महाभारत (संपा० सातवलेकर) के स्त्रीपर्व (अ० १७/१७) में मिल जाता है। उस श्लोक में कहा गया है कि 'भीमरूपी सिंह ने शार्दूल रूपी दुर्योधन को मार दिया था।' सिंह और व्याघ्र अलग-अलग हिंसक पशु हैं। महाभारत (संपा० सातवलेकर) के शान्तिपर्व (अ० २९२/१२) में एक ही श्लोक में दो प्रकार के चमड़े बताये गये हैं--(१) सिंह-चर्म (२) व्याघ्र-चर्म। शेर की मुख्य जातियाँ चार हैं—(१) सिंह या केसरी, जिसकी गर्दन पर बड़े-बड़े अयाल होते हैं। यह सबसे अधिक शक्तिमान् माना जाता है। (२) शार्दूल या व्याघ्र। इसे बाघ भी कहते हैं। (३) द्वीपी अर्थात् चीता। (४) तेंदुआ या बघर्रा। बघर्रा कुछ-कुछ भेड़िया जैसा होता है। बघर्रा सबमें घटिया माना जाता है।" (पृष्ठ १३, १४)

इसी प्रकार अपनी अवस्था की बात करते-करते सुमन जी मनुष्य-जीवन का समय-विभाजन करने लगते हैं, जैसे-(१) शैशव (२) पौगण्ड (३) कैशोर (४) यौवन (५) प्रौढ़ि (६) वृद्धत्व।

यथास्थान सुमन जी आत्मकथा में मार्मिक प्रसंगों का उद्‌घाटन करके भावुक स्तर पर पहुँच जाते हैं। अपनी दादी के कर्मठ संघर्षमयी जीवन की कहानी कहते-कहते वे लिखते हैं—"दादी की वेश-भूषा दूर से ही बता देती थी कि किसी कुलीन वृद्धा के भाग्य में दुर्दैव ने लात मार दी है, अन्यथा यह शरीर विधाता ने मिट्टी ढोने के लिए नहीं बनाया था। इस समय दादी का यह शब्द-चित्र अंकित करते-करते मेरा दिल भारी हो गया है और आँखों से आँसू निकल पड़े हैं। मैं कभी दादी के ऋण से उऋण न हो सकूँगा। उसकी ममता के सागर को मैं कभी नाप न सका। हम सदा हँसते रहे, इसलिए दादी कभी हमारे सामने रोयी नहीं।" (पृष्ठ १३)

इस स्थल पर सहृदय पाठक भी भावुक हुए बिना नहीं रहेगा।

सुमन जी अपने पारिवारिक जीवन में सबसे अधिक अपनी ममतामयी दादी से और साहित्यिक जीवन में अपने श्रद्धेय गुरुवर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल से प्रभावित हैं। प्रथम खण्ड के मर्म को हम सुमन जी के निम्न दो वाक्यों में देख सकते हैं, "मैंने दीन-दुःखी-दरिद्रों में नारायण की झलक देखी है। किसी दुःखी की आँखों के आँसू पोंछने में मुझे प्रभु-पूजा के भाव की अनुभूति हुई है।" (पृष्ठ ६)

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में तथा यत्र-तत्र प्रथम खण्ड में भी, लेखक ने शब्द-शास्त्र का इतना व्यापक अध्ययन किया है कि उसके अन्तर्गत व्युत्पत्तिशास्त्र, निरुक्त-शास्त्र, व्याकरण, काव्यशास्त्र, अर्थविज्ञान और शब्द-संस्कृति सभी कुछ समाहित हो गया है।

ध्वनिविज्ञान और अर्थविज्ञान के आधार पर किसी भाषा के शब्दों की

उत्पत्ति, विकास या इतिहास का अध्ययन व्युत्पतिशास्त्र कहलाता है। सुमन जी का कहना है कि साहित्य के गंभीर पाठक की जिज्ञासा को शान्त करके व्युत्पत्ति उसे एक अपूर्व आनन्द प्रदान करती है। व्युत्पत्ति के अध्ययन के समय मूल शब्द का पता लगाने के लिए अनेक भाषाओं का ज्ञान तो आवश्यक है ही, साथ ही साथ इतिहास, सभ्यता और संस्कृति की जानकारी भी परमावश्यक है। वे लिखते हैं "पाठक ज्ञाता, भाषा–बोध ज्ञान, साहित्य ज्ञेय और आनन्द ज्ञप्ति है। यदि पाठक को भाषा–बोध नहीं है, तो वह साहित्य का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता।" (पृष्ठ १४२)

हिन्दी के 'व्युत्पत्तिशास्त्र' को ही प्राचीनकाल में 'निरुक्त' कहते थे। आज भी साधारणतया 'व्युत्पत्तिशास्त्र' और 'निरुक्तशास्त्र' समानार्थी हैं किन्तु गहरे में उतरकर देखा जाए तो दोनों में अन्तर है। किसी वाक्य में पदों के विषय में उनके प्रकार, वचन, लिंग, कारक, काल या अन्य पदों के साथ उनका संबंध आदि का वर्णन शब्द–निरुक्ति (पद–निरुक्ति) कही जाती है। यह पदव्याख्या या पदान्वय के निकट है। जबकि व्युत्पत्तिशास्त्र ध्वनिविज्ञान, शब्दविज्ञान और अर्थविज्ञान का सम्मिलित अध्ययन है। निरुक्तशास्त्र का सम्बन्ध व्याकरण से अधिक है और व्यु–त्पत्तिशास्त्र का सम्बन्ध भाषाविज्ञान से अधिक है। निघण्टु के शब्दों की व्याख्या और व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए बहुत से निरुक्त ग्रंथों की रचना हुई थी, जिनमें यास्क का निरुक्त सबसे प्रसिद्ध है। निरुक्तशास्त्र में व्युत्पत्तिशास्त्र समाहित है, व्युत्पत्तिशास्त्र में निरुक्त नहीं। किसी पद या वाक्य की ऐसी व्याख्या, जिसमें व्युत्पत्ति आदि का पूरा कथन हो, निरुक्ति कही जाएगी। निरुक्त और व्याकरण में भेद है। 'निरुक्त' शब्द के निर्माण पर और 'व्याकरण' शब्द के रूप पर विचार करता है। मुख्यतः 'निरुक्त' के क्षेत्र में 'शब्द' आता है और व्याकरण के क्षेत्र में 'पद' आता है। निरुक्तशास्त्र कहता है कि 'राजन्' शब्द का निर्माण √रञ्ज + कनिन् से हुआ है। √रञ्ज धातु का अर्थ 'प्रसन्न रखना' है। जो प्रजा को प्रसन्न रखता है, वह 'राजा' कहलाने का अधिकारी है। व्याकरण कहता है कि 'राजन्' प्रातिपदिक प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'राजा' हो जाता है। व्याकरण यह भी बताता है कि तत्पुरुष समास के उत्तर पद में 'राजन्' का 'राजः' रूप हो जाता है, जैसे 'पंडितराजः', 'देवराजः' आदि। निरुक्तशास्त्र के क्षेत्र में शब्द का विकास भी आता है। वास्तव में 'निरुक्ति' शब्द के अर्थ–दर्शन के लिए पर्दा उठा देती है। (देखिए पृष्ठ १६८)

किसी भाषा को विश्लेषित करके उसके स्वरूप को स्पष्ट करना तथा उसे शुद्ध बोलने, लिखने और समझने का ढँग सिखलाना व्याकरण का काम है। वस्तुतः व्याकरण शब्दों को नहीं बनाता, अपितु शब्दों में व्याकरण प्रवेश करता है। शब्द के निर्माण में प्रकृति–प्रत्यय का संविधान वैयाकरणों के मस्तिष्क का बाद में बुद्धि–संगत व्यायाम है, जो भाषा को एकरूपता एवं सर्वमान्य व्यवस्था प्रदान करता है।

"भारतीय व्याकरणशास्त्र अपने में अर्थविज्ञान को भी समाविष्ट करके चला है। 'अच्छा' को केवल विशेषण लिखकर छोड़ देना ठीक नहीं। हिन्दी भाषा में 'अच्छा' के और भी प्रयोगों पर विचार करके उसकी व्याकरणिक कोटियों का उल्लेख हिन्दी-कोशों में किया जाना चाहिए।" (पृष्ठ १२३)

व्याकरणशास्त्र शब्द के प्रकृति-प्रत्यय के अध्ययन के साथ उस शब्द के अन्तस् में जो वस्तु है, उसका संकेत कर देता है, लेकिन अर्थविज्ञान उस वस्तु से जो गुण तथा भाव लिपटा रहता है, उसका दर्शन भी कराता है। शब्द का अध्ययन व्याकरण भी करता है और अर्थविज्ञान भी किन्तु व्याकरण शब्द के भूतकालीन अर्थ पर ही विचार करता है, जबकि अर्थविज्ञान भूत, वर्तमान और भविष्य के अर्थ पर भी विचार करता है। व्याकरण केवल साधु शब्दों का अध्ययन है लेकिन अर्थविज्ञान साधु-असाधु सभी प्रकार के शब्दों के अध्ययन को अपना क्षेत्र मानता है। शब्द का अध्ययन व्याकरण करता है, तो शब्दसमन्वित अर्थ का अध्ययन अर्थविज्ञान करता है। अर्थविज्ञान अर्थ की क्षितिज-रेखा को अच्छी तरह देखता है और आगे बढ़ाता है। अर्थ मन है, मन का मनन है। सुमन जी लिखते हैं, "शब्द के अर्थबोध के लिए मानव-बुद्धि को कुछ सोपानों पर भी चढ़ना पड़ता है। एक शब्द है 'ज्योति' और दूसरा है 'ज्वाला'। एक शब्द है 'दीपक की टिमटिमाहट' और दूसरा है 'दीपक का प्रकाश'। 'ज्वाला' के अर्थ-बोध के लिए 'ज्योति' के सोपान से ऊपर चढ़ना होगा। 'प्रकाश' के अर्थ-बोध के लिए 'टिमटिमाहट' के सोपान से ऊपर जाना होगा।" (पृष्ठ १२६)

भाषा के निर्माण-पक्ष एवं संरचना-पक्ष का अध्ययन 'भाषाशास्त्र' करता है और उसके अलंकरण-पक्ष (कलापक्ष) को 'काव्यशास्त्र' प्रस्तुत करता है। 'काव्य-शास्त्र' भावबोध और अर्थबोध कराता है। 'भावबोध' 'अर्थबोध' की अपेक्षा सुगम है। सुमन जी का मत है कि "प्रत्येक पाठक अवस्था के प्रत्येक काल-खण्ड में अर्थ की अनुभूति नहीं कर सकता। कुछ कविताएँ ऐसी होती हैं कि उनकी 'अनुभूति' एक विशेष अवस्था हो जाने पर ही हो सकती है।

'माली आवत देखकर कलियाँ करीं पुकार।
फूले फूले चुन लिये कालि हमारी बार ॥'

उपर्युक्त दोहे का भाव है 'मृत्यु की निकटता'। इस दोहे का अर्थ समझना कठिन है। कलियाँ कौन हैं ? माली कौन है ? फूले-फूले जो चुने जा चुके हैं, वे कौन हैं ? 'कल' से क्या तात्पर्य है ? दोहे के द्वारा कवि क्या संदेश देना चाहता है ? इसमें प्रस्तुत प्रधान है या अप्रस्तुत ? काव्यशास्त्र की दृष्टि से इस कथन को 'समासोक्ति' कहेंगे या 'अन्योक्ति' ? इन सारी बातों की जानकारी 'अर्थबोध' कहा जाएगा।" (पृष्ठ ३३४)

शब्द के पीछे जो अर्थ, भाव, संकेत, विचार, बिम्ब आदि रहते हैं, उन सबके सम्मिलित रूप का नाम है-- 'शब्द-संस्कृति' । शब्द और संस्कृति में से शब्द की महत्ता अधिक है । कथ्य या भाव की अपेक्षा कथन या भाषा ही अधिक महत्त्व-पूर्ण है । शब्द की संस्कृति का अध्ययन स्रष्टा साहित्यकार और प्रबुद्ध पाठक के मानस का अध्ययन है ।

सुमन जी ने इस ग्रन्थ में सबसे अधिक विवेचन शब्दों की अर्थभेदक रेखाओं का किया है, जैसे, हिन्दी में 'अच्छा' से मिलते-जुलते शब्द हैं, भला, बढ़िया, सुन्दर नेक, मलूक, सोहना किन्तु ये सभी शब्द अपना-अपना अलग अर्थ रखते हैं । कुछ, ध्वनियों की दृष्टि से एक-से लगते हैं किन्तु अर्थ अलग-अलग हैं, जैसे, सं० पाक= पकाने की क्रिया या पका हुआ । फा० पाक=शुद्ध, पवित्र । सं० कोट=गढ़, किला । अं० कोट=एक प्रकार का सिला हुआ पहनावा । ईर्ष्या, स्पर्द्धा और स्पृहा शब्दों के अर्थ में अन्तर है । अभिलाषा, अभीप्सा, इच्छा और वांछा अर्थ की दृष्टि से हल्के और भारी हैं । तमी, यामिनी, विभावरी और राका शब्दों की अर्थच्छवियाँ अलग-अलग हैं । सुन्दरता और रमणीयता एक बात नहीं है । महिमा, महत्ता और महा-नता शब्द भी व्याकरण और अर्थविज्ञान की दृष्टि से विचारणीय हैं । प्रज्ञा, धी, धृति और स्मृति के अर्थों में अन्तर है ।

ऐसे लगभग एक हजार शब्दों का विवेचन सुमन जी ने इस ग्रन्थ में किया है । वे शब्दों की अर्थ-भेदक रेखाओं में बहुत गहरे उतर गये हैं । हम आशा करते हैं कि भविष्य में यथाशीघ्र सुमन जी हिन्दी-जगत् को एक ऐसा शब्द--कोश देंगे, जिसमें शब्दार्थों की भेदक रेखाएँ विवेचित होंगी ।

इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता है सुमन जी का अनुभूत ज्ञान । अपने व्यष्टिगत ज्ञान को समष्टिगत ज्ञान के शिखर पर पहुँचा देना इससे भी बड़ी विशे-षता है । अध्ययन की गहराई का अनुमान लगाइए, " 'जसोदा बार-बार यों भाखै' के 'बार-बार' पर भी मैं घंटों विचारता रहा हूँ । 'बरु, ये बदरा ऊ बरसन आये' के 'ऊ' की गूँजती हुई व्यंजना तो मेरे मन को इतनी दूर तक खींच ले गयी है कि वहाँ पहुँचकर वह मन ब्रज की उन वियोगिनी गोपियों की वेदना के सागर में ही डूब गया है ।" (पृष्ठ ११६)

इन सबके अतिरिक्त ग्रन्थ में भाषा, साहित्य, संस्कृति, व्याकरण, राष्ट्र, राष्ट्रीयता, लोक और परलोक आदि विषयों से संबंधित न जाने कितनी विवेचना भरी पड़ी है । पाठक पढ़ेंगे, तो स्वयं देखेंगे । अपने राष्ट्र और राष्ट्रभाषा में सुमन जी को अगाध आस्था है । इस ग्रंथ में वे शब्द से अर्थ, अर्थ से भाषा, भाषा से संस्कृति, संस्कृति से साहित्य और साहित्य से विराट् जीवन की व्याख्या तक पहुँचे हैं ।

ऐसे साहित्य-सेवी, ऐसे राष्ट्र-सेवी और ऐसे राष्ट्रभाषा-सेवी परमादरणीय

डा० अम्बाप्रसाद जी 'सुमन' को हम नमन करते हैं और साथ ही हिन्दी–भाषा तथा साहित्य के प्रेमियों, जिज्ञासुओं और सुधी साहित्यकारों से आशा करते हैं कि वे इस ग्रन्थ के पारायण से शब्द–संधान के आलोक को प्राप्त कर अपनी बुद्धि के अन्तर्लोक को आलोकित कर साहित्य के मर्म को समझने में अवश्य ही सफल हो सकेंगे ।

कमल सिंह
हिन्दी–विभाग
सनातन धर्म महाविद्यालय,
मुजफ्फरनगर–२५१००१

शारदा शर्मा
अध्यक्ष, हिन्दी–विभाग
मुन्नालाल कन्या महाविद्यालय
सहारनपुर–२४७००१



डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'
[जन्म २१ मार्च, १९१६ ई०]

०. पुरोवाक्

किसी भाषा के वाङ्मय की समग्र सामग्री, जो लिखित अवस्था में होती है, 'साहित्य' कहलाती है। अतः साहित्य का अस्तित्व भाषा में ही अन्तर्निहित है। इसलिए 'भाषाचिन्तन' से तात्पर्य 'साहित्य–भाषा–चिन्तन' समझना चाहिए। सूर्य और सूर्य के प्रकाश को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता। लहर को जल से पृथक् नहीं देख सकते।

भाषा का चिन्तन लोक और साहित्य को अलग करके नहीं हो सकता। अतः मेरे 'भाषाचिन्तन' में लोक और साहित्य का चिन्तन भी समाविष्ट है।

'मैं और मेरा भाषा–चिन्तन' पुस्तक में मेरी आत्मकथा के सूत्रों में मेरे 'भाषा–चिन्तन' के सूत्र और मेरे भाषा–चिन्तन के सूत्रों में मेरी 'आत्मकथा' के सूत्र अनुस्यूत हैं।

'महाभारत के नारी–पात्र' पुस्तक के उपरान्त लिखी गयी यह मेरी तीसवीं पुस्तक है। **'मैं'** से तात्पर्य है 'मेरी आत्मकथा' और **'भाषाचिन्तन'** से तात्पर्य है 'हिन्दी–साहित्य और हिन्दी–भाषा का रूप–स्वरूप एवं विवेचन–विश्लेषण'। इस तरह इस पुस्तक में एक प्रकार से मेरी जीवन–यात्रा के समानान्तर मेरे भाषा–चिन्तन की यात्रा निदर्शित है। हिन्दी–भाषा तथा हिन्दी–साहित्य के विकास को जीवन के काल–मार्ग पर पद–न्यास करते हुए मेरी आँखों ने जैसा देखा है, उसकी कुछ झाँकी भी इस पुस्तक में मेरे पाठकों को मिलेगी। यह पुस्तक इस रूप में व्यष्टिमूलक होते हुए भी समष्टि का संकेत देगी—ऐसा मेरा विश्वास है।

साहित्य से सम्बद्ध कुछ प्रश्नों को तथा भाषाविज्ञान और व्याकरण की कुछ गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास भी मेरी लेखनी ने किया है। यह बात अलग है कि विद्वत्समाज मेरी उन मान्यताओं तथा उपस्थापनाओं पर कहाँ तक सहमति–असहमति व्यक्त करता है? विसंवादी स्वर भी स्रष्टा कृतिकार को कभी-कभी अधिक सावधान होने की प्रेरणा प्रदान किया करता है। इसमें हिन्दी–व्याकरण के प्रयोग–निर्देश ही नहीं, उसके तत्त्वदर्शन के बिन्दु भी मिलेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक पाणिनि की अष्टाध्यायी के आधार पर भारत के भौगोलिक तथा सांस्कृतिक मानचित्र पर भी कुछ प्रकाश डालती है, जिससे कुछ पाश्चात्य—विद्वानों की भाषाविषयक मान्यताओं का कुछ खंडन हो जाता है।

कुछ साहित्यसेवी यह मानते हैं कि व्याकरण और भाषाविज्ञान काव्यास्वाद में व्याघात उत्पन्न करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक इस मान्यता का खंडन करती है और सप्रमाण यह सिद्ध करती है कि **'शब्दशास्त्र'** साहित्य के मर्म को गहराई से समझने में सहायक है और वह विवेकसम्मत काव्यास्वाद का आनन्द प्रदान करता है।

पर्याय शब्दों की अर्थ–भेदक रेखाओं का अंकन भी पाठकों को इस पुस्तक में मिलेगा। हिन्दी राजभाषा, राज्य भाषा, राष्ट्र भाषा और सम्पर्क भाषा के स्तर पर अपना क्या स्वरूप रखती है और क्या रखना चाहिए—इसका विवेचन भी इस पुस्तक में प्रस्तुत है।

शब्द के अर्थ–बोध में इस पुस्तक के माध्यम से पाठकों को यदि कुछ आनन्द मिला, तो मैं कहूँगा कि यह कृति रसात्मक भी है।

सारांश यह कि इस पुस्तक में मेरे पाठकों को हिन्दी–साहित्य का इतिहास, हिन्दी–भाषाशास्त्र और हिन्दी–काव्यशास्त्र की झाँकी भी मिलेगी।

दिनांक २०-३-१९९१ ई० को मेरी २९वीं पुस्तक **'महाभारत के नारी पात्र'** का लेखन–कार्य पूरा हो गया था। दिनांक २१-३-१९९१ ई० को मैंने अपना 'अमृतोत्सव' मनाया था। उसके दूसरे दिन अर्थात् २२-३-१९९१ ई० को मैंने प्रस्तुत पुस्तक **'मैं और मेरा भाषा–चिन्तन'** का लेखन प्रारम्भ कर दिया था। माता वीणापाणि की अनुकम्पा से यह पूरी हो गयी और अब हिन्दी–जगत् के समक्ष प्रस्तुत है। इसके गुण–दोषों का आकलन तो विद्वज्जन ही करेंगे।

वृद्धावस्था में अतीत की स्मृतियाँ कुछ सुख दे देती हैं; इसलिए भी प्रस्तुत पुस्तक की सृष्टि हुई है। अब तक जिसे मैं न कह सका था, वह भी कुछ इसमें कह दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का केन्द्र–बिन्दु तो एक व्यक्ति है, लेकिन इसका क्षितिज समष्टिगत है।

मैंने प्रस्तुत पुस्तक में व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों को भाषा के व्यापक सन्दर्भों में फैलाकर अपने भाषा–बोध का कुछ परिचय दिया है। वास्तव में यह पुस्तक हिन्दी–शब्द–जगत् की ऐसी कहानी है, जो एक व्यक्ति के जीवन की शिला पर लिखी गयी है।

मानव–जीवन के हित का व्याख्याता शब्द–समुच्चय ही **'साहित्य'** कहलाने का अधिकारी है। वह साहित्य सशक्त शब्दों की ऊर्जा से ऊर्जस्वित होना चाहिए। शब्द की ऊर्जा का बोध ही **'भाषा–बोध'** है।

रूसो न होता, तो फ्रान्स की राज्य–क्रान्ति न होती। गोर्की न होता, तो लेनिन रूस में क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित न कर पाता। ताल्सताय और रस्किन न होते, तो महात्मा गांधी की बुद्धि में अहिंसात्मक आन्दोलन की कल्पना जन्म न लेती। शब्द की शक्ति को परखने के लिए शक्ति वाली आँख भी चाहिए।

साहित्य की शक्ति शब्द की शक्ति है। जिस साहित्यकार को शब्द की

शक्ति की परख है, वही अपने शब्दों से समाज को जगा सकता है। साहित्यकार को साहित्य–ज्ञान से पहले भाषा का ज्ञान होना अनिवार्य है। भाषा–ज्ञान से तात्पर्य है शब्द की शक्ति का ज्ञान।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भाषा–चिन्तन की यात्रा करते समय मेरी लेखनी ने शब्द की संस्कृति को आलोकित किया है। उसी आलोक में पाठकों को शब्द की शक्ति के दर्शन भी होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

'शब्द' की प्रधानता इसमें है कि **'शब्द'** बोला जाता है और **'शब्द'** सुना जाता है। **'अर्थ'** की प्रधानता इसमें है कि 'अर्थ' समझा जाता है। अतः **शब्द** का सम्बन्ध सुनने से और **अर्थ** का सम्बन्ध समझने से है। छठी शताब्दी के आचार्य 'भामह' ने इसीलिए कहा था—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"।

उत्कृष्ट साहित्य अर्थात् काव्य में 'शब्द' और 'अर्थ' की प्रमुखता मानी गयी है। औचित्य सम्प्रदाय के आचार्य 'क्षेमेन्द्र' ने काव्य में शब्द और अर्थ—दोनों—को प्रधानता प्रदान की है। क्षेमेन्द्र ईसा की ११वीं शती के आचार्य हैं। क्षेमेन्द्र शब्द–औचित्य और अर्थ–औचित्य को मानते हैं। इस तरह 'शब्द' और 'अर्थ' को साहित्य में प्रमुख माननेवाले आचार्यों में भामह और क्षेमेन्द्र को आदरणीय तथा सम्माननीय मानना पड़ेगा। मेरा यह प्रस्तुत ग्रन्थ भी 'शब्द' और 'अर्थ'—दोनों—की ही महत्ता स्वीकारता है।

मेरे इस ग्रन्थ में कुछ भाववाचक शब्द ऐसे भी मिलेंगे, जिनका अर्थ मेरे मन ने तो समझ लिया है, लेकिन उनके अर्थ मैं शब्दों द्वारा स्पष्ट नहीं कर पाया हूँ। वाणी मन से सदा छोटी रही है। इसे शतपथ ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषियों ने भी स्वीकार किया था—

"वाग्वै मनसो ह्रसीयसी" —(शतपथ ब्रा० १/४/४/७)
(वाणी मन से छोटी है।)
"मनो वाव वाचो भूयः" —(छान्दोग्य उप० प्रपाठक ७/ खण्ड ३/१)
(मन वाणी से बड़ा है।)

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने लक्ष्यार्थ–व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य को वरीयता प्रदान की है। काव्य–सौन्दर्य की दृष्टि से उसे ही उत्तम माना है; लेकिन इस सन्दर्भ में यह न भूलना चाहिए कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का आधार 'वाच्यार्थ' है। 'वाच्यार्थ' का पूर्ण बोध होने के बाद ही लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की पूर्ण अवगति हो सकती है।

मेरा यह ग्रंथ शब्दों का वाच्यार्थ–बोध कराने में पाठकों का हाथ पकड़ेगा और उन्हें स्नेह से इंगित करेगा, प्रस्तुत शब्दों की अभिधामयी अर्थ–छवियों की सूक्ष्मताओं को पूरी तरह देखने, निहारने और अवलोकन करने के लिए।

इस तरह यह प्रस्तुत कृति शब्दार्थ–बोध के साथ-साथ काव्यार्थबोध के लिए भी सहायक सिद्ध होगी।

जोश मलीहाबादी ने बहुत बढ़िया एक शेर लिखा है, जिसे यहाँ उद्धृत करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है—

"तुझे मालूम है दुनिया में इक ऐसी भी बस्ती है;
जहाँ जीते हुए हर चीज़ जीने को तरसती है।"
—(जोश मलीहाबादी)

मेरा हृदय कहता है कि जोश मलीहाबादी ने इस उपर्युक्त शेर को साहित्य–संसार के सम्बन्ध में ही कहा है। साहित्य–संसार में वह बस्ती कविता की है, शायरी की है, जिसमें प्रत्येक वस्तु जीते हुए भी जीने के लिए तरसती रहती है। शायरी की वह बस्ती भव्य भावों की बस्ती है। भावनाओं की समष्टि का नाम 'भाव' है। भावों की उस बस्ती में रहने वाले व्यक्ति 'कवि' कहलाते हैं, जिनके भाव-लोक के संस्कार परम मधुर एवं परम विचित्र होते हैं। 'कविता' यदि शब्दयज्ञ है, तो 'अर्थ विज्ञान' उस यज्ञ के मंत्रों की व्याख्यात्मक सुषमा है।

ईसा की चौदहवीं शती में तेलुगु भाषा में कविवर बुद्धनाथ ने 'रंगनाथ–रामायण' की रचना की थी। बुद्धनाथ के 'रंगनाथ' को 'श्रीराम' ही समझना चाहिए। उस रामायण में एक गिलहरी–प्रसंग है।

कविवर बुद्धनाथ के श्रीराम बड़े भावुक तथा करुणाकलित संवेदनशील हैं। जब वानरों द्वारा समुद्र–सेतु–बन्धन हो रहा था, तब वहाँ एक गिलहरी भी उस समुद्र में मिट्टी डाल रही थी। श्रीराम ने गिलहरी की निष्ठा, श्रद्धा तथा परिश्रम को देखा और उसे उठाकर उसकी पीठ पर अपना दाहिना हाथ प्रेमपूर्वक ऊपर से नीचे तक फेरते रहे। लोक में प्रसिद्ध है कि "गिलहरी की पीठ पर धारियाँ (रेखाएँ) बनी हुई हैं, वे वास्तव में श्रीराम के हाथ की उँगलियों के चिह्न हैं, जो आज तक बने हुए हैं और भविष्य में भी बने रहेंगे।" श्रीराम ने तो गिलहरी की पीठ पर त्रेतायुग में हाथ फेरा था, लेकिन उस संस्पर्श के चिह्न आज तक बने हुए हैं। श्रीराम भद्र के हाथ के संस्पर्श **'संस्कार'** थे, गिलहरी की पीठ के निशान **'संस्कृति'** हैं। संस्कार–समष्टिजनित मानस–चिह्नों का नाम **'संस्कृति'** है। अर्थात् संस्कारों की क्रियात्मकता की समष्टि ही **'संस्कृति'** है। संस्कारों के पदचिह्न अमिट होते हैं। किसी राष्ट्र की संस्कृति शताब्दियों तक नहीं, सहस्राब्दियों से भी अधिक काल तक जीवित रहती है। भारत की संस्कृति तो अमरत्व में सर्वोपरि है। यूनान, मिस्र और रोम की संस्कृतियाँ तो मर गयीं, लेकिन भारत की संस्कृति अभी तक जीवित है, प्राणवन्त है और उदात्त ऊर्जामयी है।

भारतीय कवियों की कविता के सांस्कृतिक चित्रण में जो शब्द सौन्दर्य की आभा है, उस आभा को देखने वाले दिव्य नेत्र मेरे पाठक इस प्रस्तुत ग्रन्थ की वाग्देवी से प्राप्त करेंगे और तब मेरे पाठक समझेंगे कि कविता की बस्ती में वह क्या है, जिसे देखने के लिए प्रत्येक मन लालायित रहता है। प्रत्येक प्राणी उस बस्ती में क्यों जीने को तरसता है?

साहित्यकार की अभिव्यक्ति–प्रक्रिया में तीन स्थितियाँ आती हैं। प्रथम स्थिति वह है, जब साहित्यकार के अचेतन–उपचेतन में अनुभूति का आवेग उद्वेलित होता है। द्वितीय स्थिति वह है, जब साहित्यकार अपनी वेगवती अनुभूति को भाषिक रूप देने के लिए उचित एवं उपयुक्त शब्दों का संधान करता है। यही वास्तव में साहित्यकार की अपनी साधना–समाधि–भूमि है। यही साहित्यकार की साहित्य–साधना का निकष भी है।

तृतीय स्थिति वह है, जब साहित्यकार स्पष्टतः अपनी अनुभूति को अन्तिम शब्दात्मक रूप प्रदान करता है।

प्रस्तुत पुस्तक **'मैं और मेरा भाषा–चिन्तन'** के द्वितीय खंड में मेरे पाठक साहित्यकार की द्वितीय स्थिति वाले उचित एवं उपयुक्त शब्दों के संधान के आलोक को देखेंगे। मेरा विश्वास है कि उस आलोक से पाठकों की बुद्धि का अन्तर्लोक आलोकित होगा।

सच्चा साहित्यकार वही है, जो शब्द में अन्तर्भूत अर्थ को अच्छी तरह देख लेता है और उपयुक्त अवसर पर उसका उपयुक्त प्रयोग करता है। लेखक का भाव या विचार भाषा में उतरने से पहले शब्द से जूझता है। उस जूझने में जो सफल है, वही सफल लेखक है। भावाभिव्यक्ति के समय लेखक के मानस–पटल पर एक साथ कई पर्यायवाची शब्द आते हैं। उस समय उसके समक्ष एक भीषण तथा विषम परिस्थिति आ जाती है। उस समय लेखक का अध्ययन तथा लेखक की मेधा उन पर्याय शब्दों की सूक्ष्म भेदक रेखाओं का अवलोकन गहराई से करती है। यदि उस समय उसकी मेधा सफल हो गयी अर्थात् यदि उसने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्द पकड़ लिया, तो वह लेखक सच्चे अर्थों में सफल हो गया ; अन्यथा कलम घिसने वाले लेखक तो सहस्रों हैं। प्रस्तुत पुस्तक में पाठकों को कुछ पर्याय शब्दों की भेदक रेखाएँ भी मिलेंगी।

मैं 'साहित्य' को नाचते हुए मोर के समान मानता हूँ, जिसके भाव–पद भूमि पर और कला–पक्ष आकाशोन्मुखी होते हैं।

साहित्य वही सुन्दर तथा कल्याणकारी होता है, जिसकी विषय–वस्तु और भाव धरती से जुड़े रहते हैं और जिसकी भाषा और अभिव्यंजना उत्कृष्ट, परिष्कृत, प्रांजल और अलंकृत होती है। नर्तन करता मयूर तभी शोभा को प्राप्त होता है, जब उसके उर्ध्वगामी वृत्ताकार चन्द्रिकामय रंजित पंख अपनी छटा छिटकाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

इसी प्रकार के नाचते हुए मोर ने दण्डकारण्य निवासिनी सीताजी के मन को रिझाया था। भवभूति ने 'उत्तररामचरित' में उसका उल्लेख इन शब्दों में किया है—

''भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः प्रचलितचटुलभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या''
—(उत्तर० अंक ३/१६)

साहित्य के सार की प्राप्ति का साधन शब्द का अध्ययन है । शब्द का अध्ययन उसके अर्थ का अध्ययन है । अर्थ का अध्ययन ही साहित्य–मर्म–बोध रूपी फल है । उस फल का रस ही साहित्य का 'आनन्द' है । वह अधीती परम सौभाग्यशाली है, जिसे वह आनन्द प्राप्त होता है । उस आनन्द–रस के पीने पर अधीती के हृदय और बुद्धि के कमल खिल जाते हैं । उनकी सुगन्ध दसों दिशाओं में फैलकर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के मन–मस्तिष्कों में नयी दिव्य चेतना जगाती है । उस दिव्य चेतना के जागरण से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र औदात्य के भव्य भाव–लोक में विचरण करते हैं । साहित्य के अध्ययन का यही फलागम है ।

अवस्था की दृष्टि से मैं धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, मार्कण्डेय आदि को अपना समवयस्क-सा ही मानता हूँ । इन्होंने सर्जन–कार्य बन्द कर दिया है । डा० विजयेन्द्र स्नातक मुझसे लगभग ४ वर्ष बड़े हैं । डा० नगेन्द्र से मैं एक वर्ष छोटा हूँ । डा० रामविलास शर्मा की अवस्था की रेखा भी मेरी वर्तमान अवस्था–रेखा से बहुत ऊँची नहीं है । हिन्दी के इन आलोचकों की लेखनियों से उद्‌भूत कोई महत्त्वपूर्ण नयी गम्भीर कृति निकटतमभूत में मेरे देखने में नहीं आयी । हाँ, नरेश मेहता की सर्जन–प्रक्रिया अभी जागरूक है । उनका कवि अभी तक कर्मशील बना हुआ है, मेरे अन्तस् का भाषाशास्त्री भी सोया नहीं है । हिन्दी के नये लेखकों में जो हिन्दी भाषा–लेखन की गिरावट आयी है, उसे मैं दूर करना चाहता हूँ । हिन्दी–भाषा–संरचना का यह अपकर्ष मुझे बहुत पीड़ा देता है । मेरी लेखनी व्याकरण तथा अर्थविज्ञान के क्षेत्र का धुँधलका कुछ-कुछ दूर करना चाहती है । इसीलिए मैं लिखता हूँ और लिखता रहूँगा ।

देवाधिदेव शंकर 'अर्धनारीश्वर' इसलिए कहलाते हैं कि उनके शरीर में नारी और नर के निर्माण–तत्त्व आधे-आधे हैं अर्थात् ५० प्रतिशत स्त्रीतत्त्व हैं और ५० प्रतिशत पुरुषतत्त्व हैं । मेरे मस्तिष्क की अन्तर्भूमि में भी ५० प्रतिशत भावतत्त्व और ५० प्रतिशत बुद्धितत्त्व हैं । मेरे जीवन–दर्शन का आदर्शवादी भवन यथार्थ की नींव पर बना है । मैं सभी देवी–देवताओं को परम श्रद्धेय एवं पूज्य मानता हूँ, लेकिन मैंने जीवन में नियम से ईश्वर या किसी देवता विशेष का अर्चन–वन्दन नहीं किया, हाँ, कामिलों की परस्तिश अवश्य की है तथा उच्चतम ग्रन्थ–प्रणेताओं को मन से शत-शत प्रणाम निवेदित किये हैं । मैं शुद्ध सरस्वती–उपासक रहा हूँ ।

मैंने दीन–दुःखी–दरिद्रों में नारायण की झलक देखी है । किसी दुःखी की आँखों के आँसू पोंछने में मुझे प्रभु–पूजा के भाव की अनुभूति हुई है । मैंने परम प्रभु से जब–तब यही माँगा है कि हे मेरे परम प्रभो ! तुमने मुझे करुणा तो दी, लेकिन करुणा की उत्तरवर्ती कृपा को साकार करने के लिए वह सम्पत्ति क्यों नहीं दी, जिससे किसी दुःखी के आँसू पूरी तरह पोंछे जा सकें । धनाभाव के कारण मैं किसी दीन–दुःखी की उतनी सहायता नहीं कर सका हूँ, जितनी उसके लिए आवश्यक थी । इसकी टीस मुझे सताती रही है । वह टीस मेरी ईश–पूजा की प्रार्थना भी बनती

रही है।

प्रस्तुत पुस्तक— **'मैं और मेरा भाषा-चिन्तन'** में 'कागद लेखी' के साथ 'आँखिन देखी' भी पाठकों को मिलेगी। मैं उन लेखकों तथा साहित्यकारों से क्षमा-याचना करता हूँ जिनकी शब्द सम्बन्धी भूलों को मैंने स्पष्टतः नाम लेकर बताया है। इसमें मेरा लक्ष्य केवल सन्दर्भ की प्रामाणिकता ही रहा है। मुझे दुःख है कि हिन्दी-वाले भी गलत हिन्दी लिखते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह साहित्य के किसी न किसी पहलू से जुड़ा हुआ है।

'भाषाविज्ञान' के क्षेत्र में बहुत-से अधीती या शोधार्थी ऐसे हैं, जो 'भाषा' को शुद्ध भाषा के रूप में एक अलग इकाई मानकर ही अपना अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। यह पद्धति पश्चिम की देन है। भाषा का वह गणित साहित्य का कुछ भला नहीं कर रहा। मैं उस प्रकार के गणितीय समीकरण का पक्षधर नहीं हूँ। भाषा-विवेचन को साहित्य की पर्तें खोलनी चाहिए।

मैंने अपनी किसी भी पुस्तक में वर्ण, अक्षर, पद, वाक्य या भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उससे साहित्य के किसी न किसी पक्ष पर आलोक अवश्य पड़ता है। मेरा हिन्दी-शब्दार्थ-विवेचन हिन्दी-साहित्य की गूढ़ गुत्थियों को सुलझाने में सहायक सिद्ध होगा—ऐसा मेरा विश्वास है। मेरा यह भी विश्वास है कि यह ग्रन्थ साहित्य के मर्म को समझाने में भी सहयोगी बनेगा।

मेरी पहली कुछ पुस्तकों की भाँति इस पुस्तक का सम्पादन भी मेरे प्रिय शिष्य डा० कमलसिंह और मेरी पुत्री डा० शारदा शर्मा ने ही किया है। माता वीणापाणि दोनों का महान् मंगल करें।

मैं हिन्दी पढ़ता-पढ़ाता रहा हूँ, मैं हिन्दी में सोचता-समझता रहा हूँ और मैं हिन्दी में लिखता रहा हूँ। आज भी हिन्दी-अध्ययन और लेखन मेरी दिनचर्या बना हुआ है। साहित्य-सर्जन को मैं समाज-सेवा का एक माध्यम मानता हूँ। हिन्दी-प्रेमी तथा हिन्दीसेवी सज्जनों से मैं यही आशीर्वाद चाहता हूँ कि जब तक जीवित रहूँ, हिन्दी की सेवा में लगा रहूँ। मेरी लेखनी विश्राम न ले।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" —**(यजु० ४०/२)**

राष्ट्र-पुरोधा ऋषि की वाणी—"वयं राष्ट्रं जागृयामः पुरोहिताः" (यजु० ९/२३) का उद्घोष करते हुए मैं हिन्दी-सेवियों को प्रणाम निवेदित करता हूँ और इस पुस्तक के 'पुरोवाक्' को विराम देता हूँ।

"भारतीभिः भारती सजोषा" (ऋग्वेद २/३३)=उपभाषाओं के साथ 'भारती' (राष्ट्र भाषा) सेवनीय है।

दिनांक: १८ मार्च ९३

ए-८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड, **अम्बाप्रसाद 'सुमन'**
सहारनपुर—२४७००१ (दूरभाष—२५०३२) (जन्म तिथि ६-१३-१९१६ ई०)

प्रथम खण्ड

१. मेरी जीवन-यात्रा

"यहाँ आने लगे वारंट दस्ती जब सुना यारो।
तभी सोचा कि अपनी दास्ताँ बाकी बची कह लूँ।" —'सुमन'

मुझे अपनी दादी से मालूम हुआ था कि मेरे प्रपितामह **पं० गंगाराम गौड़ 'भागवती'** हिसार से आकर **शेखूपुर** (जिला अलीगढ़) गाँव में बसे थे। वे भारद्वाज गोत्रीय गौड़ ब्राह्मण थे। उनकी शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिता शाखा थी।

यजुर्वेद की एक शाखा और मेरे परबाबा

यजुर्वेद की दो संहिताएँ प्रसिद्ध हैं—(१) कृष्णयजुर्वेदीय संहिता, जिससे याज्ञवल्क्य वंचित कर दिये गये थे। (२) शुक्लयजुर्वेदीय संहिता।

शुक्ल यजुर्वेद की तीन संहिताएँ प्राप्त हैं—(१) **वाजसनेयि संहिता** (२) **काण्व संहिता** (३) **माध्यन्दिन संहिता।**

शुक्ल संहिता में केवल मन्त्र-संग्रह हैं। वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने आदित्य से शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त किया था। शुक्ल यजुर्वेद की १५ संहिताओं का उल्लेख मिलता है। उनमें से तीन ही प्राप्त हैं, बारह का पता नहीं।

वेद-पाठ स्मरण रखने के उपायों को **विकृतियां** कहा गया है। ब्रह्मा के पुत्रों (सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन और वशिष्ठ) ने अपने शिष्यों को वेद-मन्त्रों की रक्षा के लिए आठ प्रकार की विकृतियाँ बतायी थीं—(१) **जटा** (२) **माला** (३) **शिखा** (४) **रेखा** (५) **ध्वज** (६) **दण्ड** (७) **रथ** (८) **घन।** ये विकृतियाँ पाठ-भेद हैं अर्थात् इनके नाम थे **जटापाठ, घनपाठ** आदि। चारों वेदों में सर्वाधिक शाखाएँ सामवेद की बतायी गयी हैं अर्थात् एक हजार। इससे पता लगता है कि सामवेद के मन्त्र कितने प्रकारों से उच्चरित होते थे। १००० शाखाएँ संगीत के स्वर-विस्तार की महिमा बताती हैं।

ऋषि वाजसनेय याज्ञवल्क्य महामुनि वैशंपायन के भानजे और शिष्य थे। यजुर्वेद की एक संहिता याज्ञवल्क्य ने वैशंपायन से पढ़ी थी। किसी एक बात पर याज्ञवल्क्य ने हठ करके वैशंपायन की आज्ञा का उल्लंघन कर दिया था। इस कारण उन्हें वैशंपायन ने उस संहिता से वंचित कर दिया था। वही संहिता **'कृष्णयजुर्वेदीय संहिता'** कहलायी। फिर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना करके माध्यन्दिन संहिता

प्राप्त की । उसे ही **शुक्लयजुर्वेदीय संहिता या वाजसनेयि संहिता** कहते हैं । शतपथ ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेदीय संहिता का ब्राह्मण ग्रन्थ है । शुक्लयजुर्वेदीय संहिता याज्ञवल्क्य ने अपने १५ शिष्यों को पढ़ायी थी । उन शिष्यों ने अपनी-अपनी शाखाएँ चलायीं । इस तरह शुक्लयजुर्वेद की १५ शाखाएँ हो गयीं ।

पंडित गंगाराम गौड़ के पुत्र अर्थात् मेरे पितामह का नाम पंडित राधावल्लभ गौड़ था । वे मिडिल पास थे और प्रायः **'भागवत'** और **'रामचरितमानस'** की कथाएँ बाँचा करते थे । उन्हें आयुर्वेद का कुछ ज्ञान था, इसलिए गाँवों की जनता उन्हें 'वैद्य जी' कहा करती थी, वैसे वे शेखूपुर गाँव में पंडिताई करते थे । ब्रजभाषा के सवैया और घनाक्षरी छन्दों में अच्छी काव्य–रचना कर लेते थे । घनाक्षरी छन्दों में उनका पत्र–व्यवहार हरदुआगंज निवासी कविवर पंडित नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' से हुआ करता था । उस पत्र–व्यवहार की कुछ ब्रजभाषा–घनाक्षरियाँ मैंने अपने घर की वही में देखी भी थीं । तब अर्थात् १९३० ई० में मेरी अवस्था १४ वर्ष की थी और मैं मिडिल कक्षा में पढ़ता था । उन दिनों सातवीं कक्षा में मिडिल हुआ करती थी । अंग्रेजों के द्वारा स्थापित शिक्षा–प्रणाली के अन्तर्गत हिन्दी–उर्दू–मिडिल शिक्षा परीक्षा 'वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा' कहलाती थी । **'वर्नाक्युलर'** शब्द का अर्थ है 'घटिया देशी बोली' । इस शब्द का अर्थ 'गाली' भी है । दूसरा एक अर्थ है, 'असभ्यों और गुलामों की बोली' । हिन्दी को 'वर्नाक्युलर' कहनेवाले श्री ग्रियर्सन और श्री काल्डवेल ने भी हिन्दी भाषा के इतिहास पर प्रकाश डाला है, जिसे हम आज भी प्रमाण मानने में गौरव का अनुभव करते हैं । हम आज भी मानसिक दृष्टि से अंग्रेजों तथा अंग्रेजी के गुलाम हैं ।

मुझे बाबा से जो मिला

मेरी दादी ने मुझे एक दिन यह भी बताया था कि मेरे बाबा ने एक बार शेखूपुर गाँव के मुखिया नम्बरदार से दस रुपये उधार लिये थे । प्रयास करने पर भी वे उस कर्ज को जल्दी अदा न कर सके थे, क्योंकि उनकी कमाई का पैसा आतिथ्य–सत्कार में अधिक खर्च हो जाता था । वे घर की बाहरी ध्वजा फहराने के शौकीन थे । वे आगन्तुक मित्रमण्डली को निरन्तर चार-चार दिनों तक खीर–पूड़ियाँ खिलवाते और भाँग–ठंडाई छनवाते रहते थे ।

उन्हीं दिनों की बात है कि एक दिन बाबा पीतल की एक तौली लेकर गाँव के कुँए पर जब पानी भरने गये, तब उस मुखिया नम्बरदार ने उस तौली को देखकर अपने दस रुपयों का तक़ाज़ा कर दिया । तक़ाजे की उस बात को वहाँ और भी दो-चार आदमी सुन रहे थे । बस, बाबा दूसरे ही दिन अलीगढ़ शहर गये और तौली सहित घर के कुछ बर्तन बेच आये । तीसरे दिन उस नम्बरदार के दस रुपये ब्याज सहित चुका दिये । चौथे दिन गाँव की पंडिताई छोड़ दी और अलीगढ़ में जाकर

अत्तारी की दुकान कर ली। दो साल बाद शेखूपुर गाँव के कुछ लब्धप्रतिष्ठ पुरुष अलीगढ़ गये और अनुनय–विनय करके बाबा (पंडित राधावल्लभ वैद्य) को गाँव लिवा लाये और पुन: पंडिताई करने के लिए प्रार्थना की।

मेरे बाबा ने पंडिताई स्वीकार तो कर ली, लेकिन मेरे पिताजी (पंडित श्यामसुन्दर लाल गौड़) को आयुर्वेद की शिक्षा दी। पिताजी ने अम्बाला में आयुर्वेद की पढ़ाई पढ़ी थी। उनका मुख्य व्यवसाय वैद्यक था; लेकिन कभी-कभी 'भागवत' और 'वाल्मीकिरामायण' की कथाएँ भी बाँच दिया करते थे। उन्होंने संस्कृत की प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण की थी। 'अमरकोश' और 'लघुसिद्धान्त–कौमुदी' उन्हें कंठस्थ थे। वे वार्तालाप में दूसरे व्यक्ति को प्राय: 'भगवन' सम्बोधित करते थे, अत: पंडित समाज में वे 'भगवन्' प्रसिद्ध हो गये थे।

मैं अपनी जननी (श्रीमती श्यामा देवी) का प्रथम पुत्र था और पितामही का तीन पौत्रों में सर्वाधिक लाड़ला पौत्र था। बाल्यकाल में रात्रि को पितामही के पास ही सोता था। वह मुझे 'महाभारत' और 'वाल्मीकिरामायण' की कथाएँ कहानी के रूप में सुनाया करती थी। दादी थी, तो ठेठ किसान की निरक्षर बेटी; लेकिन 'महाभारत' और 'रामायण' की कथाएँ उसे कंठस्थ थीं। कथन–शैली प्रभावोत्पादक थी। कारुणिक प्रसंगों को सुनाते-सुनाते उसका गला रुँध जाया करता था और वह गलदश्रु भी हो जाती थी। भावोद्रेक के समय यह दशा मेरी भी हो जाती है। रत्नाकर द्वारा रचित **'द्रौपदी–चीर हरण'** के छन्द मैं कक्षा में नहीं पढ़ा पाया था।

मुझे लगता है कि व्रजभाषा काव्य–रचना का आशीर्वाद मुझे अपने पूज्य पितामह से मिला था और 'महाभारत' तथा 'रामचरितमानस' के अध्ययन के प्रति अभिरुचि के संस्कार मुझे अपनी पूज्या पितामही से प्राप्त हुए थे। मेरी मानस–भूमि में उगे हुए स्वाभिमान के अंकुर को शक्ति मिली थी, मेरे पितामह के दस रुपयों के कर्ज तथा तौली वाली घटना से। वह घटना मेरे मानस–पटल पर आज भी बिम्बात्मक विचित्र विधान की रचना कर देती है।

मेरी ममतामयी दादी

सामान्यतया तो मेरी माँ ही प्रात: चार बजे उठकर घर में चक्की पीसा करती थी। यदि माँ कुछ अस्वस्थ होती थी, तो फिर मेरी दादी को ही कभी-कभी चक्की पीसनी पड़ती थी। यह काम गाँव में प्राय: सभी नारियों को प्रात: में ही करना पड़ता था।

मेरी दादी चक्की में अनाज पीसती जाती थी और धीरे-धीरे गाती जाती थी—

"एक दिना तौ सब पै ही बीती।
सूरज–चन्दा अकास बसत हैं,

एक दिना तौ उनपै ऊ बीती ।
एक दिना तौ सब पै ही बीती ।।"

कुछ समय बाद यह भी गाती थी—

"लहैगौ कोई बिरला पद निर्वान ।"

कभी-कभी करुणा भरी धुन में द्रौपदी–चीर–हरण से सम्बद्ध इस लावनी लोकगीत को भी गाया करती थी—

"बिन काज आज महाराज ! लाज गयी मेरी ।
दुख हरौ द्वारिकानाथ ! सरन मैं तेरी ।।
दूसासन वंस कठोर महा दुखदायी ।
कर पकरत मेरौ चीर लाज नहिं आयी ।।
अब भयौ धरम कौ नास पाप रह्यौ छायी ।
लखि अधम सभा की ओर नारि बिलखायी ।।
सकुनी दुरजोधन करन खड़े खल घेरी ।
दुख हरौ द्वारिकनाथ सरन मैं तेरी ।।"

× × ×

मुझे अच्छी तरह से याद है कि मेरी अवस्था दस वर्ष की थी और मैं तब बुढ़ाँसी कस्बे की प्राइमरी पाठशाला में कक्षा तीन का विद्यार्थी था । उस समय हमारे घर में असली देसी घी की पूड़ियाँ तो ख़ास-ख़ास त्यौहारों पर ही बनती थीं या उस दिन बनती थीं, जब घर में कोई ख़ास महमान आ जाता था ।

दैनिक जीवन में हमारे परिवार के सदस्य प्रायः **चनारी बेझर** (चने मिले हुए जौ) और **गेंचनी** (गेहूँ और चना मिला हुआ अनाज) खाते थे । गेंचनी की रोटियाँ तो मुख्य रूप से मेरे पिताजी के लिए और मेरे लिए ही बनती थीं । शेष प्राणी तो बेझर की रोटियाँ ही खाया करते थे । मैं देखा करता था कि मेरी दादी काँसे के वेले में वेझर की पनपथी रोटियाँ मठे में मीड़कर तथा गलाकर खाया करती थी, क्योंकि वह पोपली हो गयी थी । बुढ़ापे मैं उसके सब दाँत उखड़ गये थे ।

पराँठे तो तब हमारे घर में मीठे तेल के ही बना करते थे । तिल का तेल 'मीठा तेल' कहलाता है ।

एक दिन मैंने अपनी दादी से पूछा, "अम्मा ! तू पिताजी कूँ और मोइ तौ गेंचनी की रोटी खवावत्यै, परि और सबनकूँ बेझर की खवावत्यै—ऐसौ चौं करत्यै ?" इसके उत्तर में दादी बोली, "बेटा ! का करैं ? तेरे बाबा हमारी छाती पै कज्जु करिकैं छोड़ि गये हैं; कैसैऊँ गु उतरि जाइ; जिई चिन्ता खाऐं जात्यै । हूँ तेरे बाबा ते कही करती, कै झूठी कलंगी ऊँची मति करौ, परि गु नाए मान्त । आमनवारेन कूँ चार-चार दिना तक खूब खीर–पूरी खवावत हे और भाँग–ठंडाई प्यावत हे । कज्जु करिकैं कलंगी ऊँची दिखावत हे ।"

मेरे बाबा के द्वारा अतिथियों का जो आतिथ्य सत्कार किया जाता था,

उसमें उनके अतिथि–सेवा–भाव की अपेक्षा उनकी अपनी शान के दिखावे का भाव अधिक रहता था। बाबा प्राय: अपनी चादर से बाहर टाँगें पसारकर सोया करते थे। उनके सिर पर कर्ज का बोझ कितना है—इसकी उन्होंने कभी परवाह नहीं की। बाबा के देहावसान के बाद उस कर्ज को चुकाने की चिन्ता मेरे पिता जी से अधिक मेरी दादी को रहती थी।

किसी तरह से चार पैसे इकट्ठे हो जाएँ और कुछ कर्ज अदा हो जाए—इसी चिन्ता–मुक्ति के लिए मेरी दादी चर्खा कातती और सूत बेचती थी। कभी-कभी गाय का घी भी बेच लेती थी। हमारा घर और बैठक कच्ची ईंटों के बने हुए थे। वर्षा ऋतु आने से पहले उनकी दीवारों की ल्हिसाई–लिपाई हुआ करती थी। मुझे अच्छी तरह से याद है कि मेरी दादी अकेली ही पोखर में से चीका मिट्टी और पीरखनाने में से पीली मिट्टी सिर पर ढोकर घर लाती थी और स्वयं ल्हिसाई–लिपाई करती थी। सुबह से शाम तक दादी कितना काम करती थी, उसकी अनुभूति मुझे आज हो रही है। दादी अपने बूढ़े हाड़ों को पेलती और घर पालती थी।

दादी अवस्था की साठवीं रेखा पार कर चुकी थी। उसकी अंगयष्टि मझोली थी। शरीर का रंग गोरा था। लहँगा (घाँघरा) पहनती थी। सिर पर ओढ़नी ओढ़ती थी। शरीर में अँगिया पहना करती थी, जिसकी लम्बाई–चौड़ाई अपेक्षाकृत बड़ी होती थी। छबड़े में मिट्टी लाते समय दादी कुछ-कुछ घूंघट भी काढ़ लेती थी। दादी को उस रूप में देखकर गाँव के कुछ लोग 'पालागन पंडितानी जी !' कहा करते थे। दादी की वेश–भूषा दूर से ही बता देती थी कि किसी कुलीन वृद्धा के भाग्य में दुर्दैव ने लात मार दी है, अन्यथा यह शरीर विधाता ने मिट्टी ढोने के लिए नहीं बनाया था।

इस समय दादी का यह शब्द–चित्र अंकित करते-करते मेरा दिल भारी हो गया है और आँखों से आँसू निकल पड़े हैं। मैं कभी दादी के ऋण से उऋण न हो सकूंगा। उसकी ममता के सागर को मैं कभी नाप न सका। हम सदा हँसते रहें, इसलिए दादी कभी हमारे सामने रोयी नहीं।

शक्ति में **शार्दूल सिंह** से छोटा या हेठा माना गया है। इसका प्रमाण महाभारत (संपा० सातवलेकर) के स्त्रीपर्व (अ० १७/१७) में मिल जाता है। उस श्लोक में कहा गया है कि "भीमरूपी सिंह ने शार्दूल रूपी दुर्योधन को मार दिया था।"

सिंह और **व्याघ्र** अलग-अलग हिंसक पशु हैं। महाभारत (संपा० सातवलेकर) के शान्तिपर्व (अ० २६२/१२) में एक ही श्लोक में दो प्रकार के चमड़े बताये गये हैं—**(१) सिंह–चर्म (२) व्याघ्र–चर्म।**

शेर की मुख्य जातियाँ चार हैं—**(१) सिंह** या **केसरी**, जिसकी गर्दन पर बड़े-बड़े अयाल होते हैं। यह सबसे अधिक शक्तिमान् माना जाता है। **(२) शार्दूल** या **व्याघ्र**। इसे **बाघ** भी कहते हैं। **(३) द्वीपी** अर्थात् **चीता**। **(४) तेंदुआ** या

बघर्रा। बघर्रा कुछ-कुछ भेड़िया-जैसा होता है। बघर्रा सब में घटिया माना जाता है।

मेरी दादी मेरे दो छोटे भाइयों (ओङ्कार और महावीर) से कहा करती थी—"बजमारे औ ! तुम तौ बघर्रा हौ। केहरी तौ मेरी अम्बरिया है।" दादी प्यार में मुझे **'अम्बरिया'** कहा करती थी।

आज (१९९३ ई०) मेरी अवस्था ७७वीं रेखा को पार कर गयी है। दादी की याद आते ही मेरे मानस-पटल पर उसके कर्मठ संघर्षी जीवन का चित्र मेरी आँखों में उभर आता है। वह मेरे अन्तस् को गीला कर देता है। और आँखें नम हो जाती हैं।

मनुष्य-जीवन का समय-विभाजन सामान्यतया क्रमशः इस प्रकार है—**(१) शैशव (२) पौगण्ड (३) कैशोर (४) यौवन (५) प्रौढ़ि (६) वृद्धत्व।**

५ वर्ष से १० वर्ष तक की अवस्था **पौगण्ड** मानी गयी है। मेरी पौगण्ड अवस्था थी। घर के पास ही चबूतरे से नीचे गलिहारे की जमीन पर मैं कूद रहा था। ज़मीन पानी से कुछ गीली थी। दादी मुझे कूदते हुए देख रही थी और कूदने के लिए बार-बार मना कर रही थी। मैं माना नहीं, कूदता रहा। कुछ समय बाद घटना घटी कि गीली ज़मीन पर मेरा बायाँ पाँव रपट गया और उसकी हड्डी टूट गयी। मैं रोने लगा। उठने की कोशिश करने पर भी उठ न सका। दादी तुरन्त दौड़कर आयी और मुझे उठाकर पीटने लगी। दादी कहती जाती थी—

"ऊताताई ! मैंने तोते कँई पोत मनै करी कै मति कूदै, मति कूदै; परि तू न मानौ। न मानौ। अब करम पकरिकैं रोवतु रहियो।"

दादी इन शब्दों को कहती जाती थी और चुपके-चुपके रोती भी जाती थी। दादी की वाणी में आक्रोश था, और आँखों में करुणा में डूबा हुआ उसका वात्सल्य। दादी की आँखों से गंगा बह रही थी, मेरी आँखों से जमना। आज समझ रहा हूँ, दादी की उस ममता का अर्थ। इस समय भी मेरी आँखों में दादी की आँखों के आँसू समाये हुए हैं। मैं आज समझा हूँ कि दादी के वे आँसू, आँसू न थे, वे निश्चित ही दादी के वात्सल्य की भाष्यमयी भाषा थे। आँसू घनीभूत प्रेम की परिभाषा होते हैं। प्रेम वाणी से नहीं, आँखों से बोला करता है। करुणा के दर्पण में प्रेम के स्पष्ट दर्शन होते हैं। भवभूति ने सत्य ही कहा था कि करुण ही अनेक रसों में प्रकट हुआ करता है।

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के प्रति श्रद्धा और ब्रजभाषा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम मेरे हृदय में मेरी दादी ने ही पैदा किया था। मेरी दादी ठेठ ग्रामीण ब्रजभाषा में मुझे तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की कथाएँ रात को सुनाया करती थी। मैं बचपन में रात को दादी के पास ही सोया करता था।

मेरा ब्रजभाषा-प्रेम बाल्यकाल से शनैः-शनैः बढ़ता चला गया और मेरी ४० वर्ष की अवस्था में वह पी-एच० डी० (ब्रजभाषा-शब्दावली) के शोधकार्य के

रूप में प्रकट हुआ। **'ब्रजी-कबि-बन्दन'** काव्यकृति उसी ब्रजभाषा-प्रेम रूपी वृक्ष का पका हुआ फल है।

यदि मेरा निम्नांकित कथन विनम्र निवेदन माना जाए तो मैं अपने पाठकों से यह कह सकता हूँ कि यदि मुझे ब्रजभाषा में भाषण के लिए कहा जाए, तो मैं लगातार एक घण्टे तक ब्रजभाषा में भाषण दे सकता हूँ।

बुढ़ाँसी की प्राइमरी पाठशाला

बुढ़ाँसी की प्राइमरी पाठशाला में मैं जब दूसरी कक्षा में पढ़ता था, तब मेरी अवस्था नौ वर्ष की थी। हमें नगला खेम (अलीगढ़) के पंडित ख्यालीराम पढ़ाया करते थे। वे हमें महात्मा गांधी और उनके चेलों की एक-आध बात कभी-कभी सुना दिया करते थे। उन्होंने एक दिन बताया था, काकोरी स्टेशन पर रेलगाड़ी में से सरकारी खजाना लुट गया है।

आज वह बात व्याख्या के साथ मेरे मानस-पटल पर अंकित हो गयी है। सन् १६२५ ई० में काकोरी स्टेशन पर रेलगाड़ी से खज़ाना लूटा गया था। पंडित रामप्रसाद बिस्मिल और अश्फाकउल्ला ने खज़ाना लूटने में नेतृत्व किया था। मन्मथनाथ गुप्त और चन्द्रशेखर आजाद भी उसमें शामिल थे। उस काकोरी केस में बिस्मिल और अश्फाकउल्ला को फाँसी दी गयी थी। बिस्मिल ने फाँसी का फंदा गीता के श्लोक बोलते हुए स्वयं अपने गले में डाला था। मन्मथनाथ गुप्त को नैनी जेल में रखा गया था। जेल में गोरे-काले का भेद बरता जाता था। अतः मन्मथनाथ ने ५२ दिन तक अनशन किया था। तिरेपनवें दिन उनके पेट में रबड़ की नली से दूध और दवा पहुँचायी गयी थी।

यतीन्द्रनाथ ६२ दिनों तक भूखे रहे और अन्त में भारतमाता के चरणों में शहीद हो गये। यतीन्द्रनाथ की शहादत से तथा भगतसिंह और मन्मथनाथ के अनशन से ब्रिटिश सरकार झुकी थी। तब ए, बी, सी श्रेणियाँ जेलों में बनीं, जो आज भी चली आ रही हैं।

मन्मथनाथ आजकल दिल्ली में रह रहे हैं। मन्मथनाथ जी से मेरी प्रथम भेंट सन् १६८७ ई० में पटना में हुई थी। तब मेरी पुस्तक **'औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी'** राजभाषा विभाग, पटना द्वारा पुरस्कृत और सम्मानित हुई थी। बिहार के मुख्य मन्त्री श्री बिन्देश्वरी दुबे ने सम्मान किया था। उसी सम्मान समारोह में मन्मथनाथ जी भी सम्मानित हुए थे। पटना में १६८७ ई० में मन्मथनाथ जी के दर्शन करके मैंने अपने को धन्य माना था। मन्मथनाथ जी स्वतन्त्रतासंग्राम के उन वीर राष्ट्र सेनानियों में से एक हैं, जिन्होंने हमारे भारत को आजादी दिलायी। मन्मथनाथ जी का एक उपन्यास है 'अवसान'। वह जेल के सामान्य कैदियों का एक रिपोर्ताज है।

मन्मथनाथ गुप्त के दर्शन करते समय मेरे स्मृति-पटल पर चन्द्रशेखर आजाद का चित्र भी उभर आया था, क्योंकि मन्मथनाथ शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद के साथी रहे थे।

सन् १९२१ ई० में गांधी जी के असहयोग आन्दोलन को आज़ाद ने एक ऐतिहासिक घटना बना दिया था।

खरेघाट ने जब चन्द्रशेखर आज़ाद से पूछा, "तुम्हारा नाम ?" "मेरा नाम आज़ाद"। तुम्हारे बाप का नाम ? "बाप का नाम स्वाधीन।" तुम्हारा घर ? मेरा घर जेलखाना"।

मजिस्ट्रेट ने आज़ाद को १५ बेंतों की सज़ा दी थी। प्रत्येक बेंत की चोट पर आज़ाद ने 'महात्मा गांधी की जय' बोली थी। राष्ट्रवीर आज़ाद असहयोग आन्दोलन के प्रतीक थे। तब पटना के उस साहित्य सम्मान-समारोह में वृद्ध मनमथनाथ के शरीर में आज़ाद की वीरताभरी जवानी भी मैंने देखी थी।

दादी का सुनाया हुआ एक कथा-प्रसंग

मेरी दादी मुझे रात को अपने अंक में सुलाकर राम-कथा सुनाया करती थी। मेरे बाबा से मेरी दादी ने कई ग्रन्थों से राम-कथा सुनी थी।

एक रात को दादी ने धोबी-धोबिन के प्रसंग के साथ सीता-वनवास की कथा सुनायी। उस कथा-प्रसंग में दादी ने मुझे बताया था कि सीता जी के एक ही पुत्र पैदा हुआ था, जिसका नाम **'कुश'** था। **'लव'** तो ऋषि वाल्मीकि ने मन्त्र-शक्ति से बना दिया था।

बात यह थी कि एक दिन सीता 'कुश' को वाल्मीकि ऋषि के संरक्षण में छोड़कर तमसा स्नान करने गयी थी। मार्ग में कुछ दूर जाने के बाद सन्तान-प्रेम के कारण सीता लौट आयी। उस समय कुश को पालने में सोता देखा; तब ऋषि वाल्मीकि लघुशंका को गये थे। उनकी अनुपस्थिति में सीता 'कुश' को लेकर तमसा में नहाने चली गयी।

ऋषि वाल्मीकि लघुशंका से निवृत्त होकर जब आये, तब कुश को पालने में न देखकर चिन्तित हुए। सीता के वापस आने से पहले ही ऋषि ने मन्त्र-शक्ति से वैसा ही दूसरा एक बालक बना दिया और उसे पालने में सुला दिया। सीता तमसा नदी से वापस आयी, तो ऋषि ने उसकी गोद में कुश को देखा। तब सीता ने ऋषि द्वारा उत्पन्न किये उस बालक को भी पुत्र मानकर पाल लेने के लिए ऋषि से प्रार्थना की। महर्षि वाल्मीकि ने सीता की इच्छा पूर्ण की और उसका नाम 'लव' रखा। इस तरह सीता के दो पुत्र हो गये—बड़ा पुत्र **'कुश'** और छोटा **'लव'**।

मेरी अवस्था लगभग १० वर्ष की थी, जब दादी से मैंने लव की उत्पत्ति की कथा सुनी थी।

सन् १९५७-५८ ई० से मैंने राम-कथा से सम्बद्ध विभिन्न ग्रन्थ पढ़ने आरम्भ

किये थे। पहले 'रामचरितमानस' का पारायण किया। फिर 'वाल्मीकिरामायण' और 'अध्यात्म रामायण' को पढ़ा। स्वयंभूकृत रामायण 'पउमचरिउ' का भी अध्ययन किया। केशव की 'रामचन्द्रिका' भी पढ़ी। इतने ग्रन्थ पढ़ने पर भी मुझे किसी में ऋषि वाल्मीकि द्वारा निर्मित 'लव' की वह जन्म-कथा नहीं मिली थी।

मैं दिन-रात यह सोचता रहता था कि दादी ने वह 'लव-जन्म' की कथा कहाँ से प्राप्त की होगी ? इतना निश्चित था कि लोक में लव-जन्म का वैसा प्रसंग मैंने बचपन में अन्य स्त्रियों के मुख से भी सुना था। लेकिन उसके समर्थन में कोई ग्रन्थ मेरे पढ़ने में न आया था। फिर संयोग से सन् १९६३ ई० में 'आनन्दरामायण' पढ़ते समय **'जन्म-काण्ड'** में 'लव' का वह प्रसंग मिला, तो हर्ष से मैं उछल पड़ा। 'आनन्दरामायण' में नौ काण्ड हैं। 'जन्म-काण्ड' पाचवाँ काण्ड है। इसी काण्ड में सीता-त्याग की भी कथा है।

मेरी प्रारम्भिक शिक्षा

सन् १९२७ ई० में मेरी अवस्या ११ वर्ष की थी, तब मैं बुढ़ाँसी में ही दर्जा चार में पढ़ता था। उन दिनों चौथी कक्षा प्राइमरी की पढ़ाई की सबसे ऊँची कक्षा थी। हमें मुंशी नन्नूखाँ पढ़ाया करते थे। दोपहर के बाद लगभग तीन बजे वे कक्षा चार के विद्यार्थियों को एक लाइन में खड़ा करके भूगोल पूछा करते थे। जिस विद्यार्थी से ठीक उत्तर नहीं दिया जाता था, उस पर **लेजू** (पानी खींचने में काम आनेवाली सन की मोटी रस्सी) की मार पड़ती थी। उस मार का हम छात्रों पर इतना भयंकर भय सवार रहता था कि उनके द्वारा याद करने के लिए दिये गये कराँची से रंगून तक के बन्दरगाह मुझे आज (सन् १९९३ ई०) भी ऐसे याद हैं कि सुनाते समय मेरी जीभ के स्टेशन से वाणी की विचित्र राजधानी मेल ट्रेन छूटती है। पाठशालाओं में उस समय छात्रों पर पड़ने वाली मार के अनेक दोष हो सकते हैं; लेकिन मुंशी जी की मार का डर मेरे लिए तो वरदान सिद्ध हुआ था।

अब सन् १९९३ ई० का जनवरी मास है। मेरी अवस्था ७७ वर्ष की है। आज से ठीक ६३ वर्ष पहले अर्थात् जनवरी, १९३० ई० में मेरी अवस्था १४ वर्ष की थी। तब मैं वर्नाक्युलर मिडिल स्कूल, जलाली में कक्षा ७ का विद्यार्थी था। कक्षा ७ की मिडिल परीक्षा बोर्ड की होती थी। अतः मिडिल परीक्षा के छात्रों को जनवरी, फरवरी और मार्च के महीनों में रात को स्कूल में ही रहकर पढ़ना पड़ता था।

मेरा शेखूपुर गाँव जलाली से २ मील की दूरी पर है। जनवरी मास के प्रारम्भ से ही मैं प्रतिदिन प्रातः ८ बजे गाँव से जलाली को पैदल जाता था, रात्रि को स्कूल में रहता और दूसरे दिन प्रातः लगभग छह बजे जलाली से पैदल गाँव को आता था भोजन लेने के लिए। तीन महीनों तक यही क्रम रहता था।

तीन महीनों तक प्रतिदिन मेरी दादी ही प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठकर तथा

नित्य कर्म से निवृत्त होकर मेरे लिए भोजन बनाया करती थी। प्रातः ७ बजे तक मेरी दादी मेरे लिए दोनों समय का भोजन तैयार कर देती थी। मैं जलाली से गाँव पहुँचकर प्रातः ७ बजे कलेवा करके दोपहर का और सन्ध्या का भोजन लेकर प्रातः ८ बजे गाँव से जलाली को पैदल चल देता था। कक्षा ७ के हमारे गुरु जी पंडित प्रसादीलाल जी ठीक प्रातः १० बजे प्रार्थना कराके हमें पढ़ाना प्रारम्भ कर देते थे। दोपहर को १२ बजे से १ बजे तक मध्यावकाश रहता था, जिसमें विद्यार्थी भोजन आदि भी किया करते थे।

मेरी दादी गेंचनी की पनपथी और गेहूँ के आटे के मीठे चीले बनाने में गाँव की स्त्रियों में गुरु मानी जाती थी। वह मेरे दिन के भोजन के लिए गेंचनी की पनपथी और रात्रि के भोजन के लिए गेहूँ के आटे के पराठे बनाया करती थी। दादी पनपथी बनाकर थाली में रख देती और पास में ही गाय के घी से भरी मलसिया। पनपथी नमकीन होती थी। मैं जाड़ों का जमाहुआ गोघृत साग की भाँति रोटी पर रखकर खाता था। चने–गेहूँ के आटे की नमकीन पनपथी (पानी की हाथ की मोटी रोटी) घी के साथ जिसने कभी बाल्यकाल में खायी होगी, वही उस स्वाद को जान सकता है। फिर मेरे लिए तो दादी का वात्सल्य पाकर वह स्वाद अमृत को भी हेठा बना देता था। **'गेंचनी'** संकर शब्द है; **गेहूँ + चना = गेंचना**।

कपास का पौधा **बन** कहलाता है। **पौधा** शब्द सम्भवतः संस्कृत के **'प्रवृद्ध'** शब्द का विकसित रूप है। 'लघुप्रवृद्ध' से **लौद** शब्द विकसित हुआ है। व्रजभाषा में बन की सूखी लकड़ियाँ **'बन की लौद'** कहलाती हैं। दादी बन की लौदों को चूल्हे में जलाकर मेरे लिए रोटी बनाया करती थी। उन लौदों में से एक छोटी-सी लकड़ी मैं भी तोड़ लेता था और उससे पनपथी में छेद कर लेता था, ताकि जाड़ों का जमाहुआ घी गर्म रोटी पर पिघलकर उसमें प्रविष्ट हो जाए। मेरी इस तरकीब से रोटी घी को अच्छी तरह से पी लेती थी। पनपथी रोटी में पलोथन नहीं लगता।

गेंचनी की पनपथी पर जाड़ों के जमेहुए घी की याद आते ही दादी की गो-सेवा की भी याद आ गयी। दादी जब तक जीवित रही, तब तक सदा हमारे नौहरे के खूँटे पर एक गाय बँधी रही। गाय भी ऐसी जो शरीर में बैल से टक्कर लेती थी। दूसरे गाँवों के लोगों की आँखें उस गाय को देखकर कुछ देर ठहर जाती थीं। लोग पिताजी से पूछा करते थे, "पंडित जी ! गाय कहाँ से खरीदिकैं लाये हौ ?" १९३० ई० की जनवरी में दो-तीन दिन ऐसे भी आये, जब मैं घोर शीत के कारण जलाली के स्कूल से गाँव प्रातः न पहुँच सका था। जनवरी मास चिल्ला जाड़ों का महीना माना जाता है। मकर की संक्रान्ति जनवरी में ही पड़ती है। कहावत प्रसिद्ध है—

"धन के पंद्रह, मकर पच्चीस। चिल्ला जाड़े दिन चालीस ॥"

जनवरी उत्तर भारत में घोर शीत का महीना है। पाला जम जाता है।

शीत लहर के कारण हाथ–पाँव सुन्न पड़ जाते हैं। दाँत किटकिटाने लगते हैं। वायु की तीव्रता और तीक्ष्णता देखकर उसे 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' की उपाधि दे दी जाती है। घोर शीत के जिन दो–तीन दिनों में मैं प्रातः गाँव न पहुँच पाया था, उन दिनों मैं देखता था कि मेरी दादी ही मेरा भोजन लेकर गाँव से पैदल चलकर प्रातः १० बजे तक जलाली मेरे स्कूल पहुँच जाती थी। उस समय उसकी अवस्था साठ से ऊपर हो चुकी थी। दादी की ममता को मेरी श्रद्धा शत-शत प्रणाम अर्पित करती रहती है।

सन् १६३१ ई० का मार्च महीना था; मैं उर्दू मिडिल की परीक्षा देकर अपने गाँव शेखूपुर में आ गया था। अपने घर की दुवारी में रामचरितमानस की पोथी लेकर बाँचने बैठा था। वहीं पास में दुवारी में ही मेरी जननी माँ और दादी चर्खा कात रही थीं। मुझे याद है कि उस पोथी पर 'रामायण' नाम छपा था। उसके हिन्दी–टीकाकार मुरादाबाद के पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र थे और वह बम्बई के श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस की छपी हुई थी। उस पोथी में श्रीराम–कथा से सम्बद्ध अभीष्ट महत्त्वपूर्ण चित्र भी थे।

दादी मुझसे कहने लगी, "खोलि रामायन, निकारि सीया–हरन की कथा, जब राम धनुस–बान लैकैं मारीच हिरन कूँ मारिवे चले हैं। राम के बान के लगत खैम मारीच हिरन लछिमन कौ नाम पुकारैगौ। सीया लछिमन कूँ राम जी के पास भेजिगी। लछिमन राम जी के जौरैं जाङ्गे। सीया जी कूँ अकेली देखिकैं रावनु जती भेस में आइकैं भिच्छा माँगेगौ। सीया जी रेखा लाँघिकैं बाहिर आङ्गी और फिर उनकूँ रावनु हरिकैं लै जाइगौ। जेई कथा मिलैगी तोइ रामायन में; देखिलै जौक सूँ। तू तौ पोथी में पढ़िकै जानैगौ; हूँ तोइ मौंखादी बताइ रई ऊँ।"

मैंने अरण्यकाण्ड में सीता–हरण की कथा में वे ही बातें पढ़ीं, जो दादी ने मुझे सुनायी थीं।

सीता–हरण की कथा जब मैंने पढ़कर समाप्त कर दी, तब दादी बोली, "पढ़ौ ई मति करै, कछू गुनौ ऊ करि। मेरी जि बात गाँठि बाँधि लै—

"आँखि में अंजन दाँत पै मंजन ;
नित करि, नित करि, नित करि।
नाक में उँगरी, कान में लकरी ;
मत करि, मत करि, मत करि॥"

सुँल्लै, मेरी जि बात तोइ व्याकन्न में मिलैगी, देखि लइयो।"

मेरी दादी के लिए 'व्याकरण' ऐसा विशाल ग्रन्थ था, जिसमें संस्कृति, दर्शन, धर्म, स्वास्थ्य आदि की सभी बातें थीं।

लगभग पाँच मिनट के बाद मेरे मित्र शंकरपाल ने आकर मुझे सूचना दी कि "अम्बे! ग़ज़ब हो गया, २३ मार्च, को अंग्रेज सरकार ने भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी दे दी। आज़ादी के दीवाने देश के लिए खुशी-खुशी शहीद हो

गये ।" मैं सुनकर स्तब्ध रह गया । कुछ समय बाद शंकरपाल के साथ विचार-विमर्श किया और दूसरे दिन प्रातः तिरंगा झण्डा लेकर हमने तीनों शहीदों को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए प्रभात-फेरी निकाली । उस प्रभात-फेरी में हमने गाया था—

"छीन सकती है नहीं सरकार वन्दे मातरम् ।
हम गरीबों का गले का हार वन्दे मातरम् ॥"
× × × ×
"नहीं रखनी सरकार ज़ालिम, नहीं रखनी ।"

मैं सन् १९३३ ई० में धर्मसमाज इन्टर कालेज, अलीगढ़ की सातवीं कक्षा में पढ़ता था । शनिवार को अपने गाँव शेखूपुर जाया करता था । मेरी दादी मेरे लिए बायते में आये हुए पकवान इकट्ठे करके रखती थी और घर के भीतरी कोठे में ले जाकर मुझे चुपके से देते हुए कहती थी, "लै, अम्बरिया ! खाइ लै वेटा; पूत ! तू जल्दी खाइ लै, उंकारु-महावीरु आइ गये, तौ तोइ नायँ खान दिगे ।"

आज (१९९३ ई०) दादी नहीं है ; लेकिन उसके सम्बोधन **'अम्बरिया' 'बेटा'** और **पूत** मेरे मन के कानों में आज भी गूँजते हैं और मन में टीसभरी उथल-पुथल मचा देते हैं । मुझे याद आ जाती है द्वारका से हस्तिनापुर को लौटे अर्जुन के हृदय की वह मर्मान्तिक पीड़ा, जब श्रीकृष्ण के निजलोक चले जाने पर भीलों ने मार्ग में अर्जुन से द्वारका की नारियाँ लूट ली थीं । अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा था, "नरदेव ! माधव के वे सम्बोधन मेरे मन को उन्मथित कर देते हैं, जब वे मुझे **पार्थ, अर्जुन, सखा** और **कुरुनन्दन** कहकर पुकारते थे (भागवत १/१५/१८) । मेरी दादी के लिए अभिव्यक्त सम्बोधन भी मुझे उन्मथित कर देते हैं ।

मेरी दादी कभी-कभी तो बहुत दिनों के बनेहुए पकवान भी मेरे लिए रख लेती थी । दादी का वात्सल्य मुझे कहता था कि मैं उन्हें खा लूं; लेकिन उनका रूप-स्वरूप कहता था कि वे पकवान खाने योग्य नहीं हैं । मैं दादी से कहता, "अम्मा ! तू क्यों इन्हें इकट्ठा करती रहती है ?"

उत्तर में दादी कहती, "तू का जानैगौ बावरे ! मूर ते ब्याजु प्यारी होत्यै ।" दादी के इस वाक्य का अर्थ मैं तब न समझता था, आज इसका अर्थ पूरा-पूरा समझ गया हूँ कि "**पुत्र** की अपेक्षा **पौत्र** अधिक प्यारा होता है ।"

मुझे आज भी अच्छी तरह से याद है कि हमारे घर की आर्थिक स्थिति तो अच्छी न थी; लेकिन ज्ञान और चरित्र के कारण सारे गाँव में हमारा घर सबसे अधिक प्रतिष्ठित माना जाता था । पूरे गाँव में जिस किसी लड़के का विवाह होता था, तो बरात के प्रस्थान करने से पहले वह मोहरबँधा लड़का कुछ महिलाओं के साथ आशीर्वाद लेने हमारे घर आता था । वह मेरी दादी (पितामही) के पाँव छूता था और दादी ब्रजभाषा में आशीर्वाद देती थी, "बड़ी आरबल होइ ; करुये नीब ते बड़ौ होइ । बहू कोख-माँग की भरी-पूरी होइ ।" सारे गाँव के लोग मेरी दादी

को अभिवादन करते समय "पंडितानी ! पाँय लागूँ" कहा करते थे। दादी की तो बात ही क्या, मुझ ११ वर्षीय बालक से भी गाँव के साठ वर्ष के बूढ़े "पंडित जी ! पाँय लागूँ" कहा करते थे।

पहली बार जिस दिन एक वृद्ध पुरुष ने मुझसे **'पाँय लागूँ'** कहा, तो मैंने भी उससे उत्तर में **'पाँय लागूँ'** कह दिया। तब वह कुछ हँसा। मेरी बात उसने मेरी दादी से कह दी। सन्ध्या को मेरी दादी ने मुझे समझाया, "बेटा ! जब तोइ कोई 'पाँय लागूँ' कहौ करै, तौ तू वाइ कहौ करि, "चिरंजीव रहौ, खुस रहौ, फूलौ–फलौ।" उस घटना के बाद मैं भी **'पाँय लागूँ'** के उत्तर में **'खुश रहौ'** कह दिया करता था।

अपनी दादी के ममताभरे प्यार का बखान तो मैं कहाँ तक करूँ, वह तो मेरी वाणी और लेखनी की सामर्थ्य से परे है; हाँ अपनी बूआ के प्यार की एक घटना मुझे आज तक याद है।

बूआ का वात्सल्य

मैं लगभग १६ वर्ष का था, तब अपनी बूआ की ससुराल गया था। बूआ की ससुराल बुलन्दशहर के पास नैथला गाँव में थी। तीन दिन रहकर, जब मैं नैथला गाँव से चला, तब बूआ ने चुपके-से एक कपड़े में मुझे दो सेर घी बाँधकर दे दिया। जाड़े के दिन थे; इसलिए घी कपड़े में बँध तो गया था; लेकिन प्रातः-काल के बाद दोपहर के समय में उसके टपकने की पूरी-पूरी सम्भावना थी। अतः बूआ से मैंने मना किया। प्रातः पाँच बजे का समय था। घर में भी कुछ अँधेरा था ; बूआ ने मेरी बाँह दबायी, जिसका संकेतार्थ था कि मैं उस घी को उसी हालत में चुपके से ले जाऊँ और बुलन्दशहर में जाकर मिट्टी की मलसिया खरीद कर उसमें रख लूं। नैथला से बुलन्दशहर को मैं पैदल ही चल दिया। घी रास्ते में ही कुछ-कुछ टपकने लगा था। तब मैंने कपड़ेसहित उस घी को दो-तीन जगह पानी से तर भी किया था। बुलन्दशहर में फिर मैंने वही किया, जो बूआ ने मुझसे कहा था।

आज उस घटना को साठ वर्ष बीत गये, लेकिन कल की-सी लगती है। बार-बार याद आती है, उन दिनों की और दादी, माँ और बूआ के उस अगाध वात्सल्य की। तब हमारा देश परतन्त्र था, हम पराधीन थे, खेती में से कुछ मिलता न था—लगान, बाकी, भराई की भी पूर न पड़ती थी। किसान खेती करने में रुचि न लेते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि हमारे घर के सदस्यों को दाल से रोटियाँ खाने को इसलिए मिल जाती थीं कि मेरे पिता जी आयुर्वेद के वैद्य थे। इलाज के बदले में प्रायः छहमाही अनाज आ जाया करता था। तब टके में ऊँट तो मिलता था, लेकिन ऊँट खरीदने के लिए लोगों के पास टका न था। गाँवों में बड़ी गरीबी

थी, लेकिन ईमानदारी थी। कार्तिक और वैसाख में इलाज की फीस में अनाज अवश्य आ जाता था। हम मन में प्रसन्न रहते थे, क्योंकि घर में प्यार बरसता था। तन निर्धन था पर मन धनवान् था।

मेरे गाँव शेखूपुर में मुझसे पहले किसी ने भी मिडिल पास न की थी। मैंने १४ वर्ष की अवस्था में हिन्दी मिडिल पास की थी और २२ वर्ष की अवस्था में इन्टर। बाईसवीं अवस्था में ही सिकन्दराराऊ से मेरा विवाह हुआ था। तब मैं इन्टर पास था, मेरी पत्नी मिडिल पास थी।

मेरी मिडिल परीक्षा और मेरा विवाह हमारे गाँव के लोगों के लिए ऐतिहासिक घटनाएँ थीं। हमारे गाँव के किसी ब्राह्मण बालक का विवाह तब तक शहर से न हुआ था। मेरी शादी में बरात में गये एक व्यक्ति से जब एक दिन शेखूपुर गाँव के एक किसान ने पूछा कि सिकन्दराराऊ की बरात में तुमने क्या नयी बात देखी, तो उत्तर में उस व्यक्ति ने कहा, "चाचा! सिकन्दरे की छोरीं और बइअरबानीं तौ मैंमैं हीं। उनके लत्ता बिजुरी–से चमकत ए। ऐसे ऊजरे लत्ता हमनैं तौ कबऊ नायँ देखे।"

गृहस्थी का भार

मेरे घर की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी न थी। पिता जी पर मेरे बाबा कर्ज छोड़ गये थे, पिता जी को वह भी अदा करना पड़ता था। २२ वर्ष की अवस्था में मेरा विवाह हो गया था। तब मैं विद्यार्थी था और केवल इन्टर परीक्षा पास की थी। पिता जी ने विवाह हो जाने के बाद मुझसे कह दिया था कि अब तुम नौकरी करो और अपनी गृहस्थी का पालन करो। तुम्हारे दो छोटे भाइयों की शिक्षा–दीक्षा का भी उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है। इसे तुम्हें स्वयं सोचना चाहिए।

अपने तथा अपनी पत्नी के भरण–पोषण का भार मुझ निराधार २२ वर्षीय युवक के कन्धों पर आ पड़ा था। एक छोटे-से गाँव के बालक की जान–पहचान ही कितनी होती है? नौकरी के लिए जहाँ–तहाँ मारा-मारा फिरता था। हम दोनों की गुज़र–बशर होजाए और मैं आगे पढ़ भी लूँ—इसी लालसा में मैं बहुत समय तक भार के कारण वेग से चलनेवाले मज़दूर की भाँति भागता रहा हूँ।

सन् १९३८ ई० से १९४२ ई० तक के मेरे दिन भागते-भागते और रातें आकाश के तारे गिनते-गिनते कटी थीं। निराशा की अँधेरी में आशा की एक क्षीण किरण यही थी कि समय परिवर्तनशील है, शास्त्रों में कहा गया है कि दु:ख और सुख गाड़ी के पहिये की पुट्ठी की भाँति क्रमश: आते–जाते रहते हैं। वेदना के मरुस्थल में मेरी यात्रा के मार्ग में कहीं छाया तो न थी, लेकिन इतना विश्वास था कि प्रचण्ड धूप कभी ढलेगी तो सही। दोपहर के बाद कभी शाम होगी तो। उन दिनों मुझसे दो–तीन ज्योतिषियों ने यह भी कहा था—शनिश्चर की साढ़साती में

कुछ दिन ऐसे भी आते हैं, जिनमें शनि की वक्रता ऋजुता में बदल जाती है।

सन् १९३७ ई० में मैथिलीशरणगुप्त की काव्य-कृति 'पंचवटी' पढ़ी थी। उसकी ये दो पंक्तियाँ मैं मन में गुनगुनाकर कुछ धैर्य का-सा अनुभव किया करता था—

"जितने कष्ट–कण्टकों में है, जिनका जीवन–सुमन खिला।
गौरव–गंध उन्हें उतना ही, अत्र तत्र सर्वत्र मिला॥"

—(पंचवटी)

मेरे श्रद्धेय गुरु पं० गोकुलचन्द्र शर्मा

मैं सन् १९३७ ई० में धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़ में ११वीं कक्षा में पढ़ता था। हमें हिन्दी विषय गुरुवर पंडित गोकुलचन्द्र जी शर्मा पढ़ाते थे। उनकी अध्यापन–पद्धति से मुझे लोकाध्ययन की दृष्टि मिल गयी थी।

पंडित जी निबन्ध लिखने के लिए हमें साहित्यिक शीर्षक तो दिया ही करते थे; लेकिन एक महीने में एक शीर्षक ऐसा भी देते थे, जिसका सम्बन्ध लोक–जीवन से होता था। वे शीर्षक हमारी मनोभूमि में मौलिकसर्जना के बीज–वपन करने लगे थे। पंडित जी द्वारा दिये हुए शीर्षक होते थे—**'फेरीवालों की आवाजें', 'बाजीगर के खेल', 'बरुआ और सांप', 'बाग में गिल्ली–डंडा'** आदि। काव्य पढ़ाते समय पंडित जी हमसे कहा करते थे, "तुम मुझे वाच्यार्थ में मत उलझाओ। मैं तुम्हें काव्य की आत्मा के दर्शन कराऊँगा।"

सन् १९३८ ई० में इन्टर परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त मैं ब्राह्मण–कर्म के नाते अपने जीवन के भविष्य के सम्बन्ध में सोचता रहता था।

मैं सोचता था कि मैं उस कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, जो शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिनी शाखा का कुल है। इस शाखा के ब्राह्मण भारत में सर्वाधिक प्रदेशों में रहते हैं। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, असम, और दिल्ली में शुक्लयजुर्वेद की **माध्यन्दिनी** शाखा जीवित है। कृष्ण यजुर्वेद की **मैत्रायणी** शाखा तो केवल महाराष्ट्र में जीवित है।

विष्णुपुराण के अनुसार चारों वेदों की कुल शाखाएँ ११३१ थीं, उनमें से आज कुल १० शाखाएँ मिलती हैं। उन १० शाखाओं में ऋग्वेद की १, यजुर्वेद की ४, सामवेद की ३ और अथर्ववेद की २ मिलती हैं।

हमारे समाज में वैदिक संस्कृति एवं वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा और निष्ठा जैसे-जैसे कम होती गयी, वैसे-वैसे उन शाखाओं के ब्राह्मण भी अपना वेदाध्ययन–कर्म छोड़ते चले गये। अंग्रेजों के शासन–काल में तो वैदिक अध्ययन के लिए कोई व्यवस्था थी ही नहीं।

यजुर्वेद की चार शाखाएँ इस प्रकार मिलती हैं—(१) शुक्ल यजुर्वेद की **माध्यन्दिनी** शाखा (२) शुक्ल यजुर्वेद की **कारण** शाखा (३) कृष्ण यजुर्वेद की **मैत्रायणी** शाखा (४) कृष्ण यजुर्वेद की **तैत्तिरीय** शाखा।

मैं सोचा करता था कि क्या मैं कभी अपने भावी जीवन में माध्यन्दिनी शाखा की प्रणाली के अनुसार यजुर्वेद के मन्त्रों का पाठ कर सकूंगा । मेरी यह आशा कभी सफल साकारता ग्रहण न कर सकी । मुझे कोई ऐसा आचार्य न मिला, जो उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के साथ यजुर्वेद के मन्त्रों का पाठ कर सके और अर्थ भी समझा सके ।

सन् १६३८–३६ ई० में सम्पूर्णानन्द जी उत्तरप्रदेश के प्रथम कांग्रेसी, मन्त्रि-मण्डल में शिक्षामन्त्री हुए थे । तब उत्तर भारत में यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा की पद्धति–प्रणाली के अनुसार मन्त्र–पाठ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वेद–विभाग के आचार्य पंडित विद्याधर जी ही जानते थे । उस शाखा के वेद–पाठी महाराष्ट्र और गुजरात में भी दो–तीन ही पंडित थे ।

वेद–मन्त्र–पाठ की ऐसी दशा देखकर सम्पूर्णानन्द जी ने तब उत्तरप्रदेश राज्य की कांग्रेस सरकार को सलाह दी थी कि सरकार को चाहिए कि वह उन वेद–पाठी पंडितों की वेद–मन्त्रोच्चार–पद्धति–प्रणाली के ध्वन्यंकित रिकार्ड तैयार कराने की शीघ्र व्यवस्था करे; अन्यथा यह विद्या कुछ समय बाद भारत से सदा को लुप्त हो जाएगी । सम्पूर्णानन्द जी सन् १६५४–५६ ई० में उत्तरप्रदेश के मुख्य–मन्त्री भी रहे थे । हमारे देश का दुर्भाग्य कि तब उत्तरप्रदेश सरकार या भारत सरकार वैसा न करा सकी ।

सहकारी विभाग में नौकरी

सन् १६४१–४२ ई० में मैं उत्तरप्रदेश के सहकारी विभाग में कपड़ा सहकारी समितियों का जिला निरीक्षक था और बिजनौर जिले की नजीबाबाद तहसील की कम्बल–सहकारी–समितियों का कार्य विशेष रूप से देखा करता था । तब मैं वहाँ अकेला रहता था । उस नौकरी को जीविका के लिए कर रहा था ; मन नहीं लगता था । नजीबाबाद के पास मालिनी नदी है । उस नदी के किनारे बैठकर अकेला उसकी पतली धारा को वेगवती रूप में बहते हुए देखा करता था । घण्टों बैठा-बैठा देखता रहता था । एक दिन मालिनी की जलधारा देखते-देखते महाकवि कालिदास याद आये । फिर उनकी कृति 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का स्मरण हो आया । फिर मेधातिथि–पुत्र महर्षि कण्व के आश्रम का पूरा चित्र मेरे मानस–पटल पर छा गया । मेरा मन मालिनी से पूछने लगा, "मालिनी ! क्या तुम हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त (महाभारत में दुःषन्त भी) के शासन–काल में भी इतनी क्षीणकाय थीं ? मेरा विश्वास कहता है कि निश्चय ही तुम उस समय परम रमणीक, विशाल और वैभव शालिनी रही होगी । तुम्हारी रमणीयता ने ही निश्चितरूप से महाकवि कालिदास के मन को मोहित किया होगा । तुम्हारे किनारे पर ही तो महर्षि कण्व का आश्रम था । तुम्हारे किनारे-किनारे उगेहुए वृक्षों की शाखाओं की शीतल छाया में बैठकर

ही कण्व आदि ऋषि ईशाराधन में निमग्न रहते होंगे। वे ऋषि और उनके ब्रह्मचारी शिष्य तुम्हारी ही रेती पर आसन लगाकर वेद-मन्त्रों का पाठ करते होंगे। तुम्हारे ही किनारे के वृक्षों की शाखाओं पर उन ऋषियों के कटिवस्त्र और उत्तरीय सूखते होंगे। तुम्हारे किनारे की रेती में ही हरिणों और हंसों के जोड़े किलोलें किया करते होंगे। मालिनी ! मैं नहीं मानता कि तुम तब भी ऐसी पतली धारावाली रही होगी। तुम्हारे जल में ही तो ऋषि-मुनि स्नान करते थे। तुम्हारे किनारे की रेती में कण्वाश्रम से चलकर महर्षि कण्व की पालिता कन्या शकुन्तला तुममें स्नान करने आती होगी। मालिनी ! निश्चय ही तब तुम शोभाशालिनी होगी। तभी तो महाकवि कालिदास की लेखनी ने तुम्हारी छवि का सुन्दर शब्दों में चित्र खींचा था। महाकवि की लेखनी ने उस चित्र को ही तो वाणी प्रदान की थी, जो दुष्यन्त ने अपनी तूलिका से खींचा था और वह दुष्यन्त की आँखों में छायी हुई शकुन्तला की प्रथम छवि थी। दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाता था और अभाव देखकर फिर कुछ और जोड़ने लगता था। जिस वातावरण में दुष्यन्त ने प्रथम बार शकुन्तला को देखा था, उसे ही वह पूरी तरह चित्र में उतारना चाहता था। महाकवि कालिदास से भी न रुका गया होगा और लिखने लगे होंगे—

"कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोपहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगिरोः पावनाः।
शाखालम्बितबल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥"

—(शाकुन्तलम्, अंक ६/श्लोक १७)

मालिनी ! मैं शतप्रतिशत मानता हूँ कि तुम्हारी रमणीयता ने ही महाकवि कालिदास से यह श्लोक लिखा लिया होगा।"

मैं इस भावधारा में डूबा रहा और मालिनी के पुलिन पर बैठे हुए उसके जल को अपने दाहिने हाथ से धीरे-धीरे उलीचता रहा।

लगभग तीन घण्टे बाद वहाँ से आ गया और एक होटल में भोजन करके अपने आवास पर आकर सो गया। सो क्या गया ? चारपाई पर लेट गया और भूत और भविष्य के विचारों में डूबा रहा। कहने लगा, "प्रभो ! चाहता था किसी शिक्षा-संस्था में नौकरी करना ; लेकिन तुमने मुझे दे दिया सहकारी-विभाग। क्या जीवन ऐसे ही बीतेगा ? गुरुदेव पंडित गोकुलचन्द्र जी शर्मा का आशीर्वाद सन् १९४३-४४ ई० में साकार हुआ था। तब शिक्षा-विभाग की नौकरी मिली थी।

मेरे जीवन में मुझे **तीन गकार** विशेष रूप से ज्ञान-वृद्धि का आशीर्वाद देते रहे हैं—**(१) गुरु, (२) ग्रन्थ, (३) ग्रामीण जन।**

जितना गुरुओं ने मुझे दिया, उतनी मुझसे उनकी सेवा नहीं बनी। हाई स्कूल तथा इन्टर की कक्षाओं में हिन्दी पढ़ानेवाले श्रद्धेय **पंडित गोकुलचन्द्र जी शर्मा** की कक्षाओं में मैं उनका प्रिय विद्यार्थी था और उनके घर पर उनके परिवार का

एक सदस्य था अर्थात् उनके चार पुत्रों के बाद, उनका पाँचवा पुत्र । मेरे अध्यापकीय जीवन का मंगलाचरण उनकी ही वाणी के मंगल-मन्त्र से हुआ था । मुझे उनका आशीर्वाद न मिला होता, तो मैं अध्यापक, लेखक और साहित्यसेवी न बन पाता, बस उत्तरप्रदेश सरकार के सहकारी विभाग में अधिक से अधिक एक उपनिदेशक होता और कपड़े की सहकारी समितियों के लेखों-जोखों की जाँच-पड़ताल करता फिरता। कुछ कमाता, खाता, बाल-बच्चे पालता और चुपचाप संसार से चला जाता ।

गुरुवर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

एम० ए० (हिन्दी) परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद जो गुरुदेव मुझे मिले, वे नाम से **'वासुदेवशरण'** और काम से 'शारदाशरण' थे । वे काशी विश्वविद्यालय में आचार्य ही न थे, अपितु एक विचित्र चलविश्वविद्यालय थे । उन्होंने मेरे ज्ञान का तीसरा नेत्र खोल दिया था । उनका ज्ञान-दान मेरे जीवन में सारस्वत अवदान बना था । वे जन्म से वैश्य और कर्म से ब्रह्मर्षि थे । उनकी वाणी से वैदिक मन्त्रों के फूल झड़ते थे । बोलते थे, तब लगता था कि एक ब्रह्मवेत्ता वैदिक ऋषि वेद की ऋचा का स्वयं भाष्य कर रहा है । वे गहरे पानी पैठते थे । उन्होंने जिसे छुआ, उसे कुन्दन बना दिया । जिसे देखा, तो उसे देखते ही चले गये और तब तक देखते रहे, जब तक उसकी आत्मा के दर्शन न हो गये । वे काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व-विभाग में आचार्य थे, डी० लिट्० थे, लेकिन अपने ग्रन्थों पर केवल वासुदेवशरण लिखते थे, आगे-पीछे कुछ नहीं । डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल का राशि का नाम बुद्धिप्रकाश था । हापुड़ के पास खेड़ा गाँव उनकी जन्मभूमि थी ।

डा० अग्रवाल जी को भारतरत्न डा० भगवानदास ने लिखा था, "मैं आपका नाम पद्मविभूषण उपाधि के लिए भारत सरकार को भेजना चाहता हूँ, अनुमति दें ।" उत्तर में अग्रवाल जी ने भगवानदास जी को लिखा था—

"श्री कुमार स्वामी की भाँति आकिञ्चन्य में मेरी श्रद्धा है । मुझे अपने नेत्रों के आगे तीन कोटियाँ दिखायी दे रही हैं—**(१) कला, पुरातत्त्व और इतिहास की कोटि (२) वेद-उपनिषद् साहित्य की कोटि (३) आध्यात्मिक रहस्य की कोटि** । इन तीनों के दर्शन मैं अच्छी तरह करना चाहता हूँ । सांसारिक यश-प्राप्ति की मेरी इच्छा समाप्त हो गयी है । आपको प्रणाम करते हुए मैं उसके लिए आपसे क्षमा चाहता हूँ ।" डा० अग्रवाल जी ने कुल ६२ वर्ष की आयु पायी थी । उन्होंने १२० ग्रन्थों की सृष्टि की और लगभग ३००० निबन्ध-प्रबन्ध लिखे । ऐसे महान् सारस्वत तपस्वी से मुझे अध्ययन की प्रेरणा मिली थी ।

गुरुवर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल की दैनिक जीवन-पद्धति ऋषि-जीवन-पद्धति थी । काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के परिसर के आवासीय बँगले में वे गाय रखते थे और प्रातः धारोष्ण दुग्ध का पान करते थे ।

ऋग्वेद (१०/१३७) में सप्तर्षियों का उल्लेख है—(१) **भारद्वाज** (२) **कश्यप** (३) **गौतम** (४) **अत्रि** (५) **विश्वामित्र** (६) **जमदग्नि** (७) **वसिष्ठ** ।

डा० अग्रवाल जी को मैं ऋषि **वशिष्ठ** की परम्परा में मानता हूँ । सप्तर्षियों में वशिष्ठ का स्थान प्रमुख है । महाभारत (मानव०, शान्ति पर्व, ३२७/६१) में जो सप्तर्षि बताये गये हैं, उनमें भी वशिष्ठ जी हैं—(१) **मरीचि** (२) **अंगिरा** (३) **अत्रि** (४) **पुलस्त्य** (५) **पुलह** (६) **क्रतु** (७) **वशिष्ठ** । इन्हें ब्रह्मा के सात प्रवृत्तिमार्गी मानसपुत्रों में माना गया है । वशिष्ठ ने अपने पुत्र तथा शिष्य **शक्ति** को वेद–मन्त्र कंठस्थ कराये थे । फिर श्रुति–परम्परा चलती रही । शक्ति के पुत्र **पराशर** और पराशर के पुत्र **व्यास** थे । व्यास जी को पाराशर्य कृष्णद्वैपायन व्यास भी कहा जाता है । यह सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न थे । मूल महाभारत के रचयिता पराशर–पुत्र व्यास ही थे ।

महाभारत (गीताप्रेस, वन पर्व, अ० ४५/६) में मेधा के ८ गुण बताये गये हैं—**शुश्रूषा** (२) **श्रवण** (३) **ग्रहण** (४) **धारण** (५) **ऊहा** (६) **अपोह**(७) **अर्थ-विज्ञान** (८) **तत्वज्ञान** ।

गुरुवर अग्रवाल जी मेरी शब्दार्थ–शुश्रूषा को तत्त्वज्ञान के स्तर तक पहुँचाने का प्रयास करते थे । कभी-कभी मेरी शब्दार्थ–जिज्ञासा के समय वे यह वाक्य भी कह दिया करते थे, "इस शब्द पर फिर बातें करेंगे ।"

कुछ दिनों बाद शब्दार्थ के निश्चितीकरण के उपरान्त ही वे मुझे बताया करते थे ।

वैदिक साहित्य के मनीषी डा० अग्रवाल जी की लेखनी ने जो वाङ्मय उदघोपित किया है, उस उद्घोष से हिन्दी–साहित्य वैदिक भावनाओं से भर गया है । प्राचीन भारत की सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय भव्य भारती की मन्त्रपूत ऋचाओं के मर्म से हिन्दी के पाठक परिचित हुए हैं । गुरुवर अग्रवाल जी के साहित्य से मानव में देवत्व का उदय होगा और धरती पर उदात्त भावों की स्वर्गङ्गा अवतरित होगी । गुरुदेव द्वारा प्रणीत हिन्दी–साहित्य में वैदिक ऋषियों की वाणी का मनोरम स्वर स्पष्टतः सुनायी पड़ता है । मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मेरे कानों ने प्रत्यक्षतः डा० अग्रवाल जी की वाणी से निस्सृत वैदिक ऋचाओं की अद्भुत व्याख्याएँ सुनी थीं । मेरे अन्तस् के शब्दार्थों को डा० अग्रवाल जी के साहित्य की धरती मिली थी ।

गुरुवर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के सम्पर्क–सान्निध्य में आने के एक वर्ष बाद ही मैं ऐसा अनुभव करने लगा था कि हिन्दी, बँगला, मराठी और गुजराती भाषाओं का जितना साहित्य है, वह हमारे वेद–उपवेद के विशाल कल्पवृक्षों की शाखा–उपशाखाओं का ही विस्तार है । उक्त भाषाओं के साहित्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति से सम्बद्ध जितना जो–कुछ मिलता है, उसके बीज–सूत्र चारों वेदों और उनके चारों उपवेदों में हमें मिल जाते हैं । यह बात अलग है कि ब्राह्मण, आरण्यक,

उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि में आवश्यकतानुसार किसी में ज्ञान पर, किसी में कर्म पर और किसी में भक्ति पर अधिक बल दे दिया गया हो। एक वैदिक आत्मा सभी में परिव्याप्त है।

हमारे वेदों, उपवेदों तथा वेदाङ्गों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) वेद **ऋग्वेद,** इसका उपवेद **अर्थशास्त्र**।

(२) वेद **यजुर्वेद,** इसका उपवेद **धनुर्वेद**।

(३) वेद **सामवेद,** इसका उपवेद **संगीतशास्त्र**।

(४) वेद **अथर्ववेद,** इसका उपवेद **आयुर्वेद**

वेदाङ्ग

(१) **शिक्षा**—इसे ध्वनिविज्ञान भी कहते हैं।

(२) **निरुक्त**—इसे अर्थविज्ञान भी कहते हैं।

(३) **व्याकरण**—इसे रूपविज्ञान–वाक्यविज्ञान भी कहते हैं।

(४) **कल्प**—यज्ञीय अनुष्ठान से सम्बद्ध वेदाङ्ग।

(५) **छन्द**—कविता में मात्रा–गण आदि का ज्ञान करानेवाला वेदाङ्ग।

(६) **ज्योतिष**—काल–निर्णय का वेदाङ्ग।

प्रत्येक मनुष्य के सामान्यतया तीन रूप होते हैं—एक रूप वह, जो ईश्वर या प्रकृति से उसे मिला है। दूसरा रूप वह, जिसमें वह अपने को समझता है। तीसरा रूप वह, जैसा अन्य लोग उसे समझते हैं।

अन्य लोग उसे ऊँचा और भला समझें, इसलिए प्रायः मनुष्य जैसा है, उस पर पर्दा डालता है और जो वह नहीं है, उसे दिखाने का प्रयास करता रहता है। मनुष्य का यह दिखावा उस समय बहुत ज़्यादा बढ़ जाता है, जब उसमें दम्भ या अहंकार की मात्रा बढ़ जाती है।

डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के सम्पर्क में आने से पहले मुझमें ज्ञान का दम्भ था। उनकी ज्ञान–गरिमा तथा अध्ययन–पद्धति ने चुपके-चुपके मेरे दम्भ को कुचल दिया था। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं कोई मनीषी या सन्त बन गया था। मानवीय दुर्बलताएँ मुझमें थीं और अब भी हैं।

एम० ए० करने के बाद

एम० ए० (हिन्दी) की उपाधि पा लेने के बाद मैं अपने को बहुत पढ़ा–लिखा मानने लगा था। अध्यापक तो था ही, सभी छात्र 'गुरु जी, गुरु जी' कहते थे और मेरे चरण छूकर प्रणाम किया करते थे—इसमें मैं और भी अधिक अपने को तीसमारखाँ मान बैठा था। सभा–सम्मेलनों में भी काफ़ी उछल–कूद किया करता था। ऊँट जब तक पहाड़ के नीचे से होकर नहीं गुज़रता, तब तक वह अपने को सबसे अधिक ऊँचा समझता है। मेरी भी ठीक वैसी ही दशा थी।

सन् १६५१–५२ ई० में डा० अग्रवाल जी के सम्पर्क में आने पर मेरे मन का स्वरूप बदल गया था। मैं बहुत ही गम्भीर हो गया था। सागर में मिलने पर नदी की उछल–कूद स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

मुझे गुरुवर की दिनचर्या तथा अध्ययन–पद्धति पूरी तरह देखने को मिली थी। उसे देखने से ही मैं अन्तर्मुखी बन गया था। उस समय अपने अन्तर्जगत् में विचरण करने में मुझे परम आनन्द मिलता था। उस आनन्द को मैं ब्रह्मानन्द सहोदर की ओर जानेवाला आनन्द भी कह सकता हूँ।

मैंने एक ग्रन्थ में पढ़ा था कि अत्रि ऋषि बड़े ज्ञानी और शास्त्र–वेत्ता थे। उनका जन्म ब्रह्मा के नेत्रों से हुआ था। इस कथन का संकेत है कि अनुसूया के पति ऋषि अत्रि को सारा ज्ञान प्रकृति तथा लोक को अपनी आँखों से देखने से ही हो गया था। अध्ययन का क्या अर्थ है और कैसे किया जाता है—यह मैंने गुरुवर अग्रवाल जी के कार्यकलापों को देखकर ही जान लिया था। श्रीमद्भागवत (११/३/२१) की वाणी में कहा गया है—

"तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।"

—(भागवत ११/३/२१)

गुरुवर डा० अग्रवाल जी के सान्निध्य–प्रसाद से मेरी बुद्धि शनैः-शनैः शब्द की आत्मा के दर्शनों के लिए आगे बढ़ने लगी थी। मैं किसी शब्द को सुनते या पढ़ते ही उसके नाद से हटकर तुरन्त उसके अर्थ के लिए चिन्तन–मनन करने लगता था। चिन्तन की दृढ़ता और मनन की निरन्तरता कुछ ही समय में मुझे शब्द के अर्थ के दर्शन करा देती थी।

मैंने 'योगवासिष्ठ' में पढ़ा था कि विचार की दृढ़ता और मनन की निरन्तरता से संसार ब्रह्मरूप में परिवर्तित दृष्टिगोचर होने लगता है। शब्दार्थ मीमांसा की दिव्य तपोभूमि में मनन की साधना से मुझे अर्थ का आलोक दिखायी देने लगा था। तब मेरी बुद्धि का वैसा ही स्वभाव बन गया था।

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के प्रेमी पाठकों में कुछ अधीती पाठक डाक्टर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन के कृतित्व से अवश्य परिचित होंगे। वे अभारतीय होते हुए भी भारतीय आत्मा थे। सन् १८५१ ई० में ग्लेनचमियरी (आयरलैंड) में उनका जन्म हुआ था। उनका अधिकांश जीवन भारत में ही बीता था। उन्होंने ही सर्व-प्रथम भारतीयों को तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के कृतित्व और कला का महत्त्व बताया था और 'बिहार पेजेन्टलाइफ़' ग्रन्थ का निर्माण करके लोक–शब्दों के अध्ययन का दिग्दर्शन कराया था। विद्यार्थी ग्रियर्सन का प्रिय विषय गणितशास्त्र था। वह संस्कृत के उद्भट विद्वान् प्रो० एटकिन्सन के शिष्य थे। प्रो० एटकिन्सन की विद्वत्ता का ग्रियर्सन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह संस्कृत प्रेमी बहुभाषाविद् बन गये और उन्होंने भारत की भाषाओं तथा बोलियों से सम्बद्ध ११ जिल्दों में सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। गुरु के प्रभाव से एक गणितशास्त्री शिष्य भाषाशास्त्री बन गया।

गुरुवर डा० अग्रवाल जी के प्रभाव से मैं कवि से भाषा–विवेचक बन गया था। फिर शनैः-शनैः भाषाशास्त्र की विभिन्न भूमियों में विचरण करने का चस्का बढ़ने लगा था।

जब मैं भाषाशास्त्र–प्रेमी बना

श्रद्धेय गुरुवर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' की सांस्कृतिक अरण्यानी में पूर्णतया परिभ्रमण करके उसका कोना-कोना देख चुके थे। लोक शब्दों के क्षीरसागर में उन्होंने डटकर डुबकी लगायी थी। वे संस्कृत–व्याकरण के कान्तार में भी लम्बे डग भर चुके थे। मैं मूलतः संस्कारों से था तो कविता-प्रेमी। ब्रजभाषा तथा मानक हिन्दी में कविताएँ रचता भी था; लेकिन गुरुवर डा० अग्रवाल जी के प्रभाव तथा आशीर्वाद से मैं शब्द–शास्त्र का प्रेमी बन गया था। गुरुदेव ने मुझे 'शब्दार्थ–मीमांसा' की ऐसी चसक लगा दी थी, कि आज तक भी नहीं छूटी है। उन्होंने मेरे पी-एच० डी० ग्रन्थ 'कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली' को डा० ग्रियर्सन के 'विहारपेजेन्टलाइफ' ग्रन्थ से इक्कीस बताया था। यह उनका आशीर्वाद था।

गुरुओं की कृपा

सन् १९३९ ई० में जब मैंने धर्मसमाज कालेज अलीगढ़ से हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की थी, तब मैं २० वर्ष का था। कक्षा ९वीं और १०वीं में गुरुवर पंडित गोकुलचन्द्र जी शर्मा ने हमें हिन्दी विषय पढ़ाया था। उनके ही आशीर्वाद और वात्सल्य से मेरी हृदय–भूमि में हिन्दी–निष्ठा का अंकुर उगा था। उनकी ही कृपा से मैं सासनी (अलीगढ़) के विद्याभवन विद्यालय का प्रधानाचार्य सन् १९४३–४४ में नियुक्त हुआ था। तब गुरुवर ने मेरे जीवन के मरुस्थल में गुलाब उगाये थे।

महाप्राण निराला ने एक जगह लिखा है कि "मतवाला के सम्पादक श्री महादेवप्रसाद सेठ न होते, तो निराला भी न होता।" मैं निस्संकोचभाव से साभार श्रद्धापूर्वक कह सकता हूँ कि हाई स्कूल की कक्षाओं में यदि पंडित गोकुलचन्द जी शर्मा ने मुझे न पढ़ाया होता, तो यह अम्बाप्रसाद हिन्दी–सेवी 'सुमन' न बनता और यदि डा० वासुदेवशरण जी मेरे पी-एच० डी० शोध–कार्य के निर्देशक न होते, तो मैं शब्दशास्त्र-प्रेमी न होता। गुरुवर अग्रवाल जी ने ही मुझे शब्दों के शरीरों में अर्थ रूपी आत्मा के दर्शन करने की दिव्य दृष्टि प्रदान की थी।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से सम्पर्क होने के बाद

मैं सन् १९५२ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के परिसर में गुरुवर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के बँगले में कुछ महीनों रहा था। उन दिनों आचार्य

हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के कुछ भाषण भी मैंने सुने थे।

आचार्य द्विवेदी जी ने एक दिन अपने भाषण में कहा था कि हमें शब्दों को बार-बार छेड़ते रहना चाहिए। छेड़ने पर शब्द स्वयं बोलेंगे और अपने सुख-दुख की कहानी कहेंगे। मैंने द्विवेदी जी की यह बात सुनी और मन के कोने में जुगो कर रख ली।

उस दिन के बाद मैं शब्दों की ध्वनियों तथा निरुक्तियों पर अधिक ध्यान देने लगा था। तब मैं अच्छी तरह जान गया था कि सामान्य भाषा और साहित्यिक भाषा में क्या अन्तर है? निराला जी ने अपनी काव्य-सर्जना के विषय में एक वाक्य लिखा है—" 'जुही की कली' मेरी कापी में खिल चुकी थी"—यही तो साहित्यिक भाषा है, जिसमें **'कली'** के कारण **'खिलना'** क्रिया का प्रयोग है।

तुलसीकृत 'मानस' के जनकवाटिका-प्रकरण में अर्द्धाली पढ़ी—

"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥" —(मानस, बाल० २३०/१)

प्रथम चरण को बार-बार पढ़ा, तो शब्दों में से आभूषणों की झंकार सुनायी देने लगी।

मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' पढ़ने लगा। गोदावरी नदी के जल-प्रवाह के विषय में गुप्त जी लिखते हैं—

"चंचल जल कल-कल कर मानो ताल दे रहा है अब भी।"

इस चरण को तीन-चार बार पढ़ने पर जल-प्रवाह की कल-कल ध्वनि सुनायी देने लगी।

मन कहने लगा कि तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त की उपर्युक्त पंक्तियों में तो शब्दों की ध्वनियाँ ही भाषा का अलंकार बन गयी हैं। अर्थात् छन्द के चरण के वर्ण ही आभूषण-नाद और जल-प्रवाह बन गये हैं।

भूधर शब्द का अर्थ मात्र सामान्य पर्वत नहीं, उसमें कुछ विशेषतावाला पर्वत अर्थ दिखायी देने लगा। **'मार्तण्ड'** नाम के सूर्य में उष्णता की प्रचण्डता की अनुभूति होने लगी।

जब सुमित्रानन्दन पन्त की कविता में निम्नांकित पंक्तियाँ पढ़ीं, तब **'विरह'** शब्द में कराह भी सुनने लगा—

"**विरह** अहह कराहते इस शब्द को,
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा।" —पन्त

मैं कह चुका हूँ कि आचार्य द्विवेदी जी अपने भाषणों में प्रायः कहा करते थे कि "हमें शब्दों के तारों को बार-बार छेड़ते रहना चाहिए।" बार-बार छेड़ते रहने पर उनकी झंकारों में अन्तर्व्याप्त अर्थ-भेद हमें स्वतः ज्ञात होगा और साहित्य-सर्जना के क्षणों में काम देगा। किसी एक शब्द की झंकारों का अर्थ-भेद ही तो श्लेषालंकार को जन्म देता है।

एक दिन मैं यों ही सोचते-सोचते निम्नांकित वाक्य की कई आवृत्तियाँ कर गया—

"आग में जल गया।"

कभी **'जल गया'** एक साथ बहुत जल्दी कहता और कभी **'जल'** के बाद कुछ विश्राम लेकर फिर **'गया'** कहता। अर्थात् (१) **आग में/जल गया**। (२) **आग में जल/गया**।

इस प्रकार उच्चारण करने पर मेरी बुद्धि के पटल पर "आग में जल गया" वाक्य के दो अर्थ उभर आये।

प्रथम अर्थ—कोई पदार्थ आग में भस्म हो गया।

द्वितीय अर्थ—जल (पानी) आग में गया। इसलिए आग बुझ गयी।

मैं एक दिन भारतेन्दु युग के प्रसिद्ध निबन्धकार प्रतापनारायण मिश्र की यह कविता पढ़ रहा था—

"पितु मातु सहायक स्वामि सखा तुम ही एक नाथ हमारे हो।" इस कविता का अन्तिम चरण यह भी पढ़ा और बार-बार अर्थ पर विचार करने लगा—

"तुम-सो प्रभु पाइ **प्रतापहरि** किहिके अब और सहारे हो?"

'प्रतापहरी' को बार-बार गुनगुनाते-गुनगुनाते मुझे ये अर्थ सूझे—

प्रथय अर्थ—प्रतापहरी = प्रतापनारायण (कवि का नाम)।

द्वितीय अर्थ—प्रतापहरी = हे प्रताप से परिपूर्ण नारायण!

तृतीय अर्थ—प्रतापहरी = हे हरि! यह प्रताप नाम का व्यक्ति।

महाप्राण निराला की 'सरस्वती-वंदना' के **'वरदे'** पद को बार-बार गुनगुनाया तो दो अर्थ सूझ गये—(१) हे वरदात्री! (२) तू वर दे।

एक बार मैंने **'होली'** शब्द के **हो** अक्षर और **ली** अक्षर को एक साथ बोला, फिर **'हो'** को बोलकर कुछ विश्राम लेकर **'ली'** को बोला, तब दो अर्थ साफ-साफ दिखायी देने लगे—(१) **'होली'** = एक त्योहार जो फागुन मास की पूर्णिमा को होता है। (२) हो/ली = कोई घटना समाप्त हुई।

इस तरह की दृष्टि मुझे वाग्मिष्ठ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के भाषणों से प्राप्त हुई थी।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लेखकों के सम्बन्ध में भी एक बहुत बढ़िया बात कही थी। उन्होंने कहा था कि जो व्यक्ति लेखक बनना चाहता है, उसे समय का पूरा-पूरा सदुपयोग करना अनिवार्य बनाना पड़ेगा। हम अपने जीवन का पर्याप्त समय इधर-उधर की बातों में व्यर्थ बरबाद कर देते हैं। यदि हम नियम से प्रतिदिन एक पृष्ठ ही लिखें, तो एक वर्ष में ३६५ पृष्ठ लिख सकते हैं। ३६५ पृष्ठों की एक पुस्तक सुगमता से एक वर्ष में तैयार हो सकती है। यदि किसी को साहित्यिक जीवन ४० वर्ष का मिलता है, तो वह सुगमता से ४० ग्रन्थों का रचयिता बन सकता है। हम लेखक बनने की महत्त्वाकांक्षा तो रखते हैं, लेकिन कर्म और काल में सामंजस्य

स्थापित नहीं करते। कोई व्यक्ति लेखन की सतत साधना से ही सच्चा लेखक बन सकता है।

सन् १९५० ई० के बाद मैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के विशेष सम्पर्क में आया था। आचार्य द्विवेदी अप्रतिम विनोदशील थे और साहित्यिक विनोद किया करते थे। वार्तालाप के समय यथावसर काव्यात्मक सूत्र मुस्कातेहुए बोला करते थे। उन काव्यात्मक सूत्रों का आनन्द वही श्रोता प्राप्त कर सकता था, जिसे साहित्य का अच्छा ज्ञान होता था। काव्यात्मक सूत्रों के तो वे सचल कोश थे।

द्विवेदी जी कई बार हमारे हिन्दी–विभाग में अर्थात् अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में पधारे थे। दो बार अलीगढ़ में मेरे कुटीर पर भी पधारे थे और भोजन भी किया था। वे पान खाने के शौकीन थे। भोजनोपरान्त जब मैंने लगे हुए पानों की तश्तरी उनके समक्ष प्रस्तुत की, तब मुस्काते हुए धीरे से काव्यात्मक सूत्र बोलने लगे—"ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्" फिर पान के दो बीड़े उठा लिये। जिसकी स्मृति में श्रीहर्ष कवि की उपर्युक्त उक्ति नहीं, वह द्विवेदी जी के उक्त कथन का आनन्द नहीं ले सकता।

गर्मी की ऋतु थी। धूप तेज़ पड़ रही थी। मेरे कुटीर से वे जब विदा होकर चलने लगे, तब मैंने उनके ऊपर छतरी तान ली। दो क़दम चलने पर मेरी ओर देखकर बोले, "रंक चलै जिमि छत्र धराई"—इसका आनन्द वही श्रोता ले सकता है, जिसे सूरसागर का "चरनकमल बन्दौं हरिराई" वाला पद याद हो।

दूसरे दिन अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में उनका एक व्याख्यान 'हिन्दी–साहित्य को कबीर की देन' पर हुआ। व्याख्यान से पहले विभागाध्यक्ष महोदय ने द्विवेदी जी का अतिशयोक्तिपूर्ण परिचय दिया। परिचय के उपरान्त द्विवेदी जी व्याख्यान के लिए उठे और प्रारम्भ में उन्होंने मुस्कातेहुए कहा कि परिचय से मुझे ऐसा लगा कि कबीर से तो मेरी ही देन अधिक है।

द्विवेदी जी विनोद करते समय मुस्काते थे, मुस्कराते नहीं थे। **'मुस्काना'** छोटा और **'मुस्कराना'** बड़ा है।

व्याख्यान के बाद द्विवेदी जी विभागाध्यक्ष के कक्ष में आ गये और हम लोग भी उनके पास बैठ गये। थोड़ी देर बाद द्विवेदी जी के कुछ शिष्यों की चर्चा छिड़ गयी। उस चर्चा में रमेशकुन्तल मेघ की पुस्तकों की चर्चा चल पड़ी। दो मिनट बाद द्विवेदी जी बोले, "रमेशकुन्तल मेघ को मैंने एक महत्त्वपूर्ण सलाह दी है कि वह अपनी पुस्तकों के हिन्दी–अनुवाद भी शीघ्र प्रकाशित करा दे।" इस वाक्य को सुनकर हम लोग मन में चुपके–चुपके हँसने लगे। रमेशकुन्तल मेघ के गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी की कितनी मीठी और चुटीली टिप्पणी थी। इसे कहते हैं—

"सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्"।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी में सहज सभापंडित के पूर्णगुण थे। वे जाति से द्विवेदी और चतुराई भरे हास्य–प्रसंग सुनाने में चतुर्वेदी थे। जिस मंडली में

द्विवेदी जी उपस्थित हों, वह कभी मौन नहीं रह सकती थी। हँसी की फुहारें छूटती ही रहती थीं। वे स्वयं नाभि से हँसते थे और दूसरों को हँसाते थे।

द्विवेदी जी की चर्चा चलाते हुए मुझे लखनऊ निवासी **श्री अमृतलाल नागर** की भी याद आ गयी। नागर जी जनमे तो आगरा में थे, लेकिन नख से शिखा तक पूरे लखनवी थे। नागर जी की ज़िन्दादिली को उनके साथी या मित्र कभी भूल नहीं सकते। वे जहाँ बैठते थे, वहाँ महफिलें जवान हो जाती थीं।

पान के शौकीन द्विवेदी जी की तरह नागर जी भी थे; लेकिन नागर जी पान खाने में द्विवेदी जी से दस क़दम आगे थे। भोजन के समय के अलावा नागर जी के मुँह ने कभी पान को नहीं छोड़ा। भाँग और पान नागर जी के जीवनभर संगी–साथी बने रहे।

गुरुवर डा० अग्रवाल जी के निर्देशन में लिखे हुए मेरे पी-एच० डी० शोध–प्रबन्ध **'कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा–शब्दावली'** ने 'सूरसागर' के अनेक पदों के अर्थों की आत्मा के दर्शन मुझे कराये थे। सूरसागर (पद्र सं० ३१८२) का पद **'प्रीति करि दीन्ही गरें घुरी'** मैंने बी० ए० और एम० ए० में पढ़ा था; लेकिन उसकी पंक्ति—**"मुरली मधुर चेंप काँपा करि मोर चन्द फँदवारि"**—का अर्थ न समझ सका था। **काँपा** और **फँदवारि** क्या होते हैं? किस रूपाकार के होते हैं? मैं कुछ न समझा था और न एम० ए० कक्षाओं को पढ़ानेवाले अध्यापक ही उन्हें समझा सके थे। उपर्युक्त शब्दों का पूरा-पूरा अर्थ मेरी समझ में तब आया था, जब मैं ब्रजक्षेत्र में चिड़ीमारों की शब्दावली का संग्रह कर रहा था। उस शब्द–संग्रह ने मेरे ब्रजभाषा–शब्दार्थ–बोध का तीसरा ज्ञान नेत्र खोल दिया था। जायसी कृत 'पद्मावत' के **'दुआली'** का अर्थ जब मैंने गुरुदेव (डा० अग्रवाल जी) को बताया था, तब उन्होंने मेरी पीठ थपथपाकर मुझे आशीर्वाद दिया था।

जिस ब्रज–शब्दावली से मेरा इतना अधिक ज्ञानवर्धन हुआ, उससे सम्बद्ध शीर्षक को सुनकर आगरा विश्वविद्यालय की हिन्दी–शोध–समिति के एक सदस्य ने मेरे शीर्षक का विरोध करते हुए कहा था कि कहीं गधों–घोड़ों पर पी-एच० डी० की जाया करती है। तब एक दूसरे सदस्य ने कहा था कि यह शोध–कार्य डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के निर्देशन में होगा, अतः हमें इस शीर्षक को स्वीकृत कर देना चाहिए। अन्त में स्वीकृति मिली भी।

माता वीणापाणि की अनुकम्पा से तथा गुरुदेव के आशीर्वाद से शोध–कार्य सम्पन्न हुआ, ग्रन्थ भी हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। उन्हीं सदस्य महोदय ने बाद में स्वयं अपने मुँह से उस शोध–प्रबन्ध की प्रशंसा की थी।

महापंडित राहुलसांकृत्यायन

बहुभाषाविदों में महापंडित **राहुल सांकृत्यायन** (पं० केदार पाण्डेय) के बहुभाषा–ज्ञान से मैं बहुत प्रभावित था। मेरा उनसे पत्र–व्यवहार भी रहता था।

वे साहित्यकार की निन्दा–वार्ता में योग नहीं देते थे। कोई व्यक्ति किसी का निन्दा–प्रसंग यदि चलाता था, तो विषय को तुरन्त मोड़ दे देते थे। उनकी यही इच्छा रहती थी कि हिन्दी का वाङ्मय सब तरह से भरा पूरा हो।

भगवतशरण उपाध्याय ने राहुल जी की पुस्तक **'वोल्गा से गंगा'** की बड़ी तीखी आलोचना की थी।

कुछ समय बाद राहुल जी को जब मालूम हुआ कि उपाध्याय जी अस्वस्थ हैं और आर्थिक संकट में हैं, तब राहुल जी ने **'वोल्गा से गंगा'** के प्रकाशक (किताब महल, इलाहाबाद के स्वामी) श्रीनिवास अग्रवाल से मालूम किया कि उस पुस्तक की रायल्टी के कितने रुपये उनके हिसाब में जमा हैं ? श्रीनिवास जी ने बताया कि ढाई–तीन हजार हैं। राहुल जी ने कहा कि सारे रुपये श्री भगवतशरण उपाध्याय जी को भेज दीजिए। इस वाक्य को सुनकर श्रीनिवास जी ने कहा कि यह वे ही उपाध्याय हैं, जिन्होंने **'वोल्गा से गंगा'** की तीखी आलोचना लिखी थी। राहुल जी ने हँसकर कहा, "इससे क्या हुआ ? तुम नहीं जानते भगवतशरण जी कितने प्रतिभावान् और विद्वान् हैं।"

ऐसी साहित्यिक विभूतियों के सम्पर्क में आने का मुझे भी सुयोग मिला—इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ।

राहुल जी मेरे पी-एच० डी० शोधप्रबन्ध के एक परीक्षक भी थे।

राहुलसांकृत्यायन जी ने सन् १६२१–२२ ई० से ही राजनीति में सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया था। सन् १६२२ ई० में वे पहली बार जेल गये थे। जेल जाना और छूटना और लेखनी चलाना उनका साथ-साथ चलता रहता था। तीस भाषाओं के ज्ञाता होते हुए राहुल जी ने साहित्य–सर्जना हिन्दी भाषा में ही की थी। उनका मत था कि कोई भारतवासी विदेशी भाषा में लिखकर लेखक के रूप में अपनी प्रतिष्ठा प्रतिष्ठापित नहीं कर सकता। 'गीतांजलि' पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार मिल तो गया था, लेकिन तभी पाश्चात्य विद्वान् श्री रेडियसन ने कहा था कि 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अंग्रेजी नहीं आती।" श्री रेडियसन का यह वाक्य राहुल जी प्रायः अपने वार्तालाप में कहा करते थे।

राहुल जी इतने द्रुतलेखक थे कि एक ही समय में तीन-तीन पुस्तकें अलग-अलग विषयों पर लिख लेते थे। मुझे पी-एच० डी० (हिन्दी) की उपाधि सन् १६५६ ई० में मिली थी। उसी वर्ष में राहुल जी की तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं—(१) रामराज्य और मार्क्सवाद (२) ऋग्वैदिक आर्य (३) अकबर।

राहुल जी तिब्बत से जितना विशाल साहित्य लाये थे, उसमें लगभग १६१६ तिब्बती पाण्डुलिपियाँ भी थीं। उन पाण्डुलिपियों का अभी तक हिन्दी-अनुवाद नहीं हो सका। दुःख है कि उनकी बहुत-सी अप्रकाशित सामग्री तो समय के अन्धकूप में ही पड़ी है। सिद्धान्त और कर्म की एकरूपता के लिए महापंडित राहुलसांकृत्यायन हिन्दी–जगत् में सदा आदरणीय और स्मरणीय रहेंगे। हिन्दी के आलोचकों ने

राहुल जी का मूल्यांकन उस कोटि का नहीं किया, जिस कोटि के वे साहित्यकार और साहित्य-सेवी थे। उन्होंने हिन्दी के क्षितिज को विस्तार दिया था। वे बहु-आयामी साहित्यस्रष्टा थे।

सन् १९५६-५७ ई० में मैं जब महापंडित श्री राहुलसांकृत्यायन से हैपी वैली, देहरादून में मिला था, तब **कमला जी** उनके घर में टाइपिस्ट के रूप में काम करती थीं। बाद में वह राहुल जी की पत्नी बन गयी थीं। राहुल जी की पुत्री का नाम **जया** है और पत्नी का नाम **कमला** सांकृत्यायन है। स्व० **राहुल सांकृत्यायन जी** के कुछ लेख पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े थे। उनकी तलाश करके रामशरण शर्मा 'मुंशी' (सम्पादक) ने एक संकलन **'विविध प्रसंग'** के नाम से पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली से प्रकाशित कराया है। उस संकलन में सम्पादक ने कमला जी तथा जया जी से पर्याप्त सहायता ली है।

राहुल जी मेरे जन्म-वर्ष (१९१६ ई०) से एक साल पहले अर्थात् सन् १९१५ ई० में आगरा के आर्यमुसाफिर विद्यालय में भी रहे थे। तब उनकी अवस्था २२ वर्ष की थी। वे तिब्बत से १८ खच्चरों पर लादकर पुस्तकें लाये थे। उनमें त्रिपिटक साहित्य के १३५०० ग्रन्थ थे। लगभग चार मन पुस्तकें रूस से लाये थे। १४ अप्रैल, १९६३ ई० को ७१ वर्ष की अवस्था में उनका निधन हुआ था। राहुल जी को भारत के किसी विश्वविद्यालय ने प्रोफेसर नहीं बनाया। श्रीलंका के विश्वविद्यालय ने ही उन्हें प्रोफेसर पद प्रदान किया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के बम्बई अधिवेशन के वे अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। राहुल जी ही थे जिन्होंने कहा था कि हिन्दी के अनेक बालक अब्दुर्रहमान के 'सन्देशरासक' की गोद में पले-पोसे हैं। उनका मत था कि अपभ्रंश ही हिन्दी की माँ है और उर्दू हिन्दी की एक शैली है।

डा० रघुवीर की हिन्दी-पारिभाषिक शब्दावली को भारत सरकार ने बहुत कठिन और दुर्बोध माना था। सुगम तथा बोधगम्य शब्दावली-निर्माण के लिए सरकार ने नयी समिति बनायी थी। उस नयी समिति ने जो सिद्धान्त निर्धारित किये थे, वे लगभग वे ही थे, जो राहुल सांकृत्यायन जी ने बनाये थे। राहुल जी का मत था कि कोई भी शब्द चाहे वह अहिन्दी प्रान्त का हो, अंग्रेजी का हो या अन्य विदेशी भाषा का हो, यदि वह बहुप्रचलित है और यथार्थ परिभाषा दे सकता है, तो उसे हिन्दी में ले लेना चाहिए।

अन्तरराष्ट्रीय शब्द, जो वस्तुओं के साथ जनता तक पहुँच गये हैं, उन्हें भी लेना है, जैसे **'टेलीफोन'**, **'इन्जीनियर'**, 'डाक्टर' आदि।

भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय और वैज्ञानिक एवं तकनीकी-शब्दावली आयोग की पारिभाषिक शब्दावली-परियोजना में मैंने सन् १९६० ई० से १९७५ ई० तक भाषाविशेषज्ञ के रूप में काम किया था। तब राहुल जी के सिद्धान्तों पर ही हम हिन्दी-शब्द बनाते थे।

दद्दा अर्थात् पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने मुझे लिखा था, "मैं **महापंडित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** और **डा० वासुदेवशरण अग्रवाल** को वर्तमान साहित्यकारों में '**बृहत्त्रयी**' मानता हूँ। अग्रवाल जी अवस्था में मुझसे छोटे थे, लेकिन ज्ञान में मैं उन्हें अपना गुरु मानता था। आपने उनके निर्देशन में शोध–कार्य किया है। इसलिए आप मेरे गुरुभाई हैं।" इन पंक्तियों को पढ़कर मैं फूला नहीं समाया था। डा० नगेन्द्र के अतिरिक्त मेरा पत्र–व्यवहार दो विद्वानों से अधिक रहा था—(१) **आचार्य किशोरीदास वाजपेयी** (२) **डा० वासुदेवशरण अग्रवाल**। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी मुझे अनुजवत् स्नेह प्रदान करते थे; मैं उनके प्रति गुरुभाव रखता था। उनके साथ पत्र–व्यवहार करने पर मेरी दृष्टि अशुद्ध शब्दों को पकड़नेवाली बन गयी थी। मैं आचार्यवर वाजपेयी जी से कितना छोटा था—इसका पता पाठक इससे लगा सकते हैं कि जब मेरा जन्म हुआ था, तब वाजपेयी के लेख पत्रिकाओं में छपते थे।

हिन्दी में कुछ अशुद्ध एवं अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग

हिन्दी भाषा के साहित्य में कुछ शब्द अशुद्ध वर्तनी के साथ प्रचलित हो गये हैं और वे इतने अधिकांश में लिखे जा रहे हैं कि नये लेखक उन्हें शुद्ध–सही मानकर अपनी कृतियों में प्रयुक्त कर रहे हैं। उनका मूलकारण पूर्व लेखकों का अज्ञान है। ऐसे अशुद्ध शब्दों के प्रयोग का बाहुल्य तब और हो जाता है, जब किसी विख्यात साहित्यकार की पुस्तकों में उन्हें नये लेखक देख लेते हैं।

सन् १९३८ ई० में मैं इन्टर का विद्यार्थी था। तब मैंने एक पत्र लिखकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दीविभागाध्यक्ष बाबू श्यामसुन्दरदास जी से पूछा था कि 'जागाहुआ' के अर्थ में संस्कृत शब्द **जाग्रत** ठीक है या **जागृत**? उत्तर में बाबू जी ने लिखा था, **जागृत**। वास्तव में संस्कृत में 'जागाहुआ' के अर्थ में शुद्ध शब्द है, **जागरित** और 'जागताहुआ' के अर्थ में शुद्ध शब्द है **जाग्रत्**। 'जागरित' में **क्त** प्रत्यय और '**जाग्रत्**' में शतृ प्रत्यय है।

'जागरण' के अर्थ में किसी ने भाववाचक संज्ञा शब्द अज्ञान के कारण 'जागृति' लिख दिया होगा। वह प्रसिद्ध लेखक भी रहा होगा। अतः नये लेखक उसे देखकर **जागृति** लिखते रहे होंगे। आज यह '**जागृति**' इतना अधिक प्रचार पा गया है कि यदि मैं इसे ग़लत कहकर **जागर्ति** को शुद्ध बताऊँ, तो मेरी बात पर कोई हिन्दी–लेखक सहसा विश्वास न करेगा और मुझे ही ग़लत बताएगा।

सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी एक कविता में '**सर्जन**' के स्थान पर 'सृजन' का प्रयोग कर दिया था "सृजनहार के सृजनहार तुम" (पन्त)। आज लगभग ७५ प्रतिशत हिन्दी–लेखक 'सृजन' लिख रहे हैं।

महान् आश्चर्य तो मुझे तब हुआ, जब मैंने 'नवभारत टाइम्स' (२७-१०-९१ ई०) में हिन्दी के विख्यात प्रो० नामवरसिंह का लेख—'साहित्य की मुक्ति या

कछुआ धर्म ?'—पढ़ा । उस लेख में **सर्जन** को डा० नामवरसिंह ने संज्ञा रूप में **'सृजन'** लिखा और विशेषण रूप **'सर्जनात्मक'** । कमाल यह है कि **'सृजन'** में **'आत्मक'** के योग से नामवर जी 'सर्जनात्मक' शब्द बनाते हैं । यदि उनकी दृष्टि में **'सृजन'** हिन्दी में सही है, तो विशेषण **'सृजनात्मक'** बनाना चाहिए था । सारांश यह कि हिन्दी के लेखकों ने हिन्दी को ऐसी भाषा बना दिया है, जिसमें कुछ भी लिख दीजिए, सब ठीक है । डा० विजयेन्द्र स्नातक के एक लेख में भी 'सृजन' देखा था । **'सर्जन'–'सृजन'** पर पत्राचार हुआ, तो उन्होंने आचार्य कि० दा० वाजपेयी की आड़ लेकर मुझे पत्र लिखा था ।

हिन्दी–लेखकों की दो नौकाएँ साहित्य की सरिता में चल रही हैं । एक नौका में वे लेखक हैं, जो **सृजन** लिख रहे हैं । दूसरी नौका में वे लेखक हैं, जो **सर्जन** लिख रहे हैं । जिन्हें संस्कृत का अच्छा ज्ञान है और हिन्दी में संस्कृत तत्समता के भी पक्षधर हैं, वे **सर्जन** (√सृज् + ल्युट्) लिखते हैं । शेष 'सृजन' लिखते हैं ।

'सृजन' लिखने का ढर्रा इसलिए भी प्रचार पा गया कि सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी एक कविता में लिख दिया—

"सृजनहार के सृजनहार तुम" । बस, फिर तो **'सृजन'** की बाढ़ आ गयी । पन्त जी 'सृजन' लिखते हैं, तो 'सृजन' ठीक ही होगा ।

संस्थापक डा० जीवनप्रकाश जोशी ने **'संधान–५२, दिल्ली** १९९२ ई०' के रूप में शुभश्री शामा की पुस्तक **'पीछा करते सफ़र'** प्रकाशित की है । उस पुस्तक की भूमिका में जोशी जी **'सृजन'** लिखते हैं और शुभश्री शामा अपने वक्तव्य (पाठकों से) में **सर्जन** लिखती हैं । यह शब्द शुद्धि–अशुद्धि के झूले पर झूल रहा है । देखिए, किसकी जीत होती है ?

आलोचक राहुल की एक पुस्तक है—'विपक्ष का कवि : धूमिल' । इसकी समीक्षा डा० जीवनप्रकाश जोशी ने 'संधान'—५२, दिल्ली, सन् १९९२ ई० में लिखी है । जोशी जी की समीक्षा तो सारगर्भित है; लेकिन जोशी जी ने **'अध्येता'** शब्द के वज़न पर 'सृजेता' शब्द का प्रयोग कर दिया है । √सृज् धातु में तृच् प्रत्यय के योग ले **'स्रष्टा'** शब्द बनता है, 'सृजेता' नहीं । √'क्री' धातु से **क्रेता**, √नी धातु से **नेता** और √जि से **जेता** शब्द बनते हैं । परेड में एक फौजी सिपाही ने **'इलैविन'** सुनकर अपना बाद का नम्बर **'दुलैविन'** बोल दिया था ।

हिन्दी के कुछ लेखक कभी-कभी मनमाने ढँग से शब्दों का प्रयोग कर देते हैं । उनपर गम्भीरता से विचार नहीं करते । संस्कृत भाषा का अपना प्रवाह है—√सृज् + तृच् = **स्रष्टा**; लेकिन √हृष् + तृच् = **हर्षिता** । √हृ + तृच्=हर्ता । √पठ् + तृच् =पठिता ।

हिन्दी में ऐसी मनमानी प्रयोगवादी कवियों ने अधिक की है । एक प्रयोगवादी कवि ने तो **'सहज'** का विलोम **'अहज'** लिख दिया था ।

डा० नामवरसिंह को 'सृजन' लिखने की पुरानी आदत है । उन्होंने अपनी

पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' (सन् १६६८ ई०) के पृष्ठ ५५ पर भी 'काव्यसृजन' का प्रयोग किया है। **'काव्यसर्जन'** लिखना चाहिए था।

डा० नामवरसिंह संज्ञा के रूप में 'सृजन' लिखते हैं; लेकिन विशेषण के रूप में 'सर्जनात्मक' लिखते हैं—

"**सर्जनात्मक** भाषा के सार्थक उपयोग में"—पृष्ठ ६८, 'कविता के नये प्रतिमान'—सन् १६६८ ई०)

ऐसी बदतोव्याघात वाली आदत डा० नामवरसिंह की उपर्युक्त पुस्तक में कविता के प्रतिमान के आधार निश्चित करने में भी देखी गयी। एक ओर नामवरजी 'सपाटबयानी' (बोलचाल की भाषा) को कविता का नया प्रतिमान मानते हैं, दूसरी ओर निराला की 'राम की शक्तिपूजा' में प्राणशक्ति मानते हैं और पन्त की 'पुरु-षोत्तम राम' कविता में काव्याभास भाषा बतलाते हैं। ऐसा लगता है कि नामवर जी एक ही समय में एक साथ पूरब-पश्चिम चलना खूब जानते हैं। डा० नामवर सिंह की आँखों पर किसे आश्चर्य न होगा, जो निराला रचित 'राम की शक्ति पूजा' कविता में सपाट बयानी देख लेती हैं।

डा० नामवर सिंह का एक लेख पाक्षिक पत्र 'धर्मयुग' (१६ से ३० नवम्बर १६६० ई०) में प्रकाशित हुआ था। उसमें नामवर जी ने 'अज्ञेय' के सम्बन्ध में अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किये थे-

"हिन्दी का वह दुर्भाग्य है, स्याह दिन है, **जहाँ** वात्स्यायन द्वारा "मद्धिम-मद्धिम, कुछ कृत्रिम, न बहुत ठंडा, न बहुत गर्म"—इस तरह की कविताएँ लिखी जाएँ।" —(नामवर सिंह, धर्मयुग' में)

उपर्युक्त उद्धरण में नामवर जी ने **'जहाँ'** का प्रयोग उपयुक्त नहीं किया। **'जहाँ'** स्थानसूचक है। **'दिन'** कालसूचक संज्ञा शब्द है। अतः इसके लिए **'जब'** शब्द का प्रयोग करना चाहिए था।

डा० नामवर सिंह की पुस्तक 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' (द्वितीय संस्करण, १६५४ ई०) साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद ने प्रकाशित की थी। उस पुस्तक के पृष्ठ ११३ पर नामवर जी ने लिखा है कि "ब्रजभाषा और खड़ी बोली में **'लागि'** का प्रयोग नहीं हुआ।" **'लागि'** का प्रयोग खड़ी बोली में तो नहीं मिलता, पर ब्रजभाषा में मिलता है।

'सूरसागर' ब्रजभाषा का ग्रन्थ है। सूरदास ने **'लागि'** परसर्ग का प्रयोग संप्रदान कारक के रूप में किया है—

"याहि **लागि** को मरै हमारैं वृन्दावन चरनन सौं ठेली।"

—(संपा० सीताराम चतुर्वेदी, सूरग्रंथावली, खंड ४, पद ३७२१) (**'याहि लागि'** = इसके लिए)

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की पुस्तक 'वाङ्मय विमर्श' मैंने सन् १६४८ ई० में पढ़ी थी। एम० ए० (हिन्दी) के विद्यार्थियों का कल्याण करने वाला यह

एक विशालकाय ग्रन्थ माना जा सकता है। उसमें मिश्र जी की आलोचना–दृष्टि की स्पष्टता तो मिलती है, लेकिन पुस्तक के शीर्षक में 'वाङ्मय' शब्द का अर्थ एवं अवधारणा विचारणीय है। **'वाङ्मय'** (वाक्+मय) और **साहित्य** दो शब्द हैं। अर्थ की दृष्टि से **'वाङ्मय'** की परिधि **साहित्य** की परिधि से बड़ी है। **'वाङ्मय'** के अन्तर्गत किसी भाषा की वह समग्र सामग्री आती है, जो लिखित या मुद्रित अव–स्था में पायी जाती है। हिन्दी में जो सामग्री विज्ञान, आयुर्वेद, कृषि, राजनीति, साहित्य, समाजशास्त्र, भूगोल, खगोल आदि से सम्बद्ध है, वह सब कुछ 'वाङ्मय' है। 'साहित्य' को 'वाङ्मय' का एक अंग माना जा सकता है। पुस्तक में विषय–विमर्श को देखकर कहा जा सकता है कि उसका शीर्षक उपयुक्त नहीं है। उस पुस्तक का नाम होना चाहिए 'भाषा–साहित्य–विमर्श'।

सन् १९५७ ई० (संवत् २०१४ वि०) में लक्ष्मीकन्त वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान' पुस्तक प्रकाशित करायी थी। उसमें वर्मा जी पृष्ठ ७३ पर **'काव्य की प्रेरणास्रोत'** लिखते है। **'प्रेरणा–स्रोत'** तत्पुरुष सामसिक पद है। तत्पुरुष में उत्तर पद प्रधान होता है। **'स्रोत'** पुंलिंग संज्ञा शब्द है। अतः शुद्ध प्रयोग **'काव्य का प्रेरणा–स्रोत'** है।

सन् १९८८ में प्रभात प्रकाशन, दिल्ली से श्री विष्णु प्रभाकर की एक पुस्तक **'विष्णु प्रभाकर के संपूर्ण नाटक'** प्रकाशित हुई थी। उसकी भूमिका के पृष्ठ १५ पर विष्णु प्रभाकर जी ने 'औद्योगिक प्रदर्शिनी' लिखा है। 'नुमायश' के अर्थ में शब्द **'प्रदर्शनी'** है। 'प्रदर्शनी' का अर्थ है, वह स्थान, जहाँ **प्रदर्शनी** की वस्तुएँ रहती हैं। **'प्रदर्शिनी'** तो 'प्रदर्शी' शब्द का स्त्रीलिंग रूप है।

उसी पुस्तक के पृष्ठ १६ और १७ पर विष्णु प्रभाकर जी ने 'सृजन' शब्द छह बार लिखा है।

उपर्युक्त पुस्तक में २४ नाटक संकलित हैं। आठवाँ नाटक **'नियति'** है। उस 'नियति' नाटक में उर्वशी के संवाद में लेखक ने 'रेशम की रज्जू' लिखा है। डोरी या रस्सी के अर्थ में संस्कृत शब्द उकारान्त **'रज्जु'** है ? 'रज्जू' नहीं।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने 'सूरसागर' की संपादन सहित टीका लिखी है। उसका चतुर्थ खंड सन् १९७८ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसकी पद-संख्या ३९३४ में मुद्रित है–– **"ऐसौं सुनियत द्वै बैसाख"**। **'ऐसौं'** का अर्थ चतुर्वेदी जी ने 'इस बार' किया है।

वास्तव में ब्रजभाषा का शब्द **'एसौं'** है, जो संस्कृत **'ऐषमस्'** का विकसित रूप है। ऐषमस् = इस साल में। संस्कृत में ऐषमस्' शब्द अव्यय है। आप्टेसंपादित संस्कृत–अंग्रेजी कोश से 'ऐषमस्' का अर्थ दिया गया है––**In the present year.**

ऐषमस् (अव्यय) = अस्मिन् वत्सरे अर्थात् इस वर्ष में। जैसे 'आज का' के अर्थ में संस्कृत शब्द **'अद्यतन'** है, वैसे ही 'इस वर्ष का' के अर्थ में संस्कृत शब्द **ऐषमस्तन** है।

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में 'अन्तर्साक्ष्य' और 'बहिर्साक्ष्य' शब्दों का प्रयोग कर दिया था। 'ओ अहल्या' काव्य में डा० वर्मा 'अहल्या' को 'अहिल्या' लिखते हैं। हिन्दी एम० ए० कक्षाओं के अपने छात्रों से जब मैंने कहा कि तत्सम शब्द **अन्तःसाक्ष्य** और **बहिःसाक्ष्य** हैं, तब उन छात्रों ने मेरा विश्वास न किया था।

'ऊपर कहा हुआ' के अर्थ में बहुत-से लेखक **उपर्युक्त** न लिखकर 'उपरोक्त' लिख रहे हैं। एक हिन्दी-प्रोफेसर ने 'तेजोद्दीप्त' लिखा था। उसके शिष्य भी वैसा ही लिखने थे।

सन् १९९० ई० में डा० सूर्यप्रसाद दीक्षित की एक बहुत बढ़िया पुस्तक '**निराला की आत्मकथा**', प्रकाशन केन्द्र, डालीगंज क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ से प्रकाशित हुई है। उसमें प्रारम्भ में ही भूमिका का शीर्षक लिखा गया है, 'सूतोऽवाच'। वास्तव में '**सूत उवाच**' लिखा जाना चाहिए था। उसी पुस्तक के पृष्ठ १०९ पर 'तर्कस' के अर्थ में 'तूर्ण' शब्द दो जगह लिखा गया है। 'तर्कस' के अर्थ में संस्कृत शब्द '**तूण**' या '**तूणीर**' है। यदि नये लेखक और विद्यार्थी उसे पढ़ेंगे, तो वे भी '**सूतोऽवाच**' और '**तूर्ण**' ही लिखेंगे। उन्हें देखकर भविष्य में अन्य भी लिखेंगे। गतानुगतिक लेखक इसी तरह अशुद्धियाँ करते रहेंगे।

हिन्दी में बहुत-से लेखक ऐसे हैं जो केवल हिन्दी भाषा जानते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो अंग्रेजी से हिन्दी में आये हैं तथा संस्कृत-व्याकरण का ज्ञान नहीं रखते।

ऐसे कुछ लेखक 'चुना हुआ' अर्थ में 'चयनित' शब्द का प्रयोग कर देते हैं। इस सम्बन्ध में तीन-चार को तो मैंने ही शुद्ध शब्द, पत्र लिखकर बताया है।

√चि धातु में **क्त** प्रत्यय के योग से **चित** शब्द बनता है। उपसर्ग लगाकर **संचित**, **आचित** आदि शब्द बनते हैं।

जातिवाचक संज्ञा शब्दों में 'इतच्' प्रत्यय लगता है; पाणिनि का सूत्र है—"तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" (अष्टा० ५/२/३६) **तारकित**, **पुष्पित** आदि तो ठीक हैं; 'चयनित' असाधु-है। **तारकित** आकाश, **पुष्पित** वृक्ष प्रयोग ठीक हैं। **तारे** आकाश में तथा **पुष्प** वृक्ष में संजात हैं; अतः इनमें **इतच्** प्रत्यय लगेगा।

जिस तरह अज्ञान के कारण हिन्दी में कुछ लेखक अशुद्ध शब्द 'चयनित' का प्रयोग कर रहे हैं, उसी तरह अशुद्ध शब्द 'अनुवादित' का भी प्रयोग किया जा रहा है।

वास्तव में मूल शब्द सं० **उदित** (√वद् + क्त) है। अनु + उदित = अनूदित। अंग्रेजी '**TRANSLATED**' (ट्रांसलेटैड) के समानान्तर हिन्दी-शब्द 'अनूदित' का प्रयोग किया जाना चाहिए।

'उदित' की भाँति ही संस्कृत में निम्नांकित शब्द हैं—

(१) **अनूढ** = अन् + ऊढ (√वह + क्त) जिसका विवाह न हुआ हो।

(२) **अभीष्ट** = अभि + इष्ट (√यज् + क्त), चाहा हुआ।

एक हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक के लेख में मैंने निम्नांकित वाक्य पढ़ा—

"शक्ति–अर्जन की चाह उनमें अदम्य थी और **वह उन्होंने अर्जन की**"

मैंने उपर्युक्त वाक्य पढ़ने के बाद उन्हें पत्र लिखा कि कृपया आप अपने लिखे वाक्य पर पुनः विचार करें और मेरे कथन की संगति–असंगति पर भी भाषा-संरचना की दृष्टि से सोचें।

'अर्जन' संज्ञा और **अर्जित** कृदन्त विशेषण है। इनके शुद्ध प्रयोग हिन्दी की भाषिक संरचना की दृष्टि से मैं तो ये मानता हूँ—

(१) शक्ति–अर्जन की चाह उनमें अदम्य थी और वह उन्होंने **अर्जित** की।

(२) शक्ति–अर्जन की चाह उनमें अदम्य थी और उन्होंने उसका **अर्जन** किया।

श्री प्रभाकर माचवे की पुस्तक **'समीक्षा की समीक्षा'** सन् १९५३ ई० में साहनी प्रकाशन, ५७, एस्प्लानेड रोड, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई थी। उसकी भूमिका में पृष्ठ **छह** पर (पुस्तक में छह को 'छः' छापा गया है) माचवे ने लिखा है—

"कई बी० ए० हिन्दी पास(सम्मेलन के विशारद, रत्न भी) शुद्ध हिन्दी लिखने से अनभिज्ञ मिले हैं। इसका क्या कारण है ? क्या हिन्दी के चोटी के भाषाशास्त्री और **गण्यमान आचार्य** मिलकर वर्तनी (हिज्जे), शुद्ध लेखन आदि के नियम निश्चित नहीं कर सकते ?"

उपर्युक्त उदाहरण में माचवे जी स्वयं **'गण्यमान'** की वर्तनी अशुद्ध लिखते हैं। वास्तव में शुद्ध शब्द **'गण्य–मान्य'** है। यदि 'मतुप्' (मान्) प्रत्यय का प्रयोग करना था, तो इसे संज्ञा शब्द में लगाना था, जैसे **श्रीमान्**, **कीर्तिमान्** आदि।

'गण्य' शब्द तो विशेषण है। विशेषण में विशेषतासूचक प्रत्यय क्या कहीं लगता है? फिर **'मान'** का अर्थ है 'नाप' या 'पैमाना', जैसे **कीर्तिमान्**=यश का मान दण्ड। माचवे जी को मैंने तब एक पत्र उनके तत्कालीन पते (सी०–२३०, विनयनगर, नई दिल्ली–३) पर लिखा भी था और शुद्ध शब्द **'गण्य–मान्य'** की बात भी लिखी थी; लेकिन उनसे मुझे कोई उत्तर नहीं मिला था।

कुछ लेखक 'गण्य–मान्य' के स्थान पर 'गणमान्य' लिखते हैं। वह भी अशुद्ध है। कुछ हिन्दी प्रोफेसरों की पुस्तकों में मैंने **'द्रष्टव्य'** के स्थान पर 'दृष्टव्य' और **'द्रष्टा'** के स्थान पर 'दृष्टा' लिखा देखा है। उनके विद्यार्थी फिर वैसा क्यों न लिखेंगे। भाषा–शुद्धि के प्रति जागरूकता का भाव तो वर्तमान पीढ़ी में समाप्त–सा होता जा रहा है।

डा० प्रभाकर माचवे ने अपनी पुस्तक 'वृन्दावनलाल वर्मा' (१९९० ई०) में पृष्ठ ३० पर **'गद्गद'** के स्थान पर 'गद्गद्', पृष्ठ ३२ पर **'अहल्याबाई'** के स्थान पर 'अहिल्याबाई' और पृष्ठ ४५ पर **'अरने का सींग'** के स्थान पर 'अरने की सींग' लिखा है। पृष्ठ ६९ पर उसी पुस्तक में डा० माचवे ने 'बोझिल' के लिए 'भाराहुत' शब्द का प्रगोग किया है।

डा० हरिहरप्रसाद गुप्त कृत पुस्तक 'प्रसाद अभिधान' (शब्दों का ससंदर्भ

विवेचन) सन् १६८८ ई० के पृष्ठ ५६ पर दो स्थलों पर जायसी की पुस्तक का नाम डा० गुप्त ने 'पद्मावत लिखा है, जबकि पुस्तक का नाम **'पदमावत'** है। डा० माता प्रसाद गुप्त संपादित 'जायसी ग्रन्थावली' में और डा० वासुदेवशरण द्वारा संपादित मूल और संजीवनी व्याख्या में **'पदमावत'** नाम ही लिखा गया है। अवधी का काव्य है, 'पदमावत' नाम होना भी चाहिए।

डा० हरिहर प्रसाद गुप्त की उसी पुस्तक (प्रसाद अभिधान) के पृष्ठ १०८ पर लेखक कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक के एक स्त्री पात्र का नाम 'अनुसूया' लिखता है, दो स्थलों पर। कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के उदा–हरण में 'अनुसूया' लिखकर डा० गुप्त ने मूर्धन्य कवि शिरोमणि को भी अज्ञान के घेरे में घसीट लिया है।

अनु + सूया = 'अनुसूया' का कोई अर्थ नहीं है। **'असूया'** (=ईर्ष्या) के मूल में धातु √असू है। √ असू + यक + अ—थप् = **असूया**। **न असूया = अनसूया**। अ + असूया = **अनसूया**। 'असूया' संज्ञा शब्द के आदि में **'अ'** स्वर है। अतः नञ् तत्पुरुष समास में रूप बनेगा **'अनसूया'** = नहीं है असूया जिसमें।

'अनसूया' की कथा हमारे प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। स्वायंभुव मनु की पुत्री देवहूति ऋषि कर्दम की पत्नी थी। ऋषि कर्दम से देवहूति के एक पुत्र **कपिल** और नौ पुत्रियाँ हुईं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) **कला** (२) **अनसूया** (३) **श्रद्धा** (४) **हविर्भू** (५) **मति** (६) **क्रिया** (७) **ख्याति** (८) **अरुन्धती** (६) एक और।

अनसूया ऋषि **अत्रि** को ब्याही गई थी। अनसूया के तीन पुत्र थे—(१) **चन्द्र** (२) **दत्तात्रेय** (३) **दुर्वासा**।

कर्दम की पुत्रियों में **अनसूया** और **अरुन्धती** की ख्याति सर्वाधिक है। वशिष्ठ–पत्नी **अरुन्धती** और अत्रि–पत्नी **अनसूया** से श्रीराम–पत्नी सीता जी को आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। इतनी पूज्य और प्रसिद्ध ऋषि–पत्नी **अनसूया** को 'अनुसूया' लिखना लेखक का कितना बड़ा सारस्वत अपराध माना जाना चाहिए—इस पर हमारे पाठक स्वयं विचार करें।

हिन्दी के अन्य धुरंधर लेखकों की कुछ पुस्तकों में भी मैंने **'अनसूया'** शब्द को 'अनुसूया' रूप में लिखा देखा है। हिन्दी के विद्यार्थी उन पुस्तकों से भ्रष्ट संस्कार अशुद्ध वर्तनी के सम्बन्ध में प्राप्त करते हैं और वे भ्रष्ट लेखन–कुशब्द संस्कार उनके लेखकीय जीवन से लिपट जाते हैं। उन भ्रष्ट संस्कारों से उनका पीछा बड़ी मुश्किल से छूटता है।

दिल्ली के एक डिग्री कालेज के हिन्दी–प्राध्यापक **'अध्ययन'** को 'अध्यन' बोलते थे और लिखते भी थे। मैंने शुद्ध शब्द **'अध्ययन'** की बात कही, तो शास्त्रार्थ करने लगे और अध्यन को ही सही कहते रहे।

'सर्जन' के स्थान पर 'सृजन' की तो इतनी भरमार है कि निम्नांकित लेखकों की पुस्तकों में मुझे 'सृजन' लिखा मिला है—

- डा० प्रभाकर शुक्ल कृत 'अनुभूति और चिन्तन' (सन् १९९० ई०) में पृष्ठ ११४ पर।
- डा० रामप्रसाद मिश्र कृत 'हिन्दी की कवयित्रियाँ (सन् १९९० ई०) में मुख पृष्ठ पर।
- डा० चन्द्रिका प्रसाद शर्मा कृत 'रामकुमार वर्मा की साहित्य साधना' (१९९० ई०) में पृष्ठ २ पर।

डा० चन्द्रिका प्रसाद शर्मा अपनी उपर्युक्त पुस्तक में 'इंटरनेशनल' के अर्थ में हिन्दी-शब्द 'अन्तर्राष्ट्रीय' लिखते हैं। उन्हें **'अन्तरराष्ट्रीय'** लिखना चाहिए। उसी पुस्तक के पृष्ठ ३ पर **'भगवत् कृपा'** के स्थान पर 'भगवद् कृपा' मिला।

श्री बलराम अपनी पुस्तक 'समकालीन हिन्दी कहानी' (सन् १९९० ई०) में पृष्ठ १२७ पर **'द्रष्टा'** के स्थान पर 'दृष्टा' लिखते हैं। इसी पुस्तक में पृष्ठ १७ पर **'पुनः सर्जन'** के स्थान पर 'पुनर्सृजन' लिखा गया है।

बलराम उसी पुस्तक में पृष्ठ ७ पर **'पुनर्सृजित** लिखते हैं। पहली बात तो यह है कि बलराम जी को यह सन्धि-नियम मालूम नहीं कि 'पुनः' के विसर्ग के उपरान्त यदि **'स्'** वर्ण है, तो विसर्ग का परिवर्तन **'र्'** में न होगा। दूसरी बात यह है कि √सृज् धातु से भूतकालिक कृदन्त **सर्जित** बनता है। **विसर्जन, विसर्जित** आदि के मूल में √सृज् धातु ही है। अतः पुनः + सर्जित = पुनः सर्जित का प्रयोग किया जाना चाहिए था।

उसी पुस्तक में बलराम ने उषा माहेश्वरी की एक कहानी से कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं। उस उद्धरण में लिखा गया है—

"हरिणी-सी बड़ी-बड़ी आँखें, चौड़ा ललाट" (पृष्ठ १३५)—**'हरिणी-सी'** नहीं, **'हरिणी की-सी'** लिखा जाना चाहिए था। आँख हरिणी की आँखों के समान बड़ी-बड़ी थीं, न कि हरिणी-सी बड़ी थीं।

डा० नगेन्द्र सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सन् १९७३ ई०) में पृष्ठ ७३८ पर **अन्तरराष्ट्रीय** (International) शब्द 'अन्तर्राष्ट्रीय' रूप में मुद्रित है। कुछ अन्य पुस्तकों में भी मैंने 'अन्तर्राष्ट्रीय' ही छपा देखा है। **In** = अन्तः, अन्तर्। Inter = अन्तर।

ओषधि या **औषधि** का अर्थ है वनस्पति या जड़ी-बूटी। **ओषध** या **औषध** का अर्थ है 'दवा'। 'दवाखाना' के अर्थ में **'औषधालय'** शब्द है। **'औषध'** शब्द का पर्याय **'भैषज्य'** भी है। **औषधालय** = भैषज्य-भण्डार, भैषज्य-भाण्डार।

'महाभारत' में यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा है कि शीत का भैषज्य क्या है? "किं स्विद्धिमस्य भैषज्यम्"? उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा—"अग्निर्हिमस्य भैषज्यम्" (अग्नि शीत का भैषज्य (औषध) है)।

डा० विद्यानिवास मिश्र ने अपनी पुस्तक 'महाभारत का काव्यार्थ' (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९८५ ई०) के पृष्ठ ८१ पर **'भैषज्य'** का अनुवाद

'औषधि' किया है । '**भैषज्य**' का सही अर्थ **औषध** है, 'औषधि' नहीं ।' '**औषध**' औषधि, ओषधि या औषधियों से तैयार की जाती है ।

महाभारतकार ने तो 'दवा' के अर्थ में '**भैषज्य**' शब्द का प्रयोग किया ही है; लेकिन 'दवा के अर्थ में संस्कृत में **भिषज्**, **भेषज**, **भैषज** और **भैषज्य** शब्द प्रचलित हैं । स्वार्थ में अण् प्रत्यय भी प्रयुक्त होता है ।

(१) भिषज् + अण = **भेषज** (२) भेषज + अण् = **भैषज** ।

(३) भेषज + ष्य = **भैषज्य** ।

'दवा' के अर्थ में रहीम ने '**भेषज**' शब्द का प्रयोग किया है ।

"करुओ **भेषज** बिन पिये, मिटै न तन की ताप"—

अत: **ओषध** या **औषध** = भिषज्, भेषज, भैषज, भैषज्य ।

३० जनवरी महात्मा गांधी का शहीद–दिवस है । दिनांक ३० जनवरी, सन् १९९२ ई० की रात्रि को दिल्ली दूरदर्शन पर परिचर्चा के रूप में हिन्दी की '**अन्तर–राष्ट्रीय संगोष्ठी**' की एक झलक भी दिखाई गई थी । उसके संयोजक लल्लन प्रसाद व्यास थे । विदेशीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी–अध्ययन–अध्यापन की वर्तमान में क्या स्थिति है और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विदेशों से आये हुए छात्रों को हिन्दी किस तरह पढ़ाई जाती है ? उनके लिए पाठ्यक्रम किस प्रकार का है ? इसी विषय पर परिचर्चा थी । उसमें भाग लेने वाले दो हिन्दी–प्रोफेसर थे—एक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और दूसरे अमरीकी हिन्दी–प्रोफेसर । महान् आश्चर्य यह है कि उस परिचर्चा के दृश्य–पटल पर भी 'इंटरनेशनल' के अर्थ में देवनागरी लिपि में अन्तर्राष्ट्रीय लिखा गया था । 'इंटरनेशनल' का हिन्दी प्रतिशब्द है—**अन्तरराष्ट्रीय** । अंग्रेजी **इंटर** = हिन्दी **अन्तर** । अंग्रेजी **इन** = **अन्त:**, **अन्तर्** ।

डा० रमाशंकर तिवारी कृत 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्य दर्शन' (सन् १९९० ई०) के पृष्ठ १३६ पर **अस्तित्वमान** और पृष्ठ १४६ पर **छ:** मुद्रित है । ये दोनों शब्द अशुद्ध हैं । **मान** (शानच्) प्रत्यय धातु में लगता है, जैसे 'विराजमान' 'भासमान' आदि । '**अस्तित्व**' भाववाचक संज्ञा है । इसमें तो 'वान्' प्रत्यय लगना चाहिए, जो तद्धित प्रत्यय है । हिन्दी में **छह** लिखा जाना चाहिए '**छ:**' नहीं । हिन्दी का अपना कोई शब्द विसर्गान्त नहीं है । फिर एक प्रश्न यह भी है कि पूर्ण संख्या–वाची समग्रता सूचक विशेषण '**छहों**' है । इसमें 'ह' कहाँ से आ गया, यदि मूल शब्द '**छ:**' माना जाता है, तो ।

श्री हरिहर प्रसाद चतुर्वेदी की पुस्तक 'तुलसी लोकयज्ञ' (द्वितीय न्यास) (सन् १९९० ई०) के पृष्ठ १३ पर लिखा गया है—"पवित्र ज्ञान की पुनर्प्राप्ति में" । चतुर्वेदी जी ने **पुनर्प्राप्ति** सन्धिगत शब्द प्रयुक्त तो कर दिया; लेकिन संधि के नियम पर ध्यान नहीं दिया । '**पुन: + प्राप्ति**' की संधि '**पुन: प्राप्ति**' ही रहेगी । यदि यहाँ विसर्ग के पश्चात् घोष व्यंजन होता, तो विसर्ग का परिवर्तन 'र्' में हो जाता । जैसे पुन: + गमन = पुनर्गमन । पुन: + मथन = पुनर्मथन । इसी तरह शुद्ध शब्द '**पुन:**

स्थापन' है। **पुनर्योग** ठीक है।

इसी पुस्तक में पृष्ठ १६४ पर '**स्रष्टा**' शब्द को 'श्रष्टा' लिखा गया है।

संस्कृत का '**मनस्**' प्रातिपदिक 'मनः' रूप में भी आता है। डा० भगीरथ मिश्र की एक उत्तम पुस्तक है, '**काव्य-रस : चिन्तन और आस्वाद**' (सन् १६६० ई०)। उसके पृष्ठ ६१ पर '**मनाभिमुखता**' शब्द का प्रयोग किया गया है। लेखक ने संभवतः संस्कृत में मूल शब्द '**मन**' समझा है, इसलिए **मन + अभिमुखता** का संधिगत शब्द '**मनाभिमुखता**' का प्रयोग कर दिया। यह संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्द है। **मनः + अभिमुखता = मनोऽभिमुखता** होना चाहिए था। उसी पुस्तक के पृष्ठ ८७ पर '**छह**' को छः लिखा गया है

डा० मिश्र की उसी पुस्तक (पृष्ठ ६२) में '**जागृत**' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसे भूतकालिक कृदन्त के रूप में '**जागरित**' (√जागृ + क्त) लिखा जाना चाहिए था। √जागृ धातु से वर्तमानकालिक कृदन्त रूप **जाग्रत्** (√जागृ + शतृ) होता है। हम अन्यत्र भी इसका उल्लेख कर चुके हैं। एक लेखक की पुस्तक में '**संगृहीत**' के स्थान पर मुझे 'संग्रहीत शब्द भी लिखा मिला था। ये हिन्दी के डाक्टरों की बातें हैं, किसी मामूली कम्पाउण्डर की नहीं।

दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के एक प्रवक्ता का पत्र मेरे पास आया था। उसके लिफाफे पर मेरा नाम और पता लिखा हुआ था। मेरे नाम के पहले विशेषण रूप में 'श्रीयुत्' शब्द उन्होंने लिखा था। उनके पत्र का उत्तर देने के बाद 'विशेष' शब्द को रेखांकित करते हुए मैंने उन्हें लिखा कि शुद्ध वर्तनी के साथ साधु शब्द '**श्रीयुत**' है, 'श्रीयुत्' नहीं। आप अध्यापक हैं, आपका अनुकरण आपके विद्यार्थी करेंगे और भविष्य में वे भी 'श्रीयुत्' ही लिखेंगे। **श्रीयुत** = (श्री + √यु + क्त) श्रीसहित, श्रीयुक्त,। बाद में उनका एक पत्र आया जिसमें लिखा था, "मैं जल्दी में 'त' में हलन्त लगा गया था।"

उस पत्र के उत्तर में फिर मैंने उन्हें लिखा कि प्रियवर! '**हल्**' और '**हलन्त**' शब्दों के अर्थ और प्रयोग को कृपया आप गाँठ बाँध लीजिए। 'त' के नीचे जो आड़ा-सा निशान आपने 'श्रीयुत्' में लगाया था, उसे 'हल्' कहना चाहिए। जिस शब्द के अन्त में 'हल्' लगा होता है, उस शब्द को '**हलन्त**' कहते हैं। '**श्रीमान्**' शब्द के 'न' में 'हल्' लगता है अथवा कहिए कि '**श्रीमान्**' शब्द 'हलन्त' है। '**हलन्त**' = हल् है अन्त में जिसके।

हिन्दी एम० ए० परीक्षोत्तीर्ण व्यक्तियों तथा हिन्दी में पी-एच० डी० उपाधिधारी प्रवक्ताओं के ऐसे लगभग २० पत्र मेरे पास हैं, जिनमें किसी में 'प्रणाम्' किसी में 'श्रीयुत्' और किसी में 'पूज्यनीय' शब्द लिखे गये हैं। ये **प्रणाम** और **श्रीयुत** शब्द हैं अर्थात् ये शब्द हलन्त नहीं हैं। तीन-चार पत्रों में 'छह' को 'छः' लिखा गया था।

२५ जनवरी, सन् १६६२ ई० के दैनिक पत्र 'नवभारत टाइम्स' में सचिव,

साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, ३५ फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली–११०००१ की ओर से 'सन् १९९२ ई० के अनुवाद–पुरस्कार' से सम्बद्ध विज्ञप्ति प्रकाशित हुई थी। उसमें **'अनुवादित पुस्तकें'** लिखा गया था। साहित्य अकादेमी के सचिव महोदय भी 'ट्रांसलेटैड' (Translated) के लिए 'अनुवादित' लिखते हैं। सही शब्द **'अनूदित'** है (अनु + उदित = अनूदित)।

'श्री विश्वनाथ के संपादकत्व में कश्मीरी गेट, दिल्ली से फरवरी, १९९२ ई० का 'नया साहित्य' मासिक प्रकाशित हुआ था। उसके पृष्ठ ३ पर डा० रामविलास शर्मा के सम्बन्ध में लिखा गया है—"उन्होंने अपनी कथनी और करनी की **साम्यता** को सिद्ध किया है।" इस वाक्य में **'साम्यता'** शब्द गलत है।

'सम' शब्द से एक भाववाचक संज्ञा शब्द **समता** (सम + –ता) है और दूसरा **साम्य** (सम + ष्यञ्) है। संपादक महोदय ने भाववाचक **'साम्य'** में **–ता** प्रत्यय लगाकर अपने अज्ञान का पूरा–पूरा परिचय दे दिया है। संपादक महोदय को या तो **समता** लिखना चाहिए था या फिर **साम्य**। 'साम्यता' कुछ नहीं होता। साम्यता को ऐसा समझिए, जैसा—'गांधी कैप टोपी'। 'कैप' के साथ 'टोपी' भी। ष्यञ् प्रत्यय के साथ –ता प्रत्यय भी।

फरवरी, १९९२ ई० की 'कादम्बिनी' (मासिक पत्रिका) में एक लेखक ने 'समानता' के अर्थ में **साम्यता** शब्द (पृष्ठ १२७) का प्रयोग किया था। उसे **समता** या **साम्य** में से किसी एक का प्रयोग करना चाहिए था।

एक विश्वविद्यालय के हिन्दी–विभागाध्यक्ष एवं आचार्य का एक पत्र (दिनांक २२.२.९२ ई०) मुझे मिला था। उसमें छोटे-छोटे कुल आठ वाक्य थे। उनमें तीन पद इस प्रकार लिखे गये थे—

(१) सम्बन्धित (२) चाहिएँ (३) झँझट।

आचार्य महोदय ने **'सम्बन्धित'** पद **'पुस्तकें'** पद के लिए विशेषण के रूप में लिखा था—"सम्बन्धित पुस्तकें।"

सम्बन्ध + इतच् = सम्बन्धित। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार **—इतच्** प्रत्यय संजात अर्थ में आता है अर्थात् जो वस्तु जिसमें पैदा होती है, उस वस्तु के सूचक शब्द में —इतच् प्रत्यय लगता है, जैसे **पुष्पित वृक्ष, तारकित आकाश**।

'सम्बन्धित पुस्तकें' का अर्थ हुआ, वे पुस्तकें जिनमें सम्बन्ध पैदा हुआ है। यह प्रयोग असाधु है। **'सम्बद्ध पुस्तकें'** लिखा जाना चाहिए था।

'चाहिएँ' लिखना भी अशुद्ध है। 'चाहिए' क्रिया हिन्दी में सदा एकरूप रहती है—

(१) लड़के को पुस्तक **चाहिए**। (२) लड़के को पुस्तकें **चाहिए**।
(३) लड़की को एक ग्रन्थ **चाहिए**। (४) लड़कियों को दो ग्रन्थ **चाहिए**।
(५) लड़कों को तीन ग्रन्थ **चाहिए**। (६) लड़कियों को तीन पुस्तकें **चाहिए**।
(७) लड़के को एक ग्रन्थ **चाहिए**।

उपर्युक्त सभी वाक्यों में '**चाहिए**' अपरिवर्तित क्रियापद है। इस पर लिंग-वचन का प्रभाव नहीं पड़ता।

आचार्य महोदय ने अनुनासिकता के साथ '**झँझट**' लिखा था। इसे अनुस्वार के साथ '**झंझट**' लिखना चाहिए था। हिन्दी के कई नये लेखक **दिनांक** शब्द को '**दिनाँक**' लिखते हैं। चन्द्र-विन्दु अर्ध अनुस्वार है। '**झँझट**' शब्द में तीन मात्राएँ हैं और **झंझट** में चार मात्राएँ हैं।

हिन्दी के कुछ दैनिक समाचार-पत्रों में से तो अनुनासिक चिह्न का नाम-निशान ही मिटा दिया है।

मेरे एक साहित्यिक मित्र हैं। लेखक के रूप में हिन्दी में विख्यात भी हैं। कई पुस्तकें लिखी हैं। दिनांक ७ जनवरी, १९९२ ई० का लिखा उनका एक पत्र आया था। अपनी अस्वस्थता का समाचार देते हुए उन्होंने उस पत्र में लिखा था—

"पिछले ७ वर्ष से **शैयासीन** ही हूँ।"

'खाट' या 'चारपाई' के अर्थ में मेरे साहित्यिक मित्र ने '**शैया**' शब्द लिखा था। उन साहित्यिक मित्र की ही बात क्या, अन्य कई धुरंधर लेखकों की पुस्तकों में मैंने **शैया** लिखा देखा है। उनसे मेरा निवेदन है कि 'खाट' के अर्थ में '**शय्या**' (√शी + क्यप् + टाप्) शब्द है, शैया नहीं।

जो हिन्दी-लेखक संस्कृत नहीं जानते, उनका कहना तो यह है कि हिन्दी में हल् लगाने के झगड़े को ही हटा देना चाहिए। हिन्दी-लेखक '**विद्वान्**' न लिखकर **विद्वान** ही लिखते हैं। कुछ '**महत्ता**' और '**महानता**' में अर्थ-भेद करते हुए हिन्दी में दोनों प्रयोगों को साधु मानते हैं लेकिन उनके कई ग्रन्थों में मैंने 'श्रीमान्' लिखा देखा है। वे जब 'विद्वान' लिखते हैं, तो 'श्रीमान' क्यों नहीं लिखते?

मार्च, सन् १९९२ ई० की 'कादम्बिनी' पत्रिका के पृष्ठ १९६ पर मुद्रित है--"पत्र की सतत् उन्नति चाहते हुए।"

उपर्युक्त मासिक पत्रिका में 'सतत्' को हलन्त रूप में मुद्रित किया गया है। 'निरन्तर' या 'लगातार' के अर्थ में शुद्ध शब्द '**सतत**' (स् + अ + त् + अ + त् + अ) है। लेखक या संपादक को उक्त शब्द व्यंजनान्त नहीं लिखना चाहिए था। यह अकार के साथ स्वरान्त है। 'बल्कि' या 'वरन्' के अर्थ में शुद्ध शब्द **प्रत्युत** है; कुछ लेखक इसे हलन्त रूप में 'प्रत्युत्' लिखकर भूल करते हैं। **प्रति + उत = प्रत्युत** (अव्यय)।

दिनांक १० मार्च, १९९२ ई० को मुझे 'नवलेखन' पत्रिका के संपादक श्री टेकचन्द गुलाटी, पानीपत (हरियाणा) का एक परिपत्र मिला था। उस परिपत्र में निम्नांकित दो पद पढ़ने को मिले—

(१) क्षुद्र वासनाऍं (२) उपलक्ष में।

आकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द का ऋजु बहुवचन —**एँ** के योग से बनता है। **भावनाएं, कामनाएं, वासनाएँ** आदि। 'नवलेखन' के सम्पादक को 'वासनाऐं'

जैसा नवलेखन हिन्दी में आरम्भ नहीं करना चाहिए। एँ और ऐं में अन्तर है।

दूसरा पद 'उपलक्ष्य' में होना चाहिए था। हिन्दी में **'लक्ष'** और **'लक्ष्य'** के अर्थ–भेद को सम्पादक महोदय को समझना आवश्यक है। छापे की भूल कहकर सम्पादक महोदय अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते।

बचपन और **लड़कपन** के अर्थ में एक अवस्था का भाव नहीं है। 'शैशव' के उपरान्त आनेवाली अवस्था **बचपन** है। सात वर्ष के आस–पास के बच्चे की अवस्था 'बालपन' या 'बचपन' मानी जा सकती है।

'लड़कपन' का अर्थ है 'नादानी' या 'चिलबिलापन'। इसे **'लड़कई'** भी कहते हैं। यही 'लड़कपना' भी कहलाता है। 'लड़कपना' से मिलता–जुलता बचपना है।

राम–लक्ष्मण ने सेना सहित सागर पार करके सुबेल पर्वत पर डेरा डाल दिया। यह सुनकर रावण कहने लगा, "दो लड़के रावण से लड़ने आये हैं। उन लड़कों का यही तो 'लड़कपन' है।"

शचीरानी गुर्टू के द्वारा संपादित पुस्तक 'हिन्दी के आलोचक' (सन् १६५५ ई०) आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली ने प्रकाशित की थी। उसमें पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का एक लेख 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' शीर्षक से है। उसमें प्रथम वाक्य है— "शुक्ल जी **लड़कपन** से ही हिन्दी की ओर प्रवृत्त थे।" इस वाक्य में 'लड़कपन' का प्रयोग साधु नहीं माना जा सकता। 'लड़काई' ठीक है। सूर ने कहा—"लरिकाई **कौ** प्रेम कहौ अलि कैसे छूटे ?

दो शब्द हैं एक **आक्रामक** (आ + √क्रम + ण्वुल्) और दूसरा **आक्रान्त** (आ + √क्रम् + क्त)। आक्रमण करने वाला **'आक्रामक'** कहाता है और जिस पर आक्रमण किया गया हो, उसे **'आक्रान्त'** कहते हैं। 'आक्रान्त' का स्त्रीलिंग 'आक्रान्ता' है। जिस स्त्री पर आक्रमण किया गया हो, उसे **'आक्रान्ता'** कहा जाएगा।

दिल्ली दूरदर्शन पर दिखाये गये 'चाणक्य' धारावाहिक में तिर्यक् पुंलिंग बहुवचन के रूप में 'आक्रान्ताओं' का प्रयोग आक्रमणकर्ता के अर्थ में किया गया था। वह गलत प्रयोग है। **'आक्रामक'** कर्तरि प्रयोग और **आक्रान्त** कर्मणि प्रयोग है। दोनों शब्द पुंलिंग एकवचनीय हैं।

(१) **आक्रामक** = Inveder (२) **आक्रान्ता** = Invaded.

'आक्रान्ता' को **'आक्रामक'** अर्थ में श्री यशपाल जैन भी समझते हैं। श्री ताराचन्द पाल 'बेकल' ने मार्च, १६६२ ई० का 'क्रान्तिमन्यु' मासिक प्रकाशित किया, जो 'पद्मश्री चिरंजीत–विशेषांक' के नाम से है। उसमें चिरंजीत के सम्बन्ध में यशपाल जैन लिखते हैं—

"जिस समय पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया था, उनकी 'ढोल की पोल' रचनाओं ने आक्रान्ता को हतप्रभ कर दिया था।"

—(क्रान्तिमन्यु, मार्च, १६६२ ई० पृ. १०ब)

उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त **'आक्रान्ता'** बतलाता है कि लेखक इसका अर्थ सम–

झता है 'आक्रमण करने वाला', जबकि **'आक्रान्ता'** का अर्थ है, वह स्त्री जिस पर आक्रमण किया गया हो।

कुछ हिन्दी-लेखकों के दिमागों पर 'आक्रांता' 'आक्रामक' बनकर सवार हो गया है। प्रारम्भ की किसी एक की भूल बाद में अनेक की भूल बन बैठी—विचारणीय विषय है। ऐसी गतानुगतिकता अशुद्ध प्रयोग की श्रृंखला बन जाती है।

'क्रान्त' में निष्ठा प्रत्यय 'क्त' और **क्रान्ति** में **'क्तिन्'** प्रत्यय है। स्थिति में भारी उलट-फेर को **'क्रान्ति'** कहते हैं। ऐसे उलट-फेर देखने वाला व्यक्ति **क्रान्तदर्शी** या **क्रान्तिदर्शी** कहलाता है। निष्ठा प्रत्यय का **क्रान्त** भी संज्ञा की भाँति प्रयुक्त होता है—सं० स्मिति=सं० स्मित

'आक्रम' का अर्थ है आक्रमण। आक्रमण करने वाला **आक्रामक** कह-लाता है। कुछ अन्य लेखक भी समझते हैं कि **'आक्रान्ता'** का अर्थ है आक्रमण करने वाला। सहारनपुर सन्दर्भ ग्रन्थ (१९८६ ई०) के सम्पादक डा० कृष्ण कुमार शर्मा ने भी **'आक्रान्ता'** का अर्थ 'आक्रमण करने वाला' ही समझा है। हम बता चुके हैं कि **'आक्रान्त'** का अर्थ है जिस पर आक्रमण किया गया हो। इसका स्त्रीलिंग रूप **आक्रान्ता** है। 'सम्पादकीय' (पृष्ठ XIII) में डा० कृष्णकुमार शर्मा ने लिखा है—"इस जनपद की आग कभी शान्त नहीं हुई। इतिहास साक्षी है, जब इसे मिला अवसर, इसने **आक्रान्ता** को हटाने का भरसक प्रयत्न किया।" यहाँ **'आक्रान्ता'** प्रयोग गलत है। यहाँ 'आक्रान्ता' के स्थान पर **'आक्रामक'** लिखना चाहिए था।

महाभारत ग्रन्थ के कथानक 'सत्यवान्-सावित्री' पर आधृत 'सावित्री' दार्श-निक काव्य श्री अरविन्द की महान् कृति है। अंग्रेजी के मूल ग्रन्थ **'सावित्री'** का हिन्दी-पद्यात्मक अनुवाद श्री शिवदास ने किया है, जो सन् १९८८ ई० में सिद्धलोक प्रकाशन, ४३ श्री अरविन्द मार्ग, देहरादून (उ० प्र०) से प्रकाशित हुआ। उस अनूदित ग्रन्थ का नाम है **'सावित्री-सौरभ'**। **'सावित्री सौरभ'** की भूमिका में 'विशद्' शब्द हलन्त मुद्रित है। यह शुद्ध शब्द **'विशद'** (वि+√शद्+अच्) है, जिसका अर्थ है स्पष्ट, उज्ज्वल आदि। **'विशद'** अकारान्त शब्द है। सं० विशद्=स्पष्ट।

पृष्ठ पाँच पर 'कर्तृी-विधातृी' मुद्रिद हैं। इन्हें **कर्त्री-विधात्री** छापा जाना चाहिए था।

पृष्ठ आठ पर **'अन्तरराष्ट्रीय'** को 'अन्तर्राष्ट्रीय लिखा गया है। पृष्ठ नौ पर **'स्वयमेव'** के साथ **ही** भी लिख दिया है। **'स्वयमेव'** में तो, 'एव' का अर्थ **'ही'** है ही, फिर भी अज्ञान के कारण एक **'ही'** और भी लिखा गया है। यह लेखक की भूल है।

श्री शिवदास द्वारा पद्यात्मक अनुवाद 'सावित्री-सौरभ' (१९८८ ई०) की भूमिका श्री इन्द्रसेन (श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी) ने लिखी है। उसमें एक वाक्य हैं—

"यह महाकाव्य **मन-प्राण-शरीर-आत्मा** को मानो उँगली पकड़कर उनकी

दिव्य **भवितव्यता** की ओर ले जाता है।"

उपर्युक्त वाक्य में '**भवितव्यता**' शब्द का प्रयोग विचारणीय है। कुछ मिलते-से दो शब्द हैं—(१) **भव्य** (=सुन्दर) (२) **भवितव्य** (=होने वाला)। इनसे क्रमश: भाववाचक संज्ञा शब्द बनते हैं—(१) **भव्यता** (सुन्दरता) (२) **भवितव्यता** (=होनी, भाग्य, नियति)।

अलौकिक सुन्दरता के लिए '**दिव्यता**' शब्द भी प्रयुक्त होता है। अत: भूमिका में प्रयुक्त 'भवितव्यता' के स्थान पर '**भव्यता**' शब्द का प्रयोग होना चाहिए। 'मन–प्राण–शरीर–आत्मा' का जो समास बनाया गया है, उसे 'शरीर–प्राण–मन–आत्मा' रूप में लिखा जाता, तो अधिक उपयुक्त रहता।

√या धातु से दो भूतकालिक कृदन्त विशेषण बनते हैं—(१) आ+√या+क्त=**आयात**=आया हुआ, बाहर से आया हुआ (माल)। (२) निर्+√या+क्त=**निर्यात**=गया हुआ, बाहर गया हुआ (माल)।

कुछ हिन्दी लेखक अपने लेखों में 'आयातित' लिखने लगे हैं। 'वर्चस्व' की भाँति 'आयातित' भी अज्ञान के कारण ही लिखा जा रहा है 'वर्चस्व' नहीं, **वर्चस्** आयातित नहीं, **आयात**।

जनवरी, १९९२, ई० की मासिक पत्रिका 'सुमन लिपि' में श्री चिरंजीव का एक लेख–'नई कविता' की आँधी में भी गीत जिन्दा है–शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। लेख अच्छा है, लेकिन लेखक ने पत्रिका के पृष्ठ १० पर लिखा है—

"पश्चिम से आयातित गद्यात्मक नई कविता"—'आयातित' में दुहरा **क्त** प्रत्यय लगा दिया गया है। 'सनलाइट सोप साबुन' बन गया है।

एक विश्वविद्यालय में एक हिन्दी–विभागाध्यक्ष एवं आचार्य हैं। उनसे मेरा पत्र–व्यवहार भी रहता है। पत्र में लच्छेदार हिन्दी लिखते हैं। वाक्यों की मालाओं में बीच–बीच में संस्कृत के कोमल ललित शब्द–सुमन भी गुँथे रहते हैं। अक्षरों की बनावट ऐसी नयनाभिराम है कि पाठक पत्र पढ़ने से पहले पाँच मिनट तक एक टक पत्र के सुलेख को ही देखता रहता है। अक्षर आकार में छोटे होते हुए भी सुस्पष्ट एवं सुवाच्य होते हैं। वे पोस्टकार्ड से लिफाफे का काम ले लेते हैं। वे इस मामले में बनिये हैं, लेकिन जन्म तथा कर्म से ब्राह्मण हैं।

एक बार उनका पोस्टकार्ड पर लिखा हुआ पत्र आया। उसमें '**तेजोद्दीप्त**' शब्द लिखा हुआ था। उनके उस पत्र के उत्तर में एक पत्र मैंने उन्हें लिखा कि आपकी लेखनी से '**तेजोद्दीप्त**' कैसे लिखा गया? **तेज:+उद्दीप्त** की संधि तो '**तेजउद्दीप्त**' होती है। यदि **तेज:** और **दीप्त** की सन्धि की जाएगी तो शब्द बनेगा '**तेजोदीप्त**'। फिर 'तेजोद्दीप्त' कैसे–क्या है?

मेरे पत्र के उत्तर में भूल स्वीकारते हुए उनका पत्र आया कि "आप ठीक कहते हैं। सहारनपुर की जनपदीय बोली की प्रकृति द्वित्वबहुला है। उस बोली में रोटी **रोट्टी**, मूली **मूल्ली**, गाजर **गाज्जर**, धोती **धोत्ती** और गाली **गाल्ली**, हो जाती

है। सहारनपुर को लिखे गये मेरे पत्र में भी द्वित्ववाले शब्द में **तेजोद्दीप्त** लिख गया। मूल शब्द तेजः (तेजस्) न मानकर 'तेज' मान बैठा और तेज + उद्दीप्त = तेजोद्दीप्त लिख गया। वास्तव में '**तेजउद्दीप्त**' ही सही संधिगत रूप है''। मैं अपने उन मित्र महोदय में सच्चे विद्वान् का लक्षण मानता हूँ। हिन्दी–जगत् में ऐसे विद्वल्लक्षण वाले महानुभाव उँगलियों पर गिने जा सकते हैं।

'प्रकर' मासिक, नवम्बर, १९८९ ई०, राणाप्रताप बाग, दिल्ली में श्री नरेश मेहता की काव्य–कृति 'अरण्या' की समीक्षा डा० श्यामसुन्दर घोष के द्वारा लिखी गई थी। डा० घोष श्री नरेश मेहता के सम्बन्ध में पृष्ठ १५ पर कहते हैं—

" यह भी सच है कि भाषा का जैसा **शक्तिवान्** सटीक और सार्थक प्रयोग वे करते हैं, वह भी **वही** कर सके हैं।''

उपर्युक्त वाक्य में आये हुए '**शक्तिवान्**' और '**वही**' शब्द विचारणीय है। जब पहले '**वे**' सर्वनाम आ चुका, तब **वेही** लिखना था।

डा० घोष को पता नहीं कि **वान्** और **मान्** प्रत्यय कहाँ लगते हैं ? इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त और ऊकारान्त शब्दों में **मान्** प्रत्यय लगता है। अकारान्त और आकारान्त शब्दों में **वान्** प्रत्यय लगता है।

(१) जैसे **गतिमान्, श्रीमान्, धातुमान्, हनूमान्** आदि (मान् का प्रयोग)।
[**कीर्तिमान** और **दिनमान** में **मान** भिन्न शब्द है। यह **मान** संज्ञा शब्द है। '**मान्**' प्रत्यय है। इस अन्तर को ध्यान में रखना है।]

(२) जैसे **धनवान्, विद्यावान्** आदि (वान् का प्रयोग)।
'**शक्ति**' शब्द इकारान्त है, इसलिए उसमें **मान्** प्रत्यय लगेगा। शुद्ध शब्द '**शक्तिमान्**' है, 'शक्तिवान्' नहीं।

इसी तरह एक और भी सज्जन थे, जिन्होंने 'शक्तिवान्' लिखा था। उन्हें '**शक्तिमान्**' लिखने की सलाह दी तो, मेरी ओर आँखें तरेरने लगे और कहने लगे कि 'शक्तिवान् सही है। हमारे गुरु जी भी 'शक्तिवान्' ही लिखा करते थे। हिन्दी में शक्तिवान् भी ठीक है। हम दस साल से 'शक्तिवान्' लिख रहे हैं।

हिन्दी को तो लोगों ने भँगार भाषा समझ लिया है; कुछ भी लिख दीजिए, सब ठीक है। हिन्दी में सब चलता है। याद आते हैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हमें। आज होते तो 'शक्तिवान्' लिखने वाले के सिर पर डंडा मार देते।

√ग्रह् धातु से **ल्युट्** प्रत्यय के योग से **ग्रहण** शब्द और **क्त** प्रत्यय के योग से **गृहीत** शब्द निष्पन्न होता है। **अधि** उपसर्ग के योग से **अधिगृहीत** शब्द की निष्पत्ति होती है।

दिनांक १७–४–९२ ई० के 'नवभारत टाइम्स' में मुद्रित था, "अधिग्रहीत सम्पत्ति का मुआवजा जमा किया गया।''

यहाँ **अधिगृहीत** लिखा जाना चाहिए था। अधिगृहीत कृदन्त विशेषण है। इसका विशेष्य 'सम्पत्ति' शब्द है। '**अधिगृहीत** सम्पत्ति' या सम्पत्ति का '**अधिग्रहण**'

लिखना साधु है । 'अधिग्रहीत' अशुद्ध है ।

दिनांक ४–५–९२ के 'नवभारत टाइम्स' में श्री मधु लिमये का एक लेख– 'सिर्फ धर्म एकता का आधार नहीं' शीर्षक से प्रकाशित हुआ । उसमें लेखक ने **'भाषा'** संज्ञा शब्द से **'भाषायी'** विशेषण बनाकर कई स्थलों पर उसका प्रयोग किया था । जैसे—**भाषायी झगड़ों, भाषायी सिद्धान्त, भाषायी अस्मिता, भाषायी गर्व** आदि ।

लेखक ने **'भाषायी'** विशेषण शब्द अशुद्ध लिखा था । अरबी या फ़ारसी भाषा में ई प्रत्यय संज्ञा में लगकर उस संज्ञा को विशेषण रूप देता है । जैसे अ० **किताब**+–ई=**किताबी** अर्थात् किताब से सम्बद्ध । अ० **जनूब**+–ई=जनूबी (दक्षिणी) फ़ा० दस्त+–ई=दस्ती (हाथ का) फ़ा० **दस्तीख़त,** अ० **किताबी** मामला ।

यह–ई प्रत्यय हिन्दी ने भी ग्रहण किया है—हिं० **उत्तर**+–ई=**उत्तरी** (उत्तर का), हिं० **दक्षिण**+–ई=**दक्षिणी** (दक्षिण का) ।

यदि संज्ञा शब्द आकारान्त होगा, तब–ई प्रत्यय अलग से मूल संज्ञा शब्द में योग देगा ।

अ० दहा+–ई+दहाई (प्रतिभा सम्बन्धी) फा० **दर्या**+–**ई**=**दर्याई** (=नदी सम्बन्धी) । **दर्याई** घोड़ा, लखन**वी** लोग ।

'भाषा' शब्द भी आकारान्त संज्ञा है । अतः इसमें भी –ई प्रत्यय अलग से योग देगा—**भाषा**+–**ई**=भाषाई । (भाषा सम्बन्धी) । **भाषाई** समस्या ।

श्री मधु लिमये को **भाषाई** लिखना चाहिए था, 'भाषायी' नहीं । 'य्' के आगम का प्रश्न ही नहीं उठता ।

श्री मधु लिमये की भाँति कुछ अन्य हिन्दी लेखक भी 'भाषायी' लिख रहे हैं । कौन गहरा विचार करता है । प्रायः देखा–देखी पर मामला चलता रहता है ।

सन् १९९२ ई० में उदीयमान कवि योगेश छिब्बर की कविताओं का एक संकलन 'चिड़िया बम नहीं बनाएगी' नाम से आशिर प्रकाशन, सहारनपुर से प्रकाशित हुआ था । उसमें भूमिका के रूप में 'ये कविताएँ' शीर्षक से डा० सुरेशचन्द्र त्यागी ने दो पृष्ठ लिखे थे । पुस्तक के पृष्ठ ४ पर डा० त्यागी ने **संभलकर** और **संभावना** लिखा है ।

हिन्दी में अनुस्वार पंचम वर्ण का स्थानापन्न बनकर आता है । **'संभल'** की वर्तनी होगी–**सम्भल** और **संभावना** की वर्तनी होगी **'सम्भावना'** ।

हिन्दी में 'सम्भल' नहीं बोला जाता, अपितु **सँभल** बोला जाता है । उच्चारण की दृष्टि से लिपि–वर्तनी में **सँभलकर** लिखा जाना चाहिए था । हिन्दी–लेखकों को हिन्दी भाषा लिखते समय अनुस्वार और अनुनासिक चिह्न को स्पष्टतः व्यक्त करना चाहिए । इनके स्पष्ट प्रयोग से ही **हंस** और **हँस** का अर्थ समझ में आएगा । **हंस**=एक पक्षी । **हँस**=हँसना क्रिया का आज्ञार्थ–रूप ।

हिन्दी में अशुद्ध वाक्य-रचना

भावुकताभरी भावाभिव्यक्ति के क्षणों में कभी-कभी अच्छे-अच्छे कविशिरोमणि की भाषा भी पथ भूल जाती है। तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' के हनुमान् सीतान्वेषी श्रीराम जी से पूछते हैं—

"**कठिन** भूमि कोमलपदगामी।
कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी ॥" (मानस, किष्कि० दो० १/८)

'**कोमल**' का अर्थ है 'मुलायम'। 'कोमल' शब्द स्पर्शानुभूति से सम्बद्ध है। इसका विलोम '**कठोर**' है। 'कठिन' का प्रयोग भिन्न अर्थ में होता है। जो बुद्धि के लिए मुश्किल हो उसे **कठिन** कहते हैं।

तुलसीदास जी को 'कठिन भूमि' के स्थान पर '**कठोर भूमि**' का प्रयोग करना चाहिए था। **कठोर** शब्द स्पर्शबिम्ब से सम्बद्ध है।

प्रसाद जी ने 'कामायनी' (चिन्ता सर्ग) में लिखा—

"अरे अमरता के चमकीले पुतलो! **तेरे** वे जय नाद।" —यहाँ 'पुतलो' बहुवचनीय सम्बोधन है, अतः 'तेरे' के स्थान पर '**तुम्हारे**' होना चाहिए था। अथवा 'पुतलो' के स्थान पर एकवचनीय सम्बोधन '**पुतले**' लिखना चाहिए था।

शुभश्री महादेवी वर्मा का एक वाक्य है—

"अपने **लड़कों को** औटाते हुए दूध पर से मलाई उतारकर खिलातीं।

उपर्युक्त वाक्य में '**लड़कों को**' का प्रयोग उचित स्थान पर नहीं है। 'औटाते हुए' क्रिया से पहले 'लड़कों को' का प्रयोग अर्थ देता है कि लड़के औटाये जा रहे हैं। वास्तव में 'लड़कों को' मलाई खिलाई गयी है। अतः व्याकरण सम्मत शुद्ध वाक्य यह होना चाहिए—

"औटाते हुए दूध पर से मलाई उतारकर **अपने लड़कों को खिलातीं।**"

सन् १९२८ ई० में वृन्दावनलाल वर्मा की एक पुस्तक '**हृदय की हिलोर**' (गद्यकाव्य संग्रह) प्रकाशित हुई थी। उसी वर्ष उनका '**गढ़कुंडार**' (ऐतिहासिक उपन्यास) प्रकाशित हुआ था। इन दोनों पुस्तकों में वर्मा जी ने उत्तमपुरुषीय एकवचनीय सर्वनाम का कर्ताकारकीय प्रयोग अशुद्ध किया था—

अशुद्ध प्रयोग (मैंने)	**शुद्ध प्रयोग (मैं)**
(१) मैंने भौंहों का पसीना अभी पोंछ न पाया था। (हृदय की हिलोर, पृष्ठ ९३)	(१) **मैं** भौंहों का पसीना अभी पोंछ न पाया था।
(२) मैंने वाक्य पूरा नहीं कर पाया। —(हृदय की हिलोर, पृष्ठ १२)	(२) **मैं** वाक्य पूरा नहीं कर पाया।
(३) मैंने अभी उनसे नहीं कह पाया	(३) **मैं** अभी उनसे नहीं कह पाया

है। —(गढ़कुंडार, पृ० १५०) हूँ।

सन् १९८४ ई० में सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा श्री यशपाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ 'निष्काम साधक' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। उसमें एक खंड 'भारतीय संस्कृति' पर भी है। उस ग्रन्थ में पृष्ठ ६८६ और ६८७ के मध्य के पृष्ठ पर मुद्रित है—

"इन पृष्ठों में **संग्रहीत रचनाएँ** इस तथ्य को उजागर करती हैं।"

उपर्युक्त उदाहरण में 'संग्रहीत' शब्द गलत है। यहाँ **'संगृहीत'** (सम्+ √ग्रह्+क्त) लिखा जाना चाहिए था। **संगृहीत** भूतकालिक कृदन्त विशेषण है।

इसी ग्रन्थ के 'सम्पादकीय' (पृष्ठ ३) के प्रथम अनुच्छेद के अन्त में मुद्रित है--"उल्लेखनीय योगदान दिया है।"—**दान** और **दिया** के कारण द्विरुक्ति दोष है। वाक्य होना चाहिए था—

"उल्लेखनीय **योगदान किया है**।"

'पालन पाला है' नहीं, **'पालन किया है।'** 'प्राप्ति पायी है' नहीं, **'प्राप्ति की है।'**

दिनांक २२-८-८५ ई० को 'तुलसी जयन्ती' के अवसर पर भारतीय नृत्यकला मन्दिर, पटना (बिहार) में राज्यपाल श्री सुब्बय्या जी की अध्यक्षता में तथा डा० कुमार विमल के संयोजकत्व में 'भारतीय साहित्य में रामकथा' पर एक संगोष्ठी हुई थी, जिसमें चार व्यक्ति उत्तर भारत से और चार दक्षिण भारत से आमंत्रित किये गये थे। उत्तर भारत से आमंत्रित व्यक्ति थे—(१) **डा० रामकुमार वर्मा** (२) **डा० देवराज** (३) **डा० विद्या निवास मिश्र** (४) **डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'**। दक्षिण भारत से आमंत्रित थे—(१) **डा० पाण्डुरंग राव** (२) **प्रो० न० नागप्पा** (३) **डा० मलिक मोहम्मद** (४) **डा० न० वी० राजगोपालन**।

उपर्युक्त संगोष्ठी में दिये गये अभिभाषणों को सम्पादित करके डा० कुमार विमल ने 'भारतीय साहित्य में रामकथा' नाम से एक पुस्तक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से सन् १९८७ ई० में प्रकाशित करायी थी। उसके पृष्ठ २९ पर डा० विद्यानिवास मिश्र द्वारा एक वाक्य में लिखा गया है—"अपना ऐश्वर्य, अपने स्वजन—सबका नाश करा लिये।"—यह व्याकरणविरुद्ध वाक्य-रचना है। शुद्ध वाक्य है—**'सबका नाश करा लिया।'**

'सहारनपुर संदर्भ' (सन् १९८६ ई०) में प्रारम्भ में श्री पं० कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने 'अपनी पहचान' शीर्षक से पुरोवाक्-सा लिखा है। उसके प्रथम अनुच्छेद में मिश्र जी का एक वाक्यांश है—

"अब तो वही शहर स्काट की वंशभूमि थी।" (सहारनपुर संदर्भ, पृष्ठ VII)

उपर्युक्त वाक्यांश में कर्ता 'शहर' पुंलिंग एकवचन में है, इसलिए क्रिया **'था'** का प्रयोग होना चाहिए। शुद्ध वाक्य यह होना चाहिए—

"अब तो वही शहर स्काट की वंशभूमि **था**।"

निम्नांकित वाक्य पर ध्यान देने पर पाठकों को शुद्ध वाक्य-रचना का पता लग जाएगा—

"हमने देखा कि वह लड़का उस नाटक में लड़की **था**।" यदि 'लड़की थी' लिख दिया जाएगा, तो वाक्य अशुद्ध हो जाएगा।

प्रस्तुत, उपस्थित और **स्थित** में अर्थ–भेद है। किसी के सामने जब कोई वस्तु रखी जाती है, तब वह '**प्रस्तुत**' कही जाती है। जब कोई मनुष्य कहीं हाजिर होता है, तब वह **उपस्थित** कहलाता है अर्थात् शरीर से हाजिर का नाम 'उपस्थित' है। जब कोई मनुष्य मन–बुद्धि से सावधान एवं निःसंदेह होता है, तब **स्थित** कहलाता है। गीता (अ० १८/७३) में **स्थित** शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति **स्थित** कहलाता है। अर्जुन ने श्री कृष्ण से कहा था—

"**स्थितोऽस्मि** गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव" (गीता १८/७३)

आज की हिन्दी भाषा में **उपस्थित** और **स्थित** के अर्थों में एक अन्तर यह भी है कि किसी व्यक्ति की **उपस्थिति** तो अस्थायी होती है, लेकिन किसी वस्तु की **स्थिति** स्थायी होती है। प्रयोग (**उपस्थित, स्थित** और **प्रस्तुत**)—

(१) "आप चाहें, तो डा० नगेन्द्र जी से मिल सकते हैं, वे आज सारे दिन मेरे घर ही **उपस्थित** रहेंगे।" '**उपस्थित**' का सम्बन्ध मनुष्य से है।

(२) "मथुरा नगरी यमुना नदी के तीर पर **स्थित** है।"

(३) "कमला ने अपना शोध–प्रबन्ध आज आगरा विश्वविद्यालय शोध–विभाग में **प्रस्तुत** कर दिया।"

"मैं आपके साथ चलने के लिए '**प्रस्तुत** हूँ।"

निम्नांकित वाक्य में 'उपस्थित' के स्थान पर '**प्रस्तुत**' शब्द का प्रयोग होना चाहिए था—"एक लघु कृति आपके सामने **उपस्थित** करते हुए परम हर्ष हो रहा है।"— (सहारनपुर सन्दर्भ में लेख, सन् १९८६ ई०, पृष्ठ २२४, डा० सुरेशचन्द्र त्यागी)

दिनांक २७-१०-१९९१ ई० के नवभारत टाइम्स में डा० नामवर सिंह का एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें एक वाक्य इस प्रकार मुद्रित था—

"हमारा इतिहास हर कदम पर हमारा पैर पकड़े है।"

उपर्युक्त वाक्य में क्रिया 'पकड़े है' का चिन्त्य प्रयोग है।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार की पी–एच० डी० शोध-उपाधि के लिए सन् १९९२ ई० में प्रस्तुत एक शोध-प्रबन्ध मूल्यांकन के लिए मेरे पास आया था। उसके अनुसंधाता महोदय ने विषय–सूची में 'सप्तम्', 'अष्टम्' लिखा था और 'प्राक्कथन' में निम्नांकित वाक्य लिखा था—

"द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत रीतिकाल के रीतिबद्ध कवियों, जैसे आचार्य केशवदास, सेनापति, जसवन्त सिंह, मतिराम, देव, भिखारीदास, पद्माकर, ग्वाल

आदि रीतिग्रन्थों के निर्माणकर्ताओं, जिनका विवरण 'हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग दो' में दिया गया है तथा जिनकी ग्रन्थावलियों का आचार्य मिश्र ने सम्पादन आलोचन किया है, का अध्ययन प्रस्तुत है ।"

उपर्युक्त महाप्रलम्ब वाक्य की रचना हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है । द्वितीय अध्याय में जिसका अध्ययन प्रस्तुत है, उसका पता पाठक को सुगमता पूर्वक नहीं लगता । **का** से पहले की पद–रचना बहुत गाँठ–गँठीली है । इस वाक्य–रचना पर अंग्रेजी भाषा की वाक्य–रचना का प्रभाव प्रतीत होता है ।

उपर्युक्त वाक्य के विचार को छोटे–छोटे कई साधारण वाक्यों में विभक्त करके लिखा जाता, तो अच्छा रहता ।

जनवरी १६६२ ई० में मुझे आगरा बिश्वविद्यालय, आगरा के हिन्दी पी–एच० डी० के एक शोध-छात्र की मौखिक परीक्षा लेनी थी । इसलिए दूसरे परीक्षक महोदय का परीक्षक-प्रतिवेदन भी मेरे पास आया था । उस प्रतिवेदन में प्रारम्भ में ही यह वाक्य था–

"मैंने इस शोध-प्रबन्ध को आद्योपान्त मनोयोगपूर्वक पढ़ा है ।"

उपर्युक्त वाक्य में 'आद्योपान्त' शब्द विचारणीय है । आद्य + उपान्त = आद्योपान्त । आदि + यत = आद्य (विशेषण) = प्रारम्भ का । उपान्त (संज्ञा) = किनारा, छोर, अन्त के पास का, आँख का कोना आदि । **'आद्योपान्त'** का अर्थ हुआ 'प्रारम्भ का किनारा' । इस अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती । परीक्षक महोदय को लिखना चाहिए था––

"मैंने इस शोध-प्रबन्ध को **आद्यन्त** (आदि + अन्त) = आदि से अन्त तक) मनोयोगपूर्वक पढ़ा है ।"

२६ फरवरी, १६६२ ई० के नवभारत टाइम्स में एक वाक्य था–

"वह **यहाँ** १ मार्च को **'पहुँचेंगे'** ।"––इस वाक्य का क्रियापद उपयुक्त नहीं है ।' **'वहाँ'** के साथ तो **'पहुँचेंगे'** क्रियापद ठीक है । **'यहाँ'** के साथ तो **'आ पहुँचेंगे'** क्रियापद प्रयुक्त करना चाहिए था अर्थात् '**वह** यहाँ १ मार्च को **आ पहुँचेंगे** ।"

अप्रैल १६६२ ई० की 'कादम्बिनी' में डा० भगवतीशरण मिश्र का एक लेख प्रकाशित हुआ था–'बिहार बुद्धिजीवियों की उपजाऊ धरती : जातिवाद की घटिया फसल' । उसमें दो स्थलों पर लेखक ने **'ज्योत्स्ना'** को 'ज्योत्सना' लिखा है । 'चाँदनी' के अर्थ में **'ज्योत्स्ना'** शब्द में **'स्'** वर्ण है, 'स' अक्षर नहीं । ऐसा लगता है कि लेखक **'भर्त्सना'** की वर्तनी से प्रभावित होकर अपने लेख में 'ज्योत्सना' लिख गया । 'ज्योत्सना' अशुद्ध है । शुद्ध है **'ज्योत्स्ना'** । साहित्यकार राही मासूम रज़ा के दिवंगत हो जाने पर शानी का एक लेख २६ मार्च, १६६२ ई० के 'नव-भारत टाइम्स' में 'महाभारत का मुसलमान' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था । उस लेख में शानी ने एक वाक्य लिखा था—

"फिर उस जगह खड़ा हूँ, जहाँ लाहौर, लखनऊ, दिल्ली और भोपाल से आये हुए और हमेशा के लिए सोऐ हुये **शायरों, अदीबों,** और **लेखकों** की कब्रें हैं।"

उपर्युक्त वाक्य में तीन शब्द **शायर, अदीब** और **लेखक** का प्रयोग श्री शानी ने किया है। '**अदीब**' (अरबी) का अर्थ है 'साहित्यकार'। 'साहित्यकार' का अर्थ है 'साहित्य रचने वाला'। '**शायर**' का अर्थ है 'कवि'। 'कवि' का अर्थ है कविता रचने वाला'। 'कविता' तो 'साहित्य' का ही एक अंग है। अतः 'साहित्यकार' की परिधि में '**कवि**' भी आ जाता है। '**लेखक**' भी 'साहित्यकार' की अर्थ-परिधि में समाहित है।

अर्थ-परिधि की दृष्टि से '**शायर**' के बाद '**साहित्यकार**' और 'साहित्यकार' के बाद '**लेखक**' लिखना सिद्ध करता है कि शानी की दृष्टि में जो शायर है वह साहित्यकार नहीं है। फिर उनकी दृष्टि में लेखक भी साहित्यकार से अलग है। वस्तुतः उक्त तीनों शब्दों का प्रयोग उपयुक्त नहीं है; अर्थ-पराच्छादन है।

स्वामी विवेकानन्द भारत परिक्रमा का रथ अप्रैल, १९९२ ई० में सहारनपुर (उ० प्र०) भी आया था। उस रथ के आगमन पर सहारनपुर की विवेकानन्द भारत परिक्रमा समिति ने एक स्मारिका १९९२ ई० के अप्रैल मास में प्रकाशित की थी। उसमें श्री सुन्दरलाल पटवा, मुख्यमंत्री, म० प्र०, भोपाल का शुभकामना-सन्देश भी प्रकाशित हुआ था। उसमें श्री पटवा ने प्रथम वाक्य यह लिखा था—

"यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राष्ट्रीय एकता, अस्मिता और गौरव की **पुनर्स्थापना** का सन्देश प्रसारित करने के लिए गत १२ जनवरी से कलकत्ता से कन्याकुमारी तक विवेकानन्द भारत परिक्रमा जारी है।"

उपर्युक्त वाक्य में आया हुआ 'पुनर्स्थापना' शब्द अशुद्ध है। विसर्ग के उपरान्त **श, ष** और **स** के होने पर विसर्ग का परिवर्तन 'र' में नहीं होता। विसर्ग विसर्ग ही बने रहते हैं या फिर श्, ष्, स् का द्वित्त्व हो जाता है। जैसे **दुःशासन** या **दुश्शासन**। **निःसन्देह** या **निस्सन्देह**।

निम्नांकित शुद्ध शब्द इस प्रकार हैं—

निःशब्द, दुःशासन, दुःषन्त, वक्षःस्थल, अन्तःसाक्ष्य, बहिःसाक्ष्य आदि में विसर्ग रहेंगे। इसी नियम के अन्तर्गत '**पुनःस्थापना**' भी है। पटवा जी का 'पुनर्स्थापना' लिखना नितान्त अशुद्ध है।

विसर्ग के उपरान्त क् या प् वर्ण हो तब भी विसर्ग ज्यों के त्यों रहते हैं—जैसे—अन्तः + कथा = **अन्तःकथा**। अन्तः + प्रान्तीय = **अन्तःप्रान्तीय**। 'अन्तर्कथा' शब्द अशुद्ध है।

दिनांक ८-४-१९९२ ई० को मेरे पास एक हिन्दी डाक्टर का अन्तर्देशीय पत्र आया। उसमें एक वाक्य इस प्रकार है—

"मैं दिनांक ११.४.९२ को अपरान्ह आपकी सेवा में **प्रस्तुत हूँगा**।"

व्यक्ति **'उपस्थित'** होता है, वस्तु **'प्रस्तुत'** की जाती है। क्रियापद **'हूँगा'** पर भी विचार करना अभीष्ट है। 'हूँगा' का प्रयोग अन्य लेखक भी करते हैं। मूल सामान्य क्रिया **'होना'** है, जिसकी धातु **'हो'** है, एकाक्षरी है और ओकारान्त है। हिन्दी में इसके समानान्तर सामान्य क्रियाएँ **खोना, धोना, बोना, सोना** आदि हैं। इनसे भविष्यत्काल में उत्तमपुरुषीय एकवचन सर्वनाम कर्ता के साथ क्रियापद क्रमशः बनेंगे–(मैं) **खोऊँगा**, (मैं) **धोऊँगा**, (मैं) **बोऊँगा**, और (मैं) **सोऊँगा**। उसी तरह 'होना' से (मैं) **होऊँगा** बनना चाहिए, 'हूँगा' नहीं। मानक हिन्दी में **'करना'** क्रिया का भूतकाल–रूप 'किया' है। 'करा' ग्रामीण या जनपदीय प्रयोग है।

काँग्रेस का ७६ वाँ महाधिवेशन दिनांक १४.४.६२ को तिरुपति (आ० प्र०) में आरम्भ हुआ था। दिनांक १५.४.६२ के 'नवभारत टाइम्स' (दैनिक) में जो समाचार छपा, उसका एक वाक्य यह था–

"अधिवेशन की शुरूआत को बहुत **गर्मजोशीभरा** नहीं कहा जाएगा।"

'हर्षोल्लासभरा' के अर्थ में हिन्दी में कुछ लोग **'गर्मजोशीभरा'** का प्रयोग करने लगे हैं। यह प्रयोग अंग्रेजी भाषा के 'वार्मरिसैप्शन' के आलोक से प्रभावित होकर हिन्दी में चल पड़ा है।

इँग्लैण्ड ठण्डा देश है। वहाँ गर्मी या धूप प्रिय है। भारत गर्म देश है, यहाँ ठण्डक प्रिय है। भारत की प्राकृतिक दशा और जलवायु की दृष्टि से यहाँ 'शीतलता' आनन्दप्रद है। भारत में प्रेमी–प्रेमास्पद के मिलने पर छाती शीतल होती है।

भारत की प्रमुख भाषा हिन्दी में शीतलताप्रदायी वातावरण को 'हर्षोल्लास–पूर्ण' माना जाना चाहिए। अतः 'गर्मजोशीभरा' के स्थान पर 'शीतलप्रदायी' लिखना अधिक उपयुक्त है। हिन्दी में 'गर्म होना' तो 'क्रुद्ध होना' अर्थ में लिया जाता है। प्रयोग है–"मेरी बात सुनकर वे एकदम गर्म हो गये।"

हिन्दी में शुद्ध एवं उपयुक्त वाक्य यह लिखा जाना चाहिए था–

"अधिवेशन का प्रारम्भ **शीतलताप्रदायी** वातावरण में नहीं हुआ था।"

व्याकरण एवं रचना की एक पुस्तक में उसके लेखक ने निम्नांकित वाक्यों में एक ही अर्थ माना था–

(१) उसने **मोहन को** घोड़ा बेचा।

(२) उसने **घोड़ा** बेचा मोहन को।

वास्तव में उपर्युक्त दोनों वाक्यों के दो अर्थ अलग–अलग हैं। प्रथम वाक्य में **'मोहन'** पर बल है अर्थात् 'मोहन' प्रमुख है। द्वितीय वाक्य में **'घोड़ा'** पर बल है अर्थात् 'घोड़ा' प्रमुख है।

मैंने काशीनागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित **'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर'** और **प्रामाणिक हिन्दी कोश** में कुछ अशुद्धियाँ निकाली थीं और उन्हें बाबू रामचन्द्र

वर्मा (काशी) के पास भेजा था ।

मैंने लिखा था कि **'उड्डीयमान'** संस्कृत का शुद्ध शब्द है—इसमें शानच् प्रत्यय है । इसका स्त्रीलिंग शब्द **उड्डीयमाना** है । हिन्दी शब्दसागर के सम्पादकों ने इस तथ्य पर गहराई से विचार नहीं किया । 'जागृत' के अशुद्ध **प्रयोग** पर तो मैंने डा० आर्येन्द्र शर्मा (हैदराबाद) को भी पत्र लिखा था, तब वे 'कल्पना' के संपादक थे । आचार्य वाजपेयी जी से मिली मेरी शब्द-शुद्धि-विषयक दृष्टि आज भी जागरूक है । पिछले दिनों नरेन्द्र कोहली का उपन्यास **'अधिकार'** (महासमर-२ सन् १९९० ई०) पढ़ा था । महाभारत के आधार पर लिखा हुआ यह उपन्यास हिन्दी में प्रथम कोटि का उपन्यास है । कोहली जी की उपन्यास-लेखन शैली उत्तम है, लेकिन मेरी आँखों ने जब उसमें **'हतोत्साहित'** (पृष्ठ २४) और 'अपने ससुराल' (पृष्ठ २९) मुद्रित देखा, तो मन कुन्द हो गया । सोचने लगा कि क्या कोहली इतना भी नहीं जानते कि **'हतोत्साह'** और **'अपनी ससुराल'** लिखना चाहिए ?

नरेश मेहता की हिन्दी भाषा संस्कृतनिष्ठ है तथा परिष्कृत और प्रांजल है । मुक्त छन्द में लिखा हुआ उनका खंडकाव्य 'महाप्रस्थान' वास्तव में अपने ढंग की स्तुत्यकृति है । लेकिन मुझे आश्चर्य हुआ कि 'महाप्रस्थान' का अधीती सुविज्ञ रचयिता भी अपने उस खंडकाव्य में दीप्तित (पृ० १०७; ११७) कृदन्त विशेषण का प्रयोग करता है । √दीप् धातु से 'चमका हुआ' के अर्थ में **'दीप्त'** और चमका हुआ के अर्थ में **दीपित** कृदन्त विशेषण बनते हैं । **दीप्त** = √दीप् + क्त । **दीपित** = √दीप् + णिच् + क्त । 'दीप्तित' में दुहरा **क्त** प्रत्यय लगा दिया गया है । इस 'दीप्तित' के प्रयोग को तो ऐसा ही समझिए कि कोई 'सोया हुआ' के अर्थ में **'सुप्त'** का प्रयोग न करके 'सुप्तित' का प्रयोग कर दे ।

ऐसी अशुद्धियाँ पुस्तकों में देखकर मुझे बुरा इसलिए लगता है कि हिन्दी के अल्पबोध पाठक अथवा प्रारम्भिक लेखक उन अशुद्धियों का ही अनुसराण करने लगते हैं । इससे हिन्दी के स्तर तथा परिष्कार में व्याघात उत्पन्न होता है । पुस्तक मे छपे **'हतोत्साहित'** को देखकर विद्यार्थी फिर अपने गुरु के द्वारा बताये गये **'हतोत्साह'** को शुद्ध नहीं मानता । ग्रन्थ गुरु से ऊँचा और प्रामाणिक माना जाता है, यह सामान्य मनोविज्ञान है ।

जब मैं कुछ हिन्दी-प्रोफेसर की लेखनियों से **गतिमान्** को गतिवान्, **लक्ष्मीवान्** को लक्ष्मीमान्, **वाङ्मय** को वांगमय, **द्रष्टा** को दृष्टा, और **द्रष्टव्य** को दृष्टव्य के रूप में लिखा देखता हूँ, तब मेरे मन को मर्मान्तिक क्लेश पहुँचता है । सही वर्तनी बताने पर जब उनसे मुझे यह सुनने को मिलता है कि हिन्दी में तो ऐसा भी (जैसा उन्होंने लिखा है) सही है, तब तो मैं धरती माता से यही कहता हूँ कि "माँ ! अब तो तू फट जा, ताकि मैं तुझमें समा जाऊँ । स्वतन्त्र भारत में राष्ट्र भाषा की यह स्थिति, यह दुर्गति ! माता सरस्वती ! उन हिन्दी-प्रोफेसरों का तुम कल्याण करो ।"

मैंने हिन्दी–साहित्य के भक्तिकाल और रीतिकाल के मूर्धन्य कवियों के काव्य–ग्रन्थों के भाषाशास्त्रीय अध्ययन से सम्बद्ध कई शोध–प्रबन्धों का अवलोकन किया है । उनमें से अनेक ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं ।

सारांश यह है कि उन शोध–प्रवन्धों के लेखक हिन्दी में डाक्टर भी हो गये, उन शोधों के कारण वे विश्वविद्यालयों में हिन्दी–अध्यापक भी हैं और भाषाविज्ञान विषय पढ़ाते भी हैं । यह सव कुछ है; लेकिन आश्चर्य यह है कि उनमें अधिसंख्यक प्राध्यापक अवधी और ब्रजभाषा के प्राचीन ग्रन्थों में **कारक, विभक्ति, क्रियाओं** के **वाच्य** तथा **तिङन्त–कृदन्त** क्रियाएँ न शोध करते समय जानते थे और न अब जानते हैं ।

हिन्दी भाषा विज्ञान के 'रूपविज्ञान' तथा 'वाक्य विज्ञान' के क्षेत्रों में विभक्तियों और वाच्यों की भ्रान्तियाँ अब भी बनी हुई हैं—यह चिन्ता का विषय है ।

मेरी साहित्य–सर्जना का आरम्भ

साहित्य–सर्जना की दृष्टि से मैंने आरम्भ में कविताएँ ही रचीं, जिनमें से कुछ तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई थीं । पुस्तक के रूप में मेरी प्रथम गद्य–कृति **'वाङ्मयी'** है जो सन् १९४९ ई० में भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ से प्रकाशित हुई थी । यह विषय–वस्तु की दृष्टि से हिन्दी–साहित्य की विधाओं और काव्यशास्त्र के अंगों–उपांगों से सम्बद्ध है । इसमें **भाव, विचार, अनुभूति, स्मृति, कल्पना** आदि पर भी संक्षिप्त व्याख्याएँ सोदाहरण प्रस्तुत की गयी हैं । **'वाङ्मयी'** के उपरान्त मेरी दूसरी पुस्तक 'आदर्श **विभूतियाँ'** प्रकाशित हुई थी । यह पुस्तक एक प्रकार से एकाकी चरित्रप्रधान ऐतिहासिक कहानियों की ज़मीन पर लिखी गयी थी । इसके उपरान्त **'अछूत और हम'** और **'साहित्यरत्न दिग्दर्शन'** (३ खंडों में) प्रकाशित हुईं । इन पुस्तकों के प्रकाशन के लगभग दो वर्ष बाद अर्थात् सन् १९५२ ई० के आस–पास एक उपन्यास लिखने को मन किया, लेकिन हिम्मत न हुई; हाँ, दो कहानियाँ तो लिखीं, जो मासिक पत्रिकाओं में इसलिए छप गयीं कि उनके सम्पादकों से मेरा परिचय था ।

उन सम्पादकों में से जब एक से मैं कहानी छपने के बाद मिला, तो उस मित्र सम्पादक ने सहज भाव से अपनी बात कही कि "सुमन जी की कहानी हमने छापी है, कहानी–लेखक की कहानी नहीं ।" मैं मौन रहा, उत्तर में कुछ न कहा । मैं तटस्थ होकर एक सच्चे आलोचक के रूप में अपनी उन दोनों प्रकाशित कहानियों को मूल्यांकन की दृष्टि से पुन: पढ़ने लगा । मुझे विदित हुआ कि मेरी लेखनी कहानी में **वातावरण** तो सजा लेती है, लेकिन **संवाद** प्रभावी नहीं बन पाते । तब निर्णय किया कि मेरी लेखनी कहानी लिखने के लिए असमर्थ है । इस विधा में मैं सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । अत: फिर कोई कहानी नहीं लिखी । सन् १९५२ई० के

बाद मैं 'भाषाशास्त्र' का विद्यार्थी बन गया था। गुरुवर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल की प्रेरणा से उसी ओर बढ़ता रहा। उससे सम्बद्ध कई पुस्तकें लिखीं और पुरस्कृत भी हुई। माता शारदा की अनुकम्पा से मेरी अब तक (१९९३ ई०) नौ पुस्तकें विभिन्न राज्यों से पुरस्कृत हो चुकी हैं।

विवाह के बाद मेरी साहित्य-सर्जना

सन् १९३८ ई० में मेरा विवाह तो हो गया था, लेकिन मैं अपने पाँवों पर खड़ा न हो पाया था। जीविकाहीन पति की नवागता पत्नी किस तरह मन मसोसकर रह जाती है—इसकी अनुभूति मेरे संवेदनशील हृदय ने कई बार की थी और वह अनुभूति कविताएँ बनकर भी बाहर आयी थी। मेरी वे कविताएँ साहित्य की ऐसी विधा न बन सकीं, जो समाजग्राह्य हों और प्रिय लगें। साहित्यस्रष्टा की अनुभूति जब तक निजी अनुभूति के रूप में ही वाणी का रूप धारण करती रहती है, तब तक वह समाज में आदर नहीं पाती। रचना को जनग्राह्य या जनप्रिय बनने के लिए निजी से सार्वजनिक बनना पड़ेगा। सन् १९५० ई० के लगभग मेरी कविताएँ, सार्व-जनिकता का स्वरूप ग्रहण करने लगी थीं। तभी मुझे कुछ लोकप्रियता मिली थी।

कवित्व-कलामयी उच्च कविता का रचियता कवि पंडितप्रिय तो हो सकता है, जनप्रिय नहीं। उच्चस्तरीय कवित्वपूर्ण कविता के स्रष्टा 'प्रसाद' पंडितप्रिय कवि थे; लेकिन मैथिलीशरण गुप्त जनप्रिय कवि थे। कविता के पाठक भी कम ही होते हैं, कहानी-उपन्यास के पाठक बहुत होते हैं। कवि अपनी कविता में वर्णन नहीं करता, प्राय: संकेत करता है। कहीं-कहीं तो वह प्रतीक और उपमान के माध्यम से दृश्य का संकेत भर देता है। उस संकेत को समझाने के लिए पाठक में बुद्धि चाहिए, अध्ययन की विस्तृत भूमि चाहिए। महर्षि विश्वामित्र जब राम-लक्ष्मण को अपने आश्रम में ले जा रहे थे, तब वाल्मीकि लिखते हैं कि "विश्वामित्र के पीछे चलते हुए राम-लक्ष्मण ऐसे लग रहे थे, मानो तीन फनोंवाले दो सर्प चल रहे हों" (गीता प्रेस, वाल्मीकीय रामा० बाल० सर्ग २२/७)

सामान्य पाठक वाल्मीकि की उक्त उपमा को नहीं समझ सकता। प्रसंगा-न्तर्गत उन श्लोकों को पढ़ने पर उनके पाठक के मानस-पटल पर राम-लक्ष्मण का धनुष-बाण-तर्कशयुक्त पूर्ण बिम्ब होना चाहिए, तभी उपमा स्पष्ट हो सकती है।

उपमेय	उपमान
(१) तर्कश का सिर (२) राम का सिर (३) धनुष का सिर।	तीन फनोंवाला सर्प
(१) तर्कश का सिर (२) लक्ष्मण का सिर (३) धनुष का सिर।	तीन फनोंवाला सर्प

मेरी कविताओं की पृष्ठभूमि

मेरी लेखनी से सन् १९४१ और सन् १९४२ ई० में राष्ट्रीय चेतना से सम्बद्ध कविताओं की सृष्टि अधिक हुई थी। मेरी उन राष्ट्रीय कविताओं को प्रेरणा

मिली थी महात्मा गांधी द्वारा चलाये गये आन्दोलन ने ।

सन् १६४१ ई० में महात्मा जीने **'व्यक्तिगत अवज्ञा आन्दोलन'** चलाया था । उस स्वतन्त्रता–आन्दोलन में बहुत–से देश–भक्त जेल गये थे । मध्यप्रदेश के पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र उसी आन्दोलन में गिरफ्तार किये गये थे । जेल में ही उन्होंने अपना काव्य **'कृष्णायन'** लिखना प्रारम्भ किया था । 'कृष्णायन' मंडला जेल में पूरी हुई थी । सन् १६४१ ई० से ही मोरारजी देसाई साबरमती की जेल में नज़रबन्द थे ।

सन् १६४२ ई० में गांधी जी ने **'अंग्रेजो ! भारत छोड़ो'** आन्दोलन बड़े जोरों से चलाया था । देश के बड़े–बड़े नेता उसमें गिरफ्तार किये गये थे । देश के कोने–कोने में आन्दोलन की ज्वाला भड़क उठी थी । तभी हज़ारीबाग जेल से जय–प्रकाश जी अंग्रेज–सरकार की आँखों में धूल झोंककर निकल गये थे ।

कविता–काल के अन्तिम चरण में मेरी कुछ कविताएँ ऐसी भी थीं, जो सामान्य पाठकों की समझ में न आती थीं । मेरी लोकप्रियता में वे बाधक भी बनीं थीं ।

चतुराननी छायावादी कविताओं के अनुशीलन से मैं हिन्दी भाषा की अभि–व्यक्ति के सौन्दर्य तथा कल्पना की ऊँचाई को समझने लगा था ।

वह सन् १६४२ ई० था जब मेरी कविता, किशोरी से नवयुवती का यौवन ग्रहण कर रही थी, तब हिन्दी–कविता द्विवेदी–युग का अनुशासन पूरी तरह छोड़ चुकी थी । सन् १६३८ ई० में महावीरप्रसाद द्विवेदी का निधन हो गया था । सन् १६३६ ई० में प्रगतिशील–लेखक–संघ की स्थापना हो गयी थी । सन् १६४० ई० में महादेवी वर्मा की 'यात्रा' प्रकाशित हो गयी थी । उस समय कुछ हिन्दी–कवि छाया–वादी शैली में गीत लिखते थे और कुछ की वाणी में प्रगतिशीलता से परिपूर्ण राष्ट्रीयता का ओजस्वी स्वर सुनायी पड़ रहा था । कविसम्मेलनों के मंचों पर कभी–कभी ब्रजभाषा की कविताएँ भी सुनायी पड़ जाती थीं । पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी 'श्रीवर' की कवि–मंडली ने हिन्दी कविसम्मेलनी मंचों पर पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी । राष्ट्रीय जागरण की कविताओं की शृंखला में पं० श्यामनारायण पाण्डेय की **'हल्दी घाटी'** और श्री सोहनलाल द्विवेदी के **गान्धी–गीतों** की गूँज सबसे ऊँची थी । मंचीय कवि जो कुछ पढ़ते थे, उसमें शब्द और स्वर का सामञ्जस्य रहता था, छन्द की पूरी छटा छिटकती रहती थी और अन्त्यानुप्रास सम पर ताल देता था । वे कविताएँ श्रोताओं में राष्ट्रीय संस्कार जगाती थीं । उन्हें राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविताएँ कहना अधिक उपयुक्त है ।

सन् १६४० ई० से सन् १६५० ई० तक मेरी लेखनी ने अपेक्षाकृत कविता की सृष्टि अधिक की थी, वैसे मैं आलोचनात्मक तथा सांस्कृतिक गद्य साहित्य की भी सर्जना करता रहा था । उस कालावधि में हिन्दी में उतने कवि नहीं थे, जितने आज (१६६३ ई०) हैं । इसका प्रमुख कारण यह था कि उस समय छन्दोबद्ध कविता

ही 'कविता, मानी जाती थी । छन्द में आबद्ध तुकान्त कविता लिखना वास्तव में एक साधना है, एक तपस्या है और नादब्रह्म की उपासना है। छन्दोमयी भावप्रधान कविता अपनी तुकान्तता तथा रागात्मकता के कारण पाठक या श्रोता को रसानुभूति कराने में छन्दहीन कविता से बहुत आगे है । कविता के हृदयतत्त्व(भाव) को छन्द की लयात्मकता घनीभूत बना देती है । कविता और वनिता का लयात्मक पदविन्यास ही तो सौन्दर्य है । मुक्त छन्द में बुद्धितत्त्वप्रधान– गद्यात्मक–कविता लिखना सन् १९५० ई० के बाद प्रारम्भ हो गया था। किसी विचार को छोटी–बड़ी गद्य–पंक्तियों में रखकर अपने को कवि संज्ञा से विभूषित करने वाले व्यक्तियों की संख्या हिन्दी में सन् १९५१ ई० के बाद कुछ–कुछ बढ़ने लगी थी। रस गद्यात्मक नयी कविता का पुरोधा प्रवर्तक अज्ञेय को माना जा सकता है। वैसे निराला जी ने उसका सूत्रपात किया था ।

आज–कल जो गद्यात्मक नयी कविता लिखी जा रही है, उसे आचार्य कविराज विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ के सिद्धान्तों के अनुसार तो 'कविता' माना ही नहीं जा सकता; हाँ, ध्वनि–सिद्धांत के समर्थक आनंदवर्धन अवश्य उसकी वकालत में खड़े हो सकते हैं ।

हिन्दी की गद्यात्मक नयी कविता

नयी कविता लिखने का मुझे भी शौक चर्राया था। तब चार–पाँच नयी कविताएँ लिखी थीं । मैं 'ध्वनि' को अन्तर्व्याप्त करना चाहता था, गद्यात्मक वाक्य-रचना के अन्तर्गत । काव्य–सृष्टि के मुख्य अंग तीन माने जाते हैं–(१) **साधक कवि** (२) **साधन प्रतिभा** (३) **साध्य काव्य-सृष्टि** । 'गद्यात्मक नयी कविता' की सृष्टि में प्रमुख लक्ष्य 'ध्वनि' है और 'व्यंजना' उस 'ध्वनि' का व्यापार। व्यापार को अंग्रेजी में 'फंक्शन' कह सकते हैं । गद्यात्मक नयी कविता की ध्वनि कभी-कभी इतनी गूढ़ और व्यक्तिगत हो जाती है कि वह कविता रचनाकार तक ही रह जाती है; समाज की नहीं बनती ।

'नयी कविता' में रस नहीं है । मैं कविता की परिभाषा करने में आचार्य रुद्रट (रुद्रभट्ट) का अनुयायी हूँ । आचार्य रुद्रट का मत है कि रसहीन कविता 'कविता' नहीं है, 'शास्त्र' मानी जा सकती है । यदि 'शास्त्र' मानने में पाठकों को आपत्ति हो, तो 'नयी कविता' को विचारप्रधान शास्त्रोन्मुखी माना जा सकता है । उन कविताओं में भावाभास पाया जाता है; रस–सिद्धान्त का रस नहीं ।

मेरी वे नयी कविताएँ विचारप्रधान तो थीं ही । कुछ प्रतीकों के माध्यम से मैंने कहा; लेकिन ठीक तरह से व्यंजना–व्यापार के द्वारा ध्वनि को मैं लक्षित न कर सका । मैं स्वभाव से हृदयपक्ष का समर्थक था । नयी कविता लिखना मुझे जचा नहीं या कहिए कि रुचा नहीं । वह झगड़ा बस छोड़ ही दिया । 'नयी कविताएँ' मैंने पढ़ीं भी, लेकिन पूरी पल्ले न पड़ीं । कुछ समझा, पर ठीक–ठीक पूरा समझ में न

आया ।

पं० गंगानाथ झा संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे । इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे थे । उनकी एक पुस्तक है **'कवि-रहस्य'** । उसमें प्रतिभा के तीन प्रकार बताये गये हैं—(१) **सहजा प्रतिभा** (२) **आहार्या प्रतिभा** (३) **औपदेशिकी प्रतिभा ।**

मेरी अपनी मान्यता ऐसी थी कि 'नयी कविता' के अधिसंख्यक हिन्दी कवियों में 'सहजा प्रतिभा' नहीं होती । आहार्या या औपदेशिकी मानी जा सकती है । यह मेरी अपनी मान्यता थी और है ।

हिन्दी की गद्यात्मक नयी कविता के नेता श्री अज्ञेय ने तथा उनके अनु-गामियों ने गुटबन्दी के साथ पत्र-पत्रिकाओं तथा पाठ्यपुस्तकों में नयी कविता का प्रचार-प्रसार करने में लँगोटी तक का जोर लगा लिया? लेकिन भारतीय जनता के हृदय ने उसका स्वागत नहीं किया । 'नयी कविता' के हिमायतियों ने 'नयी कविता' को 'श्रेष्ठ साहित्य' भी बताया । उसे हिन्दी की 'असली कविता' भी कहा । कुछ अड़ियल गद्यकार तो कविवर कहाने की ललक में अभी भी (सन् १९९३ ई० में भी) 'नयी कविता' से चिपके हुए हैं । हिन्दी में 'नयी कविता' के कवियों की एक फौज तैयार हो गयी है; पर जनता में उसकी कोई पूछ नहीं ।

छन्द लय का शास्त्रीय विधान है । लय संगीत का प्राणतत्त्व है । लय ही नाद का सौन्दर्य है । भाव लय का हाथ पकड़कर जब शब्दों की धरती पर उतरता है, तभी 'कविता' का जन्म होता है । नयी कविता गद्यात्मक वाङ्मय तो है, 'साहित्य' नहीं । 'साहित्य छना हुआ वाङ्मय है ।' 'नयी कविता' के गुरुवर्य अज्ञेय अपने जीवन के अन्तिम चरण में यह कहने लगे थे कि हमें छन्द की ओर लौटना होगा ।

कवि 'संताप' भी लिखता है और 'उल्लास' भी । उसकी लेखनी के 'संताप' और 'उल्लास' व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को जगाते और उठाते हैं । कवि की वाणी निराशा में 'आशा' का और आशा में उल्लास का संचार करती है । जब व्यक्ति पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ता है, तब वह अपनी मानसिक वेदना को छन्दोमयी कविता गुनगुनाकर तथा गाकर कम कर लेता है । राष्ट्रीय आन्दोलन के समय देश के क्रान्ति-कारी वीरों ने देश-भक्ति की कविताएँ गाते हुए फाँसी के फंदे को चूमकर स्वयं उसे अपने गले में डाला था और भारतमाता के अमर शहीद-सिद्ध हुए थे ।

हमारे ऋषियों ने २०००० वेद-संहिता-मंत्रों को युगों तक अपने कण्ठों में श्रुति-परम्परा से रखा था । वे मंत्रों के अनेक प्रकार से सस्वर पाठ करते थे । साम-वेद तो गान-वेद ही है । मंत्रों के तीन स्वरों से ही संगीत के सप्त स्वरों का जन्म हुआ था । गेयता रागात्मकता की वृद्धि करती है, भाव को घनीभूत बनाती है ।

यह सब इसलिए हुआ कि वे कविताएँ छन्दोबद्ध थीं । कविता का गेयतत्त्व छन्द का सुयोग पाकर प्रभावोत्पादक एवं रसात्मक तो बनता ही है, साथ में भविष्य

के लिए सांस्कृतिक दिव्य निधि भी बन जाता है।

भारत का लगभग प्रत्येक व्यक्ति दुःख–सुख में कबीर, सूर, तुलसी, रहीम, रसखान आदि को गुनगुनाता है और मानसिक शान्ति तथा आनन्द पाता है। ऐसा सहज रूप में इसलिए होता रहता है कि उन कवियों की वाणी छन्दोबद्ध है। इस गुण से 'नयी कविता' वंचित है। गेयतत्त्व न होने के कारण ''नयी कविता', याद नहीं रह सकती। नयीकविता 'पाठन–कला' द्वारा संप्रेषित होती है, संगीतकला द्वारा नहीं। यही कारण है कि किसी हिन्दी–पाठक को कोई 'नयी कविता' पूरी याद नहीं। 'नई कविता' की उम्र लम्बी नहीं होगी---ऐसा मेरा विश्वास है। मानव–जीवन में से भावतत्व ही यदि मिट गया, तो बात दूसरी है।

आज (१९९३ ई० में) हिन्दी में कवियों का यह हाल है कि जिसे देखो, वही कवि है। कवि के बाद यदि किसी का नम्बर है, तो वह कहानीकार का है। आज सड़क पर से एक कंकड़ उठाइए, तो उसके नीचे दस नये हिन्दी–कवि मिल जाएँगे, जो यह कहते सुनायी पड़ेंगे कि हमारी **'नयी कविता'** सुनिये। वह **'नयी कविता'** आपकी बुद्धि में एक विचार को कौंधा भर देगी। कभी–कभी तो वह विचार इतना व्यक्तिगत होता है कि यह पता ही नहीं चलता कि कविता में क्या कहा गया है? यथार्थवाद के नाम पर नयी कविता अश्लीलता का नंगा नाच भी दिखाने लगी थी। तुकान्तता की परवाह नहीं, मात्रा गणों की आवश्यकता नहीं, गद्य को जहाँ–तहाँ से तोड़ना आना चाहिए, बस 'कवि जी' बन गये और कविता रचने लगे। एक गुट बना लिया और अखबारों में छपने लगे। तब मुझ जैसा छन्दोमयी कविता लिखने वाला राजनीति से दूर गुटहीन व्यक्ति तो दौड़ में पीछे छूट गया था फिर भाषा–शास्त्र के अध्ययन ने मेरे हृदयतत्त्व को कुछ दबा भी दिया था। विचार–विश्लेषणा भावसंवेदना पर सवार हो गयी थी।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में शिक्षक पद पर मेरी नियुक्ति

सन् १९५६–१९५७ ई० में उत्तर प्रदेश के एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय (एन० आर० ई० सी० कालेज, खुर्जा) के हिन्दी–विभाग में मैं अध्यापक तो हो गया था, लेकिन किसी आवासीय विश्वविद्यालय में अध्यापक होने का मेरा स्वप्न पूरा न हो रहा था। आवासीय विश्वविद्यालयों की दीवारें तोड़कर उनमें प्रवेश करना मेरे लिए असंभव भी था, क्योंकि मैंने एम० ए० (हिन्दी) और पी–एच०डी० प्राइवेट–परीक्षार्थी के रूप में की थीं। उन दिनों किसी आचार्य तथा विभागाध्यक्ष का प्रिय शिष्य ही गुरु–प्रसाद से वहाँ प्रवेश पा सकता था।

दैवयोग से सन् १९३३ ई० में अतरौली (अलीगढ़) में एक नाटक–मंच पर विद्यार्थी **नगेन्द्र** से विद्यार्थी **अम्बाप्रसाद** का परिचय हो चुका था। विद्यार्थी नगेन्द्र सम्पन्न परिवार के थे, पढ़ते चले गये और जल्दी एम० ए० हो गये। मैं इधर–उधर

धक्के खाता फिरा । शिक्षा की यात्रा में मैं बहुत पीछे रह गया ।

डा० नगेन्द्र

मुझे याद पड़ता है कि मैंने जब हाईस्कूल परीक्षा पास की थी, तब विद्यार्थी नगेन्द्र एम०ए० कर चुके थे । कुछ दिनों बाद वे डी०लिट्० भी हो गये थे । मैंने अपनी एम०ए० (हिन्दी) परीक्षा में डा० नगेन्द्र की कुछ पुस्तकें पढ़ी भी थीं ।

डा० नगेन्द्र दिल्ली में अध्यापक, फिर दिल्ली विश्वविद्यालय में आचार्य तथा विभागाध्यक्ष भी हो गये थे, मैं एक कालेज का सामान्य अध्यापक होकर झक मारता फिरता था । यह बात सन् १९५७ ई० की है । मैं पी–एच० डी० तो था, और हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं में कुछ आलोचनात्मक लेख भी लिख चुका था, लेकिन एक छोटे-से गाँव के सामान्य ब्राह्मण–परिवार में जन्मे मुझ जैसे अध्यापक को पूछता कौन था ? मैंने क्या लिखा है—इसे देखता कौन था ? पर डा० नगेन्द्र से मेरा तार टूटा न था । उन्हें मेरी याद आयी और उनकी कृपा से मैं सन् १९५७ ई० में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी–विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हो गया ।

डा० नगेन्द्र जी की स्नेहमयी कृपा मेरे ऊपर सदा गुप्त और मौन रूप से रही है । दूसरों के पत्रों से ही मुझे उनकी कृपा का पता लगा है । डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल (काशी विश्वविद्यालय) के दिनांक २७–११–५६ ई० के पत्र से मुझे मालूम हुआ था कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद की प्रकाशन–समिति की बैठक में डा० नगे ने मेरे पी–एच० डी० शोध प्रबन्ध (कृषक जीवन-सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली भाग १ व २) के प्रकाशन पर आग्रहपूर्वक जोर दिया था । वह ग्रन्थ वहाँ से सन् १९६० ई० में फिर प्रकाशित भी हुआ था ।

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में हिन्दी–रीडर–पद पर मेरी नियुक्ति डा० नगेन्द्र जी ने ही करायी थी । उस पद के लिए मुझे 'ऑफर' मिला था ।

सन् १९६४ ई० में द०भा० हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के हिन्दीस्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग के अध्यक्षपद के लिए मुझे 'ऑफर' मिला था । उसके कुलाधिपति भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री थे । उक्त संस्था का अध्यक्ष पद यद्यपि तीन मूर्धन्य विद्वानों की सर्वसम्मति से मुझे मिला था, लेकिन वास्तव में उसका प्रमुख श्रेय डा० नगेन्द्र जी को ही है । मैं डा० नगेन्द्र जी के उप–कारों से कभी उऋण नहीं हो सकता । आश्चर्य तो यह है कि डा० नगेन्द्र जी ने उन उपकारों की बात कभी अपने मुँह से मुझसे कही नहीं ।

मैंने निस्संकोच भाव से विद्वानों तथा मित्रों से वार्तालाप करके अपनी जिज्ञासाओं का समाधान किया है । उनसे बहुत कुछ सीखा है ।

मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के परिसर में निरन्तर एक–एक महीने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ सान्ध्य भ्रमण किया है । उनके भाषण भी सुने

हैं। उनके विनोदमय सभापाण्डित्य तथा भाषण–शैली से मैं प्रभावित हुआ हूँ।

कविराज पं० विश्वनाथ ने हास के छह भेद माने हैं—**(१) स्मित (२) हसित (३) विहसित (४) अवहसित (५) अपहसित (६) अतिहसित।** 'अतिहसित' को '**अट्टहास**' कहा जा सकता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की नाभि से उठा हुआ अट्टहास जब उनके मुख से नाद करता हुआ बाहर निकलता था, तब वह अट्टहास ऐसा लगता था, मानो मेघाडम्बरी गगनेन्द्रनाथ का गम्भीर घोष हो रहा है। गंभीर घोष करके द्विवेदी जी एकदम मौन धारण कर लेते थे। तब लोगों को विश्वास नहीं होता था कि ये ही द्विवेदी जी एक मिनट पहले गगनेन्द्रनाथ थे।

जिन–जिन से मैंने जो–जो पाया

मैंने उर्दू मिडिल भी पास की थी, कुछ उर्दू जानता भी था; लेकिन उर्दू–फ़ारसी के कुछ शब्दों के अर्थ और व्याकरण को अपने साथी प्रो० नजीरअहमद (फारसी विभाग, अलीगढ़ मु० विश्वविद्यालय) से भी समझा था। अरबी–फ़ारसी के कुछ शब्दों के अर्थ मुझे मेरे मित्र डा० हरिश्चन्द्र 'निरंकुश' (लखनऊ) के पत्रों से भी मालूम हुए थे।

अलीगढ़ मु० विश्वविद्यालय के हिन्दी–विभाग में जब मैं शिक्षक था, तब उसी विभाग में मेरे अनुजकल्प डा० गिरिधारीलाल शास्त्री भी पढ़ाते थे। एक दिन जब वह मेरे घर आये, तब मैंने उन्हें अपना एक लेख सुनाया, जिसका शीर्षक था—"**वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ**"। उस लेख में कवीश्वर वाल्मीकि के सम्बन्ध में मैंने कुछ लिखते हुए निम्नाङ्कित श्लोक उद्धृत किया था—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥" (वाल्मी० बाल० २/१५)

वाल्मीकि रामायण के उक्त श्लोक का अनुवाद भी मुझे याद था, वह भी मैंने सुनाया—

"हर्षाती अति चाह सौं मदमाती सानन्द।
क्रौञ्चन की जोड़ी फिरत, विहरत जो स्वच्छन्द॥
हनि तिनमें ते एक को, कियौ परम अपराध।
जुग–जुग लौं तोहि ना मिलिहि, कबहुँ बड़ाई व्याध॥"

शास्त्री जी ने '**हनि तिन में ते एक को**' सुनते ही कहा कि व्याध ने क्रौञ्च की जोड़ी में से किसे मारा, नर को या मादा को?

इस प्रश्न पर मैं विचार कर भी न पाया था कि तुरन्त शास्त्री जी ने कहा, "व्याध ने नर क्रौञ्च को मारा था। श्लोक में '**एकम्**' पद है। यदि मादा को मारा होता, तो पद 'एकाम्' होता।

श्लोक के 'एकम् अवधीः' पर मेरा ध्यान सर्वप्रथम शास्त्री जी ने ही

दिलाया था ।

साहित्यचर्चा के प्रसंग में शास्त्रीजी ने लोक–जीवन में प्रचलित 'सिद्ध' शब्द का अर्थ भी मुझे बताया था । मैं 'सिद्ध' का अर्थ समझता था, जिसे सिद्धि प्राप्त हो गई हो । शास्त्री जी ने बताया कि जिसका वाक्य फलता है, वह सिद्ध कहलाता है । वास्तव में लोक में यही अर्थ प्रचलित है ।

मेरे आदरणीय बन्धु डा० राकेशगुप्त की एक पुस्तक **'षोडश नायिका'** प्रकाशित है । उसमें **'अनुशयाना'** नाम की एक नायिका का उल्लेख है । मैं इस शब्द का वाच्यार्थ न समझा था । पूछने पर डा० राकेशगुप्त जी ने मुझे अपने पत्र दिनांक २७-११-६१ के माध्यम से वाच्यार्थ बताया था और आप्टे के संस्कृत–अंग्रेजी–कोश से प्रमाण भी दिया था ।

बन्धुवर डा० विद्यानिवास मिश्र को जब मैंने अपनी अट्ठाईसवीं प्रकाशित पुस्तक **'शब्दब्रह्म की ज्योति'** (**शब्दार्थमीमांसा**) भेजी थी, तब उत्तर में पत्र लिखकर उन्होंने मुझे हिन्दी में पर्याय शब्दों की भेदक रेखाओं को स्पष्ट करने वाला एक **शब्द–कोश** लिखने का सुझाव दिया था । उस काम को मैंने कुछ आरंभ तो कर दिया है, लेकिन पूरा कर सकूंगा कि नहीं—इसे परम प्रभु ही जानते हैं ।

संस्कृत व्याकरण की गुत्थियों को मैंने अपने परम प्रिय मित्र डा० परमानन्द शास्त्री (अलीगढ़ मु० विश्वविद्यालय) के साथ विचार–विमर्श करके सुलझाया है । मैं उन सभी का आभारी हूँ ।

अपने शोधछात्रों में प्रियवर डा० कमल सिंह, डा० राजेन्द्रप्रसाद वर्मा और डा० गयाप्रसाद शर्मा को शोध कराते समय मैंने खड़ी बोली और अवधी के व्याकरणों की आत्मा के दर्शन किये हैं । बेटी शारदा के शोध–कार्य के समय व्रज भाषा-व्याकरण के कुछ तत्त्व हाथ लगे थे । बेटी मधु को शोध कराते समय ही अद्वैत दर्शन और विशिष्टाद्वैत दर्शन को मैं ठीक तरह समझा था । अपने शोध–छात्रों के साथ–साथ मैंने भी निर्दिष्ट विषयों पर शोध किया है । आज भी कर रहा हूँ । सच्चा निर्देशक वही है जो अपने शोधछात्र के साथ शोध करता है ।

रूपकातिशयोक्ति अलंकार में **उपमान** का ही वर्णन होता है; उस उपमान की सहायता से **उपमेय** को समझा जाता है । प्रारम्भ में मैं यही जानता था कि यह उपमान–उपमेय की बात संज्ञा शब्दों में ही होती है, जैसे **'कमल'** उपमान की सहायता से **'मुख'** उपमेय को समझ लिया जाता है ।

गुरुवर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल सन् १९५२ ई० में जायसीकृत 'पदमावत' की संजीवनी टीका लिख रहे थे । उसमें उपमान के रूप में क्रिया का प्रयोग भी किया गया है और उसका उपमेय क्रिया के रूप में है । नागमती पद्मावती सहित रत्नसेन के चित्तौड़ आ जाने पर पति रत्नसेन से कहती है—

"तोहि मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेहु" (पदमावत ४२७/३५)

(अर्थात् तेरे मुख पर बिजली चमक रही है और मेरे मुख पर मेह बरस रहा है । सारांश यह है कि रत्नसेन हँस रहा है और नागमती रो रही हैं । यहाँ उपमान-उपमेय

सामान्य क्रिया–रूप में है—

उपमान	उपमेय
(१) मुख पर बिजली चमकना =	(१) हँसना
(२) मुख पर मेह बरसना =	(२) रोना

यह नये ढँग का **रूपकातिशयोक्ति अलंकार** 'मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के परिसर में डा० अग्रवाल जी के बँगले के उस कक्ष में मालूम हुआ था, जिसमें एक बड़े तख्त पर बिछी हुई मृगछाला पर बैठकर डा० अग्रवाल जी 'पद्मावत' की टीका लिखा करते थे।

मेरे प्रकाशित ग्रन्थों की समीक्षा करने वाले विद्वानों में सर्वश्री डा० विनयमोहन शर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, डा० विश्वनाथ मिश्र, डा० हरिश्चन्द्र 'निरंकुश', डा० प्रभुदयाल मीतल, बाबू वृन्दावनदास, डा० भगवानसहाय पचौरी, डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित, डा० रमेशचन्द्र महरोत्रा, डा० कमलसिंह, डा० कृष्णचन्द्र गुप्त और डा० श्रीरंजन सूरि देव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुझे परम प्रसन्नता है कि इन्होंने निष्ठापूर्वक बड़ी रुचि से मेरी पुस्तकों को पढ़ा था और अपनी तटस्थ समीक्षाएँ प्रस्तुत की थीं। डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित की लेखनी की वैदुष्यपूर्ण समीक्षाएँ पढ़कर तो मैं स्वयं अपनी मान्यताओं पर यत्र–तत्र पुनः विचार करने के लिए बाध्य भी हुआ हूँ। मेरे अन्तस् का लेखक यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक लेखक को अपने समीक्षक की समीक्षा को निष्पक्ष भाव से पढ़ना चाहिए और साथ–साथ अपने में झाँकना भी चाहिए। उस अनाविल आत्मनिरीक्षण से लेखक को कुछ नया प्राप्त होगा। किसी मनीषी का यह कथन बहुत कुछ सारगर्भित है कि "वादे–वादे जायते तत्त्वबोधः"।

स्रष्टा लेखक और उसका समीक्षक दोनों ही साहित्यकार हैं। समीक्षक किसी लेखक की रचना को पढ़कर कुछ न कुछ अभिनव सारस्वत लाभ अवश्य करते हैं।

मेरे ग्रन्थों को पढ़कर मेरे समीक्षकों को कुछ नया मिला या नहीं --इसे तो मेरे समीक्षक जानें; लेकिन मैं अपनी बात यहाँ आभारपूर्वक कहता हूँ कि मैंने अपने समीक्षकों की समीक्षाओं से बहुत कुछ नया प्राप्त किया है। उनकी समीक्षाओं ने मुझे साहित्यसर्जना के लिए उत्प्रेरित भी किया है। अपने विद्वान् समीक्षकों का मैं कृतज्ञ हूँ और भविष्य में रहूँगा।

इण्टर परीक्षा के बाद

मेरा जन्म २१ मार्च, १९१६ ई० को हुआ था। हिन्दी साहित्य में समालोचना का वह **आचार्य द्विवेदी-काल** माना जा सकताहै। **भारतेन्दु काल** यदि 'प्रवर्तन-काल' था, तो द्विवेदीकाल 'संवर्द्धनकाल' था। **शुक्ल–काल** को 'विकासन–काल' और **शुक्लोत्तर–काल** को 'प्रसारण–काल' कह सकते हैं।

सन् १६३८ ई० में मैंने इन्टर परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी। सन् १६३६ ई० तक, मैं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की पुस्तकें **'विचार विमर्श'** और **'रसज्ञरंजन'**, डा० नगेन्द्र की पुस्तक **सुमित्रानन्दन पंत**, शान्तिप्रिय द्विवेदी की **'साहित्यिकी'** और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत **'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** पढ़ चुका था। उपर्युक्त पुस्तकों को पढ़कर मैं निर्णयात्मक समालोचना, व्याख्यात्मक समालोचना, सौष्ठववादी समालोचना तथा भावात्मक समालोचना में स्वरूप से भी कुछ-कुछ परिचित हो गया था।

आचार्य शुक्ल के कथन "अर्थग्रहण करानेवाला वाक्य नहीं, अपितु बिम्ब-ग्रहण करानेवाला वाक्य ही पाठक को रसानुभूति करा सकता है," को पढ़ने के बाद में रसात्मक गद्य लेखन की ओर प्रवृत्त हुआ था। सन् १ ४० ई० के बाद मेरे निबन्धों की भाषा अनुभावों की अभिव्यंजना के साथ बिम्बात्मक वाक्यों की रचना करने लगी थी। तब मैं "**वह लजिया गयी**" नहीं लिखता था; अपितु लिखता था, "**उसकी पलकें झुक गयीं।**"

माता वीणापाणि की कृपा से यह एक शुभ संयोग ही था कि वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड के श्लोक (सर्ग १५/२०) में चिन्ता में डूबी हुई राघवेन्द्र-प्रिया सीता जी का एक चित्र मैंने देखा, जो आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने इन शब्दों में चित्रित किया था—

"पिनद्धां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः"—(सुन्दर० १५/२०)

(वृक्ष के नीचे बैठी सीता जी ऐसी लगती थी, मानो दीपशिखा धुएँ से ढकी हुई हो।)

गौरवर्णा सीता को चिन्ताग्रस्त स्थिति में दिखाने की साहित्यिक अभिव्यक्ति इसी प्रकार होनी चाहिए। इसे कहते हैं 'कविता'। इसका नाम है 'साहित्य'। ऐसा उपमान-विधान ही बिम्बात्मकता का सौन्दर्य उत्पन्न कर सकता है।

अंग्रेज कवि 'ओडेन' ने सत्य ही कहा था कि "भाषा कवि के हाथों में ही जीवित रह सकती है।" सच्चा साहित्यकार ही भाषा की ऊर्जामयी प्राणवत्ता को बनाये रख सकता है।

जिस व्यक्ति ने कहा था कि 'कवि जन्म लेते हैं, बनाये नहीं जाते,' वह मानव-मस्तिष्क की रचना से परिचित रहा होगा। आयुर्विज्ञान कहता है कि मानव-मस्तिष्क के दो भाग हैं—(१) **सेरेब्रम** (२) **सेरेब्रल**। आनुवंशिक संस्कार और स्मृतियाँ सेरेब्रम में डेरा डाले पड़े रहते हैं। जो कवि होता है, उसकी प्रतिभा विकृत संस्कारों तथा स्मृतियों का शुद्धीकरण कर देती है। शरीर की नौसीसैप्टर्स नाड़ियाँ (पीड़ादायिनी अनुभूतियों की संवाहिका नाड़ियाँ) और वैनेसैप्टर्स नाड़ियाँ (सुख-दायिकी अनुभूतियों की संवाहिका नाड़ियाँ) कवि की प्रतिभा की विद्युत् से मानव-कल्याणी अनुभूतियों की संवाहिका बन जाती हैं। इसीलिए नवरसमयी कवि सृष्टि षट्रसमयी ईश-सृष्टि से कहीं अधिक सुन्दर बन जाती है। सही कहा कि "जहाँ रवि

नहीं पहुँच पाता, वहाँ कवि पहुँच जाता है।''

आज सन् १९९३ ई० है। आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदि की लेखनियों ने हिन्दी-समालोचना को पर्याप्त ऊँचाई पर पहुँचाया है; परन्तु मेरी दृष्टि में हिन्दी–समालोचना में **'प्रबन्धात्मक समालोचना'** की अभी कमी है। इस समालोचना का सूत्रपात **गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने 'महाकवि हरिऔध'** लिखकर किया था। समालोचक गिरीश ने 'कृति' का मूल्यांकन कृतिकार के जीवन के अध्ययन के आधार पर किया था। कृतिकार की कृति में कृतिकार का जीवन अपने संकेत देता चलता है। उन संकेतों के आलोक में ही समालोचना होनी चाहिए। 'साहित्य' साहित्यकार के जीवन और समाज की व्याख्या है।

हिन्दी में जिस तरह आचार्य शुक्ल के निबन्धों की शैली आगे नहीं बढ़ी, उसी प्रकार पं० गिरीश की समालोचना–पद्धति भी आगे विकसित नहीं हुई। आचार्य शुक्ल की पाण्डित्यपूर्ण आलोचना के जादू का ऐसा असर हुआ कि हिन्दी के भावी आलोचक उसी की परिक्रमा करते रहे और जय–जय बोलते रहे।

पं० गिरीश की समालोचना–पद्धति से कवियों के काव्यों के नये रहस्य भी खुलेंगे। ऐसी समालोचना का नाम **'चरित्रप्रधान समालोचना'** भी दिया जा सकता है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा की पुस्तक **'हिन्दी भाषा का इतिहास'** का प्रथम संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग से सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसी का द्वितीय संस्करण सन् १९४० ई० में निकला था। उसमें हिन्दी–शब्दों के संस्कृत–शब्द दिये गये हैं।

सन् १९६० ई० में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं अनू–दित अद्दहमाण कृत 'संदेशरासक' को मैंने पढ़ा था। अलीगढ़ विश्वविद्यालय की एम० ए०(हिन्दी) कक्षाओं में तथा हिन्दी स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग, द० भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास की एम० ए० (हिन्दी) कक्षाओं में उसे पढ़ाया भी था। उस ग्रन्थ को पढ़ाने के बाद मैंने अनुभव किया था कि हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्तियाँ तभी ठीक तरह से दी जा सकती हैं, जब अपभ्रंश के ग्रन्थों के पूरे **'शब्द–कोश'** बन जाएँ।

डा० धीरेन्द्र वर्मा कृत 'हिन्दी भाषा का इतिहास' (१९४० ई०) में **बादल** का संस्कृत शब्द **बारिद** लिखा गया है। यह ठीक नहीं है। हिन्दी **बादल** शब्द का संस्कृत शब्द **वार्दल** है। सन्देशरासक (छन्द १४८) में 'बादल' के अर्थ में **'बद्दल'** शब्द आया है। संदेशरासक में तृतीय विभक्ति एकवचन में **बद्दलिण** लिखा गया है। सं० **वार्दलेन** > **बद्दलिण** (=बादल द्वारा)।

सन् १९५५–५६ ई० में गुरुवर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के साथ मैंने कुछ दिन हिन्दी के शब्दों की व्युत्पत्तियों पर भी काम किया था। तब मुझे शब्द

की आत्मा के दर्शनों की एक नयी दिशा मिली थी।

मैथिलीशरण गुप्त

श्री रामचरण 'कनकलता' के घर चिरगाँव (झाँसी) में जिस बालक का जन्म हुआ, उसका नाम रखा गया, **'लाल मदनमोहन'**। रामभक्त पिता ने नाम रखा **मिथिलाधिपनन्दिनीशरण'**। बालक बड़ा हुआ, नाम कुछ लम्बा प्रतीत हुआ, अतः छोटा करके **'मैथिलीशरण'** कर लिया। गहोई वैश्य होने के कारण 'गुप्त' शब्द पीछे से जोड़ दिया। वे ही **कवि मैथिलीशरण गुप्त** कहलाये। महात्मा गांधी ने उनको राष्ट्रकवि कहा और फिर वे **'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त,** के नाम से विख्यात हुए।

पार्वती जी ने नारद में लोकहित की दृष्टि देखी थी, इसलिए उन्हें **देवर्षि** की पदवी दी थी। महात्मा गांधी ने देखा कि कवि मैथिलीशरण गुप्त की लेखनी ने राष्ट्र को जगाया है और राष्ट्र की संस्कृति की व्याख्या की है, अतः उन्हें **'राष्ट्रकवि'** की पदवी से विभूषित किया था।

दद्दा अर्थात् मैथिलीशरण जी गुप्त में आशुकविता-सृष्टि की शक्ति थी। महाभारत (सातव, शान्ति, ४३/६) में 'श्रेष्ठवक्ता' के लिए **'वाचिष्ठ'** शब्द आया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी **'वाचिष्ठ'** थे।

इसी तरह एक शब्द कठ उपनिषद् (अ० १/व० २/७) में आया है; वह है "**कुशलानुशिष्ट'**। इसका अर्थ है ज्ञानी गुरु द्वारा सुशिक्षित। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी **कुशलानुशिष्ट** भी थे।

राष्ट्रकवि मथिलीशरण गुप्त जब संसद्-सदस्य थे

एक बार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दिल्ली में गुप्त जी से मिलने गये थे। तब गुप्त जी राज्यसभा के सदस्य थे। गुप्त जी को देखते ही द्विवेदी जी ने कहा—

"रक्तमुखी छाया तले, एम० पी० करें निवास।"

गुप्त जी ने तुरन्त दोहे को पूरा करते हुए कहा—

"चार मास की वृत्ति में काटें बारह मास।"

दद्दा कभी-कभी बड़ा मीठा व्यंग्य भी किया करते थे उस समय उनकी मुसकान अधरोष्ठों के भीतर ही रहती थी। तब वे अपने **'लाल मदनमोहन'** नाम को सार्थक किया करते थे। दद्दा के हँसते हुए चेहरे को देखने पर द्रष्टा की आँखें पहले उनके दाँतों को देखकर कानों पर ठहर जाती थीं।

मैंने राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के पास बैठकर उनके ही मुख से **'द्वापर'** काव्य के मुखपृष्ठ पर मुद्रित इन पंक्तियों की व्याख्या सुनी है—

"कर्म विपाक कंस की मारी
दीन देवकी-सी चिरकाल।

लो अबोध अन्त:पुरि ! मेरी
अमर यही माई का लाल ।।''
—(द्वापर)

मैंने कई बार दद्दा (पं० बनारसी दास चतुर्वेदी) के मुख से हास्य भरे वे संस्मरण सुने हैं, जिनमें दद्दा ने स्वयं अपने को ही आलम्बन बनाकर अपने जीवन के प्रसंग सुनाये थे।

मैंने फक्कड़ और मस्त मुद्रा में पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को देखा है और उनकी ओजस्वी वाणी में मंच को हिला देनेवाली ये कविता–पंक्तियाँ सुनी हैं—

''अरे चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को।
तब यह सोचा क्यों न लगा दूं आग आज इस दुनिया भर को।''
(नवीन)

मनोनुकूल कार्य न होने पर मैंने निराला के नेत्रों का आग्नेय तेज देखा है। पराड़कर जी को करारा उत्तर देनेवाली सिंह गर्जना–भरी काव्य-वाणी में महाप्राण निराला के मुख से छायावाद की शक्ति का समर्थन भी सुना और देखा है। वही शक्ति–समर्थन तो **'राम की शक्ति–पूजा'** में चरम कोटि पर दृष्टिगत होता है।

मैंने डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की मूछों में से झाँकती हुई उनकी मधुर–मौन मुसकान देखी है। मैंने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की नाभी से उठा हुआ अट्टहास देखा है।

मैंने साहित्यिक सभाओं में हिन्दी की हेठी पर आचार्य किशोरीदास वाजपेयी की ललकार सुनी है।

मैंने साहित्य संगोष्ठियों में विरोधी को व्यंग्यात्मक धक्का मारते हुए डा० नगेन्द्र को देखा है। उनकी तुनकमिजाज़ी भी देखी है।

मैंने नियमित रूप से कभी भगवद्‌भजन, इष्टदेव–अर्चन–वंदन अथवा तीर्था–टन आदि नहीं किये। कुछ संतों तथा विद्वानों का सत्संग अवश्य किया है। सारे पावन तीर्थस्थल मेरे लिए माता सरस्वती के चरणों में ही अवस्थित रहे हैं।

मैंने जीवन में कर्म से एक सच्चा अध्यापक और ब्राह्मण बनने का कुछ प्रयास किया है। साहित्य–सर्जना ही मेरे जीवन की साधना बनी रही है। मैंने ग्रन्थों के गवाक्षों से ऋषियों के दिव्य दर्शन किये हैं और उनकी उदात्त वाणी से अपने हृदय को कुछ पवित्र बनाया है। संघर्ष और आपत्तियाँ मेरी जीवन–यात्रा में छाया की भाँति मेरे साथ लगी रही हैं। उन्होंने मुझे कभी अकेला नहीं छोड़ा।

अध्ययन की यात्रा में

ग्रन्थों के गवाक्षों से जब–जब मैंने ऋषियों और सन्तों से बातें की हैं, तब–तब मैंने अनुभव किया है कि कुछ समय के लिए मेरी बुद्धि दिव्य शिखर पर आसन बिछाकर बैठ गई है। तब मेरे हृदय ने एक विशालता का अनुभव किया है।

सन्त नामदेव ने अपने खाने के लिए दो मधूकरियाँ (आग पर पकायी गयीं रोटियाँ) बनायी ही थीं कि एक कुत्ता वहाँ चुपके–से आया और दोनों मधूकरियों को मुँह में दबाकर ले चला। नामदेव देखते ही घी की मलरिया लेकर कुत्ते के पीछे दौड़ते हुए चले जा रहे थे और कहते जा रहे थे, "भागवान ! चुपड़ तो ले। नामदेव चुपड़ी खाए और तू रूखी—यह कैसे हो सकता है ? तनिक रुक जा।"

मैंने इस प्रसंग को पढ़कर सन्त नामदेव के पूत–पालन हृदय की महान् विशालता की अनुभूति की थी। नामदेव के हृदय में सारा संसार आराम से सोता होगा। यही भाव तो **'भूमा'** है, जिसमें कोई पराया नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् (प्रपाठक ७/खंड २३/१) का ऋषि उद्‌घोष करता है—

"यो वै भूमा तत् सुखम्" (छान्दोग्य)

सन्त नामदेव ने 'सत्य' की परिभाषा में कहा है कि 'सत्य' वह है, जिसमें एक बात दो ढँग से नहीं कही जाती। सत्य में किसी प्रकार की मिलावट नहीं होती। सारांश यह कि सत्य में किसी प्रकार का छल नहीं होता। 'सत्य की परिभाषा का सूत्र है—

"सन्त न तद् यच्छलमभ्युपैति"।

सन्त नामदेव की 'पदावली' में संस्कृत के उक्त सूत्र की सोदाहरण व्याख्या मिलती है।

किसी घटना--प्रसंग के सत्य को जब मैं कुछ छिपाकर या कुछ बढ़ाकर कहना चाहता था, तब मुझे सन्त नामदेव का स्मरण हो आता था।

मैं सन्त नामदेव की स्मृति के बाद ही श्रीमद्‌भागवत (६/२१/१२) के रन्तिदेव की परदुःख द्रवितामयी दिव्य भावना में डूब गया, जिन्होंने तृषित चाण्डाल की दशा देखकर प्रभु से प्रार्थना की थी कि मैं आठों सिद्धियों से युक्त परम गति नहीं चाहता। मैं मोक्ष की कामना भी नहीं करता। मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि मैं सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, ताकि किसी प्राणी को दुःख न हो—

"आर्ति प्रपद्येऽखिल देहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।"

—(भागवत, स्कन्ध ६/अ० २१/१२)

कुछ क्षणों के लिए मुझे उस समय युधिष्ठिर भी याद आये थे, जिन्होंने कुत्ते को त्याग देने के प्रश्न पर स्वर्ग जाना ही त्याग दिया था।

ऐसे वैकुण्ठभाव–लोक में मैं कुछ क्षणों तक रहा हूँ। भागवत में विष्णु का नाम 'विकुण्ठ' आया है अर्थात् कुण्ठारहित। कुण्ठारहित भाव–लोक का नाम ही **'वैकुण्ठ'** है।

जब–जब मैं गलदश्रु हुआ

महाभारत (सातव०, शान्तिपर्व, २२४/६०) में उल्लेख है कि 'शब्दब्रह्म' की उपासना से 'परब्रह्म' की प्राप्ति हो सकती है। साहित्य का अध्ययन करने के मार्ग में मुझे ऐसे क्षण भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें मेरे हृदय ने ब्रह्मानन्दसहोदर से मिलते–जुलते आनन्द की प्राप्ति की है। सूर और तुलसी की कुछ कविताओं को पढ़ते हुए मैं गलदश्रु भी हुआ हूँ। वाल्मीकिरामायण के उत्तरकांड में गंगा की पार पर खड़ी हुई वनवासिनी सीता जी लक्ष्मण से कहती हैं—

"लक्ष्मण ! महात्मा राम से तनिक तुम यह तो पूछ लेना कि उन्होंने किस क्षेत्र पर सीता को वनवास दिया है ? फिर सीता जी यह भी कहती हैं, 'लक्ष्मण ! मैं इस गंगा में डूबकर अभी अपने को समाप्त कर देती, यदि रघुवंश की थाती मेरी कोख में न होती।"—इन भावों के श्लोकों को पढ़ते हुए मैं कई बार रोया हूँ। उन श्लोकों को मैंने जब–जब पढ़ा है, तब–तब ही मेरा कण्ठ रुद्ध हुआ है और अपनी आँखों के आँसुओं को मैं नहीं रोक सका हूँ। इतना ही नहीं, इस प्रसंग को सुनाते समय भी मैं प्रसंग–सम्बद्ध पूरे वाक्यों को पूरी तरह बोल नहीं सका हूँ। 'रामचरितमानस' के भरत जी के साथ भी मेरा हृदय रोया है। मैं 'रामचरितमानस' के अयोध्याकाण्ड में पढ़ने लगा कि सीता–लक्ष्मण सहित श्रीराम के वन चले जाने के बाद भरत ननिहाल से आकर माता कौशल्या से मिल रहे हैं। वे अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए अनेक शपथ खाते हैं और माता कौशल्या को धैर्य बँधाते हैं। व्याकुल भरत को माता कौशल्या समझाती हैं।

पुत्र भरत को समझाते हुए वत्सला माता कौशल्या ने भरत को छाती से लगा लिया। करुणाकलित वात्सल्य के कारण स्तनों से दूध टपकने लगा और आँखें आँसुओं से भर गयीं।

'मानस' में उस प्रसंग को पढ़ते समय मेरा मन कहने लगा कि उस समय भरत भी निश्चित ही रो पड़े होंगे; लेकिन तुलसीदास जी ने कौशल्या की आँखों में तो आँसू बताये, लेकिन भरत की आँखों में अश्रुपात नहीं दिखाया। क्यों ?

तुलसीदास जी ने उक्त प्रसंग को 'गीतावली' में भी पदबद्ध किया है। उस स्थल पर भरत दुःखी होकर माता कौशल्या से कहते हैं, "माता ! यदि अयोध्या के लोग मुझे माता कैकेयी की सलाह में समझते हैं तो इस कलंक–कालिमा को मैं कैसे धो सकूँगा ?" ऐसा कहते–कहते भरत के नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं, ममतामई माता कौशल्या अपने अंचल पट से भरत के आँसू पौंछकर तुरन्त भरत को छाती से लगा लेती हैं। भरत की आँखों में आँसू देखकर मेरी आँखों से भी आँसू बहने लगते हैं। मेरी आँखें रोती जाती हैं और मन कहता जाता है कि 'मानस' को भी भरत–कौशल्या–मिलन के अवसर पर तुलसी के भरत अवश्य रोये होंगे। माता–पिता, गाय, गोशाला, ब्राह्मण, स्त्री, बालक आदि के मारने पर मिलनेवाले सब पातकों तथा

उपपातकों को अपने ऊपर लेते हुए जो सौगंध उन्होंने खायी होगी उसे वाणी से व्यक्त करते समय भरत जी पहले रोये होंगे। तब भरत और माता कौशल्या को रोते देख-कर तुलसी की लेखनी भी रोने लगी होगी। अतः द्रवीभूत अवस्था के कारण वह लेखनी भरत के आँसुओं का वर्णन न कर सकी होगी। मेरा मन तो यही मानता है। राम–भक्त भरत संतप्तहृदया माता कौशल्या की विरहातुरादशा देखकर न रोएँ –ऐसा नहीं हो सकता।

'रामचरितमानस' के निम्नांकित प्रसंग का चित्र जब–जब मेरे मानस–पटल पर उभर कर आता है, तब–तब मेरी आँखें नम हो जाती हैं—

निषादराज गुह भरत जी को वह स्थल दिखाता है, जहाँ शीशम के वृक्ष के नीचे सीता–लक्ष्मण सहित श्रीराम ने विश्राम किया था।

उस स्थल को देखते ही भरत जी प्रणाम करते समय अपनी आँखों के आँसू न रोक सके। राम भूमि पर सोते फिरें और कन्द–मूल–फल खाते फिरें—इसका मूल कारण भरत और भरत की जन्मदात्री माँ है। भरत के इस मनस्ताप से उत्पन्न आँसुओं को अपने मन की आँखों से देखकर मैं भी रोने लगा था।

'रामचरितमानस' के अयोध्याकाण्ड के उपर्युक्त स्थलों ने मुझे कई बार रुलाया है। 'मानस' पढ़ते समय भरत के मन के अन्तर्दाह के साथ–साथ मेरा मन भी दग्ध होता रहा है। पर भरत की उन दग्धता ने मुझे शीतल दग्धता ही प्रदान की है। मुझे उस अश्रुप्रवाह से एक विचित्र अनुभूति हुई है। करुणा के उस आनन्द को मेरी लेखनी यहाँ व्यक्त नहीं कर सकती।

यजुर्वेद के ३४वें अध्याय में कई मंत्रों के अन्तर्गत परमात्मा से मन को शिव-संकल्पवाला बनाने के लिए प्रार्थना की गई है। यदि हमारा मन शिवसंकल्पवाला हो जाए, तो फिर विश्व की सारी विषम समस्याओं का समाधान ही हो जाए।

ऋषियों और सन्तों की वाणी में मैंने मन को शिवसंकल्पी बनाने वाले सूत्रों को पढ़ा है। कुछ समय तक उन सूत्रों के अर्थों पर विचार भी किया है। लेकिन सूत्रों के अर्थों को मैं अपने कर्म में उतार नहीं पाया। महाभारत (सातव०, शान्ति पर्व, अ० २४७/६) में मन के नौ गुणों में एक गुण 'अस्थिरता' भी बताया गया है। मेरी बुद्धि मन पर विजयिनी न बन सकी–यह मेरी दुर्बलता रही है।

जब मैंने तुलसी का अनुशीलन किया

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का विधिवत् अध्ययन मैंने सन् १९७० ई० से गम्भीरतापूर्वक प्रारंभ कर दिया था। पूरे 'रामचरितमानस' में मैं बहुत दिनों तक निम्नांकित अर्धाली और एक दोहे का अर्थ न समझ सका था। वह अर्धाली और दोहा इस प्रकार है—

(१) "उर उमगेउ अंबुद्धि अनुरागू।

भयउ भूप मनु मनहुँ पयागू ।" —(अयो० २८६/५)

(२) "अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान ।
मनुजवास सचराचर रूप राम भगवान ।।" (लंका० १५ [क]–)

उपर्युक्त अर्धाली में मैं यह नहीं समझ सका था कि राजा जनक ने जब चित्रकूट पर अपनी पुत्री सीता को देखा तो राजा जनक का मन '**प्रयाग**' कैसे हो गया ?

महाकवि कभी–कभी कविता में कलापूर्ण कौशल के साथ सूक्ष्म संकेत किया करते हैं । चित्रकूट पर जनक की रानी सुनयना विधवा रानी कौशल्या से मिलकर राजा जनक के पास वापस आयी हैं । साथ में पुत्री सीता भी है । कौशल्या गौरवर्णा थीं और वैधव्य के कारण सफेद वस्त्र धारण कर रही थीं । उनके आनन पर वैधव्य के शोक की कालिमा भी थी । अतः कौशल्या का शरीर श्वेतिमा की गंगा और कालिमा की यमुना का संगम बन गया था । साहित्य में अनुराग का रंग लाल माना गया है । सीता पुत्री के प्रति जनक का अनुराग ही सरस्वती नदी है । कौशल्या के विधवा-रूप की सूचना सुनयना राजा जनक को दे चुकी थीं । सीता के प्रति जनक के अनुराग के मिलते ही राजा जनक के हृदय में प्रयागराज अर्थात् त्रिवेणीसंगम की स्थापना हो गयी । प्रयागराज के त्रिवेणीसंगम पर गंगा की श्वेतिमा, यमुना की कालिमा और सरस्वती की लाली मिलकर त्रिरंगसमन्वय का दृश्य उपस्थित कर देती हैं । इसीलिए भूप जनक का मन प्रयाग बन गया । **प्रयाग**=त्रिवेणीसंगम ।

उपर्युक्त दोहे में मन्दोदरी रावण को समझाती है कि राम वास्तव में परब्रह्म हैं । उन परब्रह्म ने मनुष्य रूप में अवतार लिया है । चर-अचर में व्याप्त वह राम मनुष्य रूप से संसार में प्रकट हुए हैं । अन्तःकरण–चतुष्टय को बताते हुए मन्दोदरी कहती है कि उन परब्रह्म नराकार राम का अहंकार शिव हैं, बुद्धि ब्रह्मा हैं, चित्त विष्णु हैं और मन चन्द्रमा है ।

'महान' का प्रयोग तुलसीदास जी ने 'विष्णु' के लिए किया है, यह बात मेरी समझ में कई महीनों तक नहीं आयी थी ।

'रामचरितमानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास युगद्रष्टा कविशिरोमणि थे । वे जिस समन्वयात्मक संस्कृति के पुरोधा बनकर आये थे, उसके लिए वे पूरी तरह सावधान थे । यद्यपि वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड में तथा भवभूतिकृत उत्तररामचरित नाटक के द्वितीय अंक में शूद्रमुनि शम्बूक–वध का उल्लेख है, तथापि तुलसी ने उन प्रसंगों को जानते हुए भी उनसे अपनी आँखें फेर ली हैं ।

यह भी सम्भव है कि तुलसीदास जी के समय में वाल्मीकिरामायण में उत्तर काण्ड हो भी न; क्योंकि उसके युद्धकाण्ड के अन्त में ही ग्रन्थ–समाप्ति–सूचक पुष्पिका मिलती है । ऐसा हो नहीं सकता कि नानापुराण निगमागम के अधीती तुलसीदास ने भवभूति के उत्तररामरित को न पढ़ा हो । अवश्यमेव पढ़ा होगा; लेकिन श्रीराम कृपाणधारी अपने दक्षिण हस्त को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

"सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते"—(उत्तरराम०, अंक २/१०)

इस वाक्य की ध्वनि को तुलसी पूरी तरह समझ गये होंगे। भवभूति के राम भी उस समय करुणा का निषेध करते हुए भी करुणार्द्र हो गये हैं। शम्बूकवध के उस अन्यायपूर्ण क्रूर प्रसंग को तुलसी के ब्रह्म ने स्वीकार न किया होगा। तुलसी के समय के समाज के लिए वह प्रसंग नितान्त घातक भी था। अतः तुलसी ने उसे छुआ तक नहीं। दृष्टि ही न डाली। महात्मा तुलसी की इस उच्च भावना से भावित होकर मैंने उनके चरणों में शत-शत प्रणाम अर्पित किये हैं।

कुछ आलोचकों ने तुलसी पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने संस्कृत की उक्तियों के अनुवाद करके रख दिये हैं। अतः बहुत कुछ अंशों में उन्हें कवि नहीं मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि विचार या भाव की दृष्टि से नितान्त अछूता तथा मौलिक अर्थात् पूर्णतः नवीन कुछ नहीं है। जो व्यक्ति अपनी प्रतिभा तथा मेधा के बल पर यदि किसी की पूर्वोक्ति को अधिक अभिव्यंजक बनाकर चमका देता है, तो मैं उसे निःसंदेह कवि मानता हूँ। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ऐसा भी किया है।

पं० दामोदर मिश्र कृत 'हनुमन्नाटक (अंक ३/श्लोक १५) में निम्नांकित श्लोक है।—भोली ग्रामवनिताएँ सीता जी से पूछती हैं और उसका उत्तर सीता जी नेत्रों की भाषा में देती हैं—

"पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छ्यमाना,
कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति ?
स्मितविकसितगण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रम्,
मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता।" —(हनुमन्नाटक)

रामचरितमानस' के अयोध्या काण्ड में गोस्वामी जी लिखते हैं—

"कोटि मनोज लजावनिहारे।
सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥" —(मानस, अयो० ११७/१)

× × ×

"बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि।
निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥"
—(मानस, अयो० ११७/६,७)

महाकवि तुलसी ने दामोदर मिश्र के मूल भाव को भव्य आभा से अभि-मण्डित कर दिया है।

भारतीकण्ठ कवि शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी पर मैंने पाँच ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें **'रामचरितमानस : वाग्वैभव'** और **'रामचरितमानस-भाषा रहस्य'** के अन्तर्गत मेरी बुद्धि ने शब्द-सौन्दर्य को देखा है और व्याकरण की दृष्टि से 'मानस' की भाषा के पदों की पर्तें खोली हैं। इसके उपरान्त मैंने **'मानसशब्दार्थतत्त्व'**

और **'तुलसी–काव्यचिन्तन'** की रचना की थी। तुलसी–मानस में चित्रित श्रद्धेय तुलसीदास जी के औदात्यपूर्ण चरित्र–चित्रण पर मेरा भावुक हृदय निछावर रहा है। औदात्य की पावन स्थली में मैंने तुलसी को वाल्मीकि और कालिदास से भी ऊँचे आसन पर विराजमान देखा है। इसके समर्थन में मेरी प्रिय पुस्तक है— **'औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी।'**

इस पुस्तक के 'पुरोवाक्' को लिखने से पहले मैंने अनेक बार महात्मा तुलसीदास की कविता के सम्बन्ध में कवि हरिऔध रचित एक छन्द की निम्नांकित पंक्तियों को गुनगुनाया था और अब भी गुनगुनाता रहता हूँ। ये पंक्तियाँ तुलसी के प्रति मेरी श्रद्धा के तार झंकृत कर देती हैं—

"बनी पावन भाव की भूमि भली,
हुआ भावुक–भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी न लसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला॥" —(हरिऔध)

तुलसी–साहित्य की विषय–वस्तु तथा काव्यकला–सौन्दर्य का आकलन करने वाली दो प्रमुख धाराएँ भारत में प्रवाहित रही हैं—एक गंगा रूपी **व्यासीय धारा** जो समाज में हृदय पक्ष को लेकर चल रही थी और दूसरी विश्वविद्यालयों में यमुना रूपी **प्रोफेसरी धारा** थी, जो बुद्धि पक्ष को लेकर तथ्यात्मक शोधपरक मीमांसा प्रस्तुत कर रही थी। मैं अपने स्वभाव–संस्कार के कारण कथावाचक व्यास पंडितों के सम्पर्क में भी आ चुका था। व्यवसाय से यूनीवर्सिटी अध्यापक भी था। अत: मेरी लेखनी ने तुलसी–मानस के मूल्यांकन में गंगा और यमुना की उन दोनों धाराओं को मिलाकर एक कर दिया। **'औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी'** पुस्तक में पाठकों को गंगा में यमुना का और यमुना में गंगा का जल मिलेगा। पर मिलेगा, कुछ विचित्र–सा, अपने ढँग का।

मानसकार तुलसीदास की आयु

मेरी मान्यता है कि हिन्दी के कवियों में सबसे अधिक आयु गोस्वामी तुलसीदास ने पायी थी अर्थात् १२६ वर्ष। दूसरे स्थान पर कबीरदास आते हैं, जिनकी आयु १२० वर्ष की मानी गयी है। सूरदास ने १०५ वर्ष की आयु पायी थी। तुलसी कबीर से लगभग एक सौ वर्ष बाद हुए थे।

महात्मा तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना संवत् १६३१ वि० में की थी; उस समय तुलसीदास जी ७७ वर्ष के हो गये थे। 'मानस' जैसा ग्रन्थ ऐसी ही परिपक्व अवस्था की उपलब्धि माना जा सकता है।

'कवितावली' के उत्तर काण्ड में तुलसी के जीवन से सम्बद्ध जो छन्द मिलते हैं, वे भी उनके जीवन के अन्तिम चरण में ही रचे गये होंगे–मेरा ऐसा अनुमान है।

यजुर्वेद (अ० ३६/२४) के ऋषि ने परमेश से यह इच्छा प्रकट की ही थी कि हम सौ वर्ष तक देखते रहें। सौ वर्ष तक जीवित रहें। सौ वर्ष तक सुनते रहें। सौ वर्ष तक बोलते रहें। सौ वर्ष तक अदीन रहें। फिर सौ वर्ष से अधिक भी।

कबीर, सूर और तुलसी को उन महापुरुषों में मानना चाहिए जो 'भूयश्च शरदः शतात्' का मंत्र- जाप करते रहे थे।

'कवितावली' के उत्तरकाण्ड छन्द ५७, ७२ और ७३ के आधार पर कहा जा सकता है कि तुलसी ने जन्म से ही दरिद्रता का विष पिया था; लेकिन संसार को अमृत दिया था। जितने समय तक तुलसी ने सरस्वती की सेवा की, उतने समय तक हिन्दी के किसी साहित्यकार ने आज तक नहीं की। भारती के मन्दिर की देहली पर उनके बारह दीपक आज भी अपनी ज्योति से जगमग-जगमग जल रहे हैं और विश्व में प्रकाश फैला रहे हैं।

'कवितावली' के छन्द ७२ से सिद्ध होता है कि तुलसी को अपनी साहित्य-साधना तथा प्रभु की अनुकम्पा से अपने ही जीवन के अन्तिम चरण में महामुनि वाल्मीकि के समान सम्मान मिल गया था। उस सम्मान को तुलसीदास ने प्रभु का परम प्रसाद माना था। तभी तो उन्होंने कहा था—

"जरि जाउ सो जीवन जानकीनाथ।
जियै जग में तुम्हरो बिन ह्वै।" —(कविता० छन्द ४०)

मेरी सत्ताईसवीं कविता-पुस्तक **'ब्रजी-कवि-बन्दन'** सन् १९८६ ई० में प्रकाशित हुई थी। उसमें ब्रजभाषा की घनाक्षरियों में ब्रजभाषा के मेरे श्रद्धेय मूर्धन्य कवियों का गुण-गान है।

'सर्जन-प्रक्रिया में कवि की तीन स्थितियाँ रहती हैं—प्रथम स्थिति वह है, जब स्रष्टा कवि के चेतन मन में अनुभूति स्मृति के रूप में उभरती है। द्वितीय स्थिति वह है, जब वह स्मृति वेगवती होकर अभिव्यक्ति के लिए शब्दों की चयन-प्रक्रिया में लग जाती है। उद्बुद्ध भाव के लिए उपयुक्त शब्दों की तलाश ही 'कवि-साधना' है। यही स्थिति कवि का तपश्चर्या-काल है। यदि भाव के लिए उपयुक्त शब्द मिल गये, तो कवि की साधना सफल हो गयी, उपयुक्त शब्द न मिले, तो वह सफल न माना जाएगा। उपयुक्त शब्दों में भाव की अभिव्यक्ति स्रस्टा कवि को आनन्द का अमृतरस प्रदान करती है। भाव का शब्दात्मक विरेचन कवि के लिए भी ब्रह्मानन्द सहोदर की प्राप्ति के समान होता है। वह विरेचन ही सर्जन-प्रकिया की तृतीय स्थिति है।

उपर्युक्त कविता-पुस्तक में मैंने सूरदास और तुलसीदास से भी सम्बद्ध कुछ घनाक्षरियाँ लिखी हैं। अपने पाठकों के समक्ष ईमानदारी के साथ मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि सूर ने जो यशोदा-वात्सल्य, राधा-समर्पण-भाव तथा गोपी-प्रेम अपने 'सूरसागर' में व्यक्त किया है, उसकी घनीभूत रूप में मैंने जो अनुभूति की है, उसे पूरी तरह व्यक्त करने में मेरी लेखनी असमर्थ रही है। शतपथ ब्राह्मण के ऋषि के

कथन–"वाणी अर्थ से बहुत छोटी है"—को मैं स्वीकारता रहा हूँ। तुलसी के ग्रन्थों 'रामचरितमानस' में श्रीराम चूडामणि लेते समय जिस द्रवित भाव को हनूमान् के समक्ष व्यक्त करते हैं और सीता जी की याद करके जिस भाव–सागर में डूब जाते हैं, उसे व्यक्त करने में मैं असमर्थ रहा हूँ। 'सूर और तुलसी के मन्दिरों की देहलिय पर स्वर्ण मुद्राएँ न सही, वराटिकाएँ ही सही; उन वराटिकाओं को श्रद्धापूर्वक अर्पित करके ही मैंने सुख माना है।

मैं अपने विद्यार्थिकाल और अध्यापककाल में धनाढ्य तो नहीं था; लेकिन दरिद्र भी नहीं था। भागवत (स्कंध ११/अ० १९) में श्रीकृष्ण ने उद्धव को बताया है कि अभाव की अनुभूति का नाम 'दरिद्रता' है। मुझे कभी धनाभाव की अनुभूति नहीं हुई, प्रभु ने जो दिया और जितना दिया, उसी में मैंने सुख माना। मुझ जैसे व्यक्ति से एक आदमी ने पूछा था, "क्या खाते हो?", "जो मिल जाता है।" "कब खाते हो?", "जब मिल जाता है।"

जब मुझमें ज्ञान की भूख बढ़ी थी

सन् १९५२ ई० में मैं डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के संपर्क में आया था। तब मेरी अवस्था ३६ वर्ष की थी। गुरुवर अग्रवाल जी की अध्ययन–पद्धति देखकर ही मुझमें ज्ञान के लिए भूख बढ़ी थी। उस समय से मुझे अध्ययन में आनन्द आने लगा था। मैं चौबीस घंटों में लगभग दस घंटे लिखने–पढ़ने का काम किया करता था। मेरा ग्रन्थाध्ययन और साहित्य–सर्जन बहुत–कुछ साथ–साथ ही चलता रहा है।

मेरी मनोभूमि के अंकुर

असत्य और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने के अंकुर मेरे मन की भूमि में सन् १९४० ई० में ही अच्छी तरह उग आये थे। मैं जानता था कि उन संघर्षों से मुझे बहुत बड़ी हानि होती है और होगी, फिर भी संघर्षों में ही मुझे कुछ शान्ति मिलती थी। मैंने जीवन में पाया कम है, खोया अधिक है।

भारत के प्राचीन साहित्य में वर्णित दधीचि और शिबि की गाथाएँ भी मुझे मनोबल देती रही हैं। मैंने 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ जन्म से नहीं, कर्म से माना है। विद्या, सत्य और सम्मान के प्रति समर्पित व्यक्तित्व को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ। सन् १९४० ई० में भी मानता था और और आज सन् १९९३ ई० में भी मानता हूँ। मेरा साहित्य–सेवी अध्यापक इसी अर्थ में अपने को 'ब्राह्मण' मानता रहा है।

अध्ययन और लेखन की धुन में मैंने सोने, जागने, खाने–पीने की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया। खाने–पीने में मैं कभी रमा नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् (३/१७/१) के ऋषि के बताये हुए दीक्षा–जीवन की मुझे याद आती रही है ऋषि कहते हैं—

"जो व्यक्ति खाता-पीता तो है, लेकिन उसमें रमता नहीं, उसका जीवन 'दीक्षा' का जीवन है।"

सन् १९४० ई० में मैंने एक पुस्तक में निम्नांकित प्रसंग भी पढ़ा था—

"महाभारत का युद्ध कौरवों और पाण्डवों में आरम्भ हो गया था। एक दिन दुर्योधन ने एकान्त में गुरु द्रोणाचार्य से पूछा, "आचार्यवर ! आप तो हमारे और पाण्डवों के गुरु रहे हैं। आपने ही अर्जुन को भी धनुर्वेद की शिक्षा दी है। विद्या में गुरु शिष्य से भारी होता है। फिर भी आपसे अर्जुन परास्त नहीं किया जाता ? इसका क्या कारण है ?"

उत्तर में गुरु द्रोणाचार्य ने कहा था कि दुर्योधन ! मैं कौरव-राज्य में विलासी जीवन बिताने के कारण बलहीन हो गया हूँ। अर्जुन का जीवन संघर्षमय रहा है। वह निरन्तर कष्ट झेलता रहा है। अर्जुन मुझसे अधिक कर्मठ और बलिष्ठ है।— यह प्रसंग भी मुझे प्रेरणा प्रदान करता रहा है।

मेरा स्वभाव

स्पष्टवादिता मेरे जीवन की 'विधि' और चाटुकारिता मेरे जीवन का 'निषेध' रही है। इस 'निषेध' के कारण मैंने जीवन में परेशानियाँ भी झेली हैं; लेकिन उनके झेलने में मैंने एक निराले स्वाद की अनुभूति भी की है।

मुझे झूठी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाना कभी अच्छा नहीं लगा। मैंने किसी बड़े आदमी तथा उच्च पदाधिकारी के सम्मुख 'सर', 'जनाब', 'हुजूर' या 'श्रीमान्' सम्बोधन के साथ कभी बातें नहीं कीं। हाँ, सन्त-महात्माओं के लिए 'महाराज जी' सम्बोधन अवश्य किया है। आज सतत्तर साल की अवस्था में भी मन वैसा ही बना हुआ है। पर पहली-सी तेजी और तर्रारी अब स्वभाव में नहीं रही। क्रोधावेशी स्वभाव अब कुछ मुलायम हो गया है। स्वभाव संस्कारों में पलता है और संस्कार लम्बे समय की शिला पर रेखांकित होते हैं, इसलिए वे अतिदीर्घजीवी होते हैं।

अपनी जीवन-यात्रा के पथ पर मैं आँसू बहाते हुए ही गिरता-पड़ता दौड़ता रहा हूँ। यात्रा के पड़ावों पर मुझे धधकती हुई आग ही मिलती रही है। मेरे आँसू उस आग को क्या बुझाते ? एक पड़ाव पर जलती हुई आग देखकर मैं दूसरे पड़ाव के लिए भागा हूँ। उस पर भी जलती ज्वाला मिली है। इस तरह पड़ावों की ज्वालाओं से जलता हुए मेरा तन-मन भागता ही रहा है, भागता ही रहा है, निरन्तर भागता ही रहा है। उस भागभाग को तथा ज्वाला की जलन को मैंने अन्त में अपनी नियति मानकर स्वीकार लिया है। मेरे अन्दर के ब्राह्मणत्व ने उन क्षणों में मुझे कुछ धैर्य और साहस भी प्रदान किया है। उसी ब्राह्मणत्व के बल पर मैंने नियति के अभिशाप को वरदान मानकर स्वीकारा है।

मेरी रुग्णावस्था में मेरे सहायक

मेरे अन्दर स्थित सत्य की आस्था ही मुझे कुछ शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करती रही है। उसी के बल–भरोसे पर मैं अध्ययन, अध्यापन और लेखन में लगा रहा हूँ। मेरी लेखन–क्षमता को खरीदने के लिए एक सत्ताधिकारी महाशय ने पूरा प्रयास भी किया था। उनकी इच्छा–पूर्ति न होने पर उन्होंने मेरे रास्ते भी रोके थे। मेरे अध्यापक के जीवन में कुछ महीने बड़ी परेशानी और तनाव के भी बीते हैं। कुछ समय ऐसा भी बीता, जिसमें मेरी सत्योन्मुखी आस्था डगमगा गयी थी। उसका कुप्रभाव मेरे शरीर पर ऐसा पड़ा था कि लगभग छह महीने मेरे ऐसे बीते कि न भूख लगती थी, न नींद आती थी। बुद्धि का विचार–पक्ष भी असामान्य हो गया था। माता वीणापाणि की कृपा से मन के केन्द्र में फिर उसी सत्य के दर्शन किये और साहित्य–सर्जना में लग गया। मुझे प्रकृतिस्थ बनाने में कुछ स्वाभिमानी व्यक्तित्वों की जीवन–गाथाएँ भी मेरी सहायता करती रही हैं। रुग्णावस्था में कुछ समय तक मेरा डाक्टरी इलाज भी चला था। उस समय मेरी सेवा–शुश्रूषा भ्रातृजकल्प उदयराम शर्मा, प्रिय शिष्य राजेन्द्रप्रसाद वर्मा और सौभाग्यवती बेटी कमलेश वर्मा ने की थी। मेरा हृदय उन्हें सदा आशीर्वाद देता रहेगा। परमप्रभु से मैं उनके सुखमय भविष्य की प्रार्थना करता हूँ और करता रहूँगा। मेरी पत्नी भी मुझे धैर्यपूर्वक धैर्य बँधाती रही हैं। उनके लिए मैं क्या कहूँ और कैसे कहूँ ? बस मेरा मौन ही पूर्ण आभार है। जब भावों के सागर में ज्वार आता है, तब वाणी मूक हो जाती है। उस समय मौन वाणी से ऊँचा हो जाता है।

माता सरस्वती का मैं **सेवी** एवं **सेवक** तो रहा ही हूँ, **दास** भी रहा हूँ। उसकी वाणी के 'राग' में मेरा 'अनुराग' घनीभूत रूप धारण करता रहा है। संभवतः उसी ने मुझ में स्वाभिमान की रक्षा का भाव भी कुछ जगा दिया था। माता शारदा रोटियाँ तो देती रही। लेकिन लक्ष्मी मुझे टेढ़ी नजर से ही देखती रही। लक्ष्मी मुझे वक्र दृष्टि से देखती है, तो वह देखे। मेरे अन्तस् में बैठे ब्राह्मण के ब्राह्मणत्व ने कभी उसकी परवाह नहीं की। पहले भी नहीं, अब भी नहीं।

मेरे एक मित्र ने मुझे एक दिन बहुत समझाया; तब मैंने कहा—"ईशावास्यमिदं सर्वम्"। मित्र ने कहा, "यह बात उपनिषद् काल के उस ऋषि के लिए सत्य होगी, आज की इस दुरंगी दुनिया में नहीं। आज तो सही यह है,

"छन्दावास्यमिदं सर्वम्"। तुमने ही तो एक दिन मुझे बताया था कि संस्कृत के '**छन्द**' शब्द का अर्थ है 'हाँ में हाँ मिलाना।"

मित्र अपनी बात करता रहा और मैं अनमना बना सुनता रहा। मेरे मन के ढाक पर वे ही तीन पात रहे, जो पहले थे।

कुछ और दुनियादार मित्रों ने मुझे और भी समझाया; कहा कि आप इस युग को देखिए, युग की हवा को देखिए। हवा देखकर चलिए। फिर तेल देखिए और तेल की धार देखिए। उनकी बातें सुनने पर भी मैं अनसुनी करता रहा। लेकिन मैं

इतना समझता हूँ कि यदि मैं तेल और तेल की धार देखता रहता, तो बस तेल की धार ही देखता रहता; तीस पुस्तकें न लिख पाता ।

अध्ययन का प्रभाव

ग्रन्थों का अध्ययन करते–करते मुझमें मेरा तमोगुण बहुत कम हो गया था और सत्वगुण की कुछ वृद्धि हो गयी थी । सारांश यह कि मैं कुछ सुख–सा प्राप्त करने लगा था । भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को उपदेश देते हुए कहते हैं कि उद्धव ! सत्वगुण की वृद्धि '**स्वर्ग**' और तमोगुण की वृद्धि '**नरक**' है ।

—(भागवत, स्कंध ११/अ० १९)

डा० अग्रवाल जी जन्म से वैश्य और कर्म से ब्रह्मर्षि थे । उनका अन्तेवासी बनकर मैं भी कर्म से ब्राह्मणत्व के मनोराज्य में और अधिक विचरण करने लगा था । डा० अग्रवाल जी जैसा घनघोर अधीती मैंने आज तक (१९९३ ई० तक) कोई दूसरा नहीं देखा । वे २४ घंटे में १७ घंटे पढ़ते और लिखते थे । वे कभी–कभी बोलकर दूसरों से लिखाते थे । उनकी चरण–रज मैंने माथे पर कुछ लगायी थी ।

मेरा साहित्य-सर्जन और आत्मबोध

साहित्य–सर्जना न मेरा यांत्रिक कर्म रहा और न व्यवसाय । संघर्षों से जूझते हुए मेरे अशान्त मन को माता सरस्वती के अर्चन–वन्दन से ही शान्ति मिली है । काव्य की सृष्टि के समय मेरे हृदय ने यदि भावों की भव्य–दिव्य मन्दाकिनी में स्नान किया है, तो 'भाषाशास्त्र' एवं 'समालोचना' से सम्बद्ध लेखों को लिखते समय मेरी बुद्धि वाङ्मय के विस्तृत क्षीरसागर में उपस्थापनाओं की मनोहर मुक्ताएँ पाने के लिए आलोडन–विलोडन करती रही है । लेखन मेरे लिए भाषा–साहित्य–बोध भी रहा है । लिखते–लिखते मैंने बहुत कुछ सीखा है ।

कुछ पाठकों को मेरे साहित्य–प्रदेश में यात्रा करते समय कुछ स्थल ऐसे भी मिलेंगे, जहाँ हृदय बुद्धि का आलिंगन कर रहा होगा और बुद्धि हृदय के गलबाँही डाले हुए परिभ्रमण कर रही होगी ।

जिन विद्वानों से मैं अधिक प्रभावित हूं

मैंने सिनेमा भी देखा है, घर में रेडियो भी सुना है और टैलीविज़न भी देखा है; लेकिन इनमें कभी मेरी आसक्ति नहीं हुई । नारद भक्ति सूत्र में एकादश भक्ति का उल्लेख किया गया है । **भगवदासक्ति** को ही नारद **भगवद्भक्ति** कहते हैं । साहित्यदेवता के प्रति भक्ति ही मेरी आसक्ति बनी रही है । उसी भक्ति का अमृत–पान मैं करता रहा हूँ और अब भी करता हूँ । यही मेरी दिनचर्या है । मेरी साहित्य-

साधना ही मेरी दिनचर्या है।

भावाभिव्यक्ति में हिन्दी गद्य-शैली की दृष्टि से **'चिन्तामणि'** के रचयिता **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** से मैं सबसे अधिक प्रभावित हूँ। हिन्दी भाषा व्याकरण के विवेचन और विश्लेषण के क्षेत्र में मेरी बुद्धि **आचार्य किशोरीदास वाजपेयी** को सर्वाधिक आदर देती रही है। गुरुओं में सर्वश्री पं० **गोकुलचन्द्र जी शर्मा** और **डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल** का सर्वाधिक ऋणी हूँ। काव्यशास्त्र की कुछ गुत्थियाँ अग्रजकल्प डा० नगेन्द्र जी से सुलझाई हैं। शब्दशास्त्र के अध्ययन की आँखें मुझे श्रद्धेय गुरुवर अग्रवाल जी से मिली थीं। सन् १९५० ई० में बाबू गुलाबराय जी ने डा० अग्रवाल जी से मेरा सम्पर्क कराया था। तब **बाबू गुलाबराय जी** आगरा से प्रकाशित **'साहित्य संदेश'** के सम्पादक थे। उस मासिक पत्र में मेरे आलोचनात्मक लेख छपा करते थे। श्रद्धेय डा० अग्रवाल जी के ही निर्देशन में मैंने सन् १९५६ ई० में पी-एच० डी० की थी। डी० लिट्० में भी डा० अग्रवाल जी से ही प्रेरणा प्राप्त हुई थी। मेरे अध्ययन-काल के मुख्य गुरु दो ही रहे हैं --(१) **पं० गोकुलचन्द्र शर्मा** (२) **डा० वासुदेवशरण अग्रवाल**।

साहित्य के अध्ययन के मार्ग में पाठकों के समक्ष **'राष्ट्र'** और **'राज्य'** की अवधारणाएँ भी आज स्पष्ट होनी चाहिए। **'राष्ट्र'** एक भावात्मक अवधारणा है और **'राज्य'** का सम्बन्ध केवल सत्तात्मक वर्तमान से है। राष्ट्रीय अवधारणा भूत, वर्तमान और भविष्य से सम्बद्ध है। राष्ट्रीय भावना को लोकमानस की रक्षा करनी होगी। वैदिक काल में **'लोक'** शब्द **'राष्ट्र'** का पर्याय था।

मैं मानता हूँ कि भारत में हिन्दू अधिसंख्यक हैं; लेकिन आज का **'भारत देश** 'हिन्दू देश' *नहीं है। 'भारतीय राष्ट्रवाद'* और 'हिन्दू राष्ट्रवाद' एक बात नहीं है। आज हिन्दू राष्ट्रवाद का जो नारा उठा है, उसे मैं उचित तो नहीं मानता, लेकिन इतना तो हमें मानना पड़ेगा कि वर्तमान स्वतन्त्र भारत की राजनीति में हिन्दू को न्याय और समान सुविधा-सुख नहीं मिला है। पीड़ित हिन्दू की आवाज़ को साम्प्रदायिकता की आवाज घोषित किया गया। हिन्दू-इतर की आवाजों को साम्प्रदायिक नहीं माना गया।

भारतीय संविधान की ज़बरदस्त कमज़ोरी यह रही कि उसमें वास्तव में यथार्थ का स्पष्ट चित्र नहीं है। वह एक काव्यात्मक दस्तावेज़ है, जिसमें **'होना चाहिए'** लिखा है। स्वतन्त्र भारत का संविधान यदि समदर्शी होता, तो आज भारत में 'हिन्दू-राष्ट्रवाद' का स्वर न उठता।

विद्वानों का सत्संग

कपिलाचार्य के सांख्य दर्शन में ज्ञान-प्राप्ति के साधन-रूप में आठ सिद्धियों का उल्लेख है, जिनमें **शब्दसिद्धि, अध्ययन सिद्धि** और **सुहृत्प्राप्ति सिद्धि** का भी

निदर्शन है ।

शब्दसिद्धि के अन्तर्गत निगम, आगम, शास्त्र और गुरुवचन को महत्त्व दिया गया है ।

अध्ययन सिद्धि में गुरु-मुख से तथा स्वाध्याय से ज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख है ।

सुहृत्प्राप्तिसिद्धि में किसी महात्मा, सन्त या विद्वान् के सत्संग को प्रमुखता दी गयी है ।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की सिद्धियों में एक प्रकार से विद्वानों के सत्संग को ही विशेष महत्त्व दिया गया है । मेरे अन्तस् के साहित्य-सेवी साधक ने विशेष रूप से निम्नांकित विद्वानों का सत्संग किया था—(१) पं० गोकुलचन्द्र शर्मा (२) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल (३) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (४) आचार्य किशोरीदास वाजपेयी (५) डा० नगेन्द्र । इनके सत्संग में मैंने बहुत कुछ पाया है । मैं इन्हें साभार प्रणाम निवेदित करता हूँ, करता रहूँगा ।

जिन विख्यात साहित्यकारों को मेरे शत-शत श्रद्धामय प्रणाम अर्पित हैं

बात सन् १८६० ई० के आस-पास की है । राजा रामपाल सिंह कालाकाँकर से 'हिन्दोस्थान' पत्र निकालते थे । पंडित मालवीय जी उस पत्र के संपादक थे । कभी-कभी राजा साहब भी उस पत्र में अग्रलेख लिखा करते थे । वे बोलकर लिखाते थे और गहमरी जी उसे लिखते थे । उन दिनों **पं० प्रतापनारायण मिश्र** (अवस्था लगभग ३५ वर्ष) राजा साहब को छन्दःशास्त्र पढ़ाया करते थे ।

एक दिन राजा साहब अग्रलेख लिखा रहे थे और गहमरी जी लिख रहे थे । मिश्र जी उस दिन राजा साहब के पास ही बैठे थे । राजा साहब ने एक वाक्य ग़लत बोला था, लेकिन गहमरी जी ने उसे शुद्ध लिख लिया था । राजा साहब ने अन्त में वह अग्रलेख सुना और सुनकर गहमरी जी से वही ग़लत वाक्य लिखने के लिए कहा । मिश्र जी ने कहा, "यह लड़का ठीक है । इसने यह वाक्य सही लिखा है ।"

इसे सुनकर राजा साहब बिगड़ गये और मिश्र जी से कहा, "निकल जाइए यहाँ से" । बस मिश्र जी ने अपना झोला-डंडा उठाया और तुरन्त कालाकाँकर छोड़कर चल दिये । फिर वे जीवन में कालाकाँकर कभी नहीं गये ।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी 'चतुर्वेदी' ही नहीं, 'एक भारतीय आत्मा' भी थे । महात्मा गांधी जी के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के परम वीर सेनानी । सन् १६२२ ई० में राष्ट्र-वीरों की भावना के प्रतीक 'एक फूल' की चाह को कविता के माध्यम से उन्होंने भारतवासियों के समक्ष प्रस्तुत किया था ।

"मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जाएँ वीर अनेक।।"

इस कविता की रचना के बाद ही वे सत्याग्रह आन्दोलन में जेल चले गये थे।

सन् १९४७ ई० में भारत स्वतन्त्र हुआ था। केन्द्र में कांग्रेस ने शासन–सत्ता सँभाली थी। पं० नेहरू देश के प्रधानमंत्री बने थे। उन्होंने मध्यप्रदेश का मुख्यमंत्री–पद सँभालने के लिए **पं० माखनलाल चतुर्वेदी** से कहा था। पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने विनम्रतापूर्वक पंडित जी से कहा था, "पंडित जी! कृपया मुझे राजनीति के दलदल में न फँसाइए। मुझे हिन्दी–सेवा करने दीजिए; मुझे तो हिन्दी–सेवा ही करनी है।" फिर पं० रविशङ्कर शुक्ल मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री बनाये गये थे।

स्वाभिमान की सच्ची परीक्षा निर्धनता के निकष पर ही हो सकती है। यदि स्वाभिमान की रेखा निर्धनता की कसौटी पर भी चमकती रहती है, तो वही सच्चा स्वाभिमान है। **महाप्राण निराला** घोर निर्धनता में भी स्वाभिमान का जीवन बिताते रहे। उन्हें अपनी पुस्तकों पर जो पुरस्कार मिले उन्हें निराला जी ने दीन–दुखियों तथा निर्धनों में बाँट दिया। आगन्तुक अतिथि को उन्होंने श्रद्धा–प्रेम से भोजन कराया और स्वयं भूखे पेट सो गये।

निराला जी का जो अपना था, सदा ही वह अपना रहा। महादेवी जी को बहन बनाया, तो जीवन भर बहन मानते रहे और रक्षाबन्धन के दिन उनके घर जाकर राखी बँधवाते रहे। यह क्रम ४० वर्ष तक चलता रहा। फल बेचनेवाले फेरी–वालों से वे बचे–खुचे सड़े–गले फल इसलिए खरीद लेते थे, ताकि उन्हें पेट पालने के लिए कुछ पैसे मिल जाएँ।

सन् १९९० ई० में उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ ने **पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी** को उनकी साहित्य–सेवाओं के उपलक्ष्य में एक लाख रुपयों के 'भारत–भारती' सम्मान से पुरस्कृत किया था। जब उत्तरप्रदेश की काँग्रेस सरकार ने उर्दू को राज्य की द्वितीय राजभाषा घोषित किया, तो पंडित चतुर्वेदी जी ने विरोध किया और एक लाख रुपयों सहित 'भारत भारती' सम्मान वापस कर दिया। आचार्य शुक्ल और महाप्राण निराला को पं० चतुर्वेदी जी ने आर्थिक सहायता की व्यवस्था की थी।

भारत में हिन्दी के लिए सच्चे मन से कार्य नहीं हो रहा है, केवल दिखावा किया जाता है। डा० रामविलास शर्मा के हिन्दी–सेवी साहित्यकार के दिल में एक भारी दर्द है कि हिन्दी–क्षेत्र में हिन्दी के प्रति तथा हिन्दी लेखकों के प्रति न्याय नहीं हो रहा। सरकारी और गैर सरकारी संस्थाएँ बड़े–बड़े पुरस्कारों की घोषणा करके हिन्दी–जनता की आँखों में धूल झोंक रही हैं। डा० शर्मा चाहते हैं कि बीमार और वृद्ध लेखकों की उचित सहायता स्थायी रूप से की जानी चाहिए। भारत सरकार या उत्तरप्रदेश सरकार यदि डा० रामविलास शर्मा के विचारों को आज से

(जनवरी, १९९३ ई० से) चार वर्ष पहले कार्यान्वित कर देती, तो वृद्ध तथा रोगी कविवर श्यामनारायण पाण्डेय की अकाल मृत्यु न होती। बेचारे रोगग्रस्त पाण्डेय जी धनाभाव के कारण उचित चिकित्सा न करा सके थे। निश्चित ही डा० रामविलास शर्मा का संवेदनशील भावुक हृदय महाप्राण श्री निराला और पं० श्यामनारायण पाण्डेय की चिकित्सा–अभाव–जनित–रुग्णता से पीड़ित रहा होगा। इसीलिए विख्यात हिन्दी साहित्यकार डा० रामविलास शर्मा ने अपने चार साहित्य–सम्मानों की राशियाँ अस्वीकार कर दीं।

(१) भाषा संस्थान, कलकत्ता द्वारा प्रदत्त सम्मान और राशि।

(२) हिन्दी अकादमी, दिल्ली द्वारा प्रदत्त 'शलाका सम्मान' और ५१ हजार रुपयों की राशि।

(३) उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा प्रदत्त 'भारत–भारती' सम्मान और एक लाख रुपयों की राशि।

(४) के० के० बिड़ला फाउंडेशन, दिल्ली द्वारा प्रदत्त 'व्यास–सम्मान' और डेढ़ लाख रुपयों की राशि।

डा० शर्मा ने प्रस्तावित किया कि इन राशियों को हिन्दी–प्रदेश के साक्षरता-अभियान में लगाया जाए।

उपर्युक्त हिन्दी–सेवियों के नाम जब मेरे स्मृति–पटल पर उभरते हैं, तब मेरी छाती फूल जाती है और तुरन्त उनके प्रति श्रद्धापूर्वक मेरा सिर झुक जाता है। सदा ही मेरे शत–शत प्रणाम उनके प्रति अर्पित होते रहेंगे।

मेरे स्वप्न और मेरी नौकरी

मैं जब इण्टर कक्षाओं में पढ़ रहा था, तब मेरी अवस्था लगभग इक्कीस वर्ष की थी। उस समय अर्थात् १९३७ ई० में अलीगढ़ नगर में कोई स्नातक महा–विद्यालय न था। केवल धर्मसमाज इण्टर कालेज ही नगर में सबसे बड़ी शिक्षासंस्था मानी जाती थी, यद्यपि अलीगढ़ में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय था। हिन्दू–मानस उस संस्था को अपनी न मानता था। अलीगढ़ नगर में पढ़ते हुए सन् १९३८ ई० तक मैंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को कभी देखा भी न था। तब तक मैं नहीं जान पाया था कि यूनीवर्सिटी क्या होती है? इण्टर कालेज को ही मैं सर्वोच्च शिक्षा–संस्थान मानता था। इसीलिए मैं किसी इण्टर कालेज में ही लैक्चरार होने के स्वप्न देखा करता था। सन् १९४१ ई० में कुछ दिनों के लिए एक हाईस्कूल में हिन्दी अध्यापक नियुक्त हुआ था, केवल १५ रुपये मासिक वेतन पर। वैसे मैं वेतन–प्राप्ति के रजिस्टर में ४० रुपयों पर हस्ताक्षर किया करता था। उन दिनों संस्कृत और हिन्दी के अध्यापकों को बड़ी हीन दृष्टि से देखा जाता था। राजकीय हाई–स्कूलों में भी एम० ए० (हिन्दी) उत्तीर्ण हिन्दी–अध्यापक को ४० रुपये मासिक वेतन

मिलता था और बी० ए० उत्तीर्ण अंग्रेजी का अध्यापक ७५ रुपये मासिक पाता था। संस्कृत–हिन्दी के अध्यापकों को उन दिनों हाईस्कूलों में एक विशेष काम प्रातःकालीन प्रार्थना कराने का भी दिया जाता था। तब हिन्दी–संस्कृत के ज्ञान की कोई कद्र न थी, कद्र उस अध्यापक की थी, जो अंग्रेजी अच्छी बोल लेता था।

मैंने कुछ दिन हिन्दी–अध्यापकी की और फिर मुझे अस्थायी हिन्दी–अध्यापक की नौकरी से अलग कर दिया गया। मन अध्यापकी करना चाहता था, लेकिन विवश होकर नौकरी करनी पड़ी उत्तर प्रदेश के सहकारी विभाग में।

मैं आशा–आकांक्षा भरे स्वप्न देखता था शिक्षक और साहित्यकार बनने के, नौकरी विवश होकर करनी पड़ी उत्तर प्रदेश के सहकारी–कपड़ा–विभाग में। एक मास बीतने पर 'प्रसाद' जी के चाणक्य के ये शब्द मेरे मानस–पटल पर उभर कर आ गये और मैं दीर्घ श्वास लेते हुए उन्हें पढ़ने लगा—

"मैं ब्राह्मण हूँ, आनन्द–समुद्र में शान्ति–द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र मेरे द्वीप थे, अनन्त आकाश वितान था। शस्य श्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शय्या थी। बौद्धिक विनोद कर्म था और सन्तोष धन था। मैं अपनी उस ब्राह्मण जन्म–भूमि को छोड़कर यहाँ कहाँ आ गया?"

हे मेरे भाग्यविधातृ देव! क्या मुझे कभी वह भूमि मिलेगी, जिसके मैं स्वप्न देखा करता हूँ?

मैं सन् १९४३–४४ ई० में गुरुवर पं० गोकुलचन्द्र शर्मा की कृपा से विद्या–भवन सासनी (अलीगढ़) में प्रधानाध्यापक नियुक्त हुआ था। कुल ५० रुपये मासिक वेतन था। तब हम घर में तीन प्राणी थे–मैं, मेरी पत्नी और पुत्री शारदा। कभी–कभी मेरी पितामही (दादी) भी कुछ महीनों के लिए आ जाती थी। पचास रुपयों में घर–गृहस्थी का काम तो ठीक चल जाता था, लेकिन बचता कुछ न था। फिर भी वह नौकरी अच्छी लगती थी, मुख्य कारण यह था कि विद्यार्थि–जीवन का वह अध्यापकी का स्वप्न थोड़ा–सा पूरा हो रहा था। मैं सासनी के सामाजिक जीवन में भी कुछ भाग लेता था। सासनी के कुछ चमार (अब जाटव) मुसलमान होनेवाले थे, क्योंकि सवर्ण हिन्दू उन्हें अछूत मानते थे। तब सासनी में हिन्दू–जागरण के पक्षधर कुछ व्यक्तियों को लेकर हमने एक सभा की थी और चमारों के यहाँ उनके हाथ का पूड़ी–हलवा भी खाया था और उन्हें कुँए पर चढ़ाकर उनके हाथ का पानी भी पिया था। ऐसा करने पर सासनी के वे चमार मुसलमान नहीं बने थे; लेकिन महतरों के मामले में चमारों ने हमारा साथ नहीं दिया था। तब मैं उन जातियों के अन्तस् के मनोविज्ञान को ठीक–ठीक समझ गया था।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय के कुछ संस्मरण

एन० आर० ई० सी० कालेज खुर्जा में जब अध्यापक नियुक्त हुआ था, उससे

पहले मैं गुरुवर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी के निर्देशन–प्रसाद के फलस्वरूप पी–एच० डी० (हिन्दी) उपाधि प्राप्त कर चुका था। खुर्जा से अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सन् १६५७ ई० के दिसम्बर मास में अध्यापक के रूप में पहुँचा था।

तब अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दीविभागाध्यक्ष एम० ए० (हिन्दी) कक्षा को भाषाविज्ञान पढ़ाते थे। मेरी नियुक्ति हो जाने पर उन्होंने भाषाविज्ञान विषय मुझे पढ़ाने को दे दिया था। पहले ही दिन एम० ए० (हिन्दी भाषाविज्ञान) की कक्षा में जो घटना घटी, उसे यहाँ कृपया मेरे पाठक तनिक ध्यान से पढ़ें।

भाषाविज्ञान में एक पारिभाषिक शब्द है 'ABLAUT' इसे VOWEL-GRADATION या APOPHONY भी कहते हैं। इसका हिन्दी–अनुवाद किसी ने **'अपश्रुति'** और किसी ने **'अवश्रुति'** किया है। विभागाध्यक्ष महोदय 'ABLAUT' की परिभाषा तथा रूप–स्वरूप उस कक्षा को कुछ पढ़ा चुके थे। उसी पाठ को मुझे आगे पढ़ाना था। जब मैंने कक्षा को ABLAUT की परिभाषा तथा अवधारणा को उदाहरण देकर समझाया और उसका हिन्दी–प्रतिशब्द **'अपश्रुति'** बताया, तब कक्षा के छात्र बोले कि हमें तो हैडसाहब ने **'अपिश्रुति'** शब्द बताया है, और आप **'अपश्रुति'** उच्चारण बता रहे हैं। मैंने छात्रों से कहा कि तुम इस समय ABLAUT का हिन्दी–अनुवाद 'अपश्रुति' ही लिख लो। मैं हैडसाहब से विचार–विनिमय करके कल या परसों वास्तविक बात बता दूंगा।

उसी दिन सन्ध्या को मैं अध्यक्ष महोदय के घर पहुँचा और ABLAUT पर बातें होने लगीं। अध्यक्ष महोदय लगभग पाँच मिनट तक अपनी बात कहते रहे और कभी ABLAUT, कभी 'अपिश्रुति' शब्दों का उच्चारण भी करते रहे। कुछ उल्टे–सीधे व्यर्थ के शब्दों में अपना मन्तव्य बताते रहे। उनके वाक्य सुनकर मैंने कहा कि कृपया आप उदाहरण देकर मुझे समझाइए कि 'अपिश्रुति' क्या है। मैंने तो कक्षा में जब 'अपश्रुति' (ABLAUT) को बताया, तब सभी छात्र कहने लगे कि हैडसाहब ने हमें इस शब्द का उच्चारण 'अपिश्रुति' बताया था। मेरे लिए तो 'प्रथम ग्रासे मक्षिका पात' हो गया। मैं तो परेशान हूँ। कृपया मुझे आप अपिश्रुति' की अव–धारणा स्पष्ट करें। अध्यक्ष महोदय बोले, 'ठीक है, एक 'अपिश्रुति' है और एक दूसरी 'अपश्रुति' भी होती है। तुम भी अपनी जगह ठीक हो।" मैंने फिर निवेदन किया कि मैं सोदाहरण 'अपिश्रुति' को समझना चाहता हूँ। मैंने तो अभी तक 'अपिश्रुति' भाषाशास्त्र की किसी पुस्तक में पढ़ी नहीं। वे कुछ देर तक कुछ यों ही बोलते रहे, पर मेरी समझ में कुछ नहीं आया। जिस गुरु का व्याख्यान शिष्यों की शंकाओं का समाधान न कर सके, मैं उसे मात्र मेंढक की टर्र–टर्र मानता हूँ।

अन्त में मैंने अध्यक्ष महोदय से सीधा प्रश्न किया कि आपने 'अपिश्रुति' शब्द किस पुस्तक में पढ़ा है ? तब वे डा० भोलानाथ तिवारी की 'भाषाविज्ञान' पुस्तक निकालकर लाये। उसमें वास्तव में ABLAUT का हिन्दी–रूपान्तर 'अपिश्रुति' ही छपा हुआ था। अब तो मैं और भी अधिक परेशान हुआ। मैंने दूसरे ही दिन डा०

भोलानाथ तिवारी को दिल्ली चिट्ठी लिखी और पूछा कि आपकी पुस्तक में **ABLAUL** का हिन्दी–अनुवाद जो '**अपिश्रुति**' लिखा गया है, वह किस आधार पर है ? '**अपि**' (=भी) तो अव्यय है । अव्यय+संज्ञा के योग वाले '**अपिश्रुति**' शब्द का क्या अर्थ है ? डा० तिवारी का मेरे पास पत्र आया, जिसमें लिखा था कि प्रूफ की भूल से 'अपश्रुति' के स्थान पर 'अपिश्रुति' छप गया है ।" उस पत्र को मैंने अध्यक्ष महोदय को दिखा दिया था और भाषाविज्ञान की कक्षा के छात्रों को भी वह पत्र सुना दिया था ।

मैंने अपने 'अपिश्रुति' शब्द के मंडन और समर्थन में सफाई तो दे दी थी; लेकिन उस दिन से अध्यक्ष महोदय मुझसे भीतरी खुंस–सी मानने लगे थे । मैं भी क्या करता, मैं भी 'प्रथमग्रासे मक्षिकापात' से बेचैन था । भाषाविज्ञान में अपनी डाक्टरी उपाधि की लज्जा की रक्षा का भी प्रश्न था मेरे सामने । डा० अग्रवाल जी जैसे उद्भट विद्वान के निर्देशन में शोध–कार्य करते हुए जिज्ञासा–समाधान की गहरी आदत भी मुझे पड़ गयी थी ।

डाक्टर अग्रवाल जी तो जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान करते समय ऐसे मालूम पड़ते थे, मानो जिज्ञासु देवों की सभा में गुरुदेव वृहस्पति जी प्रवचन कर रहे हों । मेरे नेत्रों में उस अग्रवाल जी का वही ज्ञानगरिमामय रूप समाया रहता था, उन्हीं आँखों ने अध्यक्षमहोदय की वाणी की वह 'टर्र–टर्र' भी देखी थी कि एक 'अपिश्रुति' होती है और दूसरी एक 'अपश्रुति' भी होती है । अर्थात् गोल मेज चौकोर होती है और चौकोर मेज गोल होती है । मैंने विश्वविद्यालय के एक विभागाध्यक्ष के ज्ञान की ऊँचाई के वे भव्य दर्शन अलीगढ़ में पहली बार किये थे ।

मामूली–सी बात थी '**अवश्रुति**' (अपश्रुति) । मूल प्रवृत्ति एक होने पर जब दो शब्दों में व्यंजन तो ज्यों के त्यों रहें और स्वरों में परिवर्तन हो और उस स्वर परिवर्तन से उनमें अर्थ–भेद हो जाए, तो उस परिवर्तन को ध्वनिविज्ञान में '**अपश्रुति**' कहते हैं । जैसे **चल, चाल, मिल, मेल, घेरा, घिरा** आदि । अंग्रेज़ी में **SING, SANG.**

इतनी–सी बात को बताने में अध्यक्षमहोदय स्वयं को भी धोखा दे रहे थे और मुझे भी धोखा देना चाहते थे । मुझे भी अध्यक्ष महोदय ने एक अबोध छात्र समझ लिया था । जिस व्यक्ति को उस गुरु का शिष्यत्व प्राप्त हो चुका था, जो गुरु किसी शब्द में 'अर्थ ब्रह्म' के दर्शन करा देता था, उस व्यक्ति को अध्यक्ष जी टालू मिक्चर पिला रहे थे और बार-बार निम्नांकित शब्दों को दुहराते–तिहराते हुए कहते जाते थे—

"*अब्लाउत' को 'वोविलग्रेडेशन'* समझना चाहिए । जो 'वोविलग्रेडेशन' है, वही तो 'अब्लाउत' है । 'अब्लाउत' को ही 'अपिश्रुति' कहा जाता है । अपिश्रुति को ही भाषाशास्त्रियों ने 'अब्लाउत' कहा है । 'अपिश्रुति' अपने में बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द है । बहुत–से भाषाशास्त्री इसे ही 'वोविलग्रेडेशन' कहते हैं । ध्वनिविज्ञान में इसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । बात साफ़ है कि जो 'अब्लाउत' है, वही 'वोविल–

ग्रेडेशन' है; अर्थात् 'अपिश्रुति'।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, दिसम्बर १६५७ ई० का तीसरा सप्ताह था, अध्यक्ष महोदय ने मुझसे 'ब्रजभाषा की रूपात्मकता' पर सेमिनार में व्याख्यान देने के लिए कहा था। एम० ए० हिन्दी के सब विद्यार्थियों, शोधार्थियों तथा हिन्दी–विभाग के अध्यापकों की उपस्थिति में मेरा व्याख्यान हुआ था। व्याख्यान के अन्त में अध्यक्ष महोदय ने छात्रों से कहा कि मुझे विश्वास है कि तुम लोग अब ब्रजभाषा की 'शब्द–निरुक्ति' को पूरी तरह समझ गये होगे।

अध्यक्ष महोदय की टिप्पणी सुनकर मेरे मन ने अपना माथा ठोका और कहा, "माता शारदे! जिस विश्वविद्यालय के हिन्दी–विभाग का अध्यक्ष '**शब्द**' और '**पद**' में भी अन्तर नहीं जानता, उस विभाग का क्या बनेगा? "ईश्वर रक्षा करे!"

अध्यक्ष महोदय अपने को संस्कृत का शास्त्री भी बताते थे; लेकिन मेरा अनु–मान यह कहता है कि वे संस्कृत के शास्त्री थे नहीं। यदि होंगे भी, तो संस्कृत का व्याकरण पूरी तरह से भूल चुके थे।

यदि वे संस्कृत में शास्त्री होते, तो पाणिनीय अष्टाध्यायी के सूत्र "सुप्तिङन्तं पदम्" को अवश्य जानते और मेरे भाषण को 'शब्दनिरुक्ति' न बताते। संस्कृत की मध्यमा परीक्षा के पाठ्यक्रम में इतना व्याकरण पढ़ा दिया जाता है कि उसका विद्यार्थी '**शब्द**' और '**पद**' का अन्तर समझ लेता है। '**ब्रजभाषा की रूपात्मकता**" में मैंने ब्रजभाषा के पदों का ही विश्लेषण किया था, 'शब्दनिरुक्ति' से मेरे भाषण का कोई सम्बन्ध न था।

"**छोरा** गयौ," "**छोरा** गये", "**छोरन** नैं किताब पढ़ीं" आदि वाक्यों के **छोरा**, **छोरन** पदों में प्रातिपदिक और विभक्ति प्रत्यय की व्याख्या ही मैंने प्रस्तुत की थी। ऋजु–तिर्यक् अवस्थाओं पर प्रकाश डाला था।

उस समय एक शोधछात्र अध्यक्ष महोदय के निर्देशन में ब्रजभाषा और खड़ी–बोली के तुलनात्मक व्याकरण पर पी–एच० डी० का शोध कार्य कर रहा था। उस छात्र को मेरे निर्देशन में रखने के लिए अध्यक्ष जी ने मेरे हवाले कर दिया था।

एक दिन मैंने उस छात्र से ब्रजभाषा–गद्य के एक अनुच्छेद की नकल करायी। उसे देखा, तो उसमें दस अशुद्धियाँ निकलीं। दुबारा करायी, तो आठ अशुद्धियाँ निकलीं। तीसरी बार करायी, तो छह अशुद्धियाँ मिलीं। चौथी बार में सात अशु–द्धियाँ हो गयीं।

यह देखकर मुझे बहुत झुंझल आयी। मन में आया कि धक्का मारकर उसे कक्ष से बाहर निकाल दूँ। जो ब्रजभाषा–गद्य के एक अनुच्छेद की सही नकल तक नहीं कर सकता, वह ब्रजभाषा–व्याकरण का विश्लेषण–विवेचन क्या करेगा? इस विद्यामन्दिर में कैसी ढोल की पोल चल रही है, शोध के नाम पर?

उस शोध–छात्र को धक्का मारकर कक्ष से बाहर निकालने की बात जब मन

में आयी, तब इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंग्रेजी के प्रोफेसर तथा उर्दू के शायर 'फिराक़' गोरखपुरी का गुस्सा भी याद आ गया था।

प्रो० 'फिराक़' का कोई छात्र जब 'फिराक़' का ही कोई शेर उन्हें सुनाता और उस शेर को भीतर से बिना महसूस करते हुए सुनाता, तो 'फ़िराक़' उस छात्र को झिड़कते हुए धक्का मारके घर से बाहर निकाल देते थे।

मैंने उस शोध–छात्र को झिड़का तो न था, हाँ, नाक–भौं सिकोड़कर यह कह दिया कि अब तुम जाओ और अध्यक्ष महोदय के निर्देशन में ही शोध-कार्य करो। तुम्हारे शोध-विषय पर शोध कराने की योग्यता मुझमें नहीं है। दूसरे दिन अध्यक्ष जी से भी मैंने अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी थी। उस समय उन्होंने मुझे ऊपर–नीचे एक क्षण को देखा भी था।

जब मैं अध्यक्ष महोदय के कोप का भाजन बना था

जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने सन् १९५७ ई० के दिसम्बर मास की १७वीं तारीख को अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दी–संस्कृत–विभाग में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था। हिन्दी प्रवक्ता के रूप में कार्य करते हुए मुझे कुल बीस दिन ही बीते होंगे कि एक दिन अध्यक्ष महोदय ने मुझे अपने घर पर बुलाया और वे मेरे अध्ययन तथा लेखन की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। फिर कहा कि एक उच्च स्तरीय ग्रन्थ लिखो, जिससे हिन्दी–साहित्य की सभी विधाओं के मूल और विकास का उत्तम दिग्दर्शन हो। मैंने प्रकाश्य ग्रन्थ की रूप–रेखा बनायी और विषय को १६ अध्यायों में विभक्त किया। विषय–सारणी को लेकर मैं अध्यक्ष महोदय के घर गया और बड़े शान्त–सहज भाव से उनसे पूछा कि आप इन १६ अध्यायों में से कौन-से आठ अध्याय लिखेंगे? इस प्रश्न ने अध्यक्ष जी के नेत्रों की मुद्रा बदल दी।

मेरे प्रश्न के उत्तर में अध्यक्ष महोदय बोले, "आपको तो पहले से बाँट–खूँट की पड़ने लगी। मनोयोगपूर्वक सभी अध्याय लिखते रहिए। आप तो जानते ही हैं कि मुझे विभाग का कितना काम रहता है। पुस्तक पहले लिख लीजिए। प्रारम्भ में अध्याय–बाँट–खूँट के चक्कर में मत पड़िए। पुस्तक पूरी हो जाने के उपरान्त उसके मुद्रण प्रकाशन का कार्य मैं सब करा दूँगा। मेरे नाम के साथ आपका नाम जब पुस्तक में छपेगा, तब साहित्यकारों में आप चमक जाएँगे।"

"चमकूँगा तो क्या? पर मर अवश्य जाऊँगा", मैंने कहा। "अरे! यह आप क्या कह रहे हैं?" अध्यक्ष महोदय ने आश्चर्य प्रकट किया।

मैंने अपने सूत्रात्मक उपर्युक्त कथन का भाष्य करते हुए फिर कहा, "डाक्टर साहब! षोडश अध्यायी वह विशालकाय ग्रन्थ अब प्रकाशित हो जाएगा और लेखक के रूप में अपने नाम को जब मैं उस व्यक्ति के नाम के नीचे देखूँगा, जिसने एक भी शब्द उस ग्रन्थ में नहीं लिखा, तब मुझे तपैदिक हो जाएगी और घुल–घुलकर अन्त में

मैं मर जाऊँगा।" बस वार्तालाप का पटाक्षेप हो गया और ग्रन्थ–योजना समाप्त हुई। मैं सदा के लिए अध्यक्ष महोदय का कोपभाजन बन गया। उनका वह कोप फिर वैर में बदल गया था।

मेरे मन में सारस्वत पाप की कचोट

अलीगढ़ विश्वविद्यालय की नौकरी में मैंने एक सारस्वत पाप भी किया था। उसकी कचोट की टीस कभी–कभी अब भी मुझे बेचैन कर देती है। मैं अपने मन की धरती को कुरेदने लगता हूँ कि आखिर मैं क्यों उस समय डगमगा गया था ?

हमारे विभागाध्यक्ष महोदय अपने नाम से जो पुस्तकें प्रकाशित कराते थे, उन्हें जिस युक्ति से वे दूसरों से लिखवा लेते थे, वह विश्व का आठवाँ चमत्कार था। जो सज्जन मुख्य रूप से उनके नाम पर पुस्तकें लिखते थे, उनसे जिन दिनों उनकी खिँचा–खिँची चल रही थी, उन्हीं दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय में डा० नगेन्द्र ने एक शोध–संगोष्ठी का आयोजन किया था। उसमें भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी–विभागों के आचार्य–अध्यक्षों ने हिन्दी–शोध से सम्बद्ध शोध–पत्र पढ़े थे।

हमारे विभागाध्यक्ष महोदय को विषय दिया गया था—'**हिन्दी अनुसंधान की प्रगति**' (प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध)। अध्यक्ष महोदय की लेखनी तो लेख लिखती न थी, उनका तो आदेश साहित्य की सृष्टि करता था। समस्या यह थी कि वह शोध–लेख तैयार कैसे कराया जाए ? आदेष्टा के आदेश के पालनकर्ता की अध्यक्ष महोदय से अनबन हो गयी थी। विवश होकर महोदय ने एक दिन मुझे बुलाया और पंद्रह दिन के अन्दर निर्दिष्ट शोध–लेख तैयार करने के लिए अपनी अस्वस्थता–मूल असमर्थता प्रकट करते हुए मुझसे कहा। मैं समझ गया था कि वह अस्वस्थता क्या है ? खैर, महोदय ने जिस मार्दव और आत्मीयता–भरे शब्दों में अपनी इच्छा व्यक्त की, उससे मैं प्रभावित हुआ और लेख तैयार कर दिया।

महोदय के उन शब्दों से मैं द्रवित हुआ था या दमित हुआ था—इसका निर्णय मेरी बुद्धि पूर्णतः नहीं कर पायी। सारांश यह है कि निर्दिष्ट शोध–लेख महोदय के हाथों में देते समय मैंने महोदय से कहा कि "आप मेरे इस लेख से संगोष्ठी में काम निकाल लें; लेकिन आप इसे कहीं प्रकाशित न कराएँगे। यह सम्पत्ति मेरी ही रहेगी।" इसे उस समय महोदय जी ने स्वीकार भी किया था।

लगभग एक वर्ष बाद मैंने डा० सावित्री सिन्हा और डा० विजयेन्द्र स्नातक द्वारा संपादित पुस्तक '**अनुसंधान की प्रक्रिया**' जब पढ़ी, तो पहला लेख वही देखा, जो मैंने लिखकर महोदय को दिया था। देखा, तो उसके लेखक महोदय जी ही थे। मैं आश्चर्यमिश्रित चिन्ता–निमग्न हो गया। नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली से उस पुस्तक की एक प्रति मँगायी और उसे अपने बेग में रखकर महोदय जी के आवास पर पहुँचा। कुछ देर इधर–उधर की बातें करने के बाद मैंने दिल्ली की हिन्दी–शोध

संगोष्ठी का प्रसंग प्रारम्भ कर दिया। अभीष्ट लेख को प्रकाशित न करने की बात का स्मरण दिलाया, तो महोदय जी ने कहा कि वह बात तो अपनी जगह है और रहेगी। उत्तर में मैंने कहा कि नहीं; वह वचन-बद्धता तो आपने समाप्त कर दी। महोदय जी फिर भी कहने लगे कि नहीं; हमारी बात अपनी जगह ज्यों की त्यों है। तब मैंने बेग में से पुस्तक निकाल कर वह लेख दिया।

बस, अब तो महोदय जी अचम्भे से भरी आँखें चमकाते हुए बोले, "आपके नाम से तो बीसियों लेख छप गये हैं, एक लेख मेरे नाम से छप गया तो क्या हो गया ? कहाँ की ऐसी आफत आ गयी ? क्या आसमान गिर गया ?

मैं महोदय जी के शब्द सुनकर चुप हो गया और कुछ समय बाद वहाँ से चला आया।

आज (सन् १९९३ ई० में) जब मैं उस पुस्तक को उठाकर पढ़ता हूँ, तब उस लेख को देखकर उसी घटना की याद आ जाती है। मेरा मन मुझसे कहता है, "तुमने लेख लिखकर महोदय जी को दे दिया, तो उन्होंने अपने नाम से छपवा दिया। प्रश्न यह उठता है कि लेख तुमने लिखकर ही क्यों दिया ? क्या तुम्हारी दृष्टि में वह सारस्वत पाप न था ? यदि महोदय जी को सारस्वत कर्म-क्षेत्र में पाप लगता है, तो क्या 'सुमन' उस सारस्वत पाप से अछूता माना जा सकता है ?"

मैं मानता हूँ, निश्चित ही मैं सारस्वत न्यायालय में अपराधी ठहराया जाऊँगा। मेरी आत्मा मुझसे आज कह रही है, "तुमने महोदय जी को लेख लिखा—वह तुम्हारे मन की दुर्बलता अवश्य मानी जाएगी।" मैं मानता हूँ कि मेरी आत्मा सत्य कहती है।

कुछ अद्भुत और नयी बातें जो मुझे अलीगढ़ विश्वविद्यालय में मालूम हुई

हमारे अध्यक्ष महोदय जब 'हिन्दी' पर भाषण देते थे तब 'हिन्दी' का जन्म 'उर्दू' से बताते थे।

'तुलसी-जयन्ती' पर जब उनका भाषण होता था, तब वे 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड के प्रारम्भ के श्लोक—"नाना पुराण······" का अन्तिम चरण सुनाया करते थे, जिसे वे इस तरह कहते थे—

"स्वान्तः सुखाय तुलसी **रघुवीरगाथा**—
भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति।" —(मानस, बाल० ७)

वे जब भी बोलते थे, तब उक्त श्लोक-चरण में '**रघुवीरगाथा**' ही बोलते थे, यद्यपि उन्हें '**रघुनाथगाथा**' पाठ का संकेत भी दो-एक बार कर दिया गया था।

मनोविज्ञान के पंडितों का कहना है कि सत्ताधिकारी सत्ताधिकार का पद पाकर अपने को परम ज्ञानी भी मानने लगता है। सत्ताधिकार का 'पद-मद'

'राज–मद' का पर्याय ही है। वह मद प्रतिभा, मेधा, विवेक आदि को तो नष्ट कर ही देता है, साथ में कानों से बहरा और आँखों से अन्धा भी बना देता है।

एक दिन विभागाध्यक्ष महोदय के निवास पर जाकर मैंने उनसे निवेदन किया कि आप 'हिन्दी' शब्द का अर्थ यदि खड़ीबोली हिन्दी मानते हैं, तब भी उसका जन्म उर्दू से नहीं है, क्योंकि हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' के अपभ्रंश–भाग में जो दूहा उद्धृत है उसमें भूतकालीन क्रिया '**हुआ**' प्रयुक्त है, जो खड़ीबोली की है। **घर, बहिन, कन्त, भला** आदि के मूल शब्द भी हैं। तब तक तो उर्दू का जन्म हुआ भी नहीं था। हेमचन्द्र का उदाहरण है—

"**भल्ला हुआ** जु मारिआ **बहिणि** महारा **कन्तु**।
लज्जेजन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा **घर** एन्तु॥"

—(हेम० शब्दा० ८/४/३५१/१)

मेरी बात सुनकर अध्यक्ष महोदय ने मुझसे कहा, "आप नौकरी करना नहीं जानते। हम अच्छी तरह जानते हैं कि नौकरी किस तरह की जाती है।" अध्यक्ष महोदय के उपर्युक्त वाक्य का वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ मैं उस समय तो पूरा-पूरा न समझा था; लेकिन कुछ वर्षों बाद ठीक–ठीक समझ गया था, जब अध्यक्ष महोदय अलीगढ़ विश्वविद्यालय से केन्द्रीय हिन्दीनिदेशालय, दिल्ली में जाकर निदे–शक–पद पर आसीन हो गये।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में एम०ए० (संस्कृत) की कक्षाएँ

समता का आलम्बन ग्रहण करते ही स्मृति ऊर्जावती हो जाती है, यह सच है; लेकिन यह भी उतना ही सच है कि विषम पदार्थों को मन की आँखें जब देख लेती हैं, तब भी स्मृति कटिबद्ध होकर खड़ी हो जाती है। अन्धकार में दीपक की याद आने का अथवा बीहड़ रेगिस्तान में हरे–भरे आम्र वृक्षों का स्मरण हो आने का कारण विरोधी स्थितियाँ ही मानी जाएँगी। मरुस्थल में आँखें मरुद्यान देखन चाहती हैं।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में शिक्षण–कार्य करते समय मुझे प्राचीन भारत के तीन विश्वविद्यालयों की याद आती रहती थी।

पश्चिमोत्तर भारत में रावलपिंडी जिले में तक्षशिला नाम का विश्वविद्यालय विश्व का विख्यात विश्वविद्यालय था। बिहार का नालन्दा विश्वविद्यालय उससे भी अधिक विशाल और विख्यात था। नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए विद्यार्थी को बारह द्वार–पंड़ितों को परीक्षार्थी के रूप में साक्षात्कार देना पड़ता था। द्वादश द्वार–पंडितों की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् ही विद्यार्थी नालन्दा विश्व-विद्यालय में प्रवेश पा सकता था। उन दोनों विश्वविद्यालयों से भी अधिक महान् और प्राचीन विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र में नैमिषारण्य में था, जिसे

आज नीमसार–मिसरिख कहते हैं। उस नैमिषारण्य में अठासी हज़ार ब्रह्मचारी विद्या पढ़ते थे। श्री सूत जी उस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति थे। सूत जी का वास्तविक नाम उग्रश्रवा था। उग्रश्रवा वैशंपायन के शिष्य थे और वैशंपायन व्यास जी के शिष्य थे। व्यास जी ने वैशंपायन को महाभारत की कथा सुनायी थी। वैशयायन ने वह कथा उग्रश्रवा सूत को और सूत जी ने शौनिक सहित अठासी हज़ार अध्येताओं को सुनायी थी। उन्हीं अठासी हज़ार ऋषियों की वाणी के ज्ञान-शंखों से वृहत्तरभारत की दसों दिशाएँ गूँजी थीं।

प्राचीन भारत के उन तीनों विश्वविद्यालयों में विद्या की महादेवी की दिव्यतम आभा जगमगाती रहती थी। नैमिषारण्य नामक विश्वविद्यालय के अठासी हज़ार विद्यार्थियों की संख्या से अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत में ज्ञान प्राप्ति के लिए कितनी भूख थी। विद्या के लिए हमारा तत्कालीन समाज कितना समर्पित था? विद्यार्थियों की संख्या और उनकी विद्या–प्राप्ति की घनीभूत लालसा का अनुमान मेरी अल्प बुद्धि तब कुछ लगाया करती थी और कल्पना के उस लोक में पहुँचकर एक उल्लास की अनुभूति किया करती थी; लेकिन उस अनुभूति के कुछ क्षणों के उपरान्त जब अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग में विद्यार्थियों की शोचनीय संख्या देखता था, तब मेरा उल्लसित मन तुरन्त सिकुड़कर एक असह्य पीड़ा का अनुभव करने लगता था। संस्कृत विभाग के कुछ वर्ष तो ऐसे ही बीते थे, जब वहाँ एम० ए० कक्षा में पढ़ने वाला विद्यार्थी एक ही होता था और पढ़ानेवाले आचार्य चार होते थे।

नैमिषारण्य में जिस संस्कृत का अध्ययन अठासी हज़ार विद्यार्थी करते थे, उसी संस्कृत का अध्ययन अलीगढ़ विश्वविद्यालय की एम० ए० (संस्कृत) कक्षा में केवल एक विद्यार्थी करता था। कैसी विडम्बना थी—संस्कृत विद्या की? संस्कृत के ह्रास की वह चुभन भी वहाँ मेरे सारस्वत मन को दुःखी करती रही थी। वहाँ संस्कृत–विभाग का द्वार प्यासी आँखों से एम० ए० कक्षा में प्रवेश के लिए किसी विद्यार्थी के आगमन की प्रतीक्षा किया करता था। देवयोग से एक विद्यार्थी आ गया, तो आचार्यों के सूखे प्राण हरे हो गये। रेत की मछलियों को मानों जल मिल गया।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय की कुछ और भी बातें

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में मैं हिन्दी–अध्यापक हो ही गया था। स्वभाव से कटुभाषी तो नहीं, हाँ, स्पष्टवादी अवश्य था। मेरी स्पष्टवादिता वहाँ साहित्य–संगोष्ठियों में भी रहा करती थी। एक बार वहाँ के उर्दू–विभाग में 'फारसी–लिपि' के सम्बन्ध में एक संगोष्ठी हुई थी। उसमें कुछ वक्ताओं ने फारसी–लिपि को उत्तम ठहराया था। मैंने उस सभा में फारसी–लिपि का खंडन तथा देव–नागरी–लिपि का मंडन किया था।

मैंने कहा था कि देवनागरी–लिपि में जैसा लिखा जाएगा, ठीक वैसा ही पढ़ा जाएगा। फ़ारसी–लिपि में ऐसा नहीं है। इसमें यदि **'मेल'** लिखा जाएगा, तो दूसरे पढ़नेवाले उसे **मैल** या **मील** भी पढ़ सकते हैं। इसके उत्तर में एक सज्जन बोले कि वाक्य में प्रसंग से हम पता लगा सकते हैं कि कहाँ 'मेल', कहाँ 'मैल' और कहाँ 'मील' पढ़ना चाहिए। मैंने कहा, "जनाब, अगर लुग़त की तरह सिर्फ एक ही लफ्ज़ लिखा गया, तो क्या होगा ? इसके बाद वे चुप हो गये।

एक बार हिन्दी–विभाग में तुलसी–जयन्ती मनायी गयी थी। एक साथी अध्यापक तुलसी के 'रामचरितमानस' के 'केवट प्रसंग' से सम्बद्ध छन्द की एक पंक्ति बोले—

"बरू तीर **'मारहिं'** लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं।"

—(अयो० १००/–)

मैंने तुरन्त कहा कि क्रिया **'मारहुँ'** है, 'मारहिं' नहीं। संज्ञा कर्तृपद **'लखनु'** है, 'लखन' नहीं। 'मारहुँ' अवधी की भविष्यत्कालसूचक अन्य पुरुष–बहुवचनीय क्रिया है। यहाँ पर आदरसूचक बहुवचन है। इसका एकवचनीय रूप **'मारउ'** है।

अन्त में विभागाध्यक्ष महोदय बोले और 'मानस' के बालकाण्ड के एक श्लोक की पंक्ति को उद्धृत किया—

"स्वान्तः सुखाय तुलसी **रघुवीरगाथा** भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति"

—(मानस, बाल०, श्लोक ७/–)

मैं तुरन्त खड़ा हो गया और कहा—"**'रघुवीरगाथा'** नहीं **'रघुनाथगाथा'** पाठ है।"

मेरे एक साथी अध्यापक कई वर्षों से एम० ए० कक्षाओं को 'कबीर' पढ़ा रहे थे। उनकी कक्षा के एक छात्र ने मुझ से कबीर के निम्न दोहे का अर्थ जानना चाहा—

"बलिहारी गुरु आपने द्यौं हाड़ी कै बार।
जिन मानस तें देवता करत न लागी बार॥"

मैंने उस छात्र से कहा कि तुम पहले बताओ कि तुम्हारे अध्यापक महोदय ने तुम्हें इसका क्या अर्थ बताया है ? उत्तर में उसने जो अर्थ बताया वह ऊटपटाँग था। वह बोला, "हमें तो सर ने ऐसा अर्थ ही बताया है।"

दूसरे दिन मैंने अपने कक्ष में उन अध्यापक महोदय को बुलाकर तथा कमरा बन्द करके उनसे उसी दोहे का अर्थ जानना चाहा, तो वे **'द्यौं हाड़ी कै बार'** का अर्थ उल्टा–सीधा करने लगे।

मैंने उनसे कहा, "मेरे भाई ! आप इतने वर्षों से 'कबीर' पढ़ा रहे हैं। आपकी आत्मा ने कभी नहीं कहा कि हम इसका वास्तविक अर्थ कहीं से पहले मालूम कर लें और तब कक्षा में सारस्वत ईमानदारी के साथ सही अर्थ छात्रों को बताएँ। मित्रवर ! **'द्यौं'** राजस्थानी भाषा का क्रियापद है। इसका खड़ीबोली में अर्थ है 'दूँ'।

"द्यौं हाड़ी कै बार" का अर्थ है, "शरीर को हड्डियाँ करके निछावर कर दूँ।"

ऐसी कुछ बातें मुझसे स्वभाववश वहाँ हो जाती थीं। उनका एक परिणाम यह भी हुआ था कि मेरे विभाग के कुछ लोग मुझसे अन्दरखाने हल्का-सा द्वेष भी मानने लगे थे और परोक्ष में कहा करते थे कि 'सुमन' अपने को विद्वानों का बाप समझता है। वह बहुत घमंडी है। मैं परवाह नहीं करता था। मन में कहता कि चिड़ियों के द्वारा खेत चुगने के डर से क्या किसान खेती करना छोड़ देगा ?

मेरे एक मित्र ने मुझसे आकर कहा कि आपके कुछ साथी व्यंग्य में आपको 'घमंडी' और 'विद्वानों का बाप' कहते हैं। तब मैंने उनसे कहा कि भाई ! मैं केवल अप्रिय वक्ता नहीं, हितकारी-अप्रिय वक्ता हूँ। वाल्मीकि रामायण (अरण्य, सर्ग ३७/२) में महर्षि वाल्मीकि ने स्पष्टतः कह दिया है—"अप्रियस्य च पथ्यस्थ वक्ता श्रोता च दुर्लभः"।

मेरे साथी मुझे यदि 'घमंडी' और 'विद्वानों का बाप' कहते हैं, तो अधिक नहीं कहते। वाल्मीकि रामायण के लक्ष्मण को तो सीता जी के मुख से **'अनार्य', 'नृशंस'** और **'कुलपांसन'** जैसे कटु तथा मर्मान्तिक शब्द सुनने पड़े थे, जब उन्होंने अपने बड़े भाई की आज्ञा का पालन करने के कारण सीता जी को दण्डकारण्य में अकेली छोड़कर मारीच-मारक श्रीराम के पास जाने के लिए मना किया था। लक्ष्मण सत्य पथ पर थे, फिर भी उन्हें **नीच** और **कुलघाती** कहा गया।

—(वाल्मी०, अर० सर्ग ४५/२१),

जब सन् १९५७ ई० में मैं अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुआ था, तब मेरी अवस्था ४१ वर्ष की थी। उस समय तक हम घर में चार प्राणी हो गये थे अर्थात् मैं, मेरी पत्नी, पुत्री शारदा और पुत्री वीणा। मैं एन० आर० ई० सी० डिग्री कालेज खुर्जा से अलीगढ़ पहुँचा था।

मेरी अवस्था का ४१-४२वाँ वर्ष ऐसा आया था कि तब मेरी जन्म-कुंडली में उच्च का गुरु भी था और क्रूर ग्रह केतु भी। दोनों ने अपना-अपना प्रभाव दिखाया। गुरु ने तो एक आवासीय विश्वविद्यालय में नियुक्ति करायी, लेकिन क्रूर ग्रह केतु ने मेरे पीछे एक लम्पूछा लगा दिया। वह लम्पूछा यह था कि तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष मुझसे अपने नाम पर तीन-चार ग्रन्थ लिखवाना चाहते थे। वैसा करने के लिए मैंने उनसे क्षमा माँग ली। फिर तो जो परिणाम हुआ, उसे मैं ही जानता हूँ, पूरा लिख नहीं सकता।

सन् १९५७ ई० से आगे के वर्षों में मेरे ऊपर केतु की कराल दशा का प्रकोप निरन्तर बढ़ता चला गया। एक दिन जब मैंने ग्रन्थ-रचना के लिए विभागाध्यक्ष महोदय को दो टूक जवाब दे दिया, तब उन्होंने मुझसे कहा कि आवासीय विश्व-विद्यालय में तुमसे नौकरी करनी नहीं आती। ऐसे विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्षों के बहुत बड़े अधिकार होते हैं। वे चाहें, तो अध्यापकों की भावी उन्नति के सारे दरवाजे बन्द कर सकते हैं। मैंने उनसे निवेदन किया, "आपका कथन बिल्कुल ठीक

है; लेकिन मेरी विवशता यह है कि मैं अपनी लेखनी से उद्भूत ग्रन्थों पर रचयिता के रूप में जब केवल आपका नाम छपा देखूँगा, तब मुझे जो मानसिक वेदना होगी, उससे मुझे तपेदिक हो जाएगी और फिर मैं घुल-घुलकर जल्दी मर जाऊँगा। यदि आपके नाम पर ग्रन्थ न लिखूँगा, तो जैसे-तैसे अपनी बच्चियाँ पालने के लिए जिन्दा तो रह पाऊँगा।" इसे सुनकर वे चुप हो गये और मैं भी नमस्कार करके उनकी कोठी से अपने घर आ गया।

उस दिन के बाद से वे अध्यक्ष महोदय मुझे परेशान करने और आर्थिक हानि पहुँचाने की योजनाएँ बनाया और बनवाया करते थे।

मैं सरस्वती के मन्दिर में जो दीपक सँजोकर आरती किया करता था, उसकी ध्वनि जिन स्थानों पर पहुँचती थी, उनमें से कभी कुछ स्थानों से मेरे नाम यदि सारस्वत निमंत्रण आते, तो अध्यक्ष महोदय उन्हें मुझ तक नहीं आने देते थे। पर्याप्त चोटें खाने के बाद मैं अपनी डाक अपने घर के पते पर मँगवाने लगा था।

संयोग से एक दिन अध्यक्ष महोदय अपने आवास के कक्ष में अकेले बैठे थे, तभी मैं पहुँच गया। उनसे मिला, अभिवादन किया। शिष्टाचार की सब बातें हुईं, पर दिल न मिलने के कारण मिलने का मज़ा नहीं मिला। शरीर बैठना चाहता था, मन उठकर आना चाहता था। मीठा व्यंग्य करते हुए अध्यक्ष महोदय ने मेरे हाल-चाल पूछे। उत्तर में मैंने कहा, आपकी महान् कृपा है। मैंने अपना कर्म-क्षेत्र अब सपूर्ण भारत बना लिया है।"

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में जब मैं अध्यापन कार्य करता था, तब मेरे कानों में यह बात भी आयी थी कि एक-दो व्यक्ति मेरे क्रिया-कलापों तथा व्यवहार को देखकर मुझे अहंकारी कहते थे। उन दिनों मैंने बड़े शान्त भाव से विवेकपूर्वक **'स्वाभिमान'** और **'अहंकार'** के अर्थ पर विचार किया था। दोनों का मन पर प्रभाव जानने का भी प्रयास किया था। मैं मानता हूँ कि **'स्वाभिमान'** की अनुभूति आत्मबल बढ़ाती है। यह शुक्लपक्षीय अनुभूति है। स्वाभिमानी कष्ट सहता है; लेकिन सत्य एवं न्याय की रक्षा करता है। 'अहंकार' की अनुभूति कृष्णपक्षीय है। अहंकारी विवेकहीन होता है। वह क्रोध के घोड़े पर भी सवारी करता है। मर्यादाओं का उल्लंघन करने पर ही अन्धकार से परिपूर्ण दूषित क्षेत्र आता है। उस क्षेत्र में पहुँचकर अहंकारी अपने को सर्वोपरि मानकर अकरणीय कर्म करना आरम्भ कर देता है। मैंने सदा स्वाभिमान से प्रेम और अहंकार से घृणा की है।

जब मेरी बुद्धि 'स्वाभिमान' और 'अहंकार' के अर्थ की सूक्ष्म भेदक रेखा का पता लगाने का गहन-गम्भीर प्रयास करने लगी, तब मेरी छठी ज्ञानेन्द्री ने मुझे यह कहने के लिए प्रेरित किया कि 'स्वाभिमान' आत्मा का सम्मान है और 'अहंकार' मदान्ध मन का दुरभिमान है। 'स्वाभिमान' निर्मल आत्मा का प्रकाश है और 'अहंकार' दूषित मन का अंधकार है। 'स्वाभिमान' मानव के अन्तस् का भूषण है

और 'अहंकार' अन्तस् का दूषण है। स्वाभिमान की ऊर्जा से मनुष्य के नेत्र स्वर्ग के दर्शन करते हैं, अहंकार की ऊर्जा मनुष्य को क्रूरता के नरक में ले जाती है। 'स्वाभिमान' जीवन का अमृत है; लेकिन 'अहंकार' जीवन की मृत्यु है। 'स्वाभिमान' ऊर्ध्वगामी और 'अहंकार' अधोगामी है। 'स्वाभिमान' उठाता है, और 'अहंकार' गिराता है। **'स्वाभिमान'** आत्माभिमान का सगा भाई है और **'अहंकार'** कृष्णपक्षीय गर्व का बड़ा भाई है।

मेरे एक साथी अध्यापक का संकट

मेरा अनुभव है कि एम० ए० (हिन्दी) कक्षाओं को भाषाविज्ञान पढ़ानेवाले अध्यापक को हिन्दी-व्याकरण के ज्ञान के साथ-साथ संस्कृत, प्राकृत, और फारसी भाषा के व्याकरणों का भी ज्ञान होना चाहिए। हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में संस्कृत और प्राकृत के व्याकरणों को जानना भी परमावश्यक है।

सन् १९६३ ई० के आस-पास अलीगढ़ विश्वविद्यालय की एम० ए० (हिन्दी) कक्षाओं में सत्रीय प्रणाली का पाठ्यक्रम (सिमैस्टरसिस्टिम कोर्स) चलता था। एम० ए० (हिन्दी) के प्रथम तथा द्वितीय खंड में भाषाविज्ञान के प्रश्नपत्र निर्धारित थे। मेरे एक साथी अध्यापक भी एम० ए० को मेरे साथ भाषाविज्ञान पढ़ाते थे। साथी भाषाविज्ञान के योग्य अध्यापक थे; लेकिन संस्कृत-व्याकरण का अच्छा ज्ञान नहीं रखते थे।

संयोग से एम० ए० (हिन्दी) प्रथम खण्ड की कक्षा में एक छात्र ने प्रवेश लिया था, जो संस्कृत-व्याकरण की आचार्य परीक्षा का प्रथम खंड कर चुका था।

मेरे साथी अध्यापक जब हिन्दी की ध्वनियाँ कक्षा में पढ़ाने लगे, तब वह प्रथम खंडी आचार्य-छात्र पाणिनि-व्याकरण के सूत्र बोलकर उन साथी अध्यापक के समक्ष समस्या खड़ी कर देता था। जब उस छात्र ने लगातार तीन-चार दिन तक वैसा ही रवैया अपनाया, तब परेशान होकर उन्होंने अपनी परेशानी मुझसे कही। साथी अध्यापक को उस भँवर में से तभी निकाला जा सकता था, जब कक्षा में उस प्रथमखंडी आचार्य-छात्र के ज्ञान-दंभ के कुंभ को फोड़ा जाता।

मैं भी उस कक्षा को भाषाविज्ञान पढ़ाया करता था। संस्कृत पाठशालाओं की अध्ययन-अध्यापन-पद्धति से मैं पूर्ण रूपेण परिचित था। मैं प्रथमखंडी आचार्य-छात्र की कमज़ोर नस को भी पहचानता था।

एक दिन मैं जब उस कक्षा में पढ़ाने गया तो पढ़ाते-पढ़ाते संस्कृत भाषा की ध्वनियों पर आ गया। मुझे संस्कृत की ध्वनियाँ तो पढ़ानी न थीं। मुझे तो उस प्रथमखंडी आचार्य-छात्र के ज्ञान-दंभ का कुंभ फोड़ना था, ताकि वह अपने गुरु को अपमानित करना छोड़ दे।

मैंने **अ इ उ ण्** से **ह ल्** तक १४ माहेश्वर सूत्र बोलने के बाद उस छात्र को सम्बोधित करके कहा कि अमुक नाम ! तुम तो संस्कृत भाषा की ध्वनियों का बहुत

अच्छा ज्ञान रखते हो; हमें यह बताओ कि ह य व र ट् में ह क्या है ? और ह ल् में ह क्या है ? पाणिनि के माहेश्वर सूत्रों में 'ह' ध्वनि का दो बार उल्लेख क्यों है ? इनमें क्या अन्तर है ?

जब वह प्रथमखंडी आचार्य-छात्र मेरे प्रश्नों का उत्तर न दे सका, तब मैंने उसे कक्षा में इतना डाँटा कि उसका दंभ पूरी तरह से चकनाचूर हो गया। मैंने उससे यह भी कहा कि मैं अब तुमसे संस्कृत भाषा के व्याकरण की शंकाओं का निवारण किया करूँगा। तुम्हारे वे 'सर' तो तुमसे संस्कृत-व्याकरण पढ़ना नहीं चाहते लेकिन मैं चाहता हूँ। तुम्हारी कक्षा में भाषाविज्ञान पढ़ाने से पहले मैं संस्कृत-व्याकरण की गुत्थी सुलझाया करूँगा।

उस दिन के बाद उस प्रथमखंडी आचार्य-छात्र ने कभी मेरे उन साथी अध्यापक के आगे ज्ञान-दंभ की फुंकार नहीं मारी थी। कुछ दिन बाद मैंने अपने उन साथी अध्यापक को ह य व र ट् के ह और हल् के ह का अन्तर बता दिया था कि हल् का ह अल्पप्राण घोष है अर्थात् विसर्ग का सूचक है। ह य व र ट् का ह महाप्राण घोष है अर्थात् ह है।

राहु की महादशा भी मेरे ऊपर सन् १६५४ से सन् १६५६ ई० तक चलती रही थी। पी-एच०डी० का शोध-प्रबन्ध आगरा विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने के बाद मैं भीषण रूप से बीमार हो गया था; लगभग एक वर्ष तक बीमार रहा। मरणासन्न हो गया था। पेट काटकर जो कुछ पैसा जोड़ा था, वह सब इलाज में खर्च हो गया था। मासिक वेतन से ही रोगोपचार तथा घर में भोजनादि का काम जैसे-तैसे चलता था। मेरी पत्नी की मानसिक दशा जैसी बन गयी थी, और जैसी विपत्ति उसने झेली, उसे मैं ही जानता हूँ। प्रभु वैसी विपत्ति किसी पर न डालें। चिड़िया ने एक-एक तिनका इकट्ठा करके जो घोंसला बनाया था, उसे आग ने जला दिया था। तब मेरी पत्नी अलग रोती थी और मेरा मन अलग। दोनों पुत्रियों को गोद में बिठाकर मेरी रोगशय्या के पास मेरी पत्नी अनेक बार रोयी थी। जीवन से निराश मैं भी था; लेकिन शब्दों से उसे धैर्य बँधाता था और कहता था, "धीरज धरो; दुख-सुख तो जीवन में गाड़ी के पहिये की भाँति घूमते हैं। एक दिन तो विपत्ति आकाशचारी सूर्य और चन्द्र पर भी आती है।"

मेरी डी० लिट्० उपाधि पर अलीगढ़ में अभिनन्दन-समारोह

सन् १६६३ ई० में मुझे डी० लिट्० की उपाधि मिली थी। उसके उपलक्ष्य में अलीगढ़ के बुद्धिजीवी नागरिकों ने मेरा अभिनन्दन किया था। उस अभिनन्दन-समारोह में अलीगढ़ नगर की शिक्षा-संस्थाओं के हिन्दी और संस्कृत के अध्यापक और प्रोफेसर भी आमंत्रित किये गये थे। एक कारण यह भी था कि मैं अलीगढ़ जिले का निवासी था और अलीगढ़ जिले का कोई व्यक्ति मुझसे पहले डी० लिट्०

नहीं हुआ था। एक वर्ष पहले मेरा पी–एच० डी० का शोधग्रंथ उत्तरप्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत भी हो चुका था।

उस समारोह में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिन्दी–विभाग के अध्यक्ष महोदय भी विभाग के अध्यापकों के साथ पधारे थे। मैं भी उन दिनों उसी विभाग का एक अध्यापक था। मेरे कृतित्व के सम्बन्ध में कई विद्वानों ने अभिनन्दनात्मक वक्तव्य दिये थे। एक विभागीय अध्यापक का ऐसा भव्य अभिनन्दन–समारोह हो, यह विभागाध्यक्ष महोदय को सहन न हो सका। ईर्ष्याभाव उबलकर वाणी से बाहर निकला और बाहर बहने लगा। समारोह में जब सब वक्ता बोल चुके, तब अन्तिम चरण में उन अध्यक्ष महोदय ने अपने वक्तव्य में कहा—

"डी० लिट्० करना कोई खास बात नहीं है। मेरे निर्देशन में कुछ लोग डी० लिट्० कर रहे हैं। लोगों ने न मालूम डी० लिट० को क्या समझ रखा है? डी० लिट्० उपाधि–प्राप्ति के उपलक्ष्य में ऐसा अभिनन्दन–समारोह करना समय और पैसे को बरबाद करना है। इत्यादि इत्यादि।"

समारोह के अन्त में आभार व्यक्त करने के लिए मैं भी बोला था। मैंने एक विद्वान् के लेख में पढ़ा था कि "ईर्ष्या परिचित तथा निकटतम व्यक्ति के उत्कर्ष को देखकर ही किसी मनुष्य में जगती है। ईर्ष्या का वह जागरण यह भी सूचना देता है कि वह ईर्ष्यालु अपने ईर्ष्या भाव के आलम्बन से मानसिक धरातल पर पराजित हो चुका है।"

अध्यक्ष महोदय के वक्तव्य से उस विद्वान् के उपर्युक्त कथन का प्रत्यक्ष समर्थन भी मिल गया था।

अपने वक्तव्य में मैंने पहले उन विद्वानों को आभारपूर्वक धन्यवाद दिया, जिन्होंने मेरे सारस्वत परिश्रम को सराहा था। फिर अन्त में यह भी कहा कि समारोह में वक्तव्य देनेवाले सज्जनों में एक महानुभाव ऐसे भी हैं, जिनकी दृष्टि में डी० लिट्० व्यर्थ की उपाधि है। ऐसे समारोह करना समय और पैसे को बरबाद करना है। आश्चर्य तो यह है कि डी० लिट्० का शोध–कार्य करा भी रहे हैं। उन विद्वान् महाशय ने बुद्धिजीवियों को समय से चेता दिया है, ताकि भविष्य में कोई ऐसी मूर्खता न करे, जो मैंने की है। अब अधिक क्या निवेदन करूँ, बस उन विद्वान् महाशय के प्रति महात्मा तुलसीदास जी की यह एक अर्धाली ही भेंट करता हूँ जो 'रामचरितमानस' में माता सरस्वती द्वारा कही गयी है --

"ऊँच निवासु नीचि करतूती।
देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥" —(मानस, अयो० १२/६)

समारोह के अन्त में जब जल–पान हो रहा था, तब एक सज्जन ने उन अध्यक्ष महोदय से साफ–साफ यह भी कह दिया, "श्रीमान् अध्यक्ष महोदय! आप डा० सुमन की डी० लिट्० से जले ही नहीं हैं, बल्कि जलकर राख हो गये हैं। पढ़ा-लिखा व्यक्ति ईर्ष्या भी करता है, तो अन्दर ही रखता है। आपने तो बाहर उगल दी

और ऐसी उगली की सभा में बदबू ही बदबू फैला दी ।"

सन् १९५७ से १९६३ ई० तक अलीगढ़ विश्वविद्यालय में मेरी आन्तरिक स्थिति तथा मेरे अध्यापक की मनोदशा जैसी रही, उसे मैं किसी से कहता न था; लेकिन मेरे मन की वह कसक घनीभूत पीड़ा बन चुकी थी। वह दुर्दिन में आँसू बनकर बरसने भी लगी थी। उन आँसुओं को एक दिन डा० नगेन्द्र जी ने देख लिया था और मेरे मानस-पटल पर अंकित मेरी वेदना के आलेख को भी पढ़ लिया था। उन्होंने मेरी आँखों की भाषा की परिभाषा भी पढ़ ली थी। बस समय पाकर डा० नगेन्द्र जी ने मुझे हिन्दी स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग, द० भा० हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास में विभागाध्यक्ष पद का 'ऑफर' दिला दिया। वहाँ जाकर मुझे कुछ खुले में साँस लेने का सुअवसर मिला। अलीगढ़ से मद्रास पहुँचने पर मेरा दम घुटना दूर हो गया।

श्री लालबहादुर जी शास्त्री से सम्पर्क

अपने को आलम्बन बनाकर किसी बात को प्रभावी बनानेवाले महानुभावों में मैं दो के सम्पर्क में आया हूँ—एक (स्व०) पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी और दूसरे (स्व०) श्री लालबहादुर शास्त्री।

बात सन् १९६४ ई० की है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास ने एम० ए० (हिन्दी) और शोध के लिए एक विभाग की स्थापना की थी। उसके कुलपति श्री अयंगार और कुलाधिपति श्री लालबहादुर शास्त्री, तत्कालीन प्रधानमंत्री, भारत सरकार (पदेन) थे। मुझे उसकी विभागाध्यक्षता का दायित्व सौंपा गया था। उसका उद्घाटन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री जी ने ही किया था।

उद्घाटन-दिवस से कुछ ही महीनों पहले हिन्दुस्तान ने पाकिस्तान से युद्ध में विजय प्राप्त की थी। शास्त्री जी ने अपने उद्घाटन भाषण के उत्तरांश में एक ऐसी बात कही थी, जो मुझे अभी तक याद है और याद रहेगी।

शास्त्री जी महात्मा गांधी जी के उन विशिष्ट शिष्यों में थे, जिनकी सादगी, सचाई, सदाचरण और दृढ़ता सदा स्मरणीय एवं अभिनन्दनीय रहेगी। वे हृदय से जितने विशाल थे, शरीर से उतने ही लघु थे। उनकी अंगयष्टि छोटी-सी थी।

शास्त्री जी ने उद्घाटन-भाषण के अन्त में कहा था, "हमने अपने पड़ोसी पाकिस्तान से मैत्रीमय शब्दों में निवेदन किया कि दोस्त! आप भी सुख-शान्ति से रहें और हिन्दुस्तान को भी सुख-शान्ति से रहने दें। पाकिस्तान ने हमारा निवेदन ठुकरा दिया और हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दी। फिर हमारे बहादुर फौजी जवानों ने वह वीरता दिखायी कि पाकिस्तान को मुँहकी खानी पड़ी। आपको मालूम है कि पाकिस्तान क्या ग़लती कर बैठा? वह हिन्दुस्तान की ताक़त को मेरे शरीर से नाप बैठा।"

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद के

लिए मेरा नाम सर्वश्री आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र और डा० विश्वनाथ प्रसाद ने सर्वसम्मति से प्रस्तावित किया था। (स्व०) श्री भक्तदर्शन जी के पत्र के आधार पर मैं तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुरजी शास्त्री से उनके निवास-स्थान पर मिला था। वे तब अपने आवास के एक कक्ष में खादी की बनियान पहने बैठे थे; एकदम सादगी और शान्ति की मूर्ति। आनन पर एक हल्की-सी मौन मुसकान थी। उनके कक्ष में न कोई बनावट थी और न आडम्बरी सजावट। मैं सहज भाव से कक्ष में गया और उनके समक्ष कुर्सी पर बैठ गया। बातें करते हुए मेरी निगाह कुछ क्षण के लिए उनकी बनियान के छेद पर ठहर गयी।

मेरी दृष्टि का आलम्बन-विन्दु श्री शास्त्री जी ने उस समय देख लिया था। उन्होंने कहा कि आप मेरी बनियान का छेद देख रहे हैं। मैंने विनम्रतापूर्वक निषेधात्मक वाक्य में कहा, "नहीं, ऐसा कुछ नहीं है।" उत्तर में शास्त्री जी ने जो वाक्य कहा, उसे भी मैं कभी भूल नहीं सकता। वे बोले, "भाई, गरीब हिन्दुस्तान का प्रधानमंत्री यदि छेदवाली बनियान पहनता है, तो कोई अनुचित नहीं है।" मेरा लज्जित मन तब श्रद्धा से शास्त्री जी को मौन प्रणाम कर रहा था। परम सादगी की दिव्य आभा से मंडित ऐसे महान् व्यक्तित्व के दर्शन मेरी आँखों ने सर्वप्रथम ही किये थे।

द० भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास में-अध्यक्ष-पद पर नियुक्ति के बाद

मद्रास में समय बीतता गया। दम में दम आया, जान में जान आयी। विभागाध्यक्ष के नाते दक्षिण की कई शिक्षासंस्थाओं से व्याख्यानों के लिए निमन्त्रण मिला करते थे। सारा दक्षिण भारत देखने का सुयोग मिला था। संपूर्ण दक्षिण में मैंने हिन्दी का अलख जगाया था। वहाँ भाषण और कविसम्मेलनों का तारतम्य चलता रहता था।

द० भा० हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास में भाषिक उपलब्धि

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास में जाकर मुझे जो भाषिक उपलब्धियाँ हुईं, उन्हें मैं माता बीणापाणि का विशेष वरदान मानता हूँ। यदि वहाँ मैं न जाता, तो दक्षिण भारत की प्रमुख चार भाषाएँ न सीख पाता—(१) **तमिल** (२) **तेलेगु** (३) **कन्नड** (४) **मलयालम**।

विभागाध्यक्ष के नाते मैं जो कार्य करता था, वह तो करता ही था, अपना कर्तव्य समझकर; लेकिन मुझे सर्वाधिक आनन्द कक्षाएँ पढ़ाने में आता था। पी-एच० डी० तथा डी० लिट्० के शोध निर्देशन के साथ-साथ वहाँ एम० ए० (हिन्दी)

की कक्षाएँ भी चलती थीं। उन कक्षाओं को मैं भाषाशास्त्र, **'संदेशरासक'** और **'चिन्तामणि'** पढ़ाया करता था।

पहले दिन एम० ए० (प्रथम वर्ष) की हिन्दी कक्षा में जब मैंने एक छात्र से **'चिन्तामणि'** के एक पाठ का प्रथम अनुच्छेद पढ़वाया, तब उस छात्र ने 'हैं' को 'हैम्' और 'संपत्ति' को **'सम्पत्ति'** पढ़ा। मैं तुरन्त समझ गया कि दक्षिण भारत के छात्र का कोई दोष नहीं है; दोष देवनागरी लिपि के मुद्रण का है।

उत्तर भारत के छात्र के लिए तो हिन्दी एक प्रकार से मातृभाषा है। वह तो समाज से भी उच्चारण सीखता रहता है। दक्षिण भारत के छात्र तो व्याकरण तथा ध्वनिशास्त्र के आधार पर ही हिन्दी सीखते हैं। जब हिन्दी में छपा हुआ संपत्ति शब्द **'सम्पत्ति'** उच्चरित होता है, तब 'हैं' का उच्चारण 'हैम्' क्यों न होगा। श्यामपट पर जब मैंने 'हूँ' लिखा, तब छात्र ने उसे 'हूँ, ही पढ़ा; लेकिन 'हूं' लिखा, तो उसे 'हूम्' पढ़ा। 'हंस' लिखा तो 'हम्स' पढ़ा।

मैं हिन्दी-जगत् के विद्वानों से साग्रह निवेदन करना चाहता हूँ कि यदि वे हिन्दी को संपूर्ण भारत में व्यापक बनाना चाहते हैं, तो हिन्दी की पुस्तकें सही तथा वैज्ञानिक देवनागरी लिपि में पूरी सावधानी के साथ मुद्रित की जानी चाहिए। उनमें **अंगना, अँगना, हंस, हँस,** आदि का अन्तर स्पष्ट होना चाहिए। उत्तर भारत के कुछ हिन्दी-लेखक तथा प्रेस जो 'हूं' और हैं, लिखते है, उन्हें दक्षिण के छात्र 'हूम्' और **हैम्** ही पढ़ेंगे। हाँ, हूँ और हैं को वे वैसा ही पढ़ेंगे, जैसा पढ़ा जाना चाहिए। हिन्दी की देवनागरी लिपि में अनुस्वार और अनुनासिकता को स्पष्टतः अलग-अलग लिखा जाना चाहिए।

मेरी हिन्दी एम० ए० की कक्षाओं में ऐसे विद्यार्थी थे जो **तमिल, तेलेगु कन्नड** और **मलयालम** भाषा बहुत अच्छी जानते थे, क्योंकि वे उनकी मातृभाषाएँ थीं।

मद्रास में मैंने अलग-अलग चार भाषाओं के चार योग्य छात्र चुन लिये थे और सप्ताह में उनके दिन भी निश्चित कर दिये थे। दिन में तो मैं उनका गुरु रहता था, रात को वे मेरे गुरु रहते थे। उनसे मैंने देवनागरी लिपि के माध्यम से चारों भाषाएँ इतनी सीख ली थीं कि मैंने हिन्दी के साथ उनकी रूपसंरचना प्रस्तुत करते हुए एक पुस्तक भी लिख दी। दक्षिण भारत की यह उपलब्धि मेरे लिए चिर-स्मरणीय रहेगी।

सन् १९६४ ई० में वेङ्कटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति में हिन्दी-संगोष्ठी

श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति के हिन्दी-विभाग में आचार्य एवं अध्यक्ष डा० विजयपाल सिंह ने त्रिदिवसीय हिन्दी-संगोष्ठी का आयोजन किया था।

दिल्ली से डा० नगेन्द्र और डा० सावित्री सिन्हा, जयपुर से डा० सत्येन्द्र, वाराणसी से डा० जगन्नाथ शर्मा, आगरा से डा० किरणकुमारी गुप्ता और मद्रास से इन पंक्तियों के लेखक ने उसमें भाग लिया था।

मेरे व्याख्यान का विषय था, **"हिन्दी की सकर्मक क्रियाएँ और काल"**। उस दिन की उस सभा के अध्यक्ष डा० सत्येन्द्र थे, और शेष आचार्य, प्राध्यापक तथा विद्यार्थी श्रोता थे।

दक्षिण भारत के विद्यार्थी हिन्दी भाषा को भाषा के नाते बहुत गहराई से पढ़ते हैं। वे हिन्दी के व्याकरण का अध्ययन बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से करते हैं। उत्तर भारत का विद्यार्थी मातृभाषा होने के कारण हिन्दी भाषा को उतनी गहराई से नहीं पढ़ता।

अपने व्याख्यान में मैंने जब विषय को आरम्भ किया, तब सब एम० ए० (हिन्दी) के विद्यार्थी, शोध-छात्र और हिन्दी के सब प्रवक्ता सावधान हो गये। उनके सावधान होने का एक मनोवैज्ञानिक कारण यह भी था, उन्हें पहले से यह मालूम हो गया था कि दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के हिन्दीस्नातकोत्तर एवं अनुसंधान विभाग में एक ऐसे अध्यक्ष की नियुक्ति हुई है, जो उत्तर भारत से आये हैं और भाषाशास्त्र में डी० लिट्० हैं।

हिन्दी की सकर्मक क्रिया के भूतकालिक रूप-विधान पर बोलते हुए मैंने कहा कि हिन्दी की सकर्मक क्रिया जब सामान्य भूतकाल में प्रयुक्त होती है, तब कर्ता में 'ने' परसर्ग का योग होता है। जैसे—

वर्तमानकाल में—मोहन पुस्तक पढ़ता है।

भूतकाल में— मोहन ने पुस्तक पढ़ी।

मैंने तब यह भी बताया था कि वह सामान्य भूतकालीन सकर्मक क्रिया कर्मवाच्य में होती है अर्थात् वह क्रिया लिंग-वचन में कर्म के अनुसार होती है। भूतकाल की **'पढ़ी'** क्रिया स्त्रीलिंग, एकवचन में इसलिए है कि उसका कर्म **'पुस्तक'** पद स्त्रीलिंग, एकवचन में है।

यदि 'पुस्तक' के स्थान पर कर्म **'ग्रन्थ'** होता, तो क्रियापद **'पढ़ा'** होता।

इतना सुनते ही एक श्रोता शोध-छात्र ने अपना हाथ उठाया, जो उसकी शंका का सूचक था।

मैंने व्याख्यान रोककर उससे कहा कि आप अपनी शंका प्रस्तुत करें। शोध-छात्र ने कहा—

'लाना' सकर्मक क्रिया है। वर्तमान काल में वाक्य है—'मोहन पुस्तक लाता है।' इसका भूतकाल बनता है, 'मोहन पुस्तक **लाया**'। यहाँ भूतकाल में कर्ता में न **'ने'** परसर्ग है और क्रियापद कर्मवाच्य में है। आपने जो नियम बताया है, वह तो यहाँ लागू नहीं होता।

शोध-छात्र की तर्कमयी शंका को सुनकर कुछ क्षण के लिए मेरे पाँवों की

जमीन खिसक गयी। सरस्वती का स्मरण करने लगा। मन ही मन कहने लगा कि 'माता ! मेरी रक्षा करो। आज उत्तर भारत के इस हिन्दीसेवी की लज्जा रखो।' डा० नगेन्द्र जी ने ही मुझे मद्रास में अध्यक्षता का ऑफर दिलाया था। वे भी मेरी ओर चिन्ता भरी आँखों से देख रहे थे। मुझे प्रश्न स्पष्ट था; मुझे उत्तर सोचने के लिए समय मिल जाए, इसलिए मैंने दुबारा उस शोध-छात्र से कहा कि आप अपनी शंका को दुबारा कुछ ऊँचे स्वर में कहो, मैं पूरी तरह से सुन नहीं पाया हूँ। शोध-छात्र ने अपना प्रश्न फिर दुहराया।

बस उतने ही समय में माता वागीश्वरी ने अपना वरद हस्त मेरे सिर पर रख दिया और आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के 'हिन्दी शब्दानुशासन' का क्रिया-प्रकरण मेरे मस्तिष्क में उतर आया और मैं शोध-छात्र के प्रश्न का उत्तर देने लगा।

मैंने कहा कि हिन्दी में 'लाना' एकाकी क्रिया नहीं है। यह तो क्रियाओं से बनी हुई एक संश्लिष्ट क्रिया है—लेना + आना = लाना। '**लाया**' से तात्पर्य है 'लेकर आया'। वास्तव में मूल वाक्य है—

"मोहन पुस्तक लेकर आया"—**आया** समापिका क्रिया है, जो अकर्मक है। अकर्मक क्रिया के भूतकालीन कर्ता में '**ने**' परसर्ग नहीं लगता जैसे—

"मोहन आता है" वर्तमान काल। **"मोहन आया"** भूतकाल।

संश्लिष्ट क्रिया होने के कारण यह भ्रान्ति हो जाती है कि '**लाया**' सकर्मक क्रिया है। वास्तव से '**ले आया**' ही '**लाया**' है।

मेरे द्वारा प्रस्तुत किये गये समाधान को सुनकर डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र डा० सावित्री सिन्हा आदि सभी उत्तरभारत के हिन्दी आचार्यों की आँखों में चमक आ गयी। मैंने भी मन में माता वीणापाणि के चरणों में पुनः पुनः नमन किया।

श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की उस हिन्दी-संगोष्ठी को मैं जीवन भर नहीं भूल सकता।

अलीगढ़ में वापसी

"सबै दिन जात न एक समान"

मुझे मद्रास से अलीगढ़ वापस आना पड़ा। कहते हैं, बारह वर्षों के बाद तो घूरे का भी भाग्य जागता है। अलीगढ़ आने पर कुछ दिनों बाद मुझसे ग्रंथ लिखाने वाले वे महाशय दिल्ली चले गये और मैं निश्चिन्त होकर सरस्वती-पूजा में लग गया।

मैंने मद्रास में तथा दक्षिण भारत में व्याख्यानों द्वारा दो वर्ष हिन्दी की सेवा की थी। सन् १६६६ ई० के अप्रैल मास में मैं द० भा० हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास के हिन्दी स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग के संस्थापक अध्यक्ष पद से त्याग-

पत्र देकर अपनी पुरानी संस्था अलीगढ़ मु० विश्वविद्यालय के हिन्दीविभाग में आ गया था। मद्रास से वापस आने के दो मुख्य कारण थे—एक कारण मेरी टाँगों में गठिया रोग; दूसरा कारण हमारी मद्रास-संस्था के कुलाधिपति श्री लालबहादुर शास्त्री (तत्कालीन प्रधानमंत्री) का निधन। मैंने उन्हें वचन दिया था कि मैं कम से कम दो वर्ष तक मद्रास की संस्था में अवश्य हिन्दी-सेवा का कार्य करूँगा। मेरी वह अवधि पूरी भी हो गयी थी। अतः मैं अलीगढ़ आ गया था।

बात दिनांक ३०-१-१९६८ ई० की है। उस दिन विख्यात साहित्यकार पं० माखनलाल चतुर्वेदी (एक भारतीय आत्मा) का स्वर्गवास हुआ था। अतः अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिन्दीविभाग में स्व० चतुर्वेदी जी को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए मैंने एक शोक-सभा का आयोजन किया था; क्योंकि मैं हिन्दी-साहित्य-परिषद् का प्रभारी अधिकारी था।

मध्याह्नोत्तर एक बजे का समय हो गया था। मेरे साथी अध्यापक बन्धुओं में से डा० गोवर्द्धननाथ शुक्ल (अब दिवंगत), डा० गिरिधारीलाल शास्त्री और डा० विश्वनाथ शुक्ल ने शोक-श्रद्धांजलि का कार्य जल्दी सम्पन्न कराने के लिए मुझसे विशेष आग्रह किया था। इसलिए मैंने सबकी ओर से श्रद्धांजलि अर्पित करने को अकेले विभागाध्यक्ष महोदय से ही निवेदन किया था। श्रद्धांजलि अर्पित करते समय अध्यक्ष जी ने जो भाषण दिया, उसे पाठक कृपया मनोयोगपूर्वक पढ़ें और देखें कि वह कितना गम्भीर एवं सारगर्भित भाषण था—

"पं० माखनलाल चतुर्वेदी के निधन से हिन्दी साहित्य की अपूरणीय क्षति हुई है। एक ही वेद का ज्ञाता ज्ञान का भण्डार माना जाता है; जो चारों वेदों का ज्ञाता हो, उसके ज्ञान को कोई क्या नाप सकता है? कोमलता में नवनीत अर्थात् मक्खन से बढ़कर कोई पदार्थ नहीं होता। अनुराग का रँग साहित्य में लाल माना गया है। उनकी कोमलता अनुराग से मिश्रित थी—ऐसे थे पं० माखनलाल चतुर्वेदी। उन्होंने साहित्य में ऐसी रेखाएँ खींची हैं कि कभी मिट नहीं सकतीं। उनके ज्ञान से साहित्य में भेद में अभेद, अभेद में भेद, खंड में अखंड, अखंड में खंड की स्थापना हुई है। उन्होंने अपने साहित्य के द्वारा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के मूल तत्त्व की व्याख्या करते हुए गंगा, यमुना और सरस्वती की धाराएँ बहायी हैं। उनके संगम से प्रयाग-राज का निर्माण किया गया है। ऐसे मूर्धन्य साहित्कार माखनलाल चतुर्वेदी अमर रहेंगे। उनका यशः शरीर अमर रहेगा। ऐसे महान् साहित्यकार की आत्मा की शान्ति के लिए हमें खड़े होकर मौन रखना चाहिए। परमात्मा उनके संतप्त परिवार को धैर्य प्रदान करे।"

शोक-सभा में समुपस्थित सभी अध्यापकों और विद्यार्थियों ने दो मिनट खड़े होकर मौन रूप में दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए परमेश से प्रार्थना की और सभा विसर्जित हुई। हिन्दी विभाग के लगभग सभी अध्यापक अध्यक्ष महोदय का भाषण सुनकर कृतार्थ हुए और फिर अपने-अपने घर चले गये। उस दिन के भाषण

में प्रतिपादित पं० माखनलाल चतुर्वेदी के साहित्य के उस गूढ़ दर्शन को मैं पूरी तरह न समझ सका था।

अध्यक्ष महोदय ने अपने भाषण में पं० माखनलाल चतुर्वेदी के साहित्य का जो परमोच्च दिव्यदर्शन भव्य भाषा में व्यक्त किया था, उस दर्शन का लेशमात्र भाव ही मैं समझ सका था, पूर्ण अर्थ नहीं।

अपनी बुद्धि की असामर्थ्य पर विचार करते-करते मुझे अपनी असामर्थ्य के कारण का पता भी लग गया था।

'योगवासिष्ठ' अध्यात्म एवं भारतीय दर्शन का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। उसमें महर्षि वशिष्ठ ने दशरथात्मज श्रीराम को ज्ञान की सप्त भूमिकाएँ बतायी हैं। वसिष्ठ जी ने श्रीराम को बताया कि "ज्ञान की सप्तम भूमिका में पहुँच कर पुरुष अपने को आत्मा ही जानता है, उसे पंचभूतवाले शरीर का ज्ञान नहीं रहता। तब वह 'तुरीयातीत अवस्था' को प्राप्त हो जाता है। उस अवस्था को 'अच्युतपद' कहते हैं। 'तुरीयातीत पद' या 'अच्युतपद' या 'निर्वाणपद' एक ही बात है।"

अध्यक्ष महोदय ज्ञान की सप्तम भूमिका प्राप्त कर चुके थे, मैं प्रथम भूमिका में भी न पहुँच पाया था। इसीलिए मैं महाज्ञानी अध्यक्ष जी के उस भाषण के दिव्य दर्शन का अर्थ न समझ सका था।

चौधरी चरणसिंह जी से संपर्क और पत्र-व्यवहार

सन् १९६६ ई० में मैं मद्रास से अलीगढ़ विश्वविद्यालय में वापस आ गया था। उस समय चौधरी चरणसिंह जी उत्तरप्रदेश शासन में कृषिमंत्री थे। भारत-सरकार के शिक्षामंत्रालय के अन्तर्गत वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली द्वारा अंग्रेज़ी से हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली के कोश बनाये जा रहे थे। उसकी कृषिशब्दावली-समिति में भाषा विशेषज्ञ के रूप में मैं भी एक सदस्य था। हमारी द्विमासीय कार्यशाला मसूरी में लगी थी। तब मैं दो महीने ग्रीष्मकाल में मसूरी रहा था। उस समय चौधरी साहब भी कुछ दिनों मसूरी रहे थे। डा० नित्यानन्द शर्मा ने परोक्ष में मेरा परिचय देकर मेरी भेंट चौधरी साहब से एक होटल में करायी थी। हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से मेरा ग्रन्थ 'कृषकजीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली', भाग १ व २ सन् १९६० ई० में प्रकाशित हो चुका था। उस ग्रंथ का परिचय डा० नित्यानन्द शर्मा चौधरी साहब को दे चुके थे। वह ग्रंथ ही चौधरी साहब और मेरे बीच एक सेतु बना था। लगभग दो मास के उपरान्त मैंने चौधरी साहब की इच्छा पर उस ग्रन्थ की प्रति डाक से लखनऊ उनके पास भेजी थी। उससे प्रभावित होकर चौधरी साहब ने मुझे कृषिमंत्रालय, उत्तरप्रदेश शासन के तत्वावधान में कार्य करनेवाली 'कृषि-ग्रंथ-समिति' का सदस्य मनोनीत कर लिया था। वह समिति एक ग्रंथ बना रही थी, जिसका नाम था-'भारत में कृषि-

व्यवस्था का मूल तथा विकास'।

दिन, सप्ताह, पक्ष और मास बीतते गये। समय–समय पर 'ग्रन्थ–समिति में मैं लखनऊ जाता रहा और चौधरी साहब से मेरा पत्र–व्यवहार भी चलता रहा। चौधरी साहब मुझे स्वयं अपनी लेखनी से हिन्दी में पत्र लिखा करते थे। उन्होंने मेरे ग्रन्थ–'कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली'—को उत्तर प्रदेश के ग्रामीण पुस्तकालयों की पुस्तक–खरीद के लिए स्वीकृत भी करा दिया था। उस ग्रंथ से चौधरी साहब को यह मालूम हो गया था कि **हल, फाला, बरत, दराँत, जुताई, खेती** आदि से सम्बद्ध शब्दावली ऋग्वेद और अथर्ववेद में मिलती है।

चौधरी साहब ने मुझे अपनी पुस्तक 'जीवन और स्वास्थ्य' की पाण्डुलिपि भी संशोधन के लिए दी थी, जो संशोधित करके लखनऊ डाक से भेज दी गयी थी।

चौधरी साहब उत्तरप्रदेश में मुख्यमंत्री बन गये, तब एक बार मैं लखनऊ अपने धर्मबन्धु चन्द्रपाल शर्मा से मिलने गया था। इच्छा हुई कि लखनऊ में चौधरी साहब से भी मिल लूँ, यद्यपि कोई काम न था। मेरी वह मुलाक़ात केवल मुलाक़ात के लिए ही थी। मुझे प्रसन्नता हुई थी कि सैकड़ों मुलाकातियों के प्रतीक्षा–मंडल में चौधरी साहब ने मुझे तुरन्त बुलवा लिया था और वे तब भी मुझसे सहज रूप में आत्मीयता से मिले थे। जलपान भी कराया था।

अब आत्मीय परिचय की यात्रा में एक मोड़ आता है। सन् १९७७ ई० में भारत में जनता सरकार ने सत्ता सँभाल ली थी। चौधरी चरणसिंह भारत सरकार में गृहमंत्री बन गये थे। उन्हें बधाई का एक पत्र मैंने हाथ से लिखकर भेजा था। चौधरी साहब के पत्र भी उनके हस्तलेख में ही मुझे पहले मिला करते थे।

अब की बार विचित्रता यह हुई कि मेरे बधाई–पत्र के उत्तर में गृहमंत्री के पी० ए० का पत्र आया, जिसकी एक निश्चित भाषा थी और वह मुद्रित पत्र था। उस पर पी० ए० के ही हस्ताक्षर थे। पत्र देखते ही मैं महान् आश्चर्य के सागर में डूब गया। पत्र पढ़ा और नीचे लिखा—"धन्यवाद ! पत्र स्वीकार नहीं है"। हस्ताक्षर करके गृहमंत्री चौ० चरणसिंह को डाक से वापस कर दिया। चौधरी साहब के लिए वह मेरा अन्तिम पत्र था।

मेरा लेखन-कार्य

पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित मेरे लगभग ४०० लेखों में **प्रबन्ध** ही अधिक हैं, **'निबन्ध'** बहुत कम। 'प्रबन्ध' वास्तव में विषय–प्रधान गद्य–रचना है और **'निबन्ध'** व्यक्ति–प्रधान रचना है। यदि तीन लेखक **'ताजमहल'** शीर्षक पर 'प्रबन्ध' लिखते हैं, तो उनके विषय–प्रतिपादन में बनावट समान होगी, बुनावट में अन्तर हो सकता है। **'प्रबन्ध'** एक योजनाधृत गद्य विधा है। यदि 'ताजमहल' शीर्षक से तीन लेखक **'निबन्ध'** लिखेंगे, तो उन तीनों की गद्यात्मक अभिव्यक्तियों की बनावट और

बुनावट में अन्तर होगा। किसी की अभिव्यक्ति भावात्मक हो सकती है और किसी की विचारात्मक। बेकन ने इसीलिए **'निबन्ध'** की परिभाषा लिखते हुए कहा था, 'निबन्ध' मस्तिष्क का बिखरा हुआ विचार है।' वह विचार तर्कप्रधान भी हो सकता है और भावप्रधान भी। दोनों का मिश्रण भी हो सकता है।

मेरे संस्कार और मेरे अन्तस् का साहित्यकार

मेरे घर में ब्रजभाषा बोली जाती थी। परिवार के सभी सदस्य ठेठ ब्रजभाषा ही बोला करते थे; उन सबकी ब्रजभाषा में मेरी दादी की ब्रजभाषा सबसे अधिक ठेठ, सहज और सरस थी। हम सब लोग तो एकवचनीय उत्तम पुरुषवाचक सर्व–नाम में बोलते थे, लेकिन मेरी दादी **मैं** के स्थान पर 'हूँ' बोलती थी।

मेरे दो छोटे भाई ओंकार और महावीर मुझसे क्रमश: छह वर्ष और नौ वर्ष छोटे थे। जब वे बहुत छोटे थे और अपनी किताब में कुछ पढ़ न पाते थे, तब मेरी दादी कहती थी,

"कछू तौ उखारि ढीम ! कोरौ माटी कौ धौंधा ई रह्यौ"।

मेरे शिशु के मानस–पटल पर मेरी दादी की ब्रजभाषा के ऐसे गहरे संस्कार पड़ गये थे कि उनके प्रभाव के फलस्वरूप ब्रजभाषा में पी–एच० डी० करने में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई थी। ब्रजभाषा के सगुण भक्त कवियों तथा रीतिकालीन कवियों की कविताओं में मुझे अपूर्व आनन्द आता था।

डा० सूर्यप्रसाद दीक्षित (लखनऊ) ने एक पुस्तक लिखी है—'निराला की आत्मकथा' (१९९० ई०)। उसके 'अथ कथामुखम' में निराला की वाणी में लिखा है—"मैं जो कुछ लिखता हूँ साहित्य समझकर, नहीं बन पड़ता। मेरी कमज़ोरी।"

अनुभूति और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में निराला जी ने जो कहा, वह प्रत्येक साहित्यकार पर लागू हो सकता है।

मेरे साथ मेरी कविताओं में भी ऐसा ही हुआ है। मेरी भावुकता को मेरी अभिव्यक्ति अपने में पूरी तरह से उतार नहीं पायी। मैं अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करता रहा हूँ।

अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार लेखक सामान्यत: तीन प्रकार के होते हैं—(१) **अंतर्मुखी**, जो आपबीती लिखते हैं। (२) **बहिर्मुखी**, जो जगबीती लिखते हैं। (३) **अन्तर्बहिर्मुखी**, जो आपबीती–जगबीती लिखते हैं।

मैं स्वभाव से बहिर्मुखी लेखक हूँ; लेकिन मैंने आज तक (सन् १९९३ ई० तक) जो कुछ लिखा है, वह **'क्लास'** (वर्ग) के लिए ही है, **'मास'** (जनसमूह) के लिए नहीं। 'क्लास' के लिए लिखने बैठा, तो विषय चुन लिया 'शब्दशास्त्र'। एक तो करेला कड़वा, वह भी नीमचढ़ा। ऐसी स्थिति में मेरी पुस्तकों के पाठक ही कितने होते ? महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों में भी 'भाषाशास्त्र' में

रुचि रखनेवाले विद्यार्थी उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। कहानी–उपन्यास लिखता, तो कुछ बात भी बनती, वैसा मुझसे न बन पड़ा। फिर बात बनती, तो कैसे बनती ? दो कहानियाँ बनायीं भी, पर ठीक बनी नहीं—यों गोंठ–गाँठ करने से बात थोड़ा बनती है। जब लोगों की बनते–बनते नहीं बनती, तब मेरी तो बनने से पहले ही बिगड़ गयी थी।

मैं लोकदर्शन का प्रेमी तो था, लेकिन लिखता 'शास्त्र' था। **'औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी'** पुस्तक के माध्यम से आशा लगाये बैठा था कि 'मास' (जनसमूह) में मेरा प्रवेश कुछ हो जाएगा, पर असफल रहा। राम–भक्ति के कुछ स्त्री–पुरुष भक्तों ने मेरी उस पुस्तक को खरीदा और पढ़ा। पढ़ा, पर पूरा न पढ़ा। कुछ ने आकर मुझसे कहा, "पुस्तक तो अच्छी है, पर सिर के ऊपर से निकल जाती है, सिर में घुसती नहीं। वह हम जैसों के मतलब की नहीं।" मैं उनकी सुनता था और समझता भी था, पर मजबूर था; जैसी भाषा–शैली बन गयी थी, उससे नीचे न उतर पाता था। अल्पपठित सामान्य भक्त लोगों ने तो उस पुस्तक को बहुत पसन्द न किया था; लेकिन बिहार राज्य के राजभाषा विभाग, पटना ने उसे पुरस्कृत तथा सम्मानित किया था।

मैंने कुछ हिन्दी लेखकों की पुस्तकों की समीक्षाएँ भी लिखी हैं। लेखकों के घावों पर मैंने मरहम तो लगाया है; लेकिन उन घावों का पीब (मवाद) निकालकर तथा दूषित माँस छीलकर। मेरी इस प्रक्रिया–पद्धति से कुछ लेखक मुझसे नाराज भी रहे हैं; लेकिन मैंने इसकी परवाह नहीं की। 'समीक्षा के क्षणों में मेरी आँखों के आगे ग्रंथ ही रहा है, ग्रन्थकार नहीं।

एक दिन मुझे मेरे एक मित्र मुझे उस व्यक्ति की नाराज़ी सुना रहे थे, जिनकी एक पुस्तक की समीक्षा मैंने एक मासिक पत्रिका में प्रकाशित करायी थी।

मेरे मित्र ने मुझे बताया कि अमुक सज्जन आपसे बहुत नाराज़ हैं। आपने उनकी पुस्तक की समीक्षा में क्या–क्या लिख मारा था ? मैंने कहा, "यह बात तो मैं आपको फिर कभी बताऊँगा, पहले आप उनकी नाराज़ी की पूरी बात मुझे बताइए।"

मेरे मित्र कहने लगे कि पहले तो उन्होंने अपनी पुस्तक की प्रशंसा की फिर बोले कि आप सुमन जी को तो जानते ही होंगे। उन्होंने मेरी पुस्तक की समीक्षा पिछले ही महीने में एक मासिक पत्रिका में प्रकाशित करायी है। बस, कुछ पूछिए मत। डा॰ सुमन के विषय में आपसे क्या कहूँ, मुझे तो लगता है वह अपने को पाणिनि का बाप ही समझते हैं।"

पर, चार–पाँच लेखक और कवि ऐसे भी मेरे सम्पर्क में आये, जिन्हें मेरे सुझाव और संशोधन बहुत अच्छे लगे। उन विद्वल्लक्षणवाले महानुभावों ने मुझे धन्यवाद देते हुए अपना आभार भी व्यक्त किया था। मेरा समीक्षक उन्हें सच्चे

विद्वान् मानता है।

भाषा का गहन अध्ययन

भाषा के गहन-गंभीर अध्ययन का प्रारम्भ मैंने सन् १९५२ ई० से काशी में गुरुवर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी के सान्निध्य में किया था। तभी मैं यह समझा था कि प्रत्येक शब्द अर्थ की दृष्टि से एक स्वतन्त्र ध्वनि समष्टि है। प्रत्येक शब्द में एक नयी दीप्ति रहती है। कुछ शब्दों के अर्थ परम सूक्ष्म तथा अशरीरी होते हैं। साहित्यकार उनके अर्थों को बोधगम्य बनाने के लिए साकारता प्रदान कर देते हैं। **बिन्दु, रेखा, आकाश, सुन्दर** आदि शब्दों की परिभाषा नहीं दी जा सकती। गणितशास्त्र में **'बिन्दु'** और **रेखा** की सत्ता काल्पनिक है। बोधगम्य बनाने के लिए उन्हें आँखों का विषय बना लिया जाता है।

शब्द के अर्थ में ही भाव का समावेश होता है। वाक्यपदीयकार ने शब्द के अर्थ की परिभाषा देते हुए कहा कि --शब्द के उच्चारण से जिसकी प्रतीति होती है, वह प्रतीति ही उस शब्द का अर्थ है।

"उच्चरिते शब्दे योऽर्थः प्रतीयते, तमाहुरर्थः" —(वाक्यपदीय)

हिन्दी-भाषा चिन्तन के साथ-साथ मैं विशेष रूप से प्रचेता-पुत्र वाल्मीकि, पराशर-पुत्र बादरायण कृष्णद्वैपायन व्यास, कालिदास, तुलसी और सूरदास के साहित्य की परिक्रमा करता रहा हूँ। मैंने अब तक के जीवनकाल-खंड के पंद्रह वर्ष तुलसी-साहित्य के अनुशीलन में लगाये हैं। तुलसी के सात्विक शृंगार तथा औदात्य पर मैं निछावर हूं। यदि कामना की आँखों के आगे जगत् रहता है, तो भक्ति-भावना की आँखों के आगे जगत्-पति रहते हैं। उपर्युक्त मेरे **प्र**गम्य साहित्यकारों में केवल कालिदास को ही 'कामना' की भूमि पर विचरण करनेवाला कहा जा सकता है, शेष सभी-'साहित्यकार भक्ति-भावना' की भूमि में ही विचरण करते थे। तुलसी मेरे अध्ययन-केन्द्र में विराजमान श्रद्धेय कवि रहे हैं और अब भी हैं। उनमें कवित्व और कला का विचित्र सामंजस्य है। वे भाषा के बहुत सावधान कवि हैं। उन्हें मैंने जितना-जितना पढ़ा, उतना-उतना ही उनमें नया पाया।

आज की दुनिया में भौतिक दृष्टि से बहुत ऊँचा उठने के लिए मुख्य साधन तीन हैं—(१) **सत्ता का अति उच्च पद** (२) **चाटुकारी** (३) **व्यक्तिगत साधना।**

मुझे सत्ता का अति उच्च पद कभी मिला नहीं; चाटुकारिता मेरे स्वभाव में न थी; बल्कि अप्रिय सत्य बोलने की आदत पड़ गयी थी। काने को काना और अन्धे को अन्धा कहने में मुझे हिचक न थी। मेरे शुभ चिन्तक मित्र मुझसे कहा करते थे कि तुम काने को 'शुक्राचार्य' और अन्धे को 'सूरदास' कह दिया करो, तो कुछ हर्ज है ? पर उनकी बात एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देता था। अकेली

साधना मुझे कितना उठा सकती थी। परिणाम यह हुआ कि सम्मान तो मिला, लेकिन पैसा नहीं। सरस्वती का वरद हस्त रहा, पर लक्ष्मी रूठी रही। मैं राजनीति के किसी खेमे से सम्बद्ध नहीं रहा हूँ। सच्चा साहित्य जिस सहज एवं समभाव की ओर इंगन करता है, मैं उस ओर देखता रहा हूँ।

जब श्री वाजपेयी और श्री नागार्जुन याद आये

जीवन में धनाढ्य तो नहीं बना, लेकिन परम प्रभु की इतनी कृपा रही कि मैं अपना और अपने परिवार का पेट पालता रहा और तन ढकता रहा। कुछ क्षण के लिए ऊपर को देखा और फिर नीचे की ओर देखने लगा।

निर्धनता ने लात तो मारी थी, लेकिन इतने जोर से नहीं कि धरती पर गिरकर धूल चाटने लगूँ। उन क्षणों में निराला, गोविन्दप्रसाद (पं० किशोरीदास वाजपेयी) और वैद्यनाथ मिश्र (श्री नागार्जुन) भी याद आये। भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ प्राचीन ऋषि–मुनि भी मेरे स्मृति–पटल पर आ गये। सोचने लगा कि २०००० मंत्रों की वैदिक संहिताओं को कंठस्थ करनेवाले वैदिक ऋषि, २४००० श्लोकों की वाल्मीकि रामायण को याद रखनेवाले ऋषि और एक लाख श्लोकों वाले महाभारत को जिह्वाग्र पर धारण करनेवाले व्यासनामधारी हमारे धर्मशास्त्राचार्य भी तो आरण्यक जीवन बिताते थे और केवल कंद, मूल, फल खाकर जीते थे। धरती ही उनकी शय्या थी और आकाश ही उनका वितान। फिर भी शान्ति एवं आनन्द का जीवन जीते थे। न कुंठा, न दर्द, न दुःख।

पं० किशोरीदास वाजपेयी (जन्म नाम गोविन्दप्रसाद) मुझसे अवस्था में २१ वर्ष बड़े थे और श्री नागार्जुन से मैं ५ वर्ष छोटा हूँ। दोनों ब्रह्मर्षियों के जीवन की व्यथा–कथा के चित्र भी मेरी आँखों में घूम गये। किशोर गोविन्दप्रसाद ने तो अपने गाँव में गाय, भैंसें ग्वाले के रूप में चराई थीं और युवक वैद्यनाथ रेलगाड़ियों में अपनी रचित मैथिली कविताओं को गा–गाकर अपनी कविता–पुस्तकें बेचता था।

मेरे मन ने मुझसे कहा, "नौरंगीलाल ! तू तो फिर भी अच्छा है। तुझ पर प्रभु की बड़ी कृपा है।" ऐसे संस्मरण मुझे बल देते रहे हैं।

पं माखनलाल चतुर्वेदी और मुक्तिबोध का संस्मरण

मेरी परेशानियों तथा उत्पीड़न के दिनों में मुझे कुछ अन्य साहित्यिक संस्मरण भी धैर्य बँधाते रहे हैं और मानसिक बल प्रदान करते रहे हैं।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी और गजाननमाधव मुक्तिबोध के निम्नांकित संस्मरण ने भी मेरे अन्तस् के साहित्यसेवी को मनोबल प्रदान किया था—

"एक बार जब मुक्तिबोध उज्जैन के एक स्कूल में अध्यापक थे, तब वहाँ के

हैडमास्टर ने उन्हें बहुत परेशान किया था । हैडमास्टर मुक्तिबोध के साथ घोर अन्याय करता था । मुक्तिबोध के सविनय निवेदन पर पं० माखनलाल चतुर्वेदी इन्दौर से बस द्वारा अकेले ही उज्जैन पहुँचे । उज्जैन के बस अड्डे पर मुक्तिबोध भी चतुर्वेदी जी को लेने पहुँच गये थे । जैसे ही चतुर्वेदी जी उज्जैन के बस अड्डे पर बस से उतरे, तुरन्त मुक्तिबोध भी उस बस के पास पहुँच गये और बातें होने लगीं । कुछ ही क्षणों बाद दूसरी बस से उसी अड्डे पर मुक्तिबोध के स्कूल के वे हैडमास्टर जी भी उतरे । उन्हें देखकर मुक्तिबोध हैडमास्टर का सूटकेट उठाकर उन्हें घर पहुँचाने चले गये और पं० माखनलाल चतुर्वेदी उज्जैन के बस अड्डे पर मुक्तिबोध के आने की प्रतीक्षा करते रहे । आधा घण्टा बीतने पर मुक्तिबोध वहाँ वापस आये और चतुर्वेदी को अपनी व्यथा–कथा सुनाने लगे ।

व्यथा–कथा सुनने के बाद चतुर्वेदी जी ने कहा, ''मुक्तिबोध ! तुम प्रतिभाशील लेखक हो । तुम्हारे हाथ में कलम है । मैं तुम्हारे लेखक से यह जानना चाहता हूँ कि सच क्या है ? हैडमास्टर के विषय में तुम्हारी शिकायत सही है या उसका सूटकेस उठाकर चलना सही है ? लेखक बनना चाहते हो, तो इन दोनों में से किसी एक को तुम्हें चुनना होगा । तुम्हारा आचरण ही तुम्हारे शब्दों की खिलाफत करता रहे तो फिर अपने हाथों में कुछ और लो, लेखनी को छोड़ दो ।''

मुक्तिबोध ने सूटकेस उठाना छोड़ दिया था और मजबूती के साथ अपने हाथों में लेखनी ले ली । कालान्तर में मुक्तिबोध राजनाँदगाँव के महाविद्यालय में प्राध्यापक और हिन्दी के विख्यात लेखक बने ।

ऐसे कुछ साहित्यिक संस्मरणों ने भी मुझे मेरी अध्ययन–लेखन–यात्रा में सहारा दिया है ।

आचार्य वाजपेयी जी से भेंट

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी जी के आन्तरिक हृदय–रस की मधुर अनुभूति मैंने की है । मैंने उनके चेहरे की मूँछों के नीचे उस मुस्कान को भी देखा है, जिसके पीछे एक आत्मविश्वास और मीठा व्यंग्य झलक मारता था । निर्भीकता से कटु सत्य कहनेवालों में उनका नाम प्रथम पंक्ति में लिखा जा सकता है ।

"हिन्दी में अरबी–फारसी के जो शब्द प्रयुक्त किये जाएँ, उनके नीचे देव–नागरी लिपि में बिन्दी लगाने की आवश्यकता नहीं ।" यह प्रस्ताव पं० वाजपेयी जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के शिमला अधिवेशन में सर्वसम्मति से पारित कराया था ।

सन् १९४३ ई० के मई मास में हरिद्वार के हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के वार्षिक अधिवेशन में सभापति पं० माखनलाल चतुर्वेदी जी को चाँदी के सिक्कों से महन्त शान्तानन्द ने तोला था । उन महन्त शान्तानन्द को पं० वाजपेयी जी ने ही

प्रेरित किया था ।

आदरणीय आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी से मिलने, मैं एक बार सपरिवार कनखल गया था । तब उनसे सम्बद्ध ग्रन्थ—'आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और हिन्दी-शब्द शास्त्र' की सामग्री का संपादनगुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के डा० विष्णु दत्त 'राकेश' कर रहे थे । मैं आचार्य जी के साथ राकेश जी से मिलने गुरुकुल भी गया था । आचार्य जी और मैं एक ही रिक्शे में थे । बहुत-सी बातें हुईं मार्ग में । तब उनकी बातों से पता चला कि वे परिवार का तथा अपना मासिक खर्चा कुल एक हजार रुपये में ही चलाते थे । उनके परिवार में पाँच प्राणी थे और वे किराये के मकान में रहते थे । मासिक आमदनी का इतना ही स्रोत था—(१) ४०० रु० वैद्यनाथ फार्मेसी से । (२) ४०० रु० बिरला से । (३) १०० रु० रॉयल्टी से । (४) १०० रु० उत्तर प्रदेश सरकार से पेंशन ।

आचार्य जी गर्मियों में केवल कुर्ता-धोती पहनते थे । कुर्ते के नीचे बनियान नहीं होती थी । पसीना आने पर कुर्ता उतार देते थे । उनकी मूँछों ने कैंची कभी नहीं देखी थी ।

बात-चीतों में आचार्य जी ने ग्रन्थ के मूल्यांकन के सम्बन्ध में बहुत बढ़िया और वैज्ञानिक बात बतायी थी । उन्होंने कहा था कि आज-कल समीक्षक किसी ग्रन्थ की समीक्षा यों ही मन माने ढँग से कर देते हैं । उनके द्वारा किये हुए ग्रन्थ-मूल्यांकन में कोई क्रम नहीं होता । मूल्यांकन में पहले क्रमशः सात बातें होनी चाहिए— **(१) तथ्य-दोहन (२) मंथन (३) आलोडन-विलोडन (४) परीक्षण (५) विश्लेषण (६) विवेचन (७) निर्णय** । तदुपरान्त निष्कर्ष रूप में मूल्यांकन होना चाहिए ।

मेरे अध्ययन के विशेष ग्रन्थ

महात्मा गान्धी ने ताल्सताय की पुस्तक '**दि किंगडम ऑफ गौड इज विद इन यू** (१८६३ ई०) (The Kingdom of God is with in you) पढ़ी थी । उसे पढ़कर ही गान्धी ने ताल्सताय को अपना गुरु मान लिया था ।

मैंने आचार्य किशोरीदास जी की पुस्तक '**राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण**' पढ़ी थी । उसे पढ़कर मैंने उन्हें अपनी श्रद्धा समर्पित की थी और तभी से मैं उनमें गुरुभाव रखने लगा था । उन्होंने हिन्दी का व्याकरण ही नहीं लिखा है, हिन्दी के व्याकरण का दर्शन भी लिखा है । इस दृष्टि से आचार्य वाजपेयी जी को पं० गुरु जी से कुछ आगे ही माना जाएगा । क्रिया-वाच्य और तिङन्त-कृदन्त क्रियापदों का विश्लेषण-विवेचन तो वाजपेयी जी का नितान्त मौलिक और नया है । वह हिन्दी-व्याकरण की नयी पटिया पर नया शोध-लेखन है ।

मेरे अध्ययन के विशेष मूल आधार ग्रन्थ निम्नलिखित रहे हैं—

(१) वाल्मीकि रामायण (२) महाभारत (३) कालिदास के ग्रन्थ (४)

सूरसागर (५) गोस्वामी तुलसीदास के १२ ग्रन्थ ।

'सूरसागर' के पदों के अनेक चरणों ने मुझे कई–कई घंटे अपने आलिंगन का सुख दिया है ।

"जसोदा **बार–बार** यों भाखै" के बार–बार पर भी मैं घंटों विचारता रहा हूँ । "बरु, ये बदरा ऊ बरसन आये" के ऊ की गूँजती हुई व्यञ्जना तो मेरे मन को इतनी दूर तक खींच ले गयी है कि वहाँ पहुँच कर वह मन ब्रज की उन वियोगिनी गोपियों की वेदना के सागर में ही डूब गया है ।

तुलसीकृत 'मानस' का पारायण तो मैंने कई बार किया है । अनेक अर्द्धालियों के बिम्ब मेरे मानस–पटल पर अंकित हैं ।

जनकराज की वाटिका में श्याम–गौर दो किशोरों के रूप के वर्णन में एक किशोरी की वाणी की असमर्थता को तुलसी ने जिन शब्दों में व्यक्त किया है, उन्हें तो मैं आज भी बार–बार गुनगुनाकर श्रद्धा से तुलसीदास जी को प्रणाम कर लेता हूँ—

"स्याम गौर किमि कहौं बखानी ।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।।" —(बालकाण्ड)

तुलसी–साहित्य मेरे लिए परम प्रिय और श्रद्धेय रहा है और अब भी है ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की विद्याभूमि से साहित्याध्ययन की दो धाराएँ प्रवाहित हुई थीं–(१)बाबू श्यामसुन्दरदास की **कबीर साहित्याध्ययन–धारा**(२) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की **तुलसी साहित्याध्ययन–धारा** । कबीरधारा में स्नान करने वाले फिर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हुए । तुलसीधारा में पं० विश्वनाथ मिश्र ने स्नान किया ।

मेरे बाल्यकाल के संस्कारों ने मेरे मन को तुलसी–साहित्य के लिए निष्ठावान् बना दिया था । शुद्ध कवित्व की दृष्टि से मेरी बुद्धि और हृदय कबीर की तुलना में तुलसी को ही ऊँचा मानती थी । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा विवेचित कबीर-सम्बद्ध समालोचनाएँ पढ़कर भी मेरा कवित्व–कला–प्रेमी मन तुलसीदास जी के चरणों में ही बैठना पसन्द करता था । मुझे आचार्य शुक्ल की मान्यताओं में ही वज़न अधिक लगता था ।

श्रद्धेयवर गोस्वामी तुलसीदास जी के पुराण–दर्शन ज्ञान और औदात्यपूर्ण कवित्व पर मैं अपने कोटि–कोटि प्रणाम अर्पित कर चुका हूँ और करता रहता हूँ ।

श्रद्धेय भक्तप्रवर महात्मा तुलसीदास जी को मैंने जितना–जितना पढ़ा, उतना–उतना ही में उनके विस्तृत–गम्भीर अध्ययन की अनुभूति से आश्चर्य के महासागर में डूबता चला गया । उन्होंने हमारे उपनिषद् ग्रंथों के महत्त्वपूर्ण सार–तत्त्व को जिस कौशल से काव्य की वाणी प्रदान की है, उसका तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता ।

कठ उपनिषद् (१/३/१५) में जिस ब्रह्म को कहा गया कि वह 'अरूप' है

और अशब्द है अर्थात् शब्दों में बताया नहीं जा सकता। उसी ब्रह्म को तुलसी ने शब्दों में बाँधकर दिखा दिया और उसे शील, शक्ति और शोभा समन्वित सुरूप प्रदान किया। तुलसी की मध्यमा वाणी का ब्रह्म–विचार ही वैखरी वाणी में 'राम-चरितमानस' बना था। निश्चित ही उनमें अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमाप्रज्ञा और नव–नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा थी।

जो मुझे ग्रन्थों में भी नहीं मिला, वह ग्रामीण जनों की वाणी में मिला है। **'कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा–शब्दावली'** (पी–एच० डी० उपाधि का शोध प्रबन्ध) नामक ग्रन्थ तो ग्रामीण जनों की वाणी का ही प्रसाद है। ग्रामीण जनों से मुझे वह दृष्टि मिली थी; जिससे मैं 'शास्त्र' में 'लोक' को और 'लोक' में 'शास्त्र' को देखने लगा था।

सूर के एक पद (पं० सीताराम चतुर्वेदी संपादित, सूरसागर पद से–३५०७) में **'लार'** शब्द का प्रयोग है। इसका अर्थ सम्पादक महोदय ने 'पचड़ा' किया है। इससे अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

गाय, भैंस आदि पशुओं की गर्दन के नीचे अगली दोनों टाँगों के बीच में माँस का भारी लम्बोतरा थैला–सा लटका रहता है। यदि वह बड़ा हो जाता है, तो पशु को चलने में कष्ट देता है। चमड़े के अन्दर के उस मांस पिण्ड को ब्रजभाषा में **लोटा** या **लारा** कहते हैं। उसी के लिए सूर ने **'लार'** शब्द का प्रयोग किया है। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—उद्धव तुम तो हमारे जन्म–जन्म के दुश्मन निकले। तुमने यह क्या **लारा** लगा दिया।

"जनम जनम के दूत तिरोवन कौन हि **लार** लगाये" (सूरदास, पद ३५०७)

'लार' को मैं ब्रजलोक के अध्ययन से ही जान पाया था।

रूप–सौन्दर्य से गुण–सौन्दर्य बढ़कर है

सौन्दर्य की अवधारणा में **रूप–सौन्दर्य** और **गुण–सौन्दर्य** का जब प्रश्न उप–स्थित हुआ, तब हमारे लोक और शास्त्र ने गुण–सौन्दर्य को ही प्रधानता दी।

कौआ काला होता है और कोयल भी काली होती है। रूप में दोनों समान हैं; लेकिन कौए की बोली कर्कश है, कानों को बुरी लगती है और कोयल की बोली मीठी है। मीठी बोली कोयल का गुण–सौन्दर्य है। उसी गुण–सौन्दर्य की प्रशंसा लोक करता है और शास्त्र भी। परिनिष्ठित हिन्दी के साहित्य में भी कोयल की प्रशंसा के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

सीता जी गौरवर्णा थीं। कोयल काली होती है। तुलसी के 'रामचरित–मानस' में उपमेय सीता के लिए उपमान **कोयल** प्रयुक्त हुआ है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि बोली की मिठास के कारण ही 'कोयल' को उपमान के रूप से प्रयुक्त किया गया है। अतः तुलसी गुण–सौन्दर्य को प्रधानता प्रदान करते हुए कहते हैं—

"नव रसाल बन बिहरनसीला ।
सोह कि कोकिल बिपिन करीला ।।" —(मानस, अयो० ६३/७)

सरोजनी नायडू को हिन्दी में '**भारत–कोकिला**', उर्दू में **बुलबुल–ए–हिन्द** और अंग्रेज़ी में '**नाइटिंगेल ऑफ इण्डिया**' की उपाधि दी गयी थी। उसके मूल में गुण–सौन्दर्य की ग्राह्यता की वरीयता ही सिद्ध होती है। भारत में कोयल, फारस में बुलबुल और इँगलैंड में नाइटिंगेल चिड़िया को गुण के कारण ही सम्मान मिला है। कोयल का मैंने गाना ही सुना है, रोना कभी नही सुना।

अवकाश–ग्रहण के उपरान्त

सन् १९७६ ई० में सेवानिवृत्त होकर मैंने फिर हिन्दी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सन् १९७६ ई० से १९८१ ई० तक शोध–निर्देशक का कार्य किया था। उन्हीं वर्षों में मैं अपनी निजी शोध–परियोजना के अन्तर्गत तुलसीकृत 'कवितावली' का व्याकरणिक एवं व्युत्पत्तिमूलक **पद–कोश** भी तैयार कर रहा था।

मैंने 'कवितावली' के लंका काण्ड के छन्द **१५** की तीसरी पंक्ति में '**मेरहु तें**' पद देखा और उस पर विचार करने लगा। विश्लेषण से पता चला कि इस पद में **मेर** (=सुमेरु) संज्ञा पद है। **हु** (=भी) अव्यय है और **तें** परसर्ग है। संपूर्ण पद '**मेरहु तें**' का अर्थ है 'सुमेर से भी'।

अब समस्या यह उपस्थित हुई कि यह **मेरु** अर्थात् **सुमेरु** पर्वत भौगोलिक दृष्टि से कहाँ है ?

सहारनपुर में मेरा आगमन और आगामी वर्ष

हम दोनों–मैं और मेरी पत्नी (श्रीमती बसन्तीदेवी शर्मा) अपनी टाला–माला लेकर अलीगढ़ से सहारनपुर बेटी शारदा के पास दिनांक १–७–८४ ई० को आ गये थे। दिनांक १–७–१९८४ ई० से दो दिन पहले मेरे शिष्य प्रियवर बिशन कुमार शर्मा ने हमारे बर्तन–भाँड़े अलीगढ़ से सहारनपुर पहुँचा दिये थे।

सन् १९८४ ई० तक मैंने कभी अपना जन्म–दिन नहीं मनाया था। जन्म–दिन (२१ मार्च) आने से एक दिन पहले मेरे मन में प्रायः ये विचार उठने लगते थे कि क्या किया है, मैंने ऐसा, जो अपना जन्मदिन मनाऊँ ?

मेरे घर में तो सूर्य सदा अस्त होने के लिए ही उदित होता रहा है। रातें चन्द्रमा के घटने–बढ़ने के लिए ही बीतती रही हैं। सदा अपना जीवन संघर्षों से जूझने में ही बिताता रहा हूँ। कभी कोई उल्लेखनीय परोपकार नहीं किया। किसी दुःखी जन की आँखों के आँसू नहीं पोंछे मैंने। कभी किसी की वेदना को मुस्कान में परिवर्तित नहीं कर सका हूँ मैं।

नौकरी करते–करते, गृहस्थी की गाड़ी खींचते–खींचते और बीमारियों का इलाज कराते–कराते ही जिन्दगी बीती है। सब देवी–देवताओं को छोड़कर केवल स्वार्थ के लिए एक सरस्वती को ही पूजता रहा हूँ अब तक और जीवन में एक भार-वाही मजदूर की भाँति हाँपता–हाँपता बोझा ढोता रहा हूँ। क्या कुछ किया है, मैंने जनता–जनार्दन के लिए, जो अपना जन्म–दिन मनाऊँ! इन विचार -लहरों से मेरा मानस विक्षुब्ध होता रहा है। इसीलिए मैंने कभी अपना जन्म–दिन नहीं मनाया सन् १९८४ ई० तक।

सन् १९८५ ई० की २१ मार्च को मेरी पुत्री शारदा, दौहित्र चि० आशु और दौहित्री आयु० चारु ने हठ करके सहारनपुर में मेरा जन्म–दिन मनाया था। २१ मार्च, सन् १९८५ ई० को पहली बार मेरा जन्म–दिन मुझसे मनवाया गया था। बच्चों ने मनवाया था, इसलिए मैंने मनाया था।

महाभारत का अध्ययन और सुमेरु पर्वत

महाभारत (सातवलेकर संपादित) के पारायण के समय मुझे शान्ति पर्व (अ० ३११,३१२) में मेरु पर्वत (सुमेरु पर्वत) का उल्लेख मिला।

भीष्मपितामह राजा युधिष्ठिर को शर–शय्या पर लेटे हुए कथा सुना रहे हैं। उस कथा में वर्णन आता है कि पाराशर्य व्यास के पुत्र शुकदेव का जन्म सुमेरु (मेरु) पर्वत पर हुआ था। बालक शुकदेव को पिता व्यास ने मिथिलाधिप जनक के पास ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिए भेजा था। शुकदेव जब सुमेरु पर्वत से चलकर भारत में मिथिला को आ रहे थे, तब उन्हें मार्ग में इलावृतवर्ष, हरिवर्ष और हिमालय पर्वत पड़े थे। शान्तिपर्व (अ० ३१२/१४,१५) में यह भी उल्लेख है कि शुकदेव मुनि को आर्यावर्त में प्रवेश से पहले ऐसे प्रदेश पड़े थे, जहाँ चीन, हूण आदि जातियों के लोग रहते थे।

इससे प्रतीत होता है कि सुमेरु पर्वत चीन प्रदेश के पास होना चाहिए। मंगोलिया में **अलताई** पर्वत सबसे ऊँचा है। उसे स्वर्ण पर्वत भी कहा गया है। मंगोलियाई भाषा में **'अलतीन'** शब्द का अर्थ 'सोना' है। 'अलताई' का अर्थ है 'सोने का'। संस्कृत के ग्रन्थों में भी 'सुमेरु पर्वत' को 'स्वर्ण–गिरि' कहा गया है।

इस तरह मंगोलिया का अलताई पर्वत ही **'सुमेरु'** या मेरु पर्वत है। भारत अर्थात् आर्यावर्त की संस्कृति के चिह्न मंगोलिया, चीन आदि देशों तक में पाये जाते हैं। मेरे गुरुवर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कहते थे कि सुमेरु पर्वत पामीर के पठार के आस–पास होना चाहिए। सुमेरु पर्वत तक हमारी सांस्कृतिक सीमाएँ थीं अर्थात् मध्य एशिया तक।

तिब्बत, मंगोलिया और चीन में जितने पहाड़ हैं, उनमें सबसे ऊँचा पर्वत **'अलताई'** है।

अंगद ने रावण की सभा में पाँव जमा दिया। उसे उठाने के लिए बड़े–बड़े योद्धा आये, पर पाँव को टस से मस न कर सके। तुलसीदास जी ने लिखा—

"न टरै पग मेरहु तें गरु भो सो मनो महि संग बिरंचि रचा।"

—(कवितावली, लंकाकाण्ड, छन्द १५)

मेरु (सुमेरु) पर्वत के विषय में इतना जान लेने के बाद तुलसीदास जी की उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ स्पष्ट हो गया। तुलसीकृत कवितावली की ब्रजभाषा में **मेरु** को **मेर** और **गुरु** को '**गरु**' लिखा गया है।

मेरी एक परियोजना जो अभी तक पूरी नहीं हुई

सन् १९८१ ई० में मैं अलीगढ़ विश्वविद्यालय की सेवाओं से पूर्णतः मुक्त हो गया था; शोध–निर्देशन से भी मुक्ति मिल गयी थी! सन् १९८२ ई० में मेरे हिन्दी–सेवी मानस ने चाहा कि पर्यायवाची हिन्दी शब्दों की अर्थ–भेदक रेखाओं को स्पष्ट करनेवाला एक हिन्दी शब्दार्थ कोश बनाना चाहिए।

हिन्दी में कई विद्वानों ने कोश–संपादन का कार्य किया है। उन कोशों में शब्द के अर्थ से पहले व्याकरणिक कोटि का भी उल्लेख किया गया है, जैसे '**अच्छा** को पहले विशेषण बताकर फिर उसका अर्थ लिख दिया 'भला', 'बढ़िया' आदि। जब 'भला' के अर्थ की बात आयी, तब '**भला**' का अर्थ 'अच्छा' लिख दिया। इससे पूरी बात बनती नहीं।

भारतीय व्याकरण शास्त्र अपने में अर्थविज्ञान को भी समाविष्ट करके चला है। 'अच्छा' को केवल विशेषण लिखकर छोड़ देना ठीक नहीं। हिन्दी भाषा में '**अच्छा**' के और भी प्रयोगों पर विचार करके उसकी व्याकरणिक कोटियों का उल्लेख हिन्दी–कोशों में किया जाना चाहिए। '**अच्छा**' की अन्य व्याकरणिक कोटियाँ—

अच्छा (क्रिया विशेषण)—"वह **अच्छा** गाता है।"

अच्छा स्वीकृतिबोधक अव्यय)—"अच्छा, आप कहते हैं, तो मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा।"

अच्छा (विस्मय सूचक अव्यय)—"पतले दुबले गोपाल ने कुश्ती में मोहन पहलवान को पछाड़ दिया", इसे सुनकर 'श्यामू ने कहा, '**अच्छा**'।

अच्छा (चुनौती सूचक अव्यय)—"**अच्छा**, तुझे भी देख लूँगा, बड़ा अफ्लातून बनता है।"

अच्छा (हर्षसूचक अव्यय)—**अच्छा**, चलो, वह गरीब लड़की भी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गयी।

'अच्छा' के उपर्युक्त अर्थ–भेद का कारण उच्चारण–भेद है, जिसके मूल कारण **लहजा, काकु, स्वर-लहर** सुराघात, बलाघात आदि हैं।

हिन्दी में '**अच्छा**' से मिलते–जुलते शब्द हैं **भला, बढ़िया, सुन्दर, नेक, मलूक,**

सोहना आदि । ये '**अच्छा**' के पर्यायवाची होते हुए भी अपना-अपना अलग अर्थ रखते हैं ।

भला—इसका सम्बन्ध व्यक्ति के सद्‌गुणों से है । यह विशेषण है और विस्मयादि बोधक अव्यय भी है । यह 'स्वीकृति' का भी सूचक है ।

बढ़िया—इसका सम्बन्ध भी सद्‌गुणों से है । यह शब्द विशेषण भी है और क्रियाविशेषण भी ।

सुन्दर—इसका सम्बन्ध व्यक्ति के मनोहर रूप से है । यह विशेषण भी है और क्रियाविशेषण भी ।

नेक—इसका सम्बन्ध व्यक्ति के सद्‌गुणों से है । यह फ़ारसी से हिन्दी में आया है । अवधी में यह **नीक** बोला जाता है । तुलसी के 'रामचरित मानस (अयो० २२६/७) में **नीक** का प्रयोग हुआ है । अवधी का विशेषण **नीक** वस्तु के लिए अधिक प्रयुक्त होता है ।

मलूक—सुन्दर के अर्थ में ब्रजभाषा में 'मलूक' शब्द है । अच्छे रूपवाले व्यक्ति को **मलूक व्यक्ति** कहते हैं ।

सोहना—अच्छे रूपवाले को 'सोहना' कहा जाता है । यह संस्कृत '**शोभन**' से विकसित है ।

सूरसागर का अध्ययन

मैंने सन् १९५३ ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित स्कन्धात्मक 'सूरसागर' को पढ़ना आरम्भ किया था और सन् १९५६ ई० तक उसका पारायण शनैः शनैः करता रहा था । कई पदों में कई स्थल ऐसे मिले, जिन्हें मैं न समझ सका था । कुछ पंक्तियाँ तो मेरी समझ में पाठ-अशुद्धि के कारण भी न आयी थीं । सूर के एक पद के एक चरण में छपा हुआ था—

"बल-मोहन बैठे हैं हठ री ।"—इसमें **हठ** और **री** को अलग-अलग दो शिरोरेखाओं में छपा देखकर मैं चक्कर में पड़ गया था । ब्रज की ब्रजभाषा-शब्दावली पर शोध कार्य करते समय मुझे विदित हुआ था कि **हठरी** मिट्टी का बना हुआ दो-तीन दरवाजों का एक घर-सा होता है । ब्रज में दीपावली के दिन पूजन के समय **हठरी** भी रखी जाती है । तब मुझे ज्ञात हुआ था कि पाठ एक शिरोरेखा में '**हठरी**' होना चाहिए ।

सन् १९७८ ई० तक पं० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'सूरसागर' का लीलात्मक संस्करण पूरा प्रकाशित हो गया था । उसमें पदों के अर्थ भी हैं । उसे मैंने सन् १९८० ई० में यत्र-तत्र पढ़ा था और अर्थ विषयक अपनी जिज्ञासाओं का समाधान भी किया था । सन् १९८४ ई० में उसे फिर पढ़ना आरम्भ किया था और अपने अर्थ सम्बन्धी कुछ विचार आदरणीय चतुर्वेदी जी को लिखकर भी भेजे थे ।

निश्चित ही हिन्दी टीका सहित 'सूरसागर' का संपादन करके पं० सीताराम जी चतुर्वेदी ने वह कार्य किया है, जिसे ५०० वर्षों में किसी ने नहीं किया था। निम्नांकित पंतियों में '**ऊधौ**' सम्बोधन है और '**डारिगए**' क्रिया का कर्ता '**हरि**' और कर्म '**गर-फाँसी**' है—इसे मैं पंडित चतुर्वेदी जी के संपादित तथा सटीक 'सूरसागर' को पढ़कर ही समझा था—

"आए ऊधौ ! फिरि गे आँगन डारि गए गर फाँसी"

—(संपा० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, सन् १६७८ ई०, खण्ड ४, पद ३५५५)

सन् १६८६ ई० की एक रात को चतुर्वेदी जी द्वारा संपादित 'सूरसागर' में वे पद पढ़ रहा था, जिनमें वह कथा वर्णित है, जब अक्रूर जी बलराम और कृष्ण को ब्रज से मथुरा ले गये हैं। ब्रज बिना गोपाल के सूना हो गया। ब्रज की गोपिकाओं की सारी चहल-पहल समाप्त हो गयी। गली-गलियारों तथा पनघटों पर सन्नाटा छा गया। सुनसान ब्रज के उस वेदना भरे मानस-चित्र ने मुझे विह्वल कर दिया और मैं कुछ लिखने बैठ गया। उस रात को जो घनाक्षरी लिखी थी, वह इस प्रकार है—

"नाम 'अक्रूर' परि क्रूर काज करि चले,
स्याम लये संग ठान्यौ मथुरा बसाइबौ।"
ब्रज छाँड़ि स्याम जब मथुरा में जाइ बसे,
ब्रज-गोपिकान छोड़्यौ हँसिबौ-हँसाइबौ॥
गली-गलिहारे सूने, सूनी रज, ब्रज सूनौ,
छूट्यौ गोप-गोपिन कौ मिलि बतराइबौ।
कान्ह छोड़्यौ मथुरा ते बिन्दावन आइबौ
तौ ब्रज-गोपिकान छोड़्यौ पनघट जाइबौ॥" —(सुमन)

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों की एक भ्रान्ति

हमारे यहाँ पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों ने एक ज़बरदस्त भ्रान्ति यह फैला दी है कि आर्य भारत में बाहर से आये। फ़ारसी और संस्कृत में अनेक शब्द समान हैं। इससे सिद्ध है कि फ़ारसी और संस्कृत से पहले कोई एक भाषा थी। उसी से फ़ारसी और संस्कृत भाषा का विकास हुआ। अंग्रेज़ों की इस अलगाववादी नीति से हमें सावधान हो जाना चाहिए।

वास्तव में प्राचीन काल में वृहत्तर भारत की सीमा आज के भारत से उत्तर पश्चिम में बहुत आगे तक थी। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' के आधार पर कहा जा सकता है कि ईरान, कंधार, बलख, बदख्शाँ आदि भारत के ही भाग थे। ईरान, गंधार, अफगानिस्तान, बदख्शाँ, वाह्लीक,

कपिश, कम्बोज और कश्मीर का भूभाग उदीच्य प्रदेश कहलाता था। इसी की भाषा को पाणिनि ने व्याकृत किया था; पाणिनि ने भाषा बनायी नहीं। कोई वैयाकरण भाषा नहीं बनाता। वैयाकरण तो लोक भाषा या साहित्यिक भाषा में जो नियम तथा व्यवस्था अन्तर्भूत होती है, उसे तलाश किया करता है। भाषा का निर्माण तो प्रारम्भ में सदा लोक–मानस ही किया करता है।

वैयाकरण पाणिनि ने उदीच्या भाषा में जो नियम व्याप्त थे, उनका पता लगाया था। उदीच्या भाषा 'संस्कृत' थी और प्राच्या भाषा 'प्राकृत' थी। संस्कृत का **दात्र,** प्राकृत में **दाति** पुकारा जाता था। उदीच्या में जिसे **वर्तिका** और **आर्यिका** कहते थे, उसे प्राच्या में **वर्तका** और **आर्यका** कहते थे। इसे हम प्राच्या पर उदीच्या का कुछ–कुछ प्रभाव भी मान सकते हैं।

चूँकि ईरान भारत का ही एक अंग था, इसलिए ईरानी शब्द भारतीय उदीच्या भाषा के ही थे। उन्हें हमको भारतीय आर्यभाषा संस्कृत के शब्द ही कहना चाहिए। ईरानवासी भी भारतीय ही थे। भूगोल की भाषा को धर्म या संप्रदाय की भाषा के रूप में नहीं देखना चाहिए।

कुछ विदेशी विद्वानों ने भारतीय संस्कृति, भारतीय राष्ट्रीयता और भारतीय आर्य जाति के सम्बन्ध में ईमानदारी से तथ्य और सत्य की अभिव्यक्ति नहीं की है।

एक समय था जब भारत की सांस्कृतिक सीमाएँ और राजनीतिक सीमाएँ एक थीं। फिर राजनीतिक सीमाएँ तो सिकुड़ गयीं; लेकिन सांस्कृतिक सीमाएँ दूर–दूर तक बनी रहीं। पश्चिम में ईरान और उत्तर में मध्य एशिया तक वृहत्तर भारत की सांस्कृतिक सीमाएँ बनी रहीं। हम अपनी संस्कृति का प्रदान बाहरी देशों को करते रहे।

कुछ विदेशियों ने हमारी मूलभूत राष्ट्रीय भावना का उन्मूलन करने के लिए कहा कि "आर्य भारत के मूल निवासी नहीं, बाहर से आकर भारत में बसे थे। अर्थात् 'कारवाँ आते गये हिन्दोस्ताँ बनता गया'। बाहर से आयी हुई आर्य जाति ने सिन्धु–सभ्यता को विनष्ट किया था।"

भारतीय इतिहास और साहित्य के विद्वान् कविवर जयशंकर प्रसाद ने तो अपनी कविताओं के माध्यम से भी घोषणा की थी कि भारत ही आर्यों का मूल स्थान है। आर्य भारत में बाहर से नहीं आये। इसके उपरान्त डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० भगवतशरण उपाध्याय, प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी आदि विद्वानों ने आर्य जाति तथा आर्य संस्कृति के सम्बन्ध में सप्रमाण तथ्य–सत्य का उद्‌घाटन किया।

सर मार्टनर हीलर जैसे विद्वान् यह कहते हैं कि हड़प्पा की संस्कृति को आर्यों ने नष्ट कर दिया था। पिछले बीस–पचीस वर्षों में जो प्रमाण मिले हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि हड़प्पा की संस्कृति सूखे और बाढ़ जैसे प्राकृतिक कारणों से नष्ट

हुई थी। हड़प्पा–संस्कृति के जो अवशेष राजस्थान और गुजरात में मिले हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वह संस्कृति बाढ़ आदि से ही नष्ट हुई थी।

उन अवशेषों के आधार पर सुप्रसिद्ध पुरातत्त्व विज्ञानवेत्ता डा० विष्णुधर वाकणाकर ने सरस्वती नदी की खोज के सम्बन्ध में अपने प्रमाण प्रस्तुत करने के साथ–साथ यह कहा है कि आर्यों का मूल निवास भारत ही है; उत्तरी ध्रुव, मध्य–एशिया आदि नहीं।

अतः निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय आर्य–संस्कृति के साथ उसके शब्द भी बाहर गये। हमारा संस्कृत **'मातृ'** शब्द ही फारस में जाकर **मादर** और इँगलैण्ड में जाकर **मदर** (MOTHER) हो गया। 'बादल' के अर्थ में संस्कृत शब्द **'अभ्र'** फारस में **'अब्र'** बोला जाने लगा। संस्कृत और फ़ारसी की मूल स्रोत भाषा कोई एक रही होगी—ऐसी कल्पना निराधार है।

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ने भारत से बाहर मध्यएशिया में अनेक भारतीय बस्तियों के स्थापित होने के प्रमाण सर आरेल स्टाइन के अनुसंधान के आधार पर प्रस्तुत किये हैं। सर आरेल स्टाइन का कहना है कि ईसा पूर्व द्वितीय शती के अन्त में मध्य एशिया की भारतीय बस्तियों में बौद्ध लोग रहते थे। भारतीयों ने फरात नदी के काँठे में अपनी कुछ बस्तियाँ बसा ली थीं।

मध्य एशिया के स्तूपों की शैलियाँ साँची या तक्षशिला के स्तूपों की छाया पर हैं। खरोष्टी लिपि में लिखी जानेवाली भारतीय प्राकृत भाषा मध्य एशिया की प्रधान भाषा बन गयी थी। उनमें लिखे हुए कीलाक्षरी लेख मध्य एशिया के अनेक भागों से प्राप्त हो चुके है। प्राकृत के शब्द अवश्य ही वहाँ गये होंगे।

भारतीय अन्वेषकों ने वर्मा, स्याम, कम्बोडिया, अनाम और हिन्देशिया के द्वीपों में अपनी अनेक बस्तियाँ बसायी थीं। उनके नाम भी भारतीय नामों जैसे मालव, दशार्ण, चम्पा, हस्तिनापुर, वैशाली आदि की तरह हैं।

भारतीय वास्तुकला के साथ–साथ भारतीय साहित्य के शब्द भी भारत से बाहर उन देशों में अवश्य गये होंगे—इसमें कोई सन्देह नहीं।

कुछ यूरोपीय विद्वानों ने हमारे वेद–मंत्रों का मज़ाक उड़ाया है

ओडर, विंटरनिज़, मैक्समूलर आदि ने वेदमंत्रों की प्रतीकात्मकता को ठीक तरह से न समझने के कारण हमारे कई वेद–मंत्रों का मज़ाक उड़ाया है। उन्हें पागलों का प्रलाप कहा है। वेदमंत्र के आदि में 'ओउम् का उच्चारण' कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा गला साफ़ करने की एक क्रिया बतायी गयी है।

यूरोपीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय आर्यभाषा–काल को केवल १५०० ईसवी पूर्व वर्षों का माना है। जबकि वेदमंत्रों को हमारे ऋषियों ने ईसा से कई हजार वर्षों पहले देखा था। मंत्रदर्शन का अर्थ है कि तब लिपि का जन्म हो गया

था । मौर्यकाल में ब्राह्मीलिपि के प्रत्यक्ष प्रमाण मिले हैं । रामगढ़ (जिला सरगुजा, म० प्र०) में भू–गर्भ में एक नाट्यगृह मिला है, जिसकी दीवार पर ब्राह्मीलिपि में लेख मिला है । सिद्ध है कि ईसा से लगभग तीन सौ वर्ष पहले ब्राह्मी लिपि का बहुत प्रचार था । पाश्चात्य विद्वान् ब्राह्मीलिपि को इतनी पुरानी नहीं मानते ।

अर्थविज्ञान : रूप-स्वरूप

'शब्दशास्त्र' का अर्थ है 'भाषा–ज्ञान' करानेवाला शास्त्र । 'भाषा–ज्ञान' से तात्पर्य है 'शब्दार्थबोध' ।

'भाषाशास्त्र' की एक प्रमुख शाखा है, 'अर्थविज्ञान' ।

'अर्थविज्ञान' शब्द के तीनों तत्त्वों का पूरा बोध करा देता है अर्थात् **ध्वनि**, **वस्तु** और **अर्थ** का ।

(१) 'कमल' शब्द की ध्वनि = क् + अ + म् + अ + ल् + अ की समष्टि ।

(२) वस्तु = एक सुगंधित फूल जो जल में होता है ।

(३) अर्थ = सुन्दरता, कोमलता, सुगन्धित होना, जल में होते हुए जल से ऊपर रहना, आँखों का उपमान बनकर आना आदि गुण अर्थ में समाविष्ट हैं ।

शब्दार्थ की इस मीमांसा के प्रसंग में मैं अपने पाठकों को यहाँ सावधान करना चाहता हूँ कि वे 'फर्दिनांद दि सोस्यूर' के अनुयायियों की बातों में आकर भ्रमित न हों । उन्होंने २०वीं शती के उत्तरार्द्ध में एक भ्रान्तिभरी भाषा–क्रान्ति की थी कि शब्द का वस्तु या अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं । भाषा के सम्बन्ध में पश्चिम ने हमें बहुत बहकाया है ।

शब्द के अर्थ का अनुभव ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से किया जाता है अर्थात् आँख, कान, नाक, रसना और त्वचा के माध्यम से । रसना (जिह्वा) ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी ।

ज्ञानेन्द्रियों से बहिर्जगत् का बोध होता है । वह बोध मन में संस्कार रूप में समाहित रहता है । सामान्य जन जब किसी शब्द को सुनता है, तब उसको किसी वस्तु, प्राणी या विषय की प्रतीति होती है । उस प्रतीति के साथ श्रोता के मन के संस्कार संपर्क करते हैं और 'शब्द' का 'अर्थ–बोध' हो जाता है । यह 'अर्थ–बोध' श्रोता के स्वानुभव पर आधृत माना जाएगा ।

शब्द का अर्थ परानुभव के आधार पर भी होता है । **आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती, लक्ष्मी** आदि शब्दों के अर्थ परानुभव पर ही आधृत हैं । आप्त पुरुषों ने इनके जो अर्थ बताये, वे ही हमने मान लिये ।

शब्द के अर्थ की प्रतीति के साधन १२ हैं—

(१) व्यवहार (२) आप्तवाक्य (३) उपमान (४) प्रकरण (५) विवृति

(६) सन्निधि (७) व्याकरण (८) कोश (९) बलाघात (१०) स्वराघात (११) लहजा (१२) सुरलहर।

अश्रवण और **अभिभव** शब्दार्थ–बोध में व्यवधान माने जाते हैं। शब्द का ठीक तरह न सुना जाना **'अश्रवण'** कहलाता है। जब शब्द की हल्की आवाज को भारी (ज़ोर की) आवाज़ दबा लेती है, तब वह व्यवधान **अभिभव** कहलाता है।

प्रत्येक शब्द के सामान्यतः दो अर्थ होते हैं—

(१) गौण अर्थ (२) मुख्य अर्थ। मुख्य अर्थ अर्थात् विशेष अर्थ परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तन की वे दिशाएँ पाँच हैं—(१) **अर्थसंकोच** (२) **अर्थविस्तार** (३) **अर्थापकर्ष** (४) **अर्थोत्कर्ष** (५) **अर्थादेश**।

अर्थ–परिवर्तन की इन दिशाओं के कुछ कारण हैं। जैसे—

(१) **लाक्षणिक प्रयोग** (२) **परिवेश** (सांस्कृतिक, भौतिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि) (३) **विनम्रता** (४) **शिष्टता** (५) **मंगलभाषित** (६) **अंध–विश्वास** (७) **व्यंग्य** (८) **बल आदि**।

'शब्द' सुना भी जाता है और 'शब्द' देखा भी जाता है। हमारे वैदिक ऋषियों ने मंत्रों को देखा था। इसीलिए कहा गया—"ऋषयौ मंत्रद्रष्टारः"।

शब्द देखा भी जाता है—यह बात सामान्यतया कुछ पाठकों की समझ में नहीं आ सकती। ध्यान और उपासना के द्वारा जब मन पूर्णतः एकाग्र हो जाता है, तब समाधि में '**शब्द**' को देखा जा सकता है।

'विवेकचूडामणि' में कहा गया है कि समाधि द्वारा श्रुत पदार्थ नेत्रों में अनु–भूत हो जाता है। तब उसके विषय में कोई सन्देह नहीं रहता। वही '**शब्द का अवलोकन**' है। हमारे वैदिक ऋषि समाधि की अवस्था में मंत्रों के शब्दों का अव–लोकन कर लेते थे; इसीलिए 'मंत्रद्रष्टा' कहलाये।

हमारे ऋषियों ने काव्यशास्त्र के रसों में रँग भी देख लिये थे। रसशास्त्र में बताया गया है कि '**शृंगार**' रस का रँग श्याम, '**रौद्र**' रस का लाल और '**शान्त**' रस का कुन्द पुष्प के समान श्वेत होता है।

'शब्द' के अर्थ–बोध के लिए मानव–बुद्धि को कुछ सोपानों पर भी चढ़ना पड़ता है। एक शब्द है **ज्योति** और दूसरा है **ज्वाला**। एक शब्द है 'दीपक की **टिमटिमाहट**' और दूसरा है 'दीपक का **प्रकाश**'। '**ज्वाला**' के अर्थ–बोध के लिए '**ज्योति**' के सोपान से ऊपर चढ़ना होगा। '**प्रकाश**' के अर्थ–बोध के लिए '**टिम–टिमाहट**' के सोपान से ऊपर जाना होगा। **ताकना** में दृष्टि–दूषण और **दर्शन करना** में द्रष्टा की दृष्टि का पवित्र शोभन निहित है।

शब्द के अक्षरों पर बलाघात शब्द के अर्थ–बोध में सहायक होता है।

'**कुशासन**' के उच्चारण–भेद से अर्थभेद–हो जाता है—

(१) कु/शासन = बुरा शासन।

(२) कुशा/सन = कुश का आसन।

'वृषभानुजा' के उच्चारण-भेद से अर्थ-भेद—

(१) वृषभानु/जा=वृषभानु की पुत्री।

(२) वृषभा/नुजा=बैल की बहन।

(३) वृष/भानु/जा=वृष राशि के सूर्य की पुत्री।

'अधरामृत' का उच्चारण और अर्थ—

(१) अधरामृत=अक्षरों का अमृत।

(२) अ/**धरामृत**=जो धरा का अमृत नहीं है अर्थात् स्वर्गीय अमृत।

मेरी २६वीं प्रकाशित पुस्तक 'भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति'

मेरी पुस्तक **'भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति'** को उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ ने सात हज़ार रुपयों के श्यामसुन्दर दास नामित पुरस्कार से सम्मानित किया। इससे पहले मेरी आठ अन्य पुस्तकें भी विभिन्न राज्यों से पुरस्कृत हुई। ये पुरस्कार अपनी--अपनी जगह हैं।

एक बात विशेष रूप से मैं यहाँ अपने पाठकों से कहना चाहता हूँ कि यदि मेरी पुस्तक **'भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति'** उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ से नामित पुरस्कार से पुरस्कृत न भी हुई होती, तो भी भाषाविज्ञान-जगत् में मेरी यह कृति भविष्य में वही ख्याति प्राप्त करेगी, जो ख्याति भगवतीचरण वर्मा की **'चित्रलेखा'**, अमृतलाल नागर का उपन्यास **'बूँद और समुद्र'**, जयनेन्द्र की **'सुनीता'**, अज्ञेय की **'शेखर एक जीवनी'** और विष्णुप्रभाकर की जीवनी **'आवारा मसीहा'** प्राप्त कर चुकी हैं। भाषाशास्त्र की पुस्तक की लोकप्रियता की कसौटी कुछ भिन्न होती है, ललित साहित्य की कसौटी से।

'उपन्यास' साहित्य की ऐसी विधा है, जो सरल, सरस और मनोरंजक है। भाषा का विश्लेषण-विवेचन शास्त्रीयता की कठोर शिला-पट्टिका पर किया जाता है। यह विषय कुछ विशेष भाषा-पंड़ितों के ही बाँट में आया है। लोहे के चने हर एक चबा भी नहीं सकता। बुद्धि के विषम-बीहड़-सघन कान्तार में यात्रा सबके लिए संभव नहीं। इसलिए मेरे पाठक उस प्रकार की लोकप्रियता तथा ख्याति की आशा तो मेरी पुस्तक **'भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति'** से न रखें, जैसी कि भगवती बाबू की 'चित्रलेखा' ने प्राप्त की है। हाँ, भाषाशास्त्र प्रेमी पंडित-समाज में मेरी यह पुस्तक उसी रूप में गृहीत और प्रिय होगी, जैसी कि सामान्य जनता में 'चित्रलेखा'। ऐसा मेरा विश्वास है। कृपया पाठक इसे मेरी गर्वोक्ति न समझें।

मेरी रचनाधर्मिता

मैं अध्यापक और लेखक के रूप में एक वैयाकरण के धर्म का भी पालन

करता रहा हूँ। भाषा की सरिता बहती तो है सदा अपने ढँग से; लेकिन जब उसका प्रवाह तटबन्धों को तोड़ने लगता है अर्थात् जब भाषा की नदी अधिक स्वेच्छाचारिणी बन जाती है, तब वैयाकरण का कर्तव्य कर्म ही उसकी स्वेच्छाचारिता को रोकता है।

मैं अपने जीवन में एक वैयाकरण के कर्तव्य कर्म का पालन लगभग ५०० पत्र लिखकर और पत्र–पत्रिकाओं में लेख लिखकर करता रहा हूँ। अपने भाषणों तथा पुस्तकों में भी समय–समय पर मेरी वाणी और लेखनी वैयाकरण–धर्म का पालन करती रही है।

जब कभी किसी पुस्तक में मैं किसी हिन्दी–शब्द को अशुद्ध या ग़लत वर्तनी में देखता हूँ, तब एकदम वेदनापूर्ण आक्रोश से मेरा मन खिन्न हो जाता है और तुरन्त वे शब्द याद आ जाते हैं, जो महान् यूनानी दार्शनिक सुकरात ने कहे थे। उसने कहा था, शब्दों का ग़लत प्रयोग न केवल दोषपूर्ण है, बल्कि वह हमारी आत्मा को भी कलुषित करता है।"

तभी पतंजलि के महाभाष्य का वाक्य भी स्मरण हो आता है--

"एक: शब्द: सम्यग् ज्ञात: शास्त्रान्वित: सुप्रयुक्त: स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।"

भाषा का परिनिष्ठित रूप उसके लोक–रूप का परिष्कार है। प्रत्येक भाषा पहले जन–जीवन की जिह्वा से जन्म लेती है। वह उसकी कामचलाऊ अवस्था होती है। उसके पीछे बहुत चिन्तन–मनन नहीं होता। चिन्तन–मनन के उपरान्त ही वह साहित्य के आसन पर विराजमान होने की अधिकारिणी बनती है। यह अधिकार उसे शब्दशास्त्री या वैयाकरण ही दिलाते हैं।

कभी–कभी साहित्यकार भी भाव के आवेग में भाषा के प्रयोग में भूल कर जाते हैं, तब शब्दशास्त्री ही उन्हें सचेत करते हैं। हिन्दी के अनेक उदीयमान लेखकों को मैंने सचेत किया है। जिन हिन्दी लेखकों की पुस्तकों में मैंने शब्द–प्रयोग या वाक्य–प्रयोग की गलती पाई है, उसे मैंने लेखक की पुस्तक का नाम देकर भी उसे सावधान किया है। वहाँ मेरी दुर्भावना कभी नहीं रही। उसके मूल में मेरी हिन्दी–सेवा–भावना ही प्रमुख रही है। वे लेखक मेरी रचनाधर्मिता को अन्यथा न लें। वे लेखक मेरे लिए सदैव आदरणीय हैं, लेकिन हिन्दी मेरे लिए उनसे भी अधिक आदरणीय है।

किसी भाषा का जो रूप उस भाषा के समाज में चलता है, वह कभी–कभी अशुद्ध या अनुपयुक्त भी होता है। वह अशुद्ध या अनुपयुक्त रूप साहित्य के पृष्ठों पर भी जब आने लगता है, तब शब्दशास्त्री की लेखनी एकदम अपने कर्तव्य–पथ पर यात्रा आरम्भ कर देती है।

अवस्था और **आयु** दो शब्द हैं। हिन्दी के अनेक लेखक **'अवस्था'** के स्थान पर **'आयु'** शब्द का प्रयोग कर देते हैं। **आयु** जीवन के पूर्णकाल की नाप है। आयु

के काल–खण्ड **अवस्था** कहलाते हैं।

मान लीजिए कि एक मनुष्य सन् १९०० ई० में उत्पन्न हुआ और सन् १९६० ई० में मर गया, तो हम कहेंगे कि उसने ६० वर्ष की आयु पायी। 'आयुर्वेद' शब्द में 'आयु' का यही अर्थ है।

यदि सन् १९२० ई० में उस व्यक्ति के सम्बन्ध में हमसे कोई पूछेगा, तो हम कहेंगे कि उसकी २० वर्ष की अवस्था है।

इस सूक्ष्म भेद के साथ साहित्य में **अवस्था** और **आयु** शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसकी ओर सावधान करना शब्दशास्त्री का धर्म है।

मैं देखता हूँ कि आज–कल हिन्दीभाषी समाज में–**वाला** प्रत्यय विशेषण शब्द के साथ भी लगने लगा है, जैसे "**नीलीवाली**" साड़ी अच्छी है।" "वह **बड़े वाला** आम उठाइए।" जब ऐसे प्रयोग साहित्य में प्रवेश पाने की चेष्टा करेंगे, तब मेरी लेखनी तुरन्त सन्नद्ध हो जाएगी।

प्राकृतिक दृश्यानुभूति और काव्यानुभूति : मेरा निजी मत

किसी सहृदय को वनवृक्षावली, सरिता की लहरों, अरुणोदय, शरच्चन्द्रिका, हिमाच्छादित पर्वत शृंगों आदि को देखकर जो आमोदमयी अनुभूति होती है, वह **सौन्दर्यानुभूति** है।

कालिदास के काव्य को पढ़कर जो अनुभूति होती है, वह **रसानुभूति** है। किसी भव्य मूर्ति या चित्र को देखकर जो अनुभूति होती है, उसे **लालित्यानुभूति** नाम दिया जा सकता है। रसानुभूति में लालित्यानुभूति से अधिक रमणीयता की शक्ति होती है।

हिन्दी की नयी कविताओं में मैं रसानुभूति की शक्ति नहीं मानता। उनमें लालित्यानुभूति मानी जा सकती है।

मेरा लेखन और पुरस्कार

मैं विद्यार्थी–काल से आज तक पढ़ता रहा हूँ और लिखता रहा हूँ। छपता भी रहा हूँ और प्रकाशकों से लुटता भी रहा हूँ। फिर भी इसलिए पुस्तकें छपाता रहा हूँ कि मेरी साहित्यिक भूख मिटती रहती है और मेरी कुछ पुस्तकें विभिन्न राज्यों से पुरस्कृत एवं सम्मानित होती रही हैं।

मेरी तीस पुस्तकों में कुछ **पुस्तिकाएँ**, कुछ **पुस्तकें** और कुछ **ग्रन्थ** हैं। मेरा विचार है कि मैं हिन्दी का **पर्यायशब्दार्थ–कोश** बनाऊँ जो एक ग्रन्थ के रूप में हो। उसमें व्याकरणिक कोटि के साथ व्युत्पत्ति सहित अर्थ–भेदक रेखाएँ भी स्पष्ट हों। देखिए, परम प्रभु मेरे 'विचार' को कब 'संकल्प' का रूप देते हैं? यह सारस्वत संकल्प पूरा होगा भी या नहीं––यह सब परमप्रभु की अनुकम्पा पर ही निर्भर

करता है। "मन चाही नहिं होत है, प्रभु चाही सब होत।"

साहित्य-पूजा और मेरे पूज्य गुरुवर

अदब की इबादत का इश्क़ मेरे दिल में सन् १९३६ ई० में पैदा हुआ था। फिर वह गुरुवर श्रद्धेय पं० गोकुलचन्द्र शर्मा जी की प्रेरणा से बढ़ा और बढ़ता चला गया। सन् १९५२ ई० में गुरुवर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जी के आशीर्वाद की ऊर्जा पाकर तो उसमें ऐसी तेज़ी आयी कि यह लगा कि मुझे अभी तो बहुत कुछ पढ़ना है, बहुत कुछ लिखना है। मैंने तो अभी तक न कुछ पढ़ा न कुछ लिखा। अब अदब का यह इश्क़ मेरी ज़िन्दगी ही बन गया है; अब तो इससे पीछा छुड़ाऊँ भी, तो भी नहीं छुड़ा सकूँगा। किसी ने सच कहा है—

"**मतलब-ए-इश्क** का दस्तूर निराला देखा।
उसे छुट्टी न मिली, जिसे सबक याद रहा।"

मैं और मेरी पत्नी

मैंने जैसी और जितनी शिक्षा प्राप्त की है, और साहित्य-सेवा की है, उसका प्रमुख श्रेय मेरी पत्नी बसन्तीदेवी शर्मा को है। एम० ए०, पी-एच० डी० और डी० लिट्० उसी के बलिदानी सहयोग का सुफल है। पत्नी के सहयोग की स्मृति मुझे विख्यात वैयाकरण कैयट की पत्नी की याद दिला देती है।

वैयाकरण कैयट की पत्नी स्वयं रस्सी बटकर तथा महनत-मज़दूरी करके गृहस्थी का पालन किया करती थी। उसने व्याकरण लिखने के लिए कैयट को चिन्तामुक्त कर दिया था। अध्यापक के रूप में मैं जो कुछ कमाता था, पत्नी के हाथ पर रख देता था। वही घर का सारा प्रबन्ध करती थी और गृहस्थी चलाती थी। मैं तो अपने लिखने-पढ़ने में ही लगा रहता था। आज भी मेरी दैनिक चर्या लगभग वैसी ही है। मैं तो पढ़ता-लिखता रहता हूँ, पत्नी ही घर की पूरी व्यवस्था सँभाल रही हैं। पत्नी को प्रगाढ़ निद्रा में सोते हुए मैंने बहुत कम देखा है। यह सन् १९९३ ई० है। मैं अवस्था की ७७वीं रेखा पार कर गया हूँ और पत्नी ७०वीं रेखा लाँघ चुकी हैं। दिमाग़ी चक्कर रोग हम दोनों पर कभी-कभी आक्रमण कर देता है। पत्नी अपने शरीर पर ध्यान न देते हुए मेरे शरीर का ही ख़याल अधिक रखती हैं। मेरी साहित्य-सर्जना-रचना का बल एवं आधार पत्नी द्वारा मेरी सेवा-शुश्रूषा ही है।

हम दोनों में भाव-साम्य होते हुए एक वैषम्य है—पत्नी पूजा-पत्री, चौका-चूल्हे वाली अखण्ड वैष्णव हैं और मैं नितान्त सटर-पटर। वे सदा हृदय की आँखों से वाल्मीकीय रामायण और श्रीमद्भागवत पढ़ती हैं। मैंने ये ग्रन्थ प्रायः बुद्धि के

नेत्रों से देखें हैं । कुछ ही स्थलों पर मेरे हृदय ने अपनी पलकें बिछायी हैं । मेरी पत्नी मेरी रचनाधर्मिता के प्रति सदासर्वतोभावेन समर्पित रही हैं । अपनी पत्नी के समर्पणभाव को देखकर मुझे विख्यात वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र वसु की पत्नी श्रीमती अबलावसु भी याद आती रही हैं, जो अपने पति की सेवा जीवनभर पूर्णतः समर्पित भाव से करती रही थीं ।

अपनी पुस्तकों की सर्जना करते समय पत्नी की जीवन–चर्या को देखते हुए मुझे **वाचस्पति मिश्र** की पत्नी **भामती** की जीवन–चर्या का भी स्मरण होता रहा है । **वाचस्पति मिश्र** ने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र–भाष्य' का नाम **'भामती भाष्य'** रखा था । उसी प्रसंग के आलोक में मैंने अपना ग्रंथ 'रामचरितमानस–भाषा रहस्य' अपनी पत्नी (श्रीमती बसन्तीदेवी शर्मा) को समर्पित किया था ।

कार्लमार्क्स ने अपनी पत्नी **जेनी** के सम्बन्ध में जो शब्द कहे थे, उन्हीं शब्दों की पुनरावृत्ति करते हुए मैं सर्वतोभावेन समर्पित अपनी पत्नी के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता व्यक्त करता रहूँगा—

"यदि वह न होती, तो मैं यह सब कुछ न कर पाता, जो कर सका"

मैं और मेरी पुत्रियाँ

शारदा, वीणा और मधु मेरी तीन पुत्रियाँ हैं । कुमारी अवस्था में मेरी तीनों पुत्रियों ने पिता का वात्सल्य खुलकर नहीं पाया । घर में मैंने अपना पितृधर्म कठोर अनुशासक के रूप में अधिक निभाया है । ज्येष्ठा पुत्री शारदा ने हिन्दी में डी॰ लिट्॰ की थी और कनिष्ठा पुत्री मधु ने संस्कृत में पी–एच॰ डी॰ की थी । मध्यमा पुत्री वीणा ने रसायनशास्त्र में पी–एच॰ डी॰ की थी । मुझे याद नहीं पड़ता कि मैंने अपनी पुत्रियों को कभी सिनेमा भी दिखाया था ।

अध्ययन–काल में शारदा और मधु का सम्पर्क मुझसे अधिक रहा था । इन दोनों बहनों ने अपने कठोर अध्यापक पिता का कठोर अनुशासन सिसकते–सुबकते सहा है । उनके आसुओं को उनकी माता ने ही पौंछा है । पिता के रूप में मैं पुत्रियों के साथ कठोरता बरतता रहा हूँ और मन में चुपके–चुपके प्रायश्चित्त भी करता रहा हूँ । मैं समझता हूँ कि मेरी पुत्रियों को मेरे स्वभाव के नारियल के ऊपरी भाग की ही अनुभूति अधिक होगी । तब मेरी यह ध्रुव मान्यता थी कि यदि मैं कठोरता का व्यवहार न करूँगा, तो मेरी पुत्रियाँ पढ़ने के प्रति निष्ठावती न बनेंगी ।

मैं अब अवस्था की ७८वीं साल में चल रहा हूँ । इस समय अनुभव करता हूँ कि पुत्रियों के साथ मुझे इतना कठोर न बनना चाहिए था । मैं उनके लिए शिक्षक अधिक था पिता कम ।

मेरे कठोर व्यवहार के कारण मेरी कनिष्ठा पुत्री मधु ने तो एक बार पी–एच॰ डी॰ करने का इरादा ही छोड़ दिया था और बी॰ एड्॰ करने का विचार

अपनी माँ से व्यक्त किया था। तब मैंने अपनी भूल को समझा था और अपने मृदुल व्यवहार से फिर बेटी मधु को घाट पर लाया था। कनिष्ठा बेटी मधु जब छोटी बालिका थी, तब एक दिन उसे मैंने बहुत पीटा था। बाद में मुझे पता चला कि वह अनपराधिनी थी। अपने पाठकों से मैं सत्य कहता हूँ कि वास्तविकता जानने पर तब मैं मन में बहुत रोया था और प्रायश्चित्त रूप में अपनी पुस्तक '**गीता : एक नव्य चिन्तन**' मैंने बेटी मधु को समर्पित की थी।

समाज और परिवार की आचार–संहिता जाननेवाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि पुस्तक का '**समर्पण**' बड़े को किया जाता है, छोटे को तो '**उपहार**' दिया जाता है। यह जानते हुए भी '**गीता : एक नव्य चिन्तन**' पुस्तक मैंने बेटी मधु को समर्पित की थी। कारण स्पष्ट है और सही है—

बेटी मधु निरपराधिनी थी, मैं अपराधी था। बहुत बड़ी गलती या अपराध से मनुष्य का व्यक्तित्व छोटा हो जाता है। मेरे अन्तस का व्यक्ति अपराधी होने के कारण अपने को छोटा मानने लगा था। मधु मेरी बेटी होते हुए भी मुझे अपने से बड़ी लगी थी। बस इसी भाव से भावित होकर मैंने मधु को वह पुस्तक समर्पित की थी। मैंने तब कठोरता के कारण अपने को छोटा माना था और सहनशीलता के कारण मधु मेरे लिए बड़ी थी।

मेरे द्वारा निरपराध बेटी मधु का पीटा जाना मेरे क्रोध और अहं की प्रचण्ड अकड़ ही मानी जाएगी। मधु को पुस्तक का समर्पण मेरी गलती की स्वीकृति का लिखित प्रमाण पत्र है, जिसे बेटी मधु ने चाहे न समझा हो; लेकिन मेरा अपराधी मन समझता है। मैं यह मानता हूँ कि गलती स्वीकारने से वाणी और जीवन कुछ संयमित हो जाता है। गलती स्वीकारने से मानवता की पावनता भी सुरक्षित रहती है।

'गीता : एक नव्य चिन्तन' पुस्तक सन् १९८२ ई० में प्रकाशित हुई थी। सन् १९८२ ई० के बाद मेरा क्रोधी स्वभाव बहुत–कुछ संयमित हो गया था। पुस्तक उत्तर प्रदेश हिन्दी–संस्थान, लखनऊ से पुरस्कृत भी हुई थी। मुझे अच्छी तरह से याद है कि उस पुरस्कार–राशि में से कुछ अंश तीनों बेटियों को दिया गया था, लेकिन बेटी मधु को दी गई राशि शारदा और वीणा को दी गई राशि से कुछ अधिक ही थी। मधु को कुछ राशि अधिक देकर मैंने अपनी भूल का प्रायश्चित्त ही किया था। तब शारदा और वीणा ने हल्के से विनोद भरे शब्दों में मधु से यह भी कहा था कि पिताजी हमें भी पीट लेते तो अच्छा था, ताकि हमारे नाम पर भी कोई पुस्तक समर्पित हो जाती और अधिक पुरस्कार–राशि भी मिलती।

आज (सन् १९९३ ई०) का मेरा शेखूपुर गाँव और उसका आँगन

जब मेरी अवस्था १४ वर्ष की थी, तब मैं हिन्दी मिडिल कक्षा में पढ़ता था। यह बात सन् १९३० ई० की है। घर में हम लोग '**चनारी बेझर**' की रोटियाँ

खाया करते थे। जौ के दानों में जव चौथाई भाग के चने मिला दिये जाते हैं, तब उस मिश्रित अनाज को **चनारी बेझर** कहते हैं। सम्भवत: 'द्विज़र' से **'बेझर'** शब्द विकसित है। स्कूल में खाने के लिए मैं **'गैंचनी'** की रोटियाँ ले जाता था। गेहूँ और चना मिलकर जो मिश्रित अनाज तैयार किया जाता है, उसे **गैंचनी** कहते हैं। आम के अचार के साथ गैंचनी की **पनपथियाँ** (बिना पलोथन के पानी भीगे हाथ से बनायी गयी रोटियाँ) छकौये में बाँधकर स्कूल ले जाता था और दोपहर की छुट्टी में उन्हें स्कूल में खाता था। चमरौदा जूता, मारकीन की धोती और खद्दर का कुर्ता मेरी वेश–भूषा थी। गाँव का बूढ़ा नाई डेढ़–दो महीने बाद मेरे सिर के बाल कभी कैंची से छोटे कर देता था और कभी उस्तरे से घोटमुंड बना देता था। बूढ़े नाई को मैं बाबा कहा करता था। मेरी हजामत की मजदूरी के रूप में नाई को बेझर की दो रोटियाँ दी जाती थीं। मेरे साथ मेरे दो छोटे भाइयों की भी यदि हजामत बनती थी, तो भी नाई को दो रोटियाँ ही दी जाती थीं।

प्राय: छुट्टी के दिन गाँव के साथी बालकों के साथ मैं डंडाटुकाई, गिल्ली–डंडा, पहेड़ू, किलकिलकाँटी आदि मैदानी खेले खेला करता था। रात को 'राम–चरितमानस' बाँचा करता था और मेरी दादी, माता और बहन–भाई सुना करते थे। उस समय हमारे घर में बम्बई के निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र की सटीक 'तुलसीकृत रामायण' थी। उसमें लवकुश काण्ड भी था। वह सचित्र थी। रावण द्वारा हरी हुई सीताजी का चित्र देखकर मैं द्रवीभूत हो जाता था। धनुष–बाण लेकर रावण से लड़नेवाले राम–लक्ष्मण को देखकर एक उल्लास–पूर्ण उत्साह की अनुभूति हुआ करती थी। उस पुस्तक में लव–कुश को युद्ध करते भी देखा था।

हमारा छोटा–सा आमों का एक बाग था। हम असाढ़–सावन में बाग में जाकर आम–जामुन खाया करते थे। **सिंदूरिया** और **खरइयाँ** पेड़ों के आम बहुत मीठे और गुदारे थे। पीलेरँग के सिंदूरी आम का पेड़ **सिंदूरिया** और खरई गाँव की दिशा वाला पेड़ **खरइयाँ** कहलाता था।

हमारे गाँव में आल्हा, ढोला, रास आदि भी हुआ करते थे। जावरे गाँव के शिवराम की मंडली का 'नरसी–भात' भी सुना जाता था। होली के दिनों में आस-पास के गाँवों में जिकड़ी भजनों की मंडलियाँ एकत्र होकर भजन गातीं और प्रश्नो-त्तर करती थीं। लौंद की साल में आस–पास के किसी गाँव में श्रीमद्भागवत का सप्ताह भी हुआ करता था। किसी साल में जब एक नाम के दो महीने पड़ जाते हैं, तब वह साल **'लौंद की साल'** कहलाती है। लौंद के महीने को **'पुरुषोत्तम मास'** भी कहते हैं। 'पुरुषोत्तम मास' में कभी–कभी दो–तीन गाँव मिलकर यज्ञ भी कराते थे। यज्ञ की समाप्ति पर साधु–सन्तों को भोज भी दिया जाता था। यज्ञ के दिनों में गाँव की धरती और आकाश वेद–मंत्रों से गुंजायमान रहते थे।

किसान लोग हल–बैलों से खेत जोतते थे। चरस द्वारा कुएँ से पानी निकाल कर खेतों की सिंचाई की जाती थी। किसान पारछे में पानी भरा चरस ढालता जाता था और तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की चौपाई गाता जाता था। कभी–कभी कबीर का कोई दोहा भी कह देता था।

जब मैं मैथिलीशरण गुप्त की कविता—"अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है"—पढ़ता था, तब मुझे अपने गाँव की वे सारी बातें याद आ जाती थीं। वास्तव में वही भारतीय ग्राम्य संस्कृति थी। उसी संस्कृति का भारत हमारा वास्तविक भारत अर्थात् अस्ली हिन्दुस्तान था। मुझे स्मरण हो आती थी कविता की यह पंक्ति—

"है अपना हिन्दुस्तान कहाँ वह बसा हमारे गाँवों में।"

प्रेमचन्द की कहानी के हीरा–मोती दोनों बैलों को मन की आँखों से देखते ही मुझे अपने बचपन का शेखूपुर गाँव याद आ जाता था।

फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास 'मैला आँचल' पढ़ते समय भी मुझे बचपन के शेखूपुर की याद आयी थी।

अब (१९९१ ई० में) जब मैं अपने गाँव शेखूपुर में गया; तब सब कुछ बदला हुआ पाया। अब उसी शेखूपुर में अधिकतर पक्की ईंटों के बन गये हैं। कुछ चौपालों पर मेज–कुर्सियाँ भी हैं। मुझे प्लेट–प्यालों में चाय पिलायी गयी थी। लगभग १० प्रतिशत युवकों के अंग्रेज़ी बाल कटे हुए थे। दो–एक युवक के सिर के बाल अल्ट्रामॉडर्न भी थे, जो पीछे की ओर गुच्छेदार छोटी पूँछ–से दिखायी पड़ते हैं। पूरे गाँव में दस व्यक्ति बी० ए० पास कर चुके थे। तीन व्यक्ति एक इण्टर कालेज में पढ़ाते भी थे। गाँव में बिजली भी आ गयी थी। पाँच घरों में रेडियो भी था। गाँव में कोई स्त्री मुझे लहँगा (घाघरा) पहने हुए दिखायी नहीं दी थी; साड़ियों में ही दिखायी पड़ी थीं। मेरे बचपन के शेखूपुर में किसी घर में पाखाना नहीं था। सब स्त्रियाँ प्रातः चार बजे बाहर खेतों में शौच करने जाती थीं। उसे '**बाहर फिरना**' कहते थे। अब तो उसी शेखूपुर में दस–बारह मकान ऐसे थे जिनमें पाखाने बने हुए थे। अब शेखूपुर की स्त्रियाँ घरों में चक्कियाँ नहीं पीसती थीं।

पुरुषों से बातें हुईं, तो प्रायः सबने भारत की राजनीति पर ही बातें कीं। मैं अपने गाँव में तीन–चार दिन रहा था—एक दिन भी किसी पुरुष ने रामायण, महाभारत या किसी अन्य धार्मिक ग्रन्थ पर चर्चा नहीं चलायी थी।

सारांश यह है कि आज के शेखूपुर का परिवेश शहरी परिवेश से कम नहीं है। मेरे गाँव में पाश्चात्य सभ्यता प्रवेश कर गयी है। नये मालदार किसानों के लड़के तो शहरी लड़कों से भी चार कदम आगे चल रहे हैं। कुछ तो लूट–खसोट, मार–काट और चोरी–डकैती में भी नाम कमा रहे हैं और शान से मूँछें ऐंठ रहे हैं। वे भौतिकवाद के पूरे उपासक हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो एक रात में ही करोड़पती बनना चाहते हैं। वहाँ मैंने किसी के मुँह से कर्मकाण्ड की चर्चा नहीं सुनी, हाँ हत्याकाण्ड की तीन–चार चर्चाएँ अवश्य सुनी थीं। मेरे गाँव के वे लोग बहुत प्रसन्न

थे; लेकिन मैं वह सब देखकर चिन्तित था; मन में दुःखी था।

मेरे गाँव के आँगन में पूरब की ओर 'खिटकारी' और दखिनाहीं ओर 'भटौला' गाँव हैं। 'खिटकारी' में एक ठाकुर के यहाँ अपने बचपन में पिता जी के साथ मैं दो–तीन बार गया था। तब उस ठाकुर ने हमारा सत्कार दूध और गुड़ की डेली से किया था।

अब सन् १९९१ ई० में जब मैं उसी ठाकुर की पक्की बनी चौपाल पर पहुँचा, तो उस ठाकुर के पौत्र ने मुझे चीनी के प्लेट–प्यालों में चाय पिलायी थी। उसी ठाकुर के पौत्र की चौपाल के कमरे की अलमारी में तीन–चार बोतलें भी रखी हुई थीं। उनमें एक बोतल खाली थी, शेष भरी हुई थीं। उन बोतलों में क्या द्रव पदार्थ था—इसे इन पंक्तियों के पाठक सहज ही समझ सकते हैं। उस ठाकुर का वह पौत्र पैन्ट और कमीज़ पहने हुए था। उसकी अवस्था लगभग तीस वर्ष की थी। वह मेरे सामने कुर्सी पर बैठे हुए बीड़ी पीता रहा था। मुलाकात के समय उसने मुझसे '**नमस्ते**' अवश्य की थी, जिसे उसने अपने उच्चारण में '**नबस्ते**' कहा था।

अपने पिताजी के साथ जब मैं उस युवक के बाबा की कच्ची ईंटों की बनी चौपाल पर बचपन में पहली बार गया था, तब मैंने देखा था कि उस ठाकुर ने मेरे पिता जी को देखकर अगवानी करते हुए "**पंडित जी/पाय लागूँ**" शब्दों में अभि–वादन किया था और पिताजी के तथा मेरे खाट पर बैठ जाने पर भी वह ठाकुर खड़ा ही रहा था। पिताजी ने जब उससे बैठने के लिए कहा, तभी वह दूसरी छोटी–सी खाट पर बैठा था।

मेरे गाँव में मेरे बचपन के एक सहपाठी–मित्र थे। वह जाति से जादों ठाकुर थे। वह तो प्रभु ने अपने पास बुला लिये थे, उनका पुत्र था, जो युवा हो गया था। उसके साथ मैं एक दिन भटौला भी गया था। शेखूपुर और भटौला के बीच में एक बम्बा है और भटौला का मरघट भी है। शेखूपुर में भटौला जाते समय पहले मरघट और फिर बम्बा पड़ता है। मरघट में दो चिताओं की राख की ढेरियाँ देखकर मैंने अपने मित्र के उस पुत्र से पूछा कि भटौला में अभी निकटतम भूत में किस–किस की मृत्यु हुई है? उत्तर में उस युवक ने बताया कि चार दिन हुए भठौला में '**हंसो**' और '**पारो**' नाम की दो नयी ब्याहता बइयरबानियाँ चूल्हा जलाते–जलाते जलकर मर गयी हैं। राख की ये दोनों ढेरियाँ उन्हीं की हैं।

'**हंसो**' और '**पारो**' चिता की राख कैसे बनीं—इसे मेरी बुद्धि ने तुरन्त समझ लिया। मैं यह भी समझ गया था कि "**हंसो और पारो जलाकर मारी गयी हैं**" वाक्य को वह युवक "**हंसो और पारो जलकर मर गयी हैं**" बोल रहा है। मेरी आँखों में दहेज़ का दानव हुंकार भरने लगा। मैंने उस युवक के वाक्य का प्रतिवाद नहीं किया।

हम मरघट से आगे भटौला को चले, तो बम्बा आ गया। उसमें एक पुरुष का कटा हुआ सिर बहते हुए देखा। उस मुंड की नाक कटी हुई थी, आँखें भाले से

छिदी हुई थीं और चेहरा ऐसा क्षत–विक्षत था कि उसकी पहचान ही समाप्त कर दी गयी थी। उस मुंड को देखकर मेरा मन अपने वर्तमान समाज की गर्हित मनो–वृत्ति पर सोच–विचार करने लगा। मन कहने लगा, "हे भगवान्! हम कहाँ तक गिर चुके हैं? मनुष्य ने मनुष्य को तो गाजर–मूली ही समझ लिया है।"

भटौला में जिस ठाकुर के यहाँ हम दोनों पहुँचे, तो पता चला कि किसी ने उसके खलिहान में ही आग लगा दी। उसका सारा अनाज और भूसा जलकर राख हो गया। ईर्ष्या के भीषण रूप की वहाँ दर्दभरी कहानी भी सुनी।

मेरी इस दास्तान में पाठकों को मेरे **अनुभव** मिलेंगे, **अनुमान** नहीं। **अनुभव** और **अनुमान** में बहुत बड़ा अन्तर है। '**अनुभव**' सत् का सहोदर है और '**अनुमान**' 'असत्' का साथी, सत् का भाव लिये हुए।

'**अनुभव**' क्या है? इसे हम मनोविज्ञान तथा दर्शन की भूमियों में उतरकर ही ठीक समझ सकते हैं।

हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जिन तन्मात्राओं (रूप, रस, शब्द, गन्ध और स्पर्श) को प्राप्त करती हैं, उन्हें मन को अर्पित कर देती हैं। मन अहंकार को और अहंकार बुद्धि को अर्पित कर देता है। बुद्धि अन्तिम निर्णय देती है—ग्रहण अथवा त्याग के विषय में। वह ग्रहण या त्याग आंशिक भी हो सकता है और सर्वांगीण भी। बुद्धि के निर्णय के अनुसार ही कर्मेन्द्रियाँ फिर कर्म करती हैं। इस तरह **अनुभव** हमारी तरह (५ ज्ञानेन्द्रियाँ + ५ कर्मेन्द्रियाँ + १ मन + १ अहंकार + १ बुद्धि) इन्द्रियों का प्रतिफल है।

हमारी आँखों ने रूप को देखा और उस रूप को तुरन्त मन को अर्पित कर दिया। अथवा कहिए कि नेत्रों के माध्यम से मन ने उस रूप को प्राप्त किया। फिर उस रूप को अहंकार के आगे मन ने प्रस्तुत कर दिया और अहंकार ने बुद्धि के समक्ष रख दिया। अब बुद्धि ही निर्णय देगी कि वह रूप सुरूप है या कुरूप है। अर्थात् ग्राह्य है या त्याज्य है?

यदि वह रूप सुरूप है, तो वह मन का सुखानुभव है। हम स्वर्ग–सुख आदि की जो बात करते हैं, वे **सुखानुभव** नहीं, उन्हें **सुखानुमान** कह सकते हैं।

अतः मेरी दास्तान के ये छोटे–छोटे परिच्छेद **अनुभव** हैं **अनुमान नहीं**।

मैं अनेक रात्रियों के तीसरे और चौथे पहरों में ग्रन्थों के गवाक्षों से वैदिक ऋषियों के दिव्य दर्शन करता रहा हूँ और उनसे बातें भी करता रहा हूँ। तब आत्म–मंथन करते हुए मैंने यह भी सोचा है कि वास्तव में मैं 'पुरुष' कहलाने योग्य हूँ अथवा नहीं? तब मैंने यही परिणाम पाया है कि मैं 'पुरुष' नहीं हूँ क्योंकि शतपथ ब्राह्मण (२/५/१/१) का ऋषि कहता है कि निश्चय ही **पुरुष** परमात्मा के अति निकट है (**पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्**) (नेदिष्ठ = निकटतम)।

एक पुस्तक में एक कवि की ये दो पंक्तियाँ भी मैंने पढ़ी थीं—

"दुनिया में उसने बड़ी बात कर ली,
अपने से जिसने मुलाक़ात कर ली।"

मैं अपने से मुलाक़ात करने की कोशिश तो करता रहा हूँ; लेकिन मैं मुला–क़ात कर नहीं पाया। अपनी इस असफलता पर मैं निराश नहीं हूँ, क्योंकि जितनी कोशिश इस जन्म में मैंने कर ली है, आगामी जन्म में उतनी कम करनी पड़ेगी। मृत्यु जीवन–यात्रा की मंजिल नहीं है; एक पडाव है। शरीर मरते हैं, आत्मा नहीं मरती—

"न हन्यते हन्यमाने शरीरे" —(गीता, अ० २/श्लोक २०)



द्वितीय खण्ड

२. मेरा भाषा-चिन्तन और मेरी मान्यताएँ

भाव से अधिक भाषा का महत्त्व है

गोपाल के जन्म–दिन पर उसके मित्र मोहन और सोहन उसे दीर्घायुष्य की कामना प्रकट करते हुए बधाई देने लगे—

मोहन ने गोपाल से कहा, "ईश्वर करे तुम वैदिक ऋषियों की आयु प्राप्त करो।"

सोहन ने गोपाल से कहा, "ईश्वर करे तुम घर के सब मनुष्यों के मर जाने के बाद मरो।"

भाव की दृष्टि से मोहन और सोहन दोनों के कथनों में दीर्घायुष्य का भाव निहित है; लेकिन सोहन के वाक्य की भाषा को कोई पसन्द न करेगा, जब कि मोहन के वाक्य की भाषा को सभी पसन्द करेंगे। यहाँ 'भाव' शब्द में 'विचार' भी समाविष्ट समझना चाहिए।

सिद्ध है कि भाव से अधिक भाषा का महत्त्व है। भाव को किन शब्दों में किस तरह व्यक्त किया गया है, यही साहित्य की परख की कसौटी है।

प्रिय के वियोगजनित विरह भाव को तीन कवि इन शब्दों में अलग–अलग लिखते हैं।

प्रथम कवि ने लिखा—

"सखी ! पिया बिन मैं मर जाऊँगी।"

द्वितीय कवि ने लिखा—

"सखी पिया को जो मैं न देखूँ
तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ ?"

तृतीय कवि ने लिखा—

"सखी ! बैरिन भई रेलियाँ
पियरा को लइ गई बिदेस।"

उपर्युक्त तीनों कवियों की शब्दसंयोजना को देखकर निर्णय किया जा सकता

है कि महत्त्व भाषा का है अथवा भाव का ?

संस्कृत के प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में 'काव्य' शब्द का प्रयोग 'साहित्य' के अर्थ में ही हुआ है। आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के प्रथम उल्लास की द्वितीय कारिका में 'काव्य' के जो छह प्रयोजन बताये हैं, वे एक प्रकार से 'साहित्य' के प्रयोजन भी माने जा सकते हैं।

उन छह प्रयोजनों में **अर्थ**, **शिवेतरक्षति** और **परनिर्वृति** (परम आनन्द) प्रमुख हैं। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों ने 'अर्थ' की व्याख्या 'धन' की है। यदि 'अर्थ' से तात्पर्य 'काव्यार्थ' ग्रहण किया जाए, तो अनुचित नहीं होगा।

उपर्युक्त तीनों प्रयोजनों में मम्मट जब 'अर्थ' को काव्य का प्रयोजन बताते हैं, तब वे वास्तव में काव्य की भाषा की ओर ही संकेत करते हैं।

साहित्य (भाव) सूर्य है, तो भाषा उस सूर्य का प्रकाश है। प्रकाश से ही सूर्य के अस्तित्व का भान होता है। भाषा ही साहित्य को सुरक्षित रखती है। जहाँ साहित्य का गुणगान है, वहाँ स्वतः ही भाषा का गुणगान हो जाता है। एक कवि ने कहा है—

"अंधकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं है;
मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है।"

साहित्य के सत्य से तात्पर्य है, भावना–लोक का सत्य। साहित्यकार उसी सत्य का उपासक है। साहित्यकार संसार के सत्य को अभिव्यक्त करता है। साहित्यकार का सत्य जिनमें आनन्द और शिवत्व प्राप्त करता है, भाषा में व्यक्त वे लालित्यमय पद–पुंज ही **'साहित्य'** कहलाते हैं। जिसके संवेदनशील हृदय ने संसार के भावना सत्य को जितना अधिक अभिव्यक्त किया है, वह उतना ही ऊँचा साहित्यकार सिद्ध हुआ है। साहित्यकार का सत्य साकारता ग्रहण करता है जीवन के सजीव संस्पर्श से। परन्तु यहाँ यह भी अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिए कि उस साहित्यकार की अभिव्यक्ति का माध्यम 'भाषा' ही है। अतः अर्थमयी परम–प्रभाविनी भाषा–सामर्थ्य ही साहित्यकार की सामर्थ्य है। भाषा ही साहित्यकार का सारस्वत आकार है। भाषा के माध्यम से ही हम साहित्यकार के अन्तर्जगत् से परिचय प्राप्त कर सकते हैं। साहित्यकार के पास भाषा नहीं, तो न उसके 'साहित्य' का अस्तित्व है और न 'साहित्यकार' का अस्तित्व है।

भावाभिव्यक्ति का एक चतुष्कोण है, जिसके **ज्ञाता**, **ज्ञान**, **ज्ञेय** और **ज्ञप्ति** (ज्ञान–फल) चार कोण हैं।

पाठक **ज्ञाता**, भाषा–बोध **ज्ञान**, साहित्य **ज्ञेय** और आनन्द **ज्ञप्ति** है। यदि पाठक को भाषा–बोध नहीं है, तो वह साहित्य का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता। साहित्य व्यक्ति के स्तर पर आनन्द प्रदान करता है और समाज के स्तर पर शिवत्व (कल्याण) भाषा–बोध के बिना समाज भी साहित्य के शिवत्व से वंचित रह जाएगा। इसलिए भाषा–बोध के बिना न व्यक्ति को आनन्द मिल सकता है। और न समाज

का कल्याण हो सकता है। अतः 'भाषा–बोध' साधन होते हुए भी साध्य रूप 'साहित्य' से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

साहित्यिक कृति के जन्म की पूर्णावगति के लिए हमें परिश्रम की कोटियों के स्वरूप से परिचय प्राप्त करना होगा। परिश्रम की चार कोटियाँ हैं—शुद्ध शारीरिक परिश्रम नीची कोटि का परिश्रम है, जिसे मज़दूर की **मज़दूरी** कह सकते हैं:

शारीरिक परिश्रम जब बुद्धि के उपयोग के साथ ऊँचा उठता है, तब **कला–कृति** का जन्म होता है। परिश्रम जब मधुरता से मिलन करता है, तब कला गर्भ-वती हो जाती है। यह परिश्रम की ऊँची उठी हुई द्वितीय कोटि है।

शुद्ध बौद्धिक परिश्रम विज्ञान को जन्म देता है। बौद्धिक परिश्रम जब समाधि के शिखर पर आसीन हो जाता है, तब महान् वैज्ञानिक आविष्कार जन्म लेते हैं। यह परिश्रम की तृतीय कोटि है।

'जब मानसिक साधना हृदय के आकाश में ऊर्ध्वगामी बनती हुई भाव–लोक की मधुमती भूमिका में पहुँच जाती है, तब वह निर्विकल्प समाधि में विलीन हो जाती है। उस समाधि के नेत्रोंन्मीलन के उपरान्त ही कविता का जन्म होता है। यह परिश्रम की चतुर्थ कोटि है और यही सर्वोच्च कोटि है। इसी कोटि की भूमियों से साहित्य की अन्य विधाओं के अंकुर भी जन्म लेते हैं। साहित्य की उन सभी विधाओं के शरीर भाषा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

भाव (साहित्य) और भाषा के प्रश्न पर विचार करते समय प्रमुख प्रश्न '**अनुभूति**' (भाव) और '**संप्रेषणा**' का उत्पन्न होता है। यह माना कि 'अनुभूति' जितनी अधिक गहरी और घनीभूत होगी, उतनी ही अधिक प्रभावशालिनी 'अभि–व्यक्ति' होगी। उस अभिव्यक्ति की ऊर्जा मात्र 'संप्रेषणा' है। 'संप्रेषणा' भाषा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिस लेखक के पास अनुभूति है, लेकिन संप्रेषणा के लिए भाषा नहीं है, उसकी अनुभूति धरी की धरी रह जाती है। उसकी अनुभूति हृदय–भूमि से अंकुरित होती है और अंकुरण के समय विनष्ट हो जाती है।

भाषा साहित्य का आकार है, भाषा साहित्य का प्रकाश भी है। साहित्य अभिव्यंग्य है, तो भाषा अभिव्यंजना है। साहित्य आत्मा है, तो भाषा उसका शरीर है। शरीर आत्मा का अधिष्ठान है! साहित्य यदि आधेय है, तो भाषा उसका आधार है। अतः भाषा प्रमुख है। इसीलिए अमरकोशकार ने '**भाषा**' का एक पर्याय '**सरस्वती**' भी लिखा।

काव्य में भाव और अर्थ

'**भाव**' काव्य रूपी वृक्ष का मूल है और '**अर्थ**' उस वृक्ष का तना, शाखाएँ, पत्ते, फूल, फल आदि। अतः यह कहा जा सकता है कि काव्य में भावांश की अपेक्षा अर्थांश ही अधिक होता है। कल्पना की सहायता से कवि अपनी कविता में जो

प्रतीक–योजना, उपमान–विधान, अलंकार–सज्जा आदि प्रस्तुत करता है, वही वास्तव में '**अर्थ**' है। वह अर्थ–मंडन ही वास्तव में कविता की अपनी सम्पत्ति है। अर्थ-मंडन जितना उत्तम होगा, कविता भी उतनी ही उत्तम मानी जाएगी।

भाव जब अर्थ–मंडन के साथ शब्दों में व्यक्त होता है, तब '**काव्य**' कहलाता है। कवि के काव्य का प्रयोजन वास्तव में 'अर्थ' है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में कहा था, "काव्यं यशसे अर्थकृते"। काव्य की अर्थ–संयोजना ही तो कवि को यश प्रदान कराती है।

एक कवि ने कस्तूरबा की मृत्यु पर महान् धीर–गंभीर महात्मा गांधी जी को शोक–निमग्न देखा था। तब उसने एक कविता लिखी थी। उस कविता की प्रथम पंक्ति है—

"आज युगों के बाद हिमालय हिलकी भर कर रोया।"

इस पंक्ति में गांधी जी का 'शोक' भाव हिमालय को प्रतीक बनाकर व्यक्त किया गया है। यह प्रतीक–योजना ही कविता में कवित्व की स्थापना कर रही है। हिमालय का हिलकी भरकर रोना ही काव्य का अर्थ है, जिसमें शोकभाव अन्त–र्निहित है।

यदि वह कवि यह लिखता कि—

"बा के मरने पर गांधी जी हिलकी भरकर रोये।" तो इस पंक्ति में कोई 'सौन्दर्य' न होता। 'सौन्दर्य' अर्थात् कलापूर्ण कवित्व।

'रामचरितमानस' के राम धनुष उठाने के लिए जब चलते हैं, तब सीता जी उन्हें देखती हैं। तुलसी लिखते हैं—

"प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु विधु मंडल डोल॥"
—(मानस, बाल० दो० २५८/–)

सीता जी के 'लज्जा' भाव को कवित्व का रूप निम्नांकित बातों के कारण मिला है—

(१) सीता जी का पहले श्रीराम को देखना, फिर पृथ्वी की ओर देखना।
(२) देखते समय सीता जी के नेत्रों की पुतलियों का ऊपर–नीचे होना।
(३) नेत्रों को कामदेव की खेलती हुई मछलियाँ बताना।
(४) सीता जी के चेहरे को चन्द्रमंडल रूपी डोल की उपमा देना।

उपर्युक्त चारों बातें ही 'अर्थ' हैं। इन चारों बातों की समष्टि ही दोहे में कवित्व की स्थापना कर रही है। इसीलिए उपर्युक्त दोहा 'काव्य' कहलाने का अधिकारी है। सीता जी के 'लज्जा' भाव को तुलसी यदि इस अर्थ–मंडन के साथ व्यक्त न करते, तो दोहा काव्य का रूप ग्रहण न कर पाता।

अतः काव्य में '**भाव**' के आयाम से '**अर्थ**' का आयाम बड़ा होता है। 'अर्थ' ही कवि की अभिव्यक्ति को काव्य संज्ञा प्रदान करने में प्रमुख तत्त्व है। '**अर्थ**' यदि

भवन है तो '**भाव**' उस भवन की नींव है।

साहित्यकार की भाषा कठिन–सरल नहीं, अपितु सहज होती है

भाषा साहित्यकार के भाव का संप्रेषण है। भाव की अनुगामिनी भाषा न कठिन होती है, न सरल होती है; अपितु सहज होती है। यदि भाव गम्भीर है, तो भाषा भी गम्भीर हो जाएगी। यदि भाव गम्भीर नहीं, है तो भाषा भी अगंभीर होगी। उसी भाषा को हम सहज भाषा कहेंगे।

कुछ राजनीतिज्ञ एक भ्रान्ति फैला रहे हैं कि शासन के क्षेत्र में जो हिन्दी प्रयुक्त की जा रही है, वह बहुत कठिन है। विधि या प्रशासन की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग प्रशासनिक सूचनाओं, आदेशों अथवा अध्यादेशों में किया ही जाएगा। उन शब्दों का निर्माण तो संस्कृत की धातुओं तथा प्रत्ययों के आधार पर हुआ है। इसलिए उन संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया जाएगा। उन पारि–भाषिक शब्दों का प्रयोग यदि न किया जाएगा, तो संबद्ध भाव या विचार की संप्रे–षणा सही–सही नहीं हो सकती। इसके साथ–साथ यह न भूलना चाहिए कि संपूर्ण भारत में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा ही सुगमतापूर्वक बोधगम्य हो सकती है। इसका मूल कारण यह है कि भारत की वर्तमान सभी प्रान्तीय भाषाओं में लगभग ८० प्रतिशत शब्द संस्कृत भाषा से लिये गये हैं। 'लिये गये हैं' से तात्पर्य है कि परम्परा से प्राप्त हैं।

दक्षिण भारत की तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम भाषाओं में संस्कृत-शब्दों की संख्या ६० प्रतिशत से अधिक है। अरबी–फारसी के शब्दोंवाली हिन्दी दक्षिण भारतीय की समझ में नहीं आती। भारत से बाहर के देशों में भी वही हिन्दी सहज मालूम होती है, जो संस्कृतनिष्ठ है। अतः संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही सहज हिन्दी है। भारत तथा भारतेतर देशों में वही बोधगम्य है। विदेशी विद्वान् प्रो० स्मेकल ने इसका उद्‌घोष मुक्तकण्ठ से किया था।

'समालोचना–ग्रंथ' की हिन्दी 'उपन्यास' की हिन्दी से पृथक् होगी। दोनों प्रकार के ग्रन्थों की हिन्दी सहज हिन्दी है, क्योंकि विषयानुगामिनी है।

मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में श्रीराम के जीवन की कथा है। उसकी विवरणात्मकता ने साकेत की हिन्दी को जो रूप प्रदान किया, उस हिन्दी को प्रसाद अपने काव्य–ग्रन्थ 'कामायनी' में स्वीकार नहीं कर सकते थे। 'कामायनी' में दर्शन की प्रधानता है; उसमें कथानक तो नाममात्र को है अर्थात् साढ़े तीन चरित्रों के जीवन की बहुत पतली–सी रेखा है। कथाप्रधान काव्य और दर्शनप्रधान काव्य की भाषाओं में अन्तर हो ही जाएगा। प्रसाद जी की 'कामायनी' की भाषा को हम कठिन हिन्दी भाषा नहीं कह सकते। गुप्त जी के 'साकेत' की भाषा को हम सरल हिन्दी भाषा नहीं कह सकते। दोनों ही काव्यों की भाषाएँ सहज हैं।

शब्द–संक्षिप्ति एवं अर्थ–संक्षिप्ति : भाषा का अलंकरण

संधि–समास के द्वारा शब्द–संक्षिप्ति की प्रस्तुति की जाती है। निम्नांकित वाक्य में शब्दों की गणना कीजिए––

"**जो अभिमानरहित सर्वमंगला** (पार्वती) **की कलारूप कदम्ब की मंजरी के मकरन्द के स्रोत की बढ़ती हुई माधुरी का पान करनेवाले मधुव्रत** (भौंरे) हैं, ऐसे शिव को"।

सन्धि समासगत रूप में शब्द–संख्या—

"अखर्वसर्वमङ्गलाकलाकदम्बमंजरी
रसप्रवाहमाधुरीविजृम्भणामधुव्रतम्"

––(शिवताण्डव स्तोत्र, छंद १०)

उपर्युक्त कथन में '**अखर्व**' से '**मधुव्रतम्**' तक एक ही सामासिक पद है, क्योंकि केवल 'मधुव्रतम्' में ही विभक्ति प्रत्यय है, जो द्वितीया विभक्ति का एकवचन है। इसके पूर्ववर्ती सब पद विभक्तिरहित हैं।

उपर्युक्त एक सामासिक पद में अनेक शब्द समाविष्ट हैं। वास्तव में इसमें एक गागर में अनेक शब्दों का सागर भरा हुआ है। यही भाषा का अलंकरण है।

श्रीकृष्ण के मित्र उद्धव मथुरा से ब्रज गये थे, ब्रजांगनाओं को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने। ब्रजांगनाओं से उद्धव ने राधा की दशा के विषय में पूछा। सूरदास की गोपियाँ उद्धव को राधा की दशा बताती हैं संक्षिप्ततम रूप में—

"बिन माधव राधा की ऊधो ! सब विपरीत भई;
कदली दल–सी पीठ मनोहर मानो उलटि गई।" —(सूरसागर)

केले के पत्ते से राधा की पीठ की उपमा देकर सूरदास जी ने राधा की शारीरिक दुर्बलता का परिचय **अति संक्षिप्त रूप** में कह दिया है। कदलीदल चित रूप में स्वस्थता को और उलटे रूप में शरीर की चरमकोटि की क्षीणता को प्रकट करता है। यहाँ अर्थ की गागर में सागर भरा दिया गया है।

भारत की राजनीति ने 'राष्ट्रभाषा' का मूल अर्थ ही बदल दिया है

राष्ट्र–ध्वज एक होता है, राष्ट्र–गीत एक होता है, राष्ट्रभाषा एक होती है, क्योंकि राष्ट्र एक होता है। संपूर्ण राष्ट्र की जो एक भाषा होती है, वही '**राष्ट्र–भाषा**' कहलाती है। भारतीय संविधान की अष्टम सूची में भारत के विभिन्न राज्यों की भाषाओं को भी 'राष्ट्रभाषा' नाम दे दिया है। वास्तव में वे सब '**राष्ट्रीय भाषाएँ**' हैं 'राष्ट्रभाषा' नहीं। '**राष्ट्र भाषा**' और '**राष्ट्रीय भाषा**' में अन्तर था और अन्तर रहना चाहिए।

जिस हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' घोषित किया जाना चाहिए था, उसे स्वतन्त्र भारत की राजनीति ने 'राजभाषा' घोषित किया। इसे भारत का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए।

हिन्दी की जड़ों में मट्ठा प्रारम्भ से ही डाला गया

स्वतन्त्र भारत में हिन्दी की जड़ों में मट्ठा डालने का काम आदि से ही होता रहा है। पं० कमलापति त्रिपाठी के एक मत से हिन्दी की विजय और हिन्दुस्तानी की पराजय हुई थी। पं० नेहरू को हिन्दी की विजय तब खली थी। फिर ५ सितम्बर, १९५९ को पं० नेहरू ने प्रधानमंत्री के नाते संसद में कहा, "अंग्रेज़ी, राजभाषा हिन्दी की सहभाषा के रूप में तब तक जारी रहेगी, जब तक अहिन्दी भाषी लोग अंग्रेज़ी को चाहेंगे।" केन्द्र के सूचना–प्रसारण–मंत्री श्री पी० उपेन्द्र ने तो यह भी कहा था कि "हिन्दी राष्ट्रभाषा है और अंग्रेजी हमारी संपर्क भाषा है।"

महान् आश्चर्य है कि स्वतन्त्रभारत का केन्द्रीय सूचना–प्रसारण–मंत्री भी हिन्दी और अंग्रेज़ी की सांवैधानिक स्थिति को नहीं जानता था। संविधान में न हिन्दी 'राष्ट्रभाषा' है और न अंग्रेज़ी 'संपर्कभाषा'। हिन्दी केवल 'राजभाषा' (ऑफिशल लैंग्वेज) घोषित हुई है।

सन् १९६७ ई० में भाषा–अधिनियम में संशोधन किया गया कि अंग्रेज़ी तब तक जारी रहेगी, जब तक अहिन्दी भाषी राज्य उसे हटाना न चाहेंगे।"

इस तरह १९६७ ई० के अधिनियम से हिन्दी के दरवाजे सदा के लिए बन्द कर दिये गये। तदुपरान्त सरकारी काम–काज के लिए द्विभाषिकता का युग आरंभ हो गया। उस द्विभाषिकता में वर्चस् अंग्रेज़ी का ही रहा। वही वर्चस् आज भी उसी रूप में चला आ रहा है। हिन्दी अपने देश में दासी बनी हुई अंग्रेजी की शिला के नीचे दबी हुई घुट–घुटकर साँस ले रही है। देखिए, हिन्दी का भाग्य कब जागता है। "तपनि मिरगि सिस जे सहहिं अद्राते पलुहन्त।"

—(जायसी, पदमावत, नागमती वियोग खंड ३४३/३०/३)।

खड़ी बोली हिन्दी के पदात्मक तत्त्व हेमचन्द्र के अपभ्रंश–व्याकरण में मिलते हैं

ब्रजभाषा ओकारान्त या औकारान्त, अवधी अकारान्त और खड़ीबोली आकारान्त है। ब्रजभाषा में **सामरो** या **सामरौ**, अवधी में **सामर** और खड़ीबोली में **सामला** रूप होता है। ब्रजभाषा में **भलो, भलौ**, अवधी में **भल** और खड़ीबोली में **भला** बोला जाता है।

ब्रजभाषा में—भलौ दूल्हौ ('भलो दूल्हो' भी)।

अवधी में—भल दूलह।

खड़ीबोली में—भला दूल्हा।

ब्रजभाषा में—भयौ (भयो भी)

अवधी में—भा।

खड़ीबोली में—हुआ।

हेमचन्द्र के अपभ्रंश–व्याकरण (अ० ८/पाद ४/सूत्र ३३०/१) में उदाहरण है—"ढोल्ला सामला' (=सामला दूल्हा)।

उसी व्याकरण (अ० ८/पाद ४/सूत्र ३५१/१) में 'भल्ला हुआ' का उदाहरण है। यद्यपि हेमचन्द्र के अपभ्रंश–व्याकरण में अन्य भाषाओं के भी उदाहरण मिलते हैं। संज्ञा, विशेषण और क्रिया के पदों में आकारान्तता खड़ीबोली हिन्दी का प्रमुख लक्षण है। आचार्य वाजपेयी कहा करते थे जिसमें—**आ** की मात्रा की खड़ी पाई है, वही खड़ीबोली है।

ब्रजभाषा में **गोरौ**; अवधी में **गोर** और खड़ीबोली में **गोरा** होता है। ये पुंलिंग एकवचनीय विशेषण हैं। इनका स्त्रीलिंग रूप तीनों भाषाओं में **गोरी** ही होता है।

भल्ला हुआ या **ढोल्ला सामला** जैसी अपभ्रंश भाषा भारत के किस प्रदेश में बोली जाती थी—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हमारा अनुमान है कि यह कुरु प्रदेश की अपभ्रंश होगी। कुरु प्रदेश में आज भी द्वित्व की प्रवृत्ति है।

भारतीय संस्कृति और हिन्दू-संस्कृति

भारतीय संस्कृति के दर्शन ने मनुष्य के अन्तस् का अध्ययन किया है। उसका मूलाधार आत्मानुभूति है। पाश्चात्य संस्कृति का दर्शन बुद्धि तक ही सीमित है। यूनानी संस्कृति के दर्शन में विवेक की प्रधानता थी। उस विवेक को साधन बनाकर यूनानी दार्शनिकों ने मनुष्य के बाह्य जगत् का अध्ययन किया था।

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और विदुषी गार्गी के शास्त्रार्थ का प्रसंग है। उसमें गार्गी प्रश्न करती है, और याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं। प्रश्नों की शृंखला में जब गार्गी पूछती है कि आकाश किससे आवृत है? तब याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि गार्गी! इस प्रश्न को मत करो। इसका उत्तर तुम्हारी बुद्धि में नहीं समाएगा, क्योंकि यह आत्मानुभूति से सम्बद्ध है। याज्ञवल्क्य कहना चाहते थे कि **"आकाश ब्रह्म से आवृत है।"**

किसी भी भाषा का साहित्य हो, उस साहित्य में संस्कृति तथा समाज का चित्रण अवश्य होता है। हिन्दी के कुछ लेखक **'भारतीय संस्कृति'** और **'हिन्दू संस्कृति'** की अवधारणाओं को स्पष्ट करने में भूल करते रहे हैं। वे भारतीय संस्कृति को हिन्दू–संस्कृति और हिन्दू–संस्कृति को भारतीय संस्कृति कहते रहे हैं। कहने का

तात्पर्य यह है कि उनकी दृष्टि में हिन्दू–संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। लेकिन बात ऐसी नही है। हिन्दू–संस्कृति एक व्यष्टि–संस्कृति है और भारतीय संस्कृति एक समष्टि–संस्कृति है। 'भारतीय संस्कृति' का अर्थ है हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि की समन्वित संस्कृति।

कबीर भारतीय संस्कृति के समर्थक हैं। महाप्रभु प्राणनाथ और महात्मा गांधी को भारतीय संस्कृति का व्याख्याता माना जाना चाहिए। मैथिलीशरण गुप्त हिन्दू–संस्कृति के समर्थक थे। जायसी की 'सूफी संस्कृति' एक विशेष प्रकार की संस्कृति थी, जिसने हिन्दू–कथा–कहानियों के माध्यम से मुस्लिम संस्कृति का ही पर्दे में समर्थन किया था।

हिन्दी भाषा को भारतीयता प्रदान करने की दृष्टि से कबीर को हमें सर्वोच्च आसन पर बिठाना पड़ेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की जिस भाषा को सधुक्कड़ी कहा है, वह वास्तव में ऐसी हिन्दी है, जिसकी शब्द–संपदा भोजपुरी, ब्रजी, राजस्थानी, पंजाबी से भी ग्रहण की गयी है। सन्त कबीर भारतीय संस्कृति के ही समर्थक न थे, अपितु भाषा संसार में भी वे भारतीयता के संस्कार लाना चाहते थे। उनकी भाषा में संपर्क हिन्दी के लक्षण हैं।

काशी में जनमे सन्त कबीर जिस संप्रदायहीन भारतीय संस्कृति का गायन कर रहे थे, ठीक उसी प्रकार आसाम में सन्त शंकरदेव मानवीयता का शंखनाद कर रहे थे। सन्त शंकरदेव के मंडल में मुसलमान भी थे। उनमें चाँदसाई और जयाहाजी के नाम उल्लेखनीय हैं। शंकरदेव के अंकिया नाटकों की भाषा ब्रजवुलि है, जिसमें बँगला, मैथिली और ब्रजी के शब्द हैं। भारतीय संस्कृति के प्रसंग में मुझे भारत–वासी कुछ मुस्लिम भाइयों से शिकायत है कि वे हिन्दुस्तान की धरती पर जीवन बिताते हैं। हिन्दुस्तान की हवा में साँस लेते हैं। हिन्दुस्तान के खेतों का अन्न खाते हैं। लेकिन हिन्दुस्तान की धरती और आसमान से सच्चे दिल से प्यार नहीं करते। हिन्दुस्तान की मिट्टी में दफन होते हैं, पर उसकी मिट्टी से उन्हें दिली मोहब्बत नहीं।

उर्दू के मशहूर शायर मजाज़ ने एक नज्म लिखी थी, जो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में 'राष्ट्रगान' के रूप में गायी जाती है। उसे **'तरान–ए–वतन'** समझिए। उसकी प्रारम्भिक पंक्ति है—

"ये मेरा चमन है मेरा चमन, मैं अपने चमन का बुलबुल हूँ।"

इसी नज्म् में आगे एक पंक्ति आती है जिसमें मिस्र की शाम को और शीराज़ की रात को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मजाज़ साहब को 'अवध की शाम' और 'बनारस की सुबह' अच्छी नहीं लगी। मजाज़ ने 'तराना' में लिखा—

"हर शाम है शाम–ए–मिस्र यहाँ हर शब है शब–ए–शीराज़ यहाँ।"

—(मजाज़)

ईसा की तेरहवीं सदी में हिन्द की काव्य का रचयिता अमीर खुसरो पहला

मुसलमान कवि था, जिसने हिन्दुस्तान की मिट्टी से प्यार किया था। उन्होंने लिखा था—

"हस्त मरा मौलिद–ओ–मावा–ओ वतन" अर्थात् यही मेरा जन्म–स्थान और यही मेरी मातृभूमि है। अमीर खुसरो ने अपने आपको 'तूती–ए–हिन्द' कहा था। खुसरो ने जहाँ–जहाँ अपने इस देश 'हिन्दुस्तान' की प्रशंसा की है, उन–उन स्थलों को पढ़कर पाठक यह अनुभव करता है कि उन्होंने वे पंक्तियाँ आत्मविभोर होकर लिखी हैं।

अमीर खुसरो ने प्रेम के आदर्श में 'हिन्दू–नारी' को प्रस्तुत किया था—

"खुसरो ऐसी पीत कर, जैसे हिन्दू–जोय'
पूत पराये कारने, जल–जल कोयला होय।" —(खुसरो)

हृदय की भूमि में संवेदना और बुद्धि की भूमि में 'चेतना' का जन्म होता है। कवि की संवेदना जब चेतना को साथ लेकर आत्मा के क्षेत्र की ओर यात्रा करती है, तब बीच में एक पड़ाव पड़ता है, जिसे राष्ट्रीयता का पड़ाव कहते हैं। अमीर खुसरो के कवि ने उस राष्ट्रीयता के पड़ाव पर अपने जीवन के दिन और रात अवश्य बिताये थे। इसीलिए अमीर खुसरो की लेखनी हिन्दवी में राष्ट्रीय भावों की अभिव्यक्ति कर सकी थी। हिन्दवी का कवि अमीर खुसरो अपने व्यक्ति और समाज के स्तर से ऊपर उठ गया था। वह जाति से तुर्क होते हुए भी भाव–क्षेत्र में सच्चा हिन्दुस्तानी था।

खुसरो जहाँ भारतीय नारी के प्रेम को आदर्श मानकर काव्य में अपनी मनोभावना व्यक्त करते हैं, वहाँ 'तराना–ए–वतन' के शायर 'मजाज़' सुन्दर वातावरण के लिए 'शीराज़' और 'मिस्र' की याद करते हैं। मजाज़ कविता 'हिन्दुस्तान पर लिख रहे हैं, याद फारस और मिस्र की कर रहे हैं। पाठक इस 'देश–भक्ति' का मूल्यांकन स्वयं कर सकते हैं।

हमें मजाज़ साहब के शायर पर तो बहुत बड़ा ताज्जुब नहीं है; हैरत तो डा० इक़बाल के शायर पर है। जिस इक़बाल ने **'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा'** लिखा और उसमें जोर देकर कहा कि **"हिन्दी हैं हम वतन है हिन्तोस्ताँ हमारा"**, वही इक़बाल पाकिस्तान बनवाने में जिन्ना के साथ थे।

क्रांतिवीर स्वतन्त्रता–सेनानी मन्मथनाथ गुप्त ने इक़बाल के पाकिस्तानी साहित्य के आधार पर लिखा है—

जब सरदार भगतसहिं के भाई कुलवीरसिंह, भगतसिंह के कागज़ात की खोज में; आज से दस साल पहले पाकिस्तान जा रहे थे, मैंने उन्हें कुछ रुपये जबरदस्ती थमा दिये कि इकबाल का पूरा पाकिस्तानी साहित्य लाकर मुझे दें। तदनुसार वे कुछ पुस्तकें ले आये। उनमें यह डंके की चोट पर कहा गया था कि इक़बाल जिन्ना के साथ पाकिस्तान बनाने के श्रेय के अधिकारी हैं।" —(मन्थनाथ गुप्त का लेख, हिन्दुस्तान, ६ जनवरी, १९९२ ई०)

सन् १९१९ ई० में डा० इक़बाल ने ख़ुदा के सम्बन्ध में एक शेर ऐसा लिखा था, जिस पर लाहौर के सभी मुल्ला नाराज़ हो गये थे और यह फ़तवा दे दिया था कि इक़बाल काफ़िर है। उसने ख़ुदा को हरजाई कहा है। वह शेर यह है—

"कभी हमसे कभी ग़ैरों से शनासाई;
बात कहने की नहीं तू भी तो हरजाई है।" —(इक़बाल)

इस शेर के लिखने पर डा० इक़बाल को माफ़ी माँगनी पड़ी थी। यह बात सन् १९१९ ई० की है। इसके बाद इक़बाल का शायर पूरी तरह सांप्रदायिक कट्टर मुसलमान हो गया था। उनकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति समाप्त हो गयी थी। इक़बाल के अन्दर का शायर साम्प्रदायिक हो गया था। तब इक़बाल का शायर इस्लामपरस्त दार्शनिक बन गया था। ईमानदारी की बात कहें तो कहना पड़ेगा कि १९१९ ई० के बाद इक़बाल का अस्ली शायर मर ही गया था।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'साहित्यनिबन्धावली' के आधार पर उनके मत को इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। वह कहते थे—

"मुसलमान भारत में सात–आठ सौ वर्षों से रहते चले आ रहे हैं। कुछ को छोड़कर बाकी सभी यहाँ की सन्तानें हैं। तब भी यहाँ की संस्कृति को वे अपनी संस्कृति नहीं समझते।"—(राहुल जी)

हिन्दुस्तान के कुछ मुसलमान उर्दू भाषा को इरादे के साथ फ़ारसी के कन्धों से कन्धा मिलाकर चलाना चाहते हैं। वे उर्दू को हिन्दी से बिल्कुल दूर रखने की कोशिश करते रहते हैं। वे चाहते हैं कि उर्दू में '**बुलबुल**' (एक चिड़िया) को पुंलिग में लिखा जाए। '**चर्चा**' को पुंलिंग में लिखा जाए। '**किनारा**' को '**कनारा**' लिखा जाए। हिन्दी अगर मुस्कराती है तो उर्दू मुस्कराये नहीं, बल्कि **मुस्कुराये**। आकाशवाणी पर उर्दू का उद्घोषक कभी '**पंजाब का शेर**' न कहेगा; बल्कि '**शेर–ए–पंजाब**' कहेगा। '**माँ–बाप**' न बोलकर '**वाल्दैन**' बोलेगा।

सारांश यह कि मुसलमान उर्दू–लेखक कुछ ऐसे हैं, जो उर्दू की शब्द–संस्कृति को भारतीयता से अलग रखना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि उर्दू की आँखें ईरान और अरब को ही देखती रहें। हिन्दुस्तान को न देखें।

भारत में भारतीय संस्कृति सच्चे अर्थों में तभी कल्याणकारी सिद्ध हो सकती है, जब हमारे देश के हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि भारत को अपना देश समझें और भारत की मिट्टी से प्यार करें। महात्मा गांधी ने जीवन भर प्राणपण से भारतीय संस्कृति का शंख–नाद किया। भारत को अपना राष्ट्र माननेवाले आज कितने हैं और कौन–कौन हैं ? इसका उत्तर ही बता सकता है कि भारतीय संस्कृति भारत में उठ रही है या गिर रही है। हिन्दू–संस्कृति में भारतीय संस्कृति कितने अंशों में है—इसका भी आकलन कर लेना चाहिए ?

हिन्दी के साहित्यकारों से मैं इसी आकलन के आलोक में आगे बढ़ने के लिए निवेदन करना चाहता हूँ।

यदि 'हिन्दुत्व' और 'हिन्दू–संस्कृति' की वह परिभाषा की जाए जो महामना पं॰ मदनमोहन मालवीय करते थे, तो मैं यह भी कह सकता हूँ कि 'हिन्दू-संस्कृति' 'भारतीय संस्कृति' की पूर्णतः पर्याय है। मालवीय जी की 'हिन्दू-संस्कृति' मानव-संस्कृति थी। उनकी दृष्टि में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि में कोई भेद-भाव नहीं था।

सन् १९४७ ई० में मालवीय जी ने बनारस के मुसलमानों की प्राण-रक्षा के लिए उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में रखा था, उनके भोजनादि का प्रबन्ध भी किया था। विश्वविद्यालय छात्रों को प्रेरित किया था कि वे बनारस के मुसलमानी मोहल्लों के चारों ओर पहरा दें, ताकि कोई हिन्दू-दल मुसलमानों पर आक्रमण न कर सके। उन्होंने अछूतों के लिए काशी विश्वनाथ मन्दिर का द्वार खुलवाया था। मालवीय जी की 'हिन्दू-संस्कृति' विशाल ही नहीं, विराट् थी। मालवीय जी की जो अवधारणा हिन्दू-संस्कृति की थी, उसमें और भारतीय संस्कृति में कोई अन्तर न था।

कबीर, रैदास, नानक, तुलसी, चैतन्य, प्राणनाथ आदि सन्तों द्वारा जिस समन्वयात्मक संस्कृति का चित्र बनता है, वही भारतीय संस्कृति है और वही मालवीय जी की हिन्दू–संस्कृति है।

मालवीय जी का जो अपना खान-पान और रहन-सहन था वह उनका व्यक्तिगत था। वह उनके पैतृक संस्कारों की धरती से उत्पन्न हुआ था। उनकी राष्ट्रीय तथा सामाजिक विचारधारा में वह कभी बाधक नहीं बना। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय और समाज के मालवीय जी की संस्कृति भारतीय संस्कृति थी।

पाश्चात्य संस्कृति में भौतिकवाद एवं भारतीय संस्कृति में भौतिकवाद

'संस्कृति' चरित्र की समष्टि है। 'चरित्र' आचरण की समष्टि है। किसी देश की मानवजाति के चरित्र से उस देश की संस्कृति को जाना जा सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति के आचरण (कण्डक्ट) से समाज का चरित्र (कैरेक्टर) बनता है।

'चरित्र' दो प्रकार का होता है—(१) **सच्चरित्र** (२) **दुश्चरित्र**। समाज के कल्याणकारी विचार और कर्म सच्चरित्र और अकल्याणकारी विचार और दूषित कर्म दुश्चरित्र माने जाते हैं।

प्रायः कह दिया जाता है कि पाश्चात्य सभ्यता भौतिकवादी और भारतीय सभ्यता अध्यात्मवादी है। भारत भौतिकता का प्रेमी तो रहा है; लेकिन भौतिकता के प्रति भारत की वह दृष्टि नहीं रही, जो पश्चिम की है। पश्चिम की संस्कृति नितान्त व्यक्तिगत भौतिकतादी है। पश्चिम भौतिकता को मनुष्य के भोग के लिए ही मानता है। उसका साधन 'अर्थ' और साध्य 'काम' है।

पश्चिम की भौतिकता मनुष्य के व्यक्तिगत भोग–विलास के लिए ही है। भारत की भौतिकता प्राणिमात्र की सुख-सुविधा के लिए है। वैदिक ऋषियों ने जहाँ 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' जैसी ऋचाओं को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के साथ गाया था, वहीं उन ऋचाओं का भी पाठ किया था, जिसमें गाय, अश्व, अन्न, धन आदि को प्राप्त करने के लिए कहा गया है। भारतीय भौतिकवाद समाज, राष्ट्र और विश्व के प्राणिमात्र को धन आदि समर्पित करने पर बल देता है। भारत अन्न को भी ब्रह्म मानता है।

महाभारत के शान्तिपर्व में युधिष्ठिर शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह से राजनीति और धर्मनीति से सम्बद्ध कुछ प्रश्न करते हैं। भीष्म पितामह उन प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

युधिष्ठिर कहते हैं, "पितामह ! धन से मनुष्य की वृत्तियों में भोग–लालसा बढ़ती है; तब मनुष्य पाप करने लगता है।"

युधिष्ठिर की इस शंका का निवारण भीष्म पितामह ब्रह्मज्ञानी राजा जनक का उदाहरण देकर कहते हैं कि राजा को धन अवश्य एकत्र करना चाहिए; लेकिन उसका वितरण प्रजा के सुख के लिए ही करना चाहिए। राजा के मन में उस अर्जित धन के प्रति लेशमात्र भी आसक्ति न होनी चाहिए। राजा जनक ने सुलभा से कहा था, "सुलभे ! यदि संपूर्ण मिथिला जल जाए, तो मेरा कुछ भी न जलेगा"— (मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चित्)। पितामह ने कहा, "युधिष्ठिर ! राजा को धन–सम्पत्ति की प्राप्ति में हर्ष और विनाश में विषाद नहीं होना चाहिए। ऐसी वृत्तिवाले राजा को धन भोग--विलासी या पापी कभी नहीं बना सकता।"

'महाभारत' में तो भूतहित को ही सत्य माना गया था—

"यतो भूतहितं अत्यन्तं तत् सत्यम्" —(महाभारत)

यज्ञ–हवन से भजन–कीर्तन सेअथवा मन्दिर जाने से क्या होसकता है ?

यदि कोई व्यक्ति समझता है कि यज्ञ–हवन करने से आत्मा परमात्मा में लीन हो जाएगी अथवा भजन–कीर्तन प्रभु से जो चाहेंगे, वह प्राप्त करलेंगे अथवा मन्दिर जाने से ईश्वर के दर्शन हो जाएँगे, तो वैसा समझना समझदारी नहीं है।

फिर यह प्रश्न उठता है कि हमारे ऋषियों अथवा धर्माचार्यों ने उपर्युक्त आध्यात्मिक मार्गों का निर्माण क्यों किया ? क्या उनके द्वारा हमारे सामाजिक जीवन में एक भ्रम–जाल फैलाया गया था ? नहीं; ऐसा नहीं है। उपर्युक्त आध्यात्मिक मार्गों पर चलने से हमारे संस्कार अवश्य बनते हैं। उन संस्कारों से हमारी वृत्तियों का कुछ न कुछ परिष्कार होता है और मन में उदात्त भावनाएँ जन्म लेती हैं।

वैदिक संहिताओं, उपनिषदों और दर्शन–ग्रन्थों के नामकरण का आधार

वैदिक संहिताएँ चार हैं—(१) **ऋग्वेद** (२) **यजुर्वेद** (३) **सामवेद** (४) **अथर्ववेद**।

प्रसिद्ध उपनिषद् ग्यारह हैं--(१) **ईशावास्य** (२) **केन** (३) **कठ** (४) **प्रश्न** (५) **मुंडक** (६) **माण्डूक्य** (७) **तैत्तिरीय** (८) **ऐतरेय** (९) **छान्दोग्य** (१०) **बृहदारण्यक** (११) **श्वेताश्वतर**।

दर्शन ग्रन्थ छह हैं—(१) **वैशेषिक** (२) **सांख्य** (३) **वेदान्त** (४) **योग** (५) **मीमांसा** (६) **न्याय**।

वेद—

(१) **ऋग्वेद**='ऋक्' शब्द का अर्थ है 'स्तुति'। जिस वेद में परमात्मा की महिमा और स्तुति के मंत्र हैं, उसका नाम ऋग्वेद है।

(२) **यजुर्वेद**=(यजुः+वेद) वे यज्ञ–मंत्र जो गद्य में हैं, 'यजुः' कहलाते हैं। उन मंत्रों का संग्रह यजुर्वेद संहिता कहलाता है।

(३) **सामवेद**=(सामन्+वेद) शान्ति एवं प्रशंसा से सम्बद्ध गानवाला वेद सामवेद कहा जाता है।

(४) **अथर्ववेद**=वैदिक ऋषि मंत्रद्रष्टा थे। अथर्व नाम के ऋषि ने जिन मंत्रों को देखा, उन मंत्रों का संग्रह अथर्ववेद संहिता के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उपनिषद्

(१) **ईशावास्य उप०**—जिस उपनिषद् के मंत्र यह प्रतिपादित करते हैं कि ईश्वर सब में बसा हुआ है, उनका संग्रह ईशावास्य उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(२) **केन उपनिषद्**—शिष्य के द्वारा इस उपनिषद् में '**केन**' से प्रश्न किया गया है और गुरु द्वारा उस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। इसी आधार पर 'केन उपनिषद्' नाम रख दिया गया।

(४) **कठोपनिषद्**—यजुर्वेद की एक शाखा का नाम 'कठ' है। उस शाखा के मंत्रों के कारण इसका नाम 'कठोपनिषद्' रखा गया।

(४) **प्रश्नोपनिषद्**—सुकेश आदि ने ऋषि पिप्पलाद से प्रश्न किये हैं और उन प्रश्नों के उत्तर पिप्पलाद ने दिये हैं। इसीलिए इस उप–निषद् को प्रश्नोपनिषद् कहते हैं।

(५) **मुण्डकोपनिषद्**—मुण्ड या मुण्डक का अर्थ है 'शिर'। इस उपनिषद् में शीर्ष कोटि की पराविद्या का वर्णन है। अथवा पाप–ताप का मुंडन करनेवाली विद्यावाला उपनिषद् मुण्डकोपनिषद् कहलाया।

(६) **माण्डूक्योपनिषद्**—यह अथर्ववेद का उपनिषद् है। इस उपनिषद् के ऋषि का नाम माण्डूक्य है। ऋषि के नाम पर ही इस उपनिषद् का नाम प्रसिद्ध हुआ।

(७) **तैत्तिरीयोपनिषद्**—यह तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है। उसी आरण्यक के नाम पर इस उपनिषद् का नामकरण किया गया। वह आरण्यक कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का है।

(८) **ऐतरेयोपनिषद**—ऐतरेय आरण्यक के अन्तर्गत यह उपनिषद् है। इस उपनिषद् के ऋषि महिदास ऐतरेय हैं। इतरा + ढक् = ऐतरेय। इतरा नारी की सन्तान **'ऐतरेय'** कहलायी। ऐतरेय द्वारा इसमें आत्मविद्या का वर्णन है।

(९) **छान्दोग्योपनिषद्**—**'छन्दोग'** का अर्थ है छन्दों में गानेवाला। जिस उपनिषद् में मंत्रों को गाकर बताने का विधान वर्णित है, उसे छान्दोग्य उपनिषद् कहा गया।

(१०) **बृहदारण्यकोपनिषद्**—यह उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का भाग है। यह त्रैतवादी उपनिषद् सबसे बड़ा है। इसलिए इसका नाम बृहदारण्यक उपनिषद् हुआ।

(११) **श्वेताश्वतरोपनिषद्**—यजुर्वेद की एक शाखा का नाम 'श्वेताश्वतर' है। उसी शाखा से सम्बद्ध यह उपनिषद् है। इसमें सर्वप्रथम ब्रह्म को पुरुष की उपमा दी गयी है।

दर्शन—

(१) कणादकृत **वैशेषिक**—इस दर्शन में 'विशेष' नाम के पदार्थ को माना गया है। यह दर्शन परमाणु सिद्धान्त का प्रतिपादक है। यह परमाणु को सृष्टि का मूल मानता है।

(२) कपिलकृत **सांख्य**—संख्या से सम्बद्ध दर्शन का नाम सांख्य है। इसमें बताया गया है, कि प्रत्येक जीव एक लघु तत्त्व है, जिसमें चौबीस संख्या वाले तत्त्व हैं। यह दर्शन प्रकृति को सृष्टि का मूल मानता है।

(३) वादरायणकृत **वेदान्त**—जिस दर्शन से वेद का अन्तिम ज्ञान प्राप्त होता है, वह 'वेदान्त' कहलाया। यह ब्रह्म को सृष्टि का मूल मानता है।

(४) पतंजलिकृत **योग**—मन को आत्मा से और आत्मा को परमात्मा से जोड़नेवाला दर्शन योगदर्शन कहलाया।

(५) जैमिनिकृत **मीमांसा**—पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्ड और उत्तरमीमांसा में ज्ञानकाण्ड है। कर्म-ज्ञान की मीमांसा से सम्बद्ध दर्शन 'मीमांसा' कहलाया।

(६) गौतमकृत **न्याय**—न्यायसम्मत तर्कशास्त्र को न्यायशास्त्र कहते हैं।

न्यायदर्शन का आधार–ग्रन्थ 'न्यायसूत्र' है। इस दर्शन को अधिक लोकप्रियता नहीं मिली।

दर्शनों में **'वेदान्त'** और **'मीमांसा'** को सर्वाधिक मान्यता मिली।

प्राचीन ग्रन्थों में प्रतीकात्मक संकेत, जिन्हें कुछ लोग नहीं समझते

प्राचीन ग्रन्थों में कहा गया है कि सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री है और वही पत्नी भी है। वैदिक साहित्य में ब्रह्मा मन का प्रतीक है। सरस्वती वाणी की प्रतीक है। वाणी का जन्म मन से है अर्थात् सरस्वती का जन्म ब्रह्मा से है।

वाणी (भाषा) का रस–भोग श्रोता या पाठक का मन किया करता है अर्थात् सरस्वती का भोग ब्रह्मा करता है।

इसलिए पुराणों में कहा गया कि सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री है और पत्नी भी।

नाथ–पंथ की हठयोग पद्धति में वर्णित है कि योगी गोमांस का भक्षण करता है। इसका भी प्रतीकात्मक अर्थ है।

हठयोग में एक मुद्रा का नाम **'खेचरी मुद्रा'** है। उसमें योगी अपनी जिह्वा को उलटकर कपाल–कुहर में प्रविष्ट करता है। तब उसकी दृष्टि भौहों के मध्य चक्र पर लगी रहती है। जहाँ जीभ लगती है, वहीं चन्द्रमा का बास है। उसके रस का पान जिह्वा करती है। वही **'सोमरस पान'** कहलाता है।

हठयोग की परिभाषिक शब्दावली में 'जिह्वा' का एक नाम **'गो'** भी है। जिह्वा (गो) जिस रस का स्वाद लेती है, वह रस **'गोमांस'** कहलाता है। खेचरी मुद्रा में योगी इस तरह 'गोमांस–भक्षण' करता है। वह रस 'अमरवारुणी' भी कहलाता है। यह हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली है।

हिन्दुओं में सात लोक और मुसलमानों में सात आस्मान

नाथ–पंथ की साधना–पद्धति का नाम हठयोग है। इसके अनुसार शरीर में सप्त कमल (सप्त चक्र) हैं। उनके नाम हैं --(१) मूलाधार चक्र (लिंग प्रदेश में चार दलों का कमल) (२) स्वाधिष्ठान चक्र (नाभि प्रदेश में, छह दलों का कमल) (३) मणिपूर चक्र (नाभि से कुछ ऊपर दस दलों का कमल) (४) अनाहत चक्र (हृदय में, बारह दलों का कमल) (५) विशुद्धाख्य चक्र (कण्ठ में, १६ दलों का कमल (६) आज्ञा चक्र (भौहों के मध्य में, दो दलों का कमल (७) सहस्रार चक्र (मस्तक में, सहस्र दलों का कमल)

सबसे ऊपर आठवें कमल की भी कल्पना है, जिसे **'सुरति कमल'** कहा गया है।

यहाँ पहुँचकर योगी फिर वासना का शिकार नहीं होता ।

ऊपर जो सात चक्र बताये गये हैं, वे बाह्य जगत् में लोक भी कहलाते हैं। उनके क्रमश: नाम हैं—

हिन्दुओं के अनुसार लोक	मुसलमानों के अनुसार आस्मान
(१) मूलाधार चक्र=भूलोक	(१) आलमें फानी
(२) स्वाधिष्ठान चक्र=भुवर्लोक	(२) नासूत
(३) मणिपूर चक्र=स्वर्गलोक	(३) जन्नत (बहिश्त)
(४) अनाहत चक्र=महर्लोक	(४) ·········
(५) विशुद्धाख्य चक्र=जनलोक	(५) मल्कूत
(६) आज्ञा चक्र=तप:लोक	(६) जबरूत
(७) सहस्रार चक्र=सत्यलोक	(७) लाहूत

साहित्य का मर्मज्ञ बनने के लिए लोकदर्शी होना अनिवार्य है

साहित्य में 'वाक्य' या 'शब्द' का पूरा अर्थ जानने के लिए लोक का प्रत्यक्ष-दर्शी होना अनिवार्य है। महाभारतकार ने सत्य ही कहा है कि "प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नर:" ।

एक वाक्य है—"उसका कुनवा बारह बाँट हो गया ।" **'बारह बाँट'** क्या होता है, इसकी जानकारी उसे ही हो सकती है, जिसने अपनी आँखों से कपास (बन) के खेत में कपास बीननेवाली मजदूर स्त्रियों की बीनी हुई कपास को खेत की मालकिन द्वारा एक निश्चित सिद्धांत के आधार पर विभाजित करते देखा हो । उपर्युक्त वाक्य का बिम्बात्मक अर्थ तभी समझ में आ सकता है ।

जिसने ब्रज में ८-१० वर्ष की बालिकाओं को पेटीकोटनुमा छोटी-सी घाघरी पहने नहीं देखा, वह **'फरिया'** शब्द का अर्थ नहीं समझ सकता । न वह सूर की राधा की पूर्ण छवि को अपने मानस-पटल पर उतार सकता है। सूर इकतारे पर गाते हैं—

"नील बसन फरिया कटि पहिरें बेनी पीठि रुलति झकझोरी ।"

—(संपा० सीताराम चतुर्वेदी, सूरग्रंथावली, खण्ड २/पद १४२६)

'फरिया' को जानने के लिए ब्रज-लोक-जीवन का प्रत्यक्ष द्रष्टा होना अनिवार्य है।

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में कारीगरों द्वारा सीता के विवाह के लिए जो रतनजटिल मंडप-भूमि सजायी गयी है, उसके वर्णन में लिखा गया है—

"मानिक मरकत कुलिस पिरोजा ।
चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ।।" (मानस, बाल० दो० २८८/४)

जिसने नवरतन (**माणिक्य, मुक्ता, प्रवाल, पन्ना, पुखराज, हीरा, नीलम,**

गोमेद और **लहसुनिया**) नहीं देखे तथा उनके रँगों पर ध्यान नहीं दिया, वह उपर्युक्त अर्धाली में आये हुए **मानिक**, **मरकत**, **कुलिस** और **पिरोजा** का अर्थ पूरी तरह नहीं जान सकता। न वह नगों के **चीरने**, **कोरने** तथा **पचने** की क्रिया को समझ सकता है। उसे बेगड़ियों के यहाँ जाकर नगों को प्रत्यक्ष रूप से देखना होगा।

माणिक्य लाल, मरकत हरा, कुलिश सफेद और फीरोज (नीलम) हलका नीला होता है।

कई कोनोंवाले ऊबड़-खाबड़ नग को बेगड़ी अपने औजारों से घिसकर उसके कोनों को चौरस करते हैं, वह क्रिया **कोरना** कहाती है। किसी चौरस पत्थर के धरातल पर यदि कोई नग ऐसा जड़ दिया जाता है कि उस पत्थर का धरातल तथा नग का धरातल एक हो जाए तो उस क्रिया को **पचना** कहते हैं। पचने से पहले कोरने की और कोरने से पहले चीरने की क्रिया की जाती है। इसीलिए तुलसीदास लाल, पन्ना, हीरा और नीलम के लिए क्रमशः **चीरना**, **कोरना** और **पचना** क्रियाओं का उल्लेख करते हैं।

उक्त अर्धाली का अर्थ लोक का प्रत्यक्षदर्शी ही समझ सकता है। जिसकी आँखें ब्रज के जन्म-मरण के संस्कारों से पूर्णतः परिचित नहीं, वह ब्रज-नारियों की गाली '**कढ़ी खाये**' का अर्थ नहीं समझ सकता।

मान लीजिए कि साहित्य के एक पाठक ने एक शायर का निम्नांकित शेर किसी पुस्तक में पढ़ा और उसके अर्थ को उसने जानना चाहा—

"किस्मत की ख़ूबी देखिए टूटी कहाँ **कमन्द**।
दो-चार हाथ जबकि **लबेबाम** रह गया॥"

अर्थ जानने के लिए उसने लुग़त (शब्द-कोश) को देखकर निम्नाँकित शब्दों के अर्थ मालूम कर लिये—

कमन्द=छत पर चढ़ने में काम आने वाली रस्सी।
लब=होंठ।
बाम=छत।

इतना जान लेने पर भी उस पाठक को पूरा-पूरा अर्थ उपर्युक्त शेर का मालूम नहीं हो सकता।

उसे स्वयं अपनी आँखों से पहले **कमंद** को देखना पड़ेगा।

'**कमंद**' एक विशेष फन्देदार रस्सी होती है, जिनके एक सिरे पर गोह बँधी रहती है। जब किसी चोर को रात में किसी मकान की छत पर चढ़ना होता है, तो उस रस्सी के सहारे वह इसलिए चढ़ जाता है कि छत पर फेंकी हुई गोह छत की मुड़गेली से चिपक जाती है। रस्सी का दूसरा सिरा फन्देदार होता है। उसमें चोर की कमर फँसी रहती है। कमन्द छत की मुड़गेली पर से नीचे लटकी रहती है। छत की मुड़गेली को ही **लबेबाम** कहा गया है।

चोर के चढ़ते समय अगर कमन्द टूट जाए, तो फिर चोर छत पर नहीं

पहुँच सकता अर्थात् चोर का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता।

उपर्युक्त शेर का पूरा अर्थ **कमन्द** और **लबेबाम** का प्रत्यक्ष द्रष्टा ही समझ सकता है।

लोक में जिसने अपनी आँखों से गुलाब के खेतों में प्रायः गुलाब के फूल खिलते नहीं देखे और खिलते समय उनकी **'चट–चट'** ध्वनि नहीं सुनी, महाकवि देव की घनाक्षरी के निम्नांकित चरण का अर्थ उसकी आत्मा में नहीं उतर सकता। वह व्यक्ति गुरु से इसका अर्थ सुनकर उसे रट भले ले—

"मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब **चटकारी** दै।" —(देवदत्त 'देव')

मैंने अपनी बाल्यावस्था में अपनी आँखों से गुलाब के खेत में प्रातः गुलाब की कलियों को खिलते समय चटकते सुना है। उनकी 'चटकारी' अपने कानों से पर्याप्त समय तक सुनी है। 'देव' के उपर्युक्त चरण को पढ़ते ही मैं उसके अर्थ को पूरी तरह समझ गया। उपर्युक्त चरण का पूरा–पूरा अर्थ तुरन्त मेरी आत्मा में उतर गया। **'चटकारी'** का पूरा–पूरा अर्थ मेरे कानों के मार्ग से मन में जाकर 'श्रव्य बिम्ब' बना देता है।

'सूरसागर' में सूरदास जी का एक पद है—'अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ"—(सूरसागर, संपा० सीताराम चतुर्वेदी, पद संख्या ४६७१)। उसकी अन्तिम पंक्ति में मुद्रित है—"सूरदास **नलिनीकौ** सुवटा कहि कौने जकर्यौ"। यहाँ **'ललनीकौ'** लिखा जाना चाहिए था।

वास्तव में **'ललनी'** एक प्रकार का ढाँचा है, जो लकड़ियों और बाँस की नली से बनाया जाता है। चिड़ीमार इसकी सहायता से तोतों को पकड़ते हैं। उस ढाँचे के ऊपर तोता इसलिए बैठता है कि चिड़ीमार उसके नीचे जमीन पर अनाज के कुछ दाने बिखेर देता है। तोता उन्हें खाना चाहता है। ढाँचे पर तोते का वज़न पड़ता है, उससे बाँस की नली उलटकर घूम जाती है। तोता तुरन्त नीचे की ओर लटक जाता है। वह समझता है कि वह पकड़ लिया गया। वह चुपचाप लटका रहता है। फिर चिड़ीमार उस तोते को पकड़ लेता है।

जिस व्यक्ति ने अपनी आँखों से चिड़ीमारों की बस्ती में जाकर **'ललनी'** नहीं देखी। उसका उपयोग–प्रयोग नहीं देखा, वह कभी 'सूरसागर' की इस पंक्ति का अर्थ नहीं समझ सकता—

"सूरदास ललनी कौ सुवटा कहि कौने जकर्यौ"। —(सूरसागर ४६७१)

'सूरसागर' का एक पद है–"प्रीति करि दीन्ही गरैं छुरी"। इस पद में एक पंक्ति है–"मुरली मधुर चेंप **काँपा** करि मोरचन्द्र **फँदवारि**।"–(सपा०सीताराम चतुर्वेदी, खण्ड ४, पद ३१८२)।

इसमें प्रयुक्त **काँपा** और **फँदवारि** शब्दों के अर्थ वह व्यक्ति नहीं जान सकता, जिसने चिड़ीमारों की दुनिया में जाकर उन्हें चिड़ियाँ फँसाते या मारते नहीं देखा।

चिड़ियों को मारने अथवा घायल करने के साधन से सम्बद्ध हैं **काँपा** और **फँदवारि**। वह हिन्दी–प्रोफेसर उपर्युक्त पंक्ति के अर्थ को स्पष्ट नहीं कर सकता, जिसने चिड़ीमार का वह साधन–यंत्र नहीं देखा। मैंने कई ब्रजभाषा–पंडितों से उक्त पद का अर्थ पूछा था। वे सब असमर्थ सिद्ध हुए थे।

लोक का प्रत्यक्षदर्शी होना साहित्य के मर्म को समझने तथा वास्तविक रस प्राप्त करने का प्रमुख साधन है।

जिसने ग्रामीण बुनकरों को करघों पर कपड़ा बुनते नहीं देखा, वह कबीर के पद की निम्नांकित पंक्ति का अर्थ नहीं समझ सकता—

"इड़ा पिंगला ताना भरनी सुषमन तार से बीनी चदरिया"

जायसीकृत 'पदमावत' (नागमती सन्देश खंड, ३६८/२) में **'घमोई'** का उल्लेख है—"देखेउँ तोरे **मँदिल घमोई**।

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' (लंका०, १०/३) में रावण ने अपने पुत्र प्रहस्त को **घमोई** कहा है—"बेनुमूल सुत भयहु **घमोई**"।

मैंने कई हिन्दी प्रोफेसरों से पूछा कि **घमोई** क्या है ? क्या आपने **'घमोई'** देखी है ? सभी ने कहा कि **'घमोई'** एक पौधा होता है, लेकिन हमने देखा नहीं है।

'बृहत् हिन्दी कोश' में तो **घमोई** और **घमोय** को दो अलग–अलग वस्तुएँ बताया गया है। भ्रान्ति है उन कोशकारों की।

लोक का प्रत्यक्ष द्रष्टा ही जान सकता है कि **घमोई** और **घमोय** एक ही बात है। यह छोटा–सा काँटेदार पौधा है, जिस पर काँटेदार फली आती है, जिसमें बीज भरे रहते हैं। लोक में इसे **सत्यानासी** या **भटकटैया** भी कहते हैं।

लोक की मेधा और दृष्टि बड़ी पैनी होती है। **'घमोई'** के पौधे जिस बाँस के पास अधिक उगे हुए होते हैं, वह बाँस कालान्तर में नष्ट हो जाता है। 'घमोई' बाँस की सत्ता का नाश कर देती है, इसीलिए उसका अन्वर्थनाम **सत्यानासी** (सत्तानाशी) भी पड़ गया।

लोक ने देखा कि हवा चलने पर पीपल के पत्ते बहुत हिलने हैं, इसीलिए पीपल वृक्ष का एक नाम **चलदल** प्रसिद्ध हो गया।

जिस हिन्दी साहित्यसेवी ने अपनी आत्मा को लोकजीवन की आत्मा से नहीं मिलाया, वह हिन्दी भाषा तथा हिन्दी साहित्य की आत्मा के पूर्ण दर्शन नहीं कर सकता। मेरी मान्यता है कि साहित्यकार के लिए लोक के साथ शास्त्र को और शास्त्र के साथ लोक को खुली आँखों से देखना आवश्यक है।

नज़ीर अकबराबादी की एक कविता–पंक्ति है—

"सब ठाठ पड़ा रह जाएगा जब लाद चलेगा बंजारा।" —(नज़ीर)

जिसने लोक–जीवन को खुली आँखों नहीं देखा, वह कवि नज़ीर की उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ नहीं जान सकता। जब बंजारा लाद करके चल देगा, तब **'ठाठ'** कैसे पड़ा रह जाएगा ? वास्तव में **ठाठ** की जानकारी लोक के प्रत्यक्ष द्रष्टा को ही ठीक–

ठीक हो सकती है । बंजारे जंगल में डेरा डालते समय अपने तम्बुओं को जंगल के पेड़ों की लकड़ियाँ गाड़कर तानते हैं । कुछ दिनों तक रहकर फिर तम्बू उखाड़कर तथा अपना सामान घोड़ों पर लादकर अन्यत्र चल देते हैं । पेड़ों की उन लकड़ियों को वहीं फेंक देते हैं । वे लकड़ियाँ ही **ठाठ** कहलाती हैं ।

लोक का प्रत्यक्षदर्शी लोक–शब्दों की आत्मा के दर्शन बहुत जल्दी कर लेता है । मठे में बेसन घोलकर उसे घंटे–दो घंटे तक आग पर निरन्तर खौलाते रहते हैं । उस निरन्तर खौले हुए घोल को **कढ़ी** कहते हैं । उस खाद्य वस्तु को **कढ़ी** क्यों कहा गया ? यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर लोकजीवन का अध्येता ही दे सकता है ।

कौरवी (जनपदीय खड़ीबोली) में **काढ़ना** और **कढ़ाना** दो क्रियाएँ प्रचलित हैं— (१) **काढ़ना**=निकालना (भैंस का दूध काढ़ ले ।) (२) **कढ़ाना**=निरन्तर पर्याप्त समय तक आग पर किसी द्रव पदार्थ का खौलते रहना (चार घंटे से दूध कढ़ा रहा है ।) जिस लोहे के बड़े बर्तन में दूध निरन्तर गर्म होता रहता है, उसे **कढ़ाई** कहते हैं । '**कढ़ाना**' क्रिया का अर्थ जानने पर **कढ़ी** और कढ़ाई का अर्थ सुगमतापूर्वक समझ में आ सकता है ।

लोक–मुख के गिरिवर से शब्द रूपी झरना शतधार बनकर झरता है । जो व्यक्ति अपने जीवन को लोक–जीवन में आत्मसात् कर देता है, वह शब्दरत्न राशि का कुबेर बन जाता है ।

दूध को दही के रूप में परिवर्तित करने के लिए दूध में बहुत थोड़े–से दही का पुट लगाया जाता है, उसे कई नामों से पुकारते हैं । सामान्य रूप से उसे लोग **जामन** कहते हैं । अर्थात् दूध जमाने में काम आनेवाली वस्तु **जामन** कहलायी । ब्रज-भाषा क्षेत्र में '**जामन**' को **सहेंजा** या **बीछन** भी कहते हैं ।

किसान अपने खेतों में गीदड़, पक्षी आदि को डराने के लिए एक पुरुषाकार पुतला खड़ा कर देते हैं । उसके लिए संस्कृत में **चंचा–पुरुष** शब्द है । अलीगढ़ जिले में उसे **औझपो** कहते हैं । पूरब के जिलों में उसे **बिजूका** या **बिजूखा** कहते हैं । वही मेरठ ज़िले के गाँवों में **बिदूका** बोला जाता है । एक वस्तु के लिए लोक में कई नाम होते हैं । बहुत ज़ोर की वर्षा **मूसलाधार** कहाती है । थोड़ी–थोड़ी वर्षा को **रिमझिम** कहते हैं । कुछ देर बूँदें पड़ें तो वह **बूँदा–बाँदी** कही जाती है । आवाज़ के साथ बड़ी–बड़ी बूँदें पड़ती हैं, तो **पड़पड़ी** कहाती हैं । कहीं–कहीं उसे **तड़तड़ी** भी कहते हैं । आँधी के साथ ज़ोर का मेह भी हो, वह **अरंबाउ** कहाता है ।

जिस साहित्यकार में लोक–दर्शन की अभिरुचि बढ़ेगी, उसमें जनजीवन को अभिव्यक्त करने के संस्कार भी अधिक पुष्ट होंगे । तब उसकी लेखनी से जिस साहित्य की प्राणवती सृष्टि होगी, वह जन–जीवन में आदर पाएगा, पढ़ा जाएगा । लोक–साहित्य की भाव–भूमि का अर्थ है, सर्वसामान्य जन के जीवन की भाव–भूमि । वही अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में वर्णित पृथिवी-पुत्रों की भाव–भूमि है, जिसमें सारी पृथिवी को माता माना गया है । उसे हम परम राष्ट्रीय भव्य भाव भी कह

सकते हैं ।

आज के अधिसंख्यक साहित्यकार वे दिव्य चक्षु नहीं रखते, जिनमें पृथिवी–पुत्रों का लोक निवास करता हो । आज का कवि तो ऐसी कविता लिख रहा है, जिसे पढ़कर यही समझ में नहीं आता कि वह क्या लिख रहा है और किसके लिए लिख रहा है ?

बोलियों के जनपदीय आन्दोलन से हिन्दी का एक अहित हो रहा है

एक राष्ट्र में 'राष्ट्र भाषा' एक ही होती है । राष्ट्रीय एकता का अर्थ है, सांस्कृतिक एकता, भौगोलिक एकता तथा भाषिक एकता ।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की शब्द–संपदा को और अधिक सम्पन्न बनाने के लिए यदि हिन्दी की बोलियाँ काम करती हैं, तो हिन्दी का कल्याण हो सकता है । लेकिन बोलियों की जनपदीय समितियाँ अपने–अपने क्षेत्रों की बोलियों के संकीर्ण स्वार्थ के कारण हिन्दी भाषा की उपेक्षा कर रही हैं । वे अपनी–अपनी बोली को एक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहती हैं । उसी के प्रचार–प्रसार में अपनी शक्ति लगाती हैं । ये शुभ लक्षण नहीं है । भोजपुरी, मैथिली आदि के प्रयास उसी दिशा में हुए हैं । कुछ बोलियाँ तो अपने को हिन्दी से पृथक् भी मानती हैं । इससे हिन्दी भाषा का ह्रास होता है ।

मैं अपने पाठकों से निवेदन करना चाहता हूँ कि वे सभी बोलियाँ हिन्दी भाषा की ही बोलियाँ हैं, जिनमें सम्बन्धसूचक प्रत्यय **'क'** का अस्तित्व पाया जाता है । निम्नांकित बोलियाँ हिन्दी भाषा की बोलियाँ हैं । हिन्दी के सम्बन्धसूचक प्रत्यय **का, की, के** अन्य बोलियों में—

(१) **हरियाणवी**	(२) **खड़ीबोली** (कौरवी)	(३) **ब्रजी**	(४) **कनौजी**
का, की, के	का, की, के	कौ, की, के	को, की, के
(५) **बुन्देली**	(६) **अवधी**	(७) **बघेली**	(८) **छत्तीसगढ़ी**
को, की, के	क, कर, कै, के	कर, के	के
(९) **गढ़वाली**	(१०) **कुमाउँनी**	(११) **भोजपुरी**	(१२) **मगही**
को, की, के	को, कि, का, क	के, कर	केर, के, क
(१३) **मैथिली**	(१४) **राजस्थानी** ।		
का, केर	**को**		

हिन्दी में	**अवधी में**	**मैथिली में**
(१) नन्द **का** नन्दन	"धर**मक** टीका" —(मानस, अयो० ५५/८)	"नन्द**क** नन्द कदम्ब**क** तरु तर" —(विद्यापति, पदावली)

(२) सीता **की** विपत्ति — "**सीता कै** अति विपति बिसाला"
—(मानस, सुन्दर० ३१/६)

(३) मृग **का** छाल — "**मृग कर** छाला"
—(मानस, अरण्य० २७/४)

भाषा की तीन अवस्थाएँ

भाषा की मुख्य अवस्थाएँ तीन हैं—(१) मूक अवस्था (संकेतावस्था) (२) श्रवण–अवस्था (३) दर्शन–अवस्था।

मानव–सृष्टि के आदि में जिस क्षण दो मनुष्यों में एक–दूसरे से अपने मन की बात प्रकट करने की इच्छा ने जन्म लिया होगा, उसी क्षण भाषा का जन्म हो गया होगा। भाषा की वह प्रथम अवस्था थी, जिसे '**संकेतावस्था**' कह सकते हैं।

भाषा की दूसरी अवस्था नादावस्था है, जिसे श्रवणावस्था नाम दिया जा सकता है। वेदसंहिता–काल में हमारी भाषा '**श्रवणावस्था**' में रही होगी, तभी वेदों को 'श्रुति' कहा गया; क्योंकि वैदिक ऋषि वेद–मंत्रों को सुनते और सुनाते थे।

तीसरी '**दर्शनावस्था**' थी, जब लिपि का जन्म हो गया था। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में '**लिपि**' (अष्टा० ३/२/२१) शब्द का उल्लेख है। अष्टाध्यायी (अ० १/पा० १/सू० ६०) में सूत्र है—"अदर्शनं लोपः"। इसका अर्थ है—अक्षरों का दिखाई न देना। '**अक्षर**' (अक्ष + र) शब्द का अर्थ है, जो आँख में रमता है। भाषा का दर्शन तभी हो सकता है, जब लिपि का जन्म हो गया हो।

पाणिनि का जन्म ईसा पूर्व लगभग ४०० वर्ष माना जाता है। उसी लिपि की विकसित अवस्था आज देवनागरी लिपि कहलाती है, जिसमें हिन्दी भाषा लिखी जाती है। अष्टाध्यायी के सूत्र से सिद्ध होता है कि ई० पू० चतुर्थ शती में भारत में लिपि का जन्म हो गया था।

पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का मत तो यह है कि वेद–संहिता–काल में ही अक्षरात्मक भाषा का जन्म हो गया था। तभी तो बृहस्पति ऋषि ने ऋग्वेद (१०/७१/४) में कहा था—

"अज्ञानी वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता। परन्तु ज्ञानी के समक्ष वह वाणी अपना शरीर खोलकर ऐसे रख देती है, जैसे संभोगेच्छावली सुवासिनी पत्नी अपने पति के समक्ष शरीर खोल देती है।"

—(ऋक्० १०/७१/४)।

बृहस्पति ऋषि (ऋक्० १०/७१/४) कहते हैं—"उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्"। वाणी का देखना तभी हो सकता है जब वाणी लिखी जाए। इससे सिद्ध है कि ऋग्वेद–रचना–काल में लेखन–कला का जन्म हो गया था।

वे शब्द जिन्हें अधिकांश हिन्दी-लेखक संस्कृत-शब्द समझते हैं

आवागमन, **प्रण**, **मनोकामना**, **वक्षस्थल**, **शैया** और **श्राप** शब्द संस्कृत के समझे जाते हैं। यह भूल है।

'**आवागमन**' संकर शब्द है। इसमें '**आवा**' हिन्दी का शब्द है। 'आना-जाना' के लिए 'आवा-जाही' शब्द का प्रयोग हिन्दी में होता है।

'**प्रण**' प्राकृत भाषा का है। इसका संस्कृत शब्द '**पण**' है। '**प्राणपण**' शब्द संस्कृत का है। प्रयुक्त भी होता है।

'मनोकामना' का संस्कृत-शब्द '**मनस्कामना**' या '**मन:कामना**' है। शुद्ध शब्द 'अन्त:कथा' है, 'अन्तर्कथा' अशुद्ध है।

'**वक्षस्थल**' का संस्कृत-शब्द '**वक्ष:स्थल**' है। मूल शब्द 'वक्षस्' (वक्ष:) है। उत्तरांश में **स्थल** शब्द है। '**स्थल**' के आदि में 'स्' वर्ण है, अत: संस्कृत शब्द **वक्ष:-स्थल** है। **जागृति** (=जागरण) संस्कृत शब्द नहीं, संस्कृत भाषा का शब्द तो **जागर्ति** है। √जागृ + क्तिन् = जागर्ति।

संस्कृत शब्द '**वनवास**' है, 'वनोवास' नहीं **वन + वास = वनवास**-इसमें संधि नहीं है।

'**शैया**' का संस्कृत-शब्द '**शय्या**' है। '**शैया**' कोई शब्द नहीं है। **शय्या** = सेज, चारपायी। √शी + क्यप्-टाप् = शय्या।

'**श्राप**' शब्द प्राकृत भाषा का है। इसका संस्कृत-शब्द **शाप** है। संस्कृत-शब्द '**प्रायश्चित्त**' है, 'प्रयिश्चित' नहीं। संस्कृत-शब्द '**उद्भिज्ज**' है, 'उद्भिज' नहीं। संस्कृत-शब्द '**तत्त्व**' है, 'तत्व' नहीं।

हिन्दी के लेखकों को विशेष रूप से इनका ध्यान रखना चाहिए। ये भूलें हिन्दी में अभी तक चल रही हैं।

शब्द-संरचना में संस्कृत-शब्दशास्त्र और हिन्दी-शब्दशास्त्र की दृष्टि अलग-अलग है

संस्कृत-शब्दशास्त्र में '**मानवता**' शब्द की संरचना-प्रक्रिया इस प्रकार होगी—

मनु + अण = मानव + ता = मानवता (=इन्सानियत)

सारांश यह है कि संस्कृत-शब्दशास्त्र के अनुसार 'मानवता' शब्द का मूला-धार शब्द (आधार रूपिम) 'मनु' है।

हिन्दी-शब्दशास्त्र में 'मानवता' की संरचना-प्रक्रिया-**मानव + ता = मान-वता** (=इन्सानियत)

हिन्दी-शब्दशास्त्र के अनुसार 'मानवता' शब्द का मूलधार शब्द (आधार रूपिम) '**मानव**' है।

'शृंगार' शब्द की संरचना के समय संस्कृत भाषा का शब्दशास्त्र पहले **शृंग** (=सींग, कामोद्रेक) शब्द के अर्थ पर विचार करेगा, तदुपरान्त **आर** की व्युत्पत्ति पर चिन्तन करेगा; अर्थात् शृंग + √ऋ + अण् = शृंगार ।

गाय के बछड़े या बछिया के शरीर में जब काम का जन्म होता है, तब उनके सिर में सींग निकलने आरम्भ होते हैं । 'सींग' शब्द सं० **शृंग** का विकास है । युवती के शरीर में जब कामोद्रेक के कारण यौवन जन्म लेता है, तब उसकी छाती पर 'उरोज' स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगते हैं । '**शृंगार**' में उसी अवस्था की सूचना है ।

अतः संस्कृत का शब्दशास्त्र कहता है—शृंगं कामोद्रेकं ऋच्छति अनेन, शृंगारः । हिन्दी का शब्दशास्त्र **शृंग** की खोज न करेगा । वह तो मूलतः '**शृंगार**' शब्द पर ही विचार करेगा ।

हिन्दी के कुछ विशिष्ट शब्दों के मूल स्रोत

संस्कृत मूल शब्द	विकसित हिन्दी शब्द
(१) उपानह	(१) पनहा (=जूता)
(२) कल्यवर्त	(२) कलेवा (=प्रातः का आहार)
(३) तिथिवार	(३) त्योहार
(४) निरालय	(४) निराला
(५) पक्षिरूप	(५) पखेरू
(६) सुकाल	(६) सकार (=प्रातःकाल)

हिन्दी की अपनी कुछ संधियाँ

संधिगत शब्द		संधि–विच्छेद
इसी	=	इस + ही
अभी	=	अब + ही
कभी	=	कब + ही
कहीं	=	कहाँ + ही
जभी	=	जब + ही
तभी	=	तब + ही
सभी	=	सब + ही
तुम्हीं	=	तुम + ही
हमीं	=	हम + ही
वहीं	=	वहाँ + ही

संधिगत शब्द		संधि-विच्छेद
घुड़चढ़ी	=	घोड़ा + चढ़ी
घुड़दौड़	=	घोड़ा + दौड़
खरीदार	=	खरीद + दार
नकटा	=	नाक + कटा
पनचक्की	=	पानी + चक्की
पनपथी	=	पानी + पथी
ठड़ेसुरी	=	ठाड़ा + ईसुरी
पिछलग्गू	=	पीछा + लग्गू
अँखफोड़ा	=	आँख + फोड़ा
बजरंगी	=	वजर + अंगी
गुड़म्बा	=	गुड़ + अम्बा
गलघोंटू	=	गला + घोंटू
बलतोड़	=	बाल + तोड़
हथगोला	=	हाथ + गोला
कलमुँहा	=	काला + मुँहा
बड़बोल	=	बड़ा + बोल
ललमुँहा	=	लाल + मुँहा
छुटभैया	=	छोटा + भैया
नुनखरा	=	नोना + खारा
कनछेदनी	=	कान + छेदनी
ललपुँछी	=	लाल + पूँछी
पतरपूँछी	=	पतरी + पूँछी
कनटूटी	=	कान + टूटी
रमरटिया	=	राम + रटिया
छंगा	=	छह + अंगा
अठंगर	=	आठ + अंगर
धन्नासेठ	=	धन + सेठ
छिनारि	=	छिन + नारि

संधि-साहित्य और संधि-साहित्य में शब्दार्थ-भेद

संधि-साहित्य और अर्थ	संधि-साहित्य में शब्दार्थ-भेद
(१) अति + आचार = अधिक आचार।	(१) अत्याचार = जुल्म, उत्पीड़न।
(२) अल्प + आहार = कम भोजन।	(२) अल्पाहार = नाश्ता।
(३) शास्त्र + अर्थ = शास्त्र का अर्थ।	(३) शास्त्रार्थ = बहस

(४) सत्य + आकृति = सच्ची शक्ल । (४) सत्याकृति = इकरारनामा, पेशगी ।
(५) सम + आधान = बराबर स्थापन । (५) समाधान = निराकरण, सन्देह–निवारण
(६) परम + आत्मा = सर्वोत्कृष्ट आत्मा । (६) परमात्मा = परमेश्वर ।
(७) विश्व + अमित्र = संसार का दुश्मन । (७) विश्वामित्र = एक ऋषि । जिन्होंने राम-लक्ष्मण को बाणविद्या सिखायी थी ।
(८) लम्ब + उदर = लम्बापेट । (८) लम्बोदर = गणेश ।
(९) गज + आनन = हाथी का चहरा । (९) गजानन = गणेश ।
(१०) दश + आनन = दस चहरे । (१०) दशानन = रावण ।
(११) महान् + आत्मा = बड़ी आत्मा । (११) महात्मा = साधु, सन्त ।
(१२) परम + अर्थ = बड़ा अर्थ । (१२) परमार्थ = मोक्ष ।
(१३) श्रद्धा + अंजलि = श्रद्धा की अंजलि (जीवित के प्रति) (१३) श्रद्धांजलि (दिवंगत के प्रति)

ध्वनियाँ एक, पर भाषा–भेद के कारण शब्दों में अर्थ–भेद

संस्कृत के '**सूर**' शब्द का अर्थ है 'सूर्य' या 'विद्वान्' । अरबी शब्द **सूर** का अर्थ है वह तुरही जिसे क़यामत के दिन इसराफ़ील नाम का फरिश्ता फूँक से बजाएगा । उसकी आवाज सुनकर कब्रों में से मुर्दे उठ पड़ेंगे ।

फ़ारसी के शब्द **सूर** का अर्थ है खुशी का लाल रँग ।

ब्रजभाषा में **सूर** शब्द का अर्थ है 'काँटा' । सूरदास नाम का कवि भी 'सूर' के नाम से ब्रजभाषा में प्रसिद्ध है ।

'सूर' शब्द में चार ध्वनियाँ हैं—(१) स् (२) ऊ (३) र (४) अ । उपर्युक्त सभी भाषाओं के 'सूर' शब्द में ये ही चार ध्वनियाँ हैं, लेकिन अर्थ अलग–अलग हैं ।

संस्कृत में **'पाक'** शब्द का अर्थ है पकाने की क्रिया या पका हुआ अन्न । फ़ारसी में **पाक** शब्द का अर्थ है शुद्ध, पवित्र । संस्कृत में **पाचक** का अर्थ है रसोइया, भोजन बनानेवाला । फ़ारसी के **पाचक** शब्द का अर्थ है उपला या सूखा गोबर । संस्कृत **कोट** = गढ़, किला । अंग्रेज़ी **कोट** = एक प्रकार का सिला हुआ पहनावा जो पतलून के साथ पहना जाता है ।

स् + अ + र् + अ—इन चार ध्वनियों वाले **सर** शब्द का अर्थ हिन्दी में 'तालाब' है । अंग्रेज़ी के **सर** शब्द का अर्थ श्रीमान् या जनाब है । फ़ारसी में **सर** का अर्थ 'सिर' है ।

संस्कृत में **नारी** शब्द का अर्थ है 'स्त्री' । अरबी के **नारी** शब्द का अर्थ

है 'नारकीय'। मुहम्मद इक़बाल ने लिखा है—

"अमल से जिन्दगी बनती है जन्नत भी जहन्नम भी;
ये ख़ाकी अपनी फितरत से न नूरी है न नारी है।" –(इक़बाल)

संस्कृत में **सदा** का अर्थ है 'नित्य' या 'हमेशा'। अरबी के **सदा** शब्द का अर्थ 'आवाज़' है। अकबर इलाहाबादी ने कहा है—

"आता है वज्द मुझको हर दीन की अदा पर;
मस्जिद में नाचता हूँ नाक़ूस की **सदा** पर।"
—(अकबर इलाहाबादी)

निरुक्त और व्याकरण के आलोक में शब्द का स्वरूप

छह वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष) में 'व्याकरण' से 'निरुक्त' पृथक् वेदाङ्ग है। 'निरुक्त' शब्द के निर्माण पर और 'व्याकरण' शब्द के रूप पर विचार करता है। मुख्यतः 'निरुक्ति' के क्षेत्र में **'शब्द'** आता है और व्याकरण के क्षेत्र में **'पद'** आता है।

—"सुप्तिङन्तं पदम्," (अष्टा० १/४/१४),

'राजन्' शब्द है और **'राजा'** पद है। 'शब्द' को प्रातिपदिक भी कह सकते हैं।

निरुक्त शास्त्र कहता है कि **'राजन्'** शब्द का निर्माण √रञ्ज + कनिन् से हुआ है। √रञ्ज धातु का अर्थ **'प्रसन्न रखना'** है। जो प्रजा को प्रसन्न रखता है, वह **'राजा'** कहलाने का अधिकारी है।

व्याकरण कहता है कि **'राजन्'** प्रातिपदिक प्रथमा विभक्ति के एकवचन में **'राजा'** हो जाता है। व्याकरण यह भी बताता है कि तत्पुरुष समास के उत्तर पद में 'राजन्' का 'राजः' रूप हो जाता है, जैसे 'पण्डितराजः', देवराजः आदि।

निरुक्त शास्त्र के क्षेत्र में शब्द का विकास भी आता है। वास्तव में 'निरुक्ति' शब्द के अर्थ–दर्शन के लिए पर्दा उठा देती है।

गाय–भैंस के गोबर को पाथकर गोलाकार रूप दिया जाता है, जिसे ब्रज–भाषा में **कंडा** और मेरठ की कौरवी बोली में **गोसा** कहते हैं। जब हमें यह ज्ञात हो जाता है कि **गोसा** शब्द का मूल सं० **गोसर्ग** है। **गोसर्ग** से ही **गोसा** शब्द विकसित है—सं० गोसर्ग > गोस्सअ > गोस्सा > गोसा; तब **गोसा** शब्द की आत्मा के दर्शन हो जाते हैं।

व्याकरण शब्द बना सकता है, लेकिन उस अर्थ में साहित्य उस शब्द को ग्रहण करे या न करे–यह साहित्य की इच्छा है

कहा जाता है कि चन्द्रमा में जो काला चिह्न दिखाई देता है, वह 'खरगोश'

या 'हिरन' का निशान है; इसलिए संस्कृत भाषा में 'चन्द्रमा' के अर्थ में **शशाङ्क** (शश + अंक) और **मृगाङ्क** (मृग + अंक) शब्द प्रचलित हुए। साहित्यकार साहित्य में उनका प्रयोग 'चन्द्रमा' के अर्थ में करने लगे।

व्याकरण ने '**शश**' शब्द में **इनि** प्रत्यय लगाकर **शशिन्** शब्द बनाया, जो प्रथमा विभक्ति के एकवचनीय रूप में **शशी** पद बना और साहित्य में प्रयुक्त हुआ। **शशी** = चन्द्रमा। शशिन् + मुख = **शशीमुख**

"शशिमुख पर घूँघट डाले" —(प्रसाद, आँसू)

जब व्याकरण ने **मृग + इनि** से **मृगिन्** बनाया और उसका प्रथमा विभक्ति के एकवचन में **मृगी** पद बना तो, 'चन्द्रमा' के अर्थ में साहित्य ने ग्रहण नहीं किया। हाँ, 'हिरनी' के अर्थ में **मृगी** शब्द साहित्य ने स्वीकारा।

√यन्त्र (= रोकना) धातु से व्याकरण ने निम्नांकित शब्द बनाये, लेकिन साहित्य ने उन्हे अपने ढँग से अपनी इच्छा के अनुसार ग्रहण किया—

(१) √यन्त्र् + अच् = **यन्त्र** = कल, मशीन, औज़ार।

(२) √यन्त्र् + ण्वुल् = **यन्त्रक** = यन्त्र बनाने या ठीक करनेवाला, शिल्पी, मिस्त्री।

(३) √यन्त्र् + णिनि = **यंत्री** = नियन्त्रण रखनेवाला।

(४) √यन्त्र् + ल्युट् = **यंत्रण** = नियंत्रण।

(५) √यन्त्र + णिनि + ङीष् = **यंत्रिणी**। (व्याकरण **यंत्रिणी** को **यंत्री** का स्त्रीलिंग मानता है; लेकिन साहित्य में '**यंत्रिणी**' शब्द पत्नी की छोटी बहिन (साली) के अर्थ में गृहीत है।

(६) √यन्त्र् + णिच् + युच् = **यंत्रणा** (व्याकरण में यह **यंत्रणा** का स्त्रीलिंग है; लेकिन साहित्य में यह कष्ट या पीड़ा के अर्थ में गृहीत है)।

(७) व्याकरण कहता है कि '**यन्त्रित**' (√यन्त्र् + क्त) शब्द का अर्थ है—'नियंत्रित किया हुआ'। लेकिन साहित्य ने '**यंत्रित**' शब्द 'ताला' अर्थ में ग्रहण किया है। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में '**जंत्रित**' शब्द 'ताला' अर्थ में ही प्रयुक्त है। हनूमान् श्रीराम जी से कहते हैं कि प्रभो! आपके वियोग में सीता जी के प्राण क्यों नहीं निकले? इसका कारण यह है—

"नाम पाहरु दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद **जंत्रित**, जाहिं प्रान केहिं बाट॥"

—(मानस, सुन्दर०, दो० ३०/–)

विशेष—

'**यंत्रिणी**' का व्याकरणिक अर्थ है नियंत्रण रखनेवाली स्त्री। संभवतः हमारे समाज में एक समय ऐसा भी रहा होगा, जब पति पत्नी की बात तो न मानना होगा, लेकिन छोटी साली की बात न टाल सकता होगा। इसीलिए छोटी **साली** के

अर्थ में **यंत्रिणी** शब्द चल पड़ा होगा।

संस्कृत के व्युत्पादक प्रत्यय इक के प्रतिनिधि प्रत्यय

संस्कृत में **इक** प्रत्यय कहीं **ठन्**, कहीं **ठञ्**, कहीं **ठक्** और कहीं **ठण्** का प्रतिनिधित्व करता है। सामान्यतया कालसूचक संज्ञा शब्दों में **ठञ्** और शेष संज्ञा शब्दों में **ठक्** लगता है, जो अन्त में इक में परिवर्तित होता है, परन्तु मूल शब्द के आदि स्वर में वृद्धि करता है। अपादान अर्थ में **ठण्** लगता है। यह भी आदि स्वर में वृद्धि करता है।

ठन् प्रत्यय इक में परिवर्तित तो होता है; लेकिन मूल शब्द में कोई स्वर परिवर्तन नहीं करता।

(१) ठन् ∽ इक के योग से बननेवाले शब्द—
धन + ठन् = **धनिक**। क्षण + ठन् = **क्षणिक**। वर्ण + ठन् = **वणिक**।

(२) ठञ् ∽ इक के योग से बननेवाले शब्द—
दिन + ठञ् ∽ इक = **दैनिक**। सप्ताह + ठञ् ∽ इक = **साप्ताहिक**।
(**दिन, सप्ताह** शब्द कालसूचक हैं।)

(३) ठक् ∽ इक के योग से बननेवाले शब्द—
समाज + ठक् ∽ इक = **सामाजिक**। इतिहास + ठक् ∽ इक = **ऐतिहासिक**। भूत + ठक् ∽ इक = **भौतिक**।

(४) ठण् ∽ इक के योग से बननेवाले शब्द—
अपादानार्थ में ठण् प्रत्यय लगता है।
सुदाय + ठण् ∽ इक = **सौदायिक**।
(बन्धुकुल के अर्थ में 'सुदाय' शब्द है। बन्धुकुल से आगत को **सौदायिक** कहते हैं।

विशेष—डा० बाबूराम सक्सेना ने हिन्दी में केवल **ठन्** (इक) के योग से बनाकर शब्द चलाने चाहे थे। उन्होंने कहा था कि हिन्दी में 'भूगोलिक', 'इतिहासिक' भी ठीक हैं; लेकिन संस्कृत से प्रभावित हिन्दी में शब्द **भौगोलिक** और **ऐतिहासिक** ही स्वीकृत रहे। डा० सक्सेना की लीक पर हिन्दी की गाड़ी चली नहीं। शब्द-क्षेत्र में हिन्दी पर संस्कृत का प्रभाव अभी पर्याप्त है।

संस्कृत के अपत्यार्थसूचक व्युत्पादक प्रत्यय

प्रातिपदक अर्थात् मूल शब्द	**प्रत्यय**	=	**शब्द**	=	**अर्थ**
(१) वसुदेव (सूरसेन के पुत्र)	-अण्	=	वासुदेव	=	श्रीकृष्ण
(२) सुमित्रा (दशरथ की रानी)	-अण्	=	सौमित्र	=	लक्ष्मण

प्रातिपदक अर्थात् मूल शब्द	प्रत्यय	= शब्द	= अर्थ
(३) पाण्डु (अम्बालिका-पुत्र)	–अण्	= पाण्डव	= युधिष्ठिर आदि
(४) मरुत (वायु, पवन)	–इञ्	= मारुति	= हनूमान्
(५) सुमित्रा (दशरथ की रानी)	–इञ्	= सौमित्रि	= लक्ष्मण
(६) चणक (चाणक्य के पिता)	–यञ्	= चाणक्य	= विष्णुगुप्त
(७) जमदग्नि (परशुराम के पिता)	–यञ्	= जामदग्न्य	= परशुराम
(८) गंगा (भीष्म की माता)	–ढक्	= गांगेय	= भीष्म
(९) कुन्ती (कुन्तिभोज की कन्या)	–ढक्	= कौन्तेय	= अर्जुन
(१०) कुरु (चन्द्रवंशी एक राजा)	–ण्य	= कौरव्य	= कौरव

वे शब्द जो हिन्दी में संज्ञा और विशेषण रूप में प्रयुक्त हैं

मत्सर, **मौन**, **सत्य** और **संकर** शब्दों का प्रयोग हिन्दी में संज्ञा और विशेषण रूप में मिलता है—

(१) उसके मन में सदा **मत्सर** (=डाह) भरा रहता है। (संज्ञा रूप में)
(२) वह बड़ा **मत्सर** (=डाह करनेवाला) है। (विशेषण रूप में)
(३) उसने **मौन** (=चुप्पी) धारण कर लिया। (संज्ञा रूप में)
(४) मेरी बात सुनकर वह **मौन** (=चुप) हो गया। (विशेषण रूप में)
(५) सदा **सत्य** (=सच) बोलना चाहिए। (संज्ञा रूप में)
(६) **सत्य बात** सबको अच्छी नहीं लगती। (विशेषण रूप में)
(७) 'जिलाधीश' शब्द में दो भिन्न भाषाओं के शब्दों का **संकर** (=मेल) है। (संज्ञा रूप में)
(८) यह **संकर** जाति (=दोगला जाति) का फल है। (विशेषण रूप में)

हिन्दी में वे शब्द जो अपने व्युत्पत्तिमूलक अर्थ छोड़ चुके हैं

व्युत्पत्तिमूलक अर्थ	हिन्दी में प्रचलित अर्थ
(१) **त्रयी**=तीन का समुदाय।	(१) **त्रयी**=ऋग्वेद+यजुर्वेद+सामवेद
(२) **त्रिदेव**=तीनदेव।	(२) **त्रिदेव**=ब्रह्मा+विष्णु+महेश
(३) **पंकज**=कीचड़ में जन्म लेनेवाला	(३) **पंकज**=कमल।
(४) **ब्रह्मचर्य**=ब्रह्म में चर्या।	(४) **ब्रह्मचर्य**=वीर्य–संयम (व्यास जी ने कहा—"ब्रह्मचर्यः गुप्तेन्द्रियस्यो पस्थस्य संयमः")
(५) **भार्या**=जिसका भरण–पोषण	(५) **भार्या**=पत्नी।

किया जाए ।

[६] **लम्बोदर**=लम्बे पेटवाला । [६] **लम्बोदर**=गणेश ।
[७] **सुवर्ण, स्वर्ण**=अच्छे रँग का । [७] **सुवर्ण, स्वर्ण**=सोना ।

वे क्रियापद जो संज्ञा शब्द भी हैं

संस्कृत और हिन्दी में कुछ क्रियापद ऐसे हैं, जो संज्ञा शब्द भी हैं। कभी-कभी पाठकों को उन्हें देखकर भ्रान्ति हो जाती है ।

संस्कृत में—

(१) **जागर्ति**—√जागृ धातु, लट् लकार, अन्य पुरुष, एकवचन । "तस्यां **जागर्ति** संयमी"—(गीता, अ० २/६९)=उसमें संयम जागता है ।

(२) **जागर्ति**—√जागृ+क्तिन् (संज्ञा, स्त्रीलिंग)
"देशे सर्वत्र **जागर्तिः**=देश में सर्वत्र जागरण है ।

(१) **भाति**—√भा धातु, लट् लकार, अन्यपुरुष, एकवचन ।
"भाति, भातः, भान्ति"
"न तत्र सूर्यो **भाति**"—(कठ० २/२/१५, मुंडक० २/२/१०, श्वेताश्वतर ६/१४)=वहाँ सूर्य नहीं चमकता ।

(२) **भाति**—√भा+क्तिन् (संज्ञा, स्त्रीलिंग) ।
योग की शारीरिक षट्क्रियाएँ (१) **नेति** (२) **धौति** (३) **नौलि** (४) **वस्ति** (५) **त्राटक** (६) **कपालभाति** । **कपाल-भाति**=कपाल की चमक ।

(१) **वसति**—√वस् धातु, लट् लकार, अन्यपुरुष, एकवचन ।
वसति=वह रहता है। "यमुना-तीरे **वसति** वने वनमाली"
—(जयदेव, गीतगोविन्द)

(२) **वसति**—√वस्+अति=वसति (स्त्री, संज्ञा)—निवास, रहना, बस्ती ।

हिन्दी में

(१) **पढ़नेवाला**—"वह लड़का अभी पढ़नेवाला है"=वह लड़का अभी थोड़ी देर में पढ़ेगा। (क्रिया)

(२) **पढ़नेवाला**—पढ़ने में अधिक रुचि रखनेवाला व्यक्ति। "मैंने ऐसा **पढ़नेवाला** नहीं देखा ।" (संज्ञा पुंलिंग) ।

संस्कृत के प्राचीन वैयाकरणों ने क्रियापदों को **आख्यात**, और संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण पदों को **नाम** कहा है। उस दृष्टि से हम उपर्युक्त पदों को आख्यात और नाम भी कह सकते हैं ।

अतः **जागर्ति, भाति** और **वसति** आख्यात हैं और नाम भी । '**पढ़नेवाला**'

आख्यात है और नाम भी।

'पढ़नेवाला' (अख्यात) में **वाला** कृत् प्रत्यय है।

'पढ़नेवाला' (नाम) में–**वाला** तद्धित प्रत्यय है।

शास्त्र से शास्त्र में शब्द का अर्थ बदल जाता है

साहित्य में यदि दो शब्द अर्थ में समान होते हैं, तो वे एक दूसरे के **पर्याय** कहलाते हैं। **सूर्य** और **रवि** एक दूसरे के पर्याय हैं; लेकिन जैन दर्शन के ग्रंथों में **पर्याय** शब्द का अर्थ है 'अवस्था'—बाल्य पर्याय, यौवन पर्याय और वार्धक्य पर्याय।

किसी पदार्थ को समझने की दृष्टि का नाम **'नय'** है। जैन दर्शन में एक नय का नाम है **'नैगमनय'** अर्थात् वह समझ, जिसमें उसकी कल्पना की जाती है, जो नहीं है। हिन्दू–धर्म ग्रंथों में 'निगम' से **'नैगम'** का निर्माण है। वहाँ 'निगम' से व्युत्पन्न **'नैगम'** का अर्थ है—वेद का वह भाग जिसमें ब्रह्म आदि का प्रतिपादन है। वह भाग 'नैगमकाण्ड' कहलाता है। जैन दर्शन के अनुसार **स्वभाव**=आत्मभाव। **विभाव**=संसार–भाव, पर–भाव।

स्वस्थ का सामान्य अर्थ है 'तन्दुरुस्त', लेकिन आध्यात्मिक जगत् में **'स्वस्थ'** का अर्थ है 'आत्मस्थ'। **'स्वभाव'** का अर्थ है **'आत्मस्थिति'**। संसार के मनुष्य प्रायः परप्राणी या परवस्तु से चिपके रहते हैं। उन्हें 'स्वस्थ' नहीं कहा जा सकता।

ऋग्वेद में **'स्वराज्य'** शब्द का प्रयोग मिलता है। वेद के इस शब्द के **'स्व'** का अर्थ आत्मा है। **स्वराज्य**=आत्मा का राज्य।

"यतेमहि स्वराज्ये" —(ऋक्० ५/६६/६)।

सन् १९४७ ई० में स्वतन्त्रता–प्राप्ति के उपरान्त यदि भारतवासी वैदिकी 'स्वराज्य' की ओर बढ़ते, तो हमारे देश की आज (१९९३ ई० में) ऐसी आचार हीन स्थिति न होती। हमने स्वराज्य के लिए प्रयास नहीं किया, हम द्रव से चिपक गये। आत्मा के शुद्ध जल में भौतिक द्रव्य का तेल मिल गया। परिणाम वही हुआ जो होता है अर्थात् पानी और तेल मिल गये और बदबू फैल गयी।

'आत्मज्ञान' और **'पदार्थविज्ञान'** में अन्दर और बाहर का अन्तर है। 'पदार्थविज्ञान' बाहरी पदार्थों की जानकारी करता है। उसका आधार सत्य और तर्क है। वह प्राथमिक कण से गुण–धर्म की तलाश में है।

पदार्थविज्ञान कण की सबसे छोटी इकाई जानना चाहता है। बीसवीं शती के प्रारम्भ में 'द्रव्य' की लघुतम इकाई **परमाणु** को माना जाता था। अब पदार्थ–विज्ञान इलैक्ट्रॉन और प्रोटोन तक पहुँच गया है।

एक परमाणु एक इंच के २० करोड़वें भाग के बराबर होता है। यह भी ज्ञात हो गया है कि इलैक्ट्रान का व्यास परमाणु के व्यास का पचास हजारवाँ भाग है। परमाणु के नाभिक (न्यूकलियस) में एक **प्रोटोन** होता है। उस प्रोटोन के

चारों ओर इलैक्ट्रॉन परिक्रमा करता है। प्रयोगों द्वारा सिद्ध हुआ है कि कण का सारभूत अंश **कण** के रूप में ही नहीं, **तरंग** के रूप में भी प्रतिष्ठित है। ईशावास्य उपनिषद् में भी ऋषि ने कहा—

"तदेजति तन्नैजति" (ईशावास्य० मंत्र ५) = वह चलता है, वह नहीं चलता अर्थात् वह 'कण' भी है और 'तरंग भी।

साहित्यशास्त्र कहता है कि प्रेमी–प्रेमिका का मिलना **योग** और उनका विछुड़ना **वियोग** है। इसी आधार पर शृंगार रस के दो भेद हैं—(१) **संयोग शृंगार** (२) **वियोग शृंगार**।

योगशास्त्र (पतंजलि का योग दर्शन) कहता है कि चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम **योग** है। इससे स्वरूप में स्थिति होती है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोध :। तदा दृष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्।"

योग के मुख्य प्रकार दो हैं--(१) **हठयोग** (२) **राजयोग**। राजयोग के १६ अंग हैं। राजयोग के ध्यान को **'ब्रह्मध्यान'** कहते हैं। राजयोग की समाधि का नाम **'निर्विकल्प समाधि'** भी है। सविकल्प समाधि में ध्याता-ध्येय रहते हैं। निर्विकल्प समाधि में केवल ध्येय रहता है। अन्त में शून्य की स्थिति हो जाती है। इसी का नाम **असंप्रज्ञात समाधि** है। साहित्य में **'विकल्प'** का अर्थ है कई में से एक का ग्रहण; लेकिन योगशास्त्र **'विकल्प'** का अर्थ है 'भेद'। **सविकल्प समाधि**=भेद सहित समाधि (ध्याता–ध्येय का भेद)। **निर्विकल्प समाधि**=भेद रहित समाधि (ध्याता–ध्येय का अभेद)।

संस्कृत और हिन्दी में कहीं-कहीं लेखन और उच्चारण में अन्तर है

वेद का गायत्री मंत्र त्रिपदीय तथा अक्षरात्मक है। प्रत्येक पद में आठ–आठ अक्षर हैं अर्थात कुल २४ अक्षर।

"तत् सवितुर्वरेण्यम्"—इस पद में लेखन की दृष्टि से सात अक्षर हैं। अत: नियम–भंग हो रहा है। लेकिन उच्चारण के आधार पर आठ अक्षर सिद्ध हो जाते हैं, जब **'वरेणीयम्'** उच्चतरित किया जाता है। इस मंत्र के पाठ का यही विधान है।

हिन्दी में लिखा जाता है **'विद्वान्'**, **'अमृत'**, **'खल्वाट'** आदि। लेकिन बोला जाता है—**'विद्द्वान्**, **'अम्मृत'**, **'खल्ल्वाट'** आदि।

'विद्वान्' और **'अमृत'** में ३–३ मात्राएँ हैं, लेकिन 'विद्द्वान्' और 'अम्मृत' में ४–४ मात्राएँ हैं। **खल्वाट** में ४ मात्राएँ हैं; लेकिन **खल्ल्वाट** में ५ मात्राएँ हैं। हिन्दी कविता में कहीं **अमृत** में तीन मात्राएँ और कहीं चार मात्राएँ गिनी जाती

हैं। हिन्दी में **दुनिया** लिखते हैं, **दुनियाँ** बोलते हैं। **माटी** लिखते हैं, **माँटी** बोलते हैं।

शब्द के अर्थ की प्रमुख भूमियाँ

संदर्भ की दृष्टि से तो 'शब्द' के अनेक अर्थ हो जाते हैं; वैसे शब्द के अर्थ की चार भूमियाँ ही प्रमुख हैं—(१) **निरुक्त** (२) **साहित्य** (३) **विज्ञान** (४) **समाज–संस्कृति**।

निरुक्ति कहती है कि **नमस्** और **नमाज़** में अन्तर नहीं है। भारत का '**नमस्**' ही अरब देशों में जाकर '**नमाज़**' हो गया है; दोनों का अर्थ प्रार्थना या नमस्कार है।

समाज–संस्कृति की भूमियों में 'नमस्' और 'नमाज़' का अर्थ एक नहीं है। '**नमस्कार**' की सामाजिक–सांस्कृतिक अवधारणा '**नमाज़**' की अवधारणा से भिन्न है। भारतीय संस्कृति (हिन्दू संस्कृति) का '**नमस्**' सामी संस्कृति के '**नमाज़**' से भिन्न है।

संस्कृत भाषा के साहित्य में **नमस्** या '**नमस्कार**' को पढ़कर पाठक के **मानस–पटल** पर जो बिम्ब बनेगा, वह अरबी **भाषा** के साहित्य में '**नमाज़**' को पढ़कर नहीं बनेगा। संस्कृत **नमस्** से अरबी **नमाज़** अर्थ में अलग है।

निरुक्त शास्त्र कहता है कि जो दूसरे को हरता है या चुराता है, वह '**हृदय**' है। विज्ञान (शरीरविज्ञान) कहता है कि मनुष्य की छाती में बायीं तरफ आम की शक्ल का एक विशेष मांस–पिण्ड जिसमें शरीर का रक्त आता है और जाता है, **हृदय** कहलाता है। साहित्य कहता है कि हृदय वह भूमि है, जिसमें भावों का जन्म होता है। 'हृदय' मानवीय संवेदनाओं की भूमि है। शरीरविज्ञान का '**हृदय**' और साहित्य का '**हृदय**' अलग–अलग हैं। जैनदर्शन में '**स्वभाव**' का अर्थ है 'आत्मभाव' और '**विभाव**' का अर्थ है, 'संसार की आसक्ति का भाव'।

एक '**कोण**' शब्द को लीजिए। स्थापत्य–कला (गृह–निर्माण–कला) में दो दीवारों के मिलान विशेष को **कोण** (हिन्दी कोना) कहते हैं। ज्यामिति में दो रेखाओं के मिलन–बिन्दु को **कोण** कहते हैं। साहित्य में **दृष्टि–कोण** शब्द में '**कोण**' एक विचार–पद्धति को प्रकट करता है।

साहित्य का आधार संस्कृति है। तात्पर्य यह है कि साहित्य का जन्म संस्कृति की कोख से होता है। साहित्य अर्थात् भाव–विचार। भाषा साहित्य की अभिव्यक्ति का साधन है। सारांश यह कि समाज–संस्कृति में भाषा जन्म लेती है। 'भाषा' से तात्पर्य है अर्थात्मक शब्दों का विराट् पुंज।

सारांश यह निकला कि संस्कृतियाँ शब्दों में अर्थ भरती हैं। हिन्दू संस्कृति ने **राजा** शब्द में जैसा अर्थ भर दिया है, वैसा अर्थ '**पातशाह**' शब्द में सामी संस्कृति ने नहीं भरा। इसलिए '**राजा राम**' के समानान्तर शब्द (प्रतिशब्द) **पातशाह राम**

नहीं हो सकता । **पातशाह**=तख़्त का शाह ।

अनेकार्थी हिन्दी–काव्य

एक गर्भवती महिला ज्योतिषी के पास यह पूछने गयी कि उसके गर्भ से लड़का होगा या लड़की ? ज्योतिषी ज्योतिष विद्या में तो पारंगत न था; लेकिन वाक्य बोलने में चतुर था। उसने उत्तर में कहा—

"लड़का न लड़की ।"—इस वाक्य के कई अर्थ हो सकते हैं—

(१) लड़का न, लड़की=लड़का नहीं होगा, लड़की होगी ।

(२) लड़का, न लड़की=लड़का होगा, लड़की नहीं होगी ।

(३) लड़का न लड़की=न लड़का होगा, न लड़की होगी । नपुंसक सन्तान हो सकती है अथवा गर्भपात हो सकता है ।

वाक्य को विश्राम के साथ बोलने से अथवा अल्पविराम के साथ लिखने से निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति हो सकती है।

शब्दों से अनेकार्थ किस तरह जन्म लेते हैं ?

(१) शब्द के अन्तःस्थ खंडों पर विचार—

- **अधरामृत**=(अधर+अमृत) होंठों का चुंवन–रस ।
- **अधरामृत**=(अ+धरामृत)—जो धरती का अमृत नहीं है अर्थात् ब्रह्मानन्द (ब्रह्मलोक का आनन्द)

(२) प्रस्तुत शब्द को मूल शब्द और विकसित शब्द मानकर विचार–
मूलशब्द मानकर विचार—

- **अनहदनाद**=(अन+हदनाद)—सन्त–परंपरा का प्रिय शब्द है 'अन–हदनाद'। 'हद' का अर्थ है सीमा । जो संसार की सीमा (बन्धन) से बाहर है, वह 'असीम' है । उसे ही **अनहद** कहते हैं। असीम अर्थात् परमात्मा के लिए जिसमें आवाज़ उठती है, उस आवाज़ को 'अनहदनाद' कहते हैं। **अनहद**=ब्रह्म । **अनहदनाद**=ब्रह्मनाद ।

मूल से विकसित शब्द मानकर विचार—

- **अनहदनाद** (सं अनाहतनाद > अनहदनाद)—नगाड़ा तबला, ढोल आदि बाजे आहतनादी बाजे हैं। इन पर जब चोट लगती है, तब इनसे आवाज़ निकलती है। बिना चोट के स्वतः अन्तस् में जो आवाज़ सुनायी देती है, वही 'अनहदनाद' (अनाहत–

नाद) है। वह 'ब्रह्मनाद' भी कहाता है। मूलाधार चक्र से उठकर कुंडलिनी जब सुषुम्णा में ऊपर चढ़ती है, तक एक आवाज़ होती है, वही **'अनहदनाद'** है।

संहिता (अंग्रेज़ी–जंक्चर) से भी अर्थ बदल जाता है—

एक पद की पंक्ति है—

"मेरे घनश्याम ! अपनापन रखना।"—इसे पहले यों गाइए—

(१) "मेरे घनश्याम **अपनापन** रखना"—'अपनापन' का अर्थ है मुझे अपना प्रेम पात्र बना लीजिए।

इसी पंक्ति को फिर इस तरह गाइए—

(२) "मेरे घनश्याम अपना/पन रखना।"—इसमें अर्थ है अपना प्रण रखिए अर्थात् भक्तों की रक्षा का प्रण रखिए।

(सं० पण > पन)

शब्द–कोशों में शब्द–संख्या साहित्यकार ही बढ़ाते हैं

श्री अमरसिंह विरचित 'अमरकोश' ईसवी छठी शताब्दी की रचना है। उसमें 'इन्द्र' के ३५ नाम दिये गये हैं। उनमें **'निलिम्पनायक'** नाम नहीं है। 'शिवताण्डवस्तोत्र' के रचयिता ने 'इन्द्र' के लिए **'निलिम्पनायक'** (=देवराज, सुरपति) शब्द का प्रयोग किया है। शिवताण्डवस्तोत्र के रचियता ने लिखा है, शंकर जी को देवराज इन्द्र भी प्रणाम करता है—

"निपीतपंचसायकं नमन्**निलिम्पनायकम्**" —(शिवताण्डव० श्लोक ६)

ईसा की १७वीं शती के पंडितराज जगन्नाथ ने 'गंगालहरी' ग्रन्थ में गंगा के लिए **'निलिम्पनिर्झरी'** (=देवनदी) शब्द का प्रयोग किया है। 'देवता' के अर्थ में 'निलिम्प' शब्द साहित्य में अधिक प्रचलित न था, इसलिए यह 'शब्द 'देवता' के अर्थ में न 'अमरकोश' में आया और न हिन्दी–कोश 'हिन्दी–शब्दसागर' (ना० प्र० सभा, काशी) में आया। बाद में सन् १९५१–५२ ई० में जब ज्ञानमंडल, काशी से 'बृहत–हिन्दीकोश' प्रकाशित हुआ, तब 'देवता' के अर्थ में **'निलिम्प'** और गंगा के अर्थ में **'निलिम्पनिर्झरी'** शब्द उसमें संकलित किये गये।

'अमरकोश' में 'गंगा जी' के आठ नाम हैं; लेकिन उनमें **'निलिम्पनिर्झरी'** नहीं है। 'गंगा' के अर्थ में **'निलिम्पनिर्झरी'** शब्द शिवताण्डव स्तोत्र (श्लोक–२) में है।

विघ्न–बाधा, बखेड़ा आदि के अर्थ में हिन्दी–साहित्य में **'विभ्राट'** शब्द का प्रयोग बहुत कम मिलता है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त कृत 'पंचवटी' काव्य में हमें **'विभ्राट'** शब्द 'बखेड़ा' अर्थ में मिला—लक्ष्मण शूर्पणखा से कहते हैं—

"बहु विवाह **विभ्राट** कहूँ क्या भद्रे ! मुझको क्षमा करो।"

—(मैथिली०, पंचवटी)

हिन्दी के प्रारम्भिक कोशों में 'बखेड़ा' अर्थ में 'विभ्राट' शब्द हमारे देखने में नहीं आया।

'अमरकोश' में नारी के सिर की चोटी के गहनों के नाम—**चूडामणि, शिरोरत्न, बालपाश्या** और **पारितथ्या** मिलते हैं। उसमें **'बन्धुर'** नाम नहीं है। पार्वती से शीशफूल (सं० शीर्षफुल्ल) के लिए 'शिवताण्डवस्तोत्र' के रचयिता ने **'बन्धुर'** शब्द का प्रयोग किया है—

"धराधरेन्द्रनन्दिनी विलासबन्धुबन्धुर
स्फुरद्दिगन्तसन्ततिप्रमोदमानमानसे।" —(शिवता०, श्लोक ३)

कुछ अन्य कवियों ने भी किया होगा। फिर तो 'बन्धुर' शब्द संस्कृत भाषा के 'पद्मचन्द्रकोश' (१६२५ ई०) तथा 'संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ' (सन् १६२८ ई०) में भी संकलित किया गया।

'उद्दण्ड' अर्थात् 'उच्छृंखल' के अर्थ में **'पापी'** शब्द हमें किसी हिन्दी–कोश में नहीं मिला; लेकिन तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' (बाल० २७७/६) में **'पापी'** शब्द 'उद्दण्ड' के अर्थ में किया है। परशुराम जी श्रीराम से कहते हैं, "राम! तेरा भाई लक्ष्मण बड़ा उद्दण्ड है"—

"राम तोर भ्राता बड़ **पापी**"—(रामचरितमा०, बाल० २७७/६)

तुलसीदास ने 'सहर्ष' के अर्थ में मानस में **'सहरोस'** शब्द का प्रयोग किया है। राजा दशरथ विश्वामित्र जी से कहते हैं कि मैं आज आपको सहर्ष सर्वस्व दे सकता हूँ—"सर्बस देउँ आजु सहरोसा"—(मानस, बाल० २०८/३)

आगे जब हिन्दी का महाकोश बनेगा तब **पापी** और **सहरोसा** शब्द भी तुलसीदास जी के अर्थों में समाविष्ट होंगे।

साहित्यकार विस्मृति के गर्त से उठाकर शब्दों के प्राचीन अर्थों को भी चमकाते हैं

अधीती एवं मेधावी साहित्यकार अच्छी तरह जानते हैं कि विशिष्ट शब्द और उनके अर्थ कोशों के पृष्ठों पर अंकन मात्र से जीवित नहीं रह सकते। साहित्य में उनका यदा–कदा प्रयोग ही उन्हें जीवित रख सकता है।

'देवता' के लिए एक शब्द **'निलिम्प'** है। गंगा नदी को **निलिम्पनिर्झरी** (=देवनदी गंगा) भी कहते हैं।

सुरनदी, जाह्नवी, देवापगा, भागीरथी, सुरधुनी, सुरतरंगिणी, गंगा आदि शब्दों का प्रयोग तो वाल्मीकि विरचित 'गंगाष्टक' में और शंकराचार्य रचित 'गंगाष्टक' एवं 'गंगास्तोत्र' में मिलता है; लेकिन **'निलिम्प–निर्झरी'** शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। देवतावाची **'निलिम्प'** शब्द 'अमरकोश' में भी नहीं है, यद्यपि

अमरकोश में 'देवता' के २६ पर्यायवाची शब्द लिखे गये हैं।

ईसा की १७वीं शती के पंडितराज जगन्नाथ ने देखा कि देवतावाची शब्द **निलिम्प** मरणासन्न है, तब उसे प्राणवन्त बनाने के लिए पंडितराज जगन्नाथ ने अपनी ५२ श्लोकी 'गंगालहरी' में देवतावाची '**निलिम्प**' शब्द का प्रयोग १५वें श्लोक में कर दिया।

संस्कृत भाषा का शिवताण्डव स्तोत्र बहुत प्रसिद्ध है, जो रावणरचित बताया जाता है। उसमें गंगानदी के लिए '**निलिम्पनिर्झरी**' शब्द का प्रयोग किया गया है। सं० **निलिम्प**=देवता+सं० **निर्झरी**=नदी। **निलिम्प–निर्झरी**=गंगा नदी (गंगा देव–नदी कही जाती है।)

"जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी
विलोलवीचिवल्लरी विराजमानमूर्द्धनि।"

—(शिवताण्डव स्तोत्र, श्लोक २)

एक सुदीर्घकाल से संस्कृत–साहित्य में गंगानदी के लिए '**निलिम्प–निर्झरी**' शब्द का प्रयोग नहीं हो रहा था। शिवताण्डवस्तोत्रकार ने उसे पुनः प्रयुक्त करके प्राणवन्त बनाया और चमकाया।

अतः हम यह कह सकते हैं कि गंगानदी के अर्थ में पुनः प्रयोग द्वारा '**निलिम्प–निर्झरी**' शब्द प्राणवान् और कान्तिमान् बन गया।

संस्कृत में '**बन्धुर**' शब्द 'टेढ़ा–मेढ़ा' या 'ऊँचा–नीचा' अर्थ में विशेषणरूप में तो प्रयुक्त होता था, लेकिन 'शिरोभूषण' के अर्थ में संज्ञा रूप में उसका प्रयोग समाप्त–सा हो गया था। इसे शिवताण्डवस्तोत्रकार ने अनुभव किया था। उसका पुनरुद्धार करने के लिए उसने पार्वती के 'शीशफूल' के अर्थ में उसका प्रयोग कर दिया—

"धराधरेन्द्रनन्दिनी विलासबन्धु**बन्धुर**
स्फुरद् दिगन्तसन्ततिप्रमोदमानमानसे ।" (शिवता० श्लोक ३)

'वस्तु' शब्द 'पदार्थ' या 'चीज' के अर्थ में बहुत प्रचलित है और पहले भी था, लेकिन वस्तु का एक अर्थ 'आधारतत्त्व' भी है। इसे लोग भूल गये थे। 'वस्तु' शब्द के 'आधारतत्त्व' अर्थ का पुनः स्मरण हमें शिवताण्डवस्तोत्र–स्रष्टा ने करा दिया—

"क्वचिद् दिगम्बरे मनोविनोदमेतु **वस्तुनि**" (शिवता०, श्लोक ३) स्तोत्र में कहा कि महेश शंकर सृष्टि के आधार–तत्त्व (वस्तु) हैं।

अंग्रेजी शब्द '**ट्रैडीशन**' के अर्थ में संस्कृत में **परम्परा, रीति** या **प्रथा** शब्द प्रचलित था। संस्कृत–साहित्य के मंच से **धोरणी** शब्द हट गया था। शिवताण्डव-स्तोत्रकार को ध्यान आया कि **धोरणी** उपेक्षित है और मरणासन्न दशा को प्राप्त है। अतः उसने 'परम्परा' या 'प्रथा' का प्रयोग न करके उसके स्थान पर **धोरणी** का प्रयोग कर दिया और उसे मरने से बचा लिया। शंकर जी के स्वभाव में जो कृपा

करने की परम्परा निवास करती है, उसके लिए शिवताण्डवस्तोत्रकार ने 'कृपा-कटाक्षधोरणी' लिखा और वह भी लयात्मक छन्द 'नराच' की स्वर-लहरी में—

"कृपाकटाक्ष **धोरणी** निरुद्ध दुर्धरापदि
क्वचिद् दिगम्बरे मनोविनोदमेतु वस्तुनि।"—(शिवता०श्लोक ३)

शब्दों को कोश जीवित नहीं रखता,साहित्य के पृष्ठ जीवित रखते हैं। साहित्य के स्वागत-सदन में आकर **धोरणी** की छाती फूल गयी। स्तोत्रपाठ के कारण शिव-भक्तों की जिह्वा पर यह लयबद्ध हो गया। सुधी शिवभक्त उसका अर्थ जानने को भी उत्सुक हो उठे।

अरबी का **वदाअ** शब्द फ़ारसी में **विदाअ** हो गया था। हिन्दी में **विदा** या **विदाई** प्रचलित है। विवाह में पिता के यहाँ से बेटी की 'विदा' बड़ी करुणाजनक होती है।

भारतवर्ष में मुसलमानों के आगमन के साथ फ़ारसी का **विदाअ** शब्द भी आ गया और हिन्दी में **विदा** बोला जाने लगा।

कालिदास के समय (ई० पू० प्रथम शती) में **विदा** के स्थान पर **विश्लेष** शब्द का प्रयोग किया जाता था। 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' नाटक में महर्षि कण्व की वाणी में कालिदास ने 'वियोग' या 'विदा' के अर्थ में **'विश्लेष'** शब्द का प्रयोग किया है—

"पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः"
—(अभिज्ञान शाकु० अंक ४/६)

हिन्दी में **'विश्लेष'** का प्रयोग कालिदास की अर्थ-भूमि में बैठकर नहीं किया गया। भविष्य में कोई कर दे, तो वह लुप्त को प्रकाशित करना माना जाएगा।

आज की हिन्दी भाषा में **'आशा'** शब्द अधिक प्रचलित है। लेकिन **'आशा'** शब्द संस्कृत-साहित्य में 'दिशा' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। कालिदासकृत रघुवंश (सर्ग ४/४४) में कहा गया है कि विजयी रघु दक्षिण दिशा को गये—"अगस्त्याचरिता**माशां** ययौ" (रघु० ४/४४)। सरस्वती के सम्बन्ध में कहा गया है—"**आशा**सुराशी भवदंगवल्ली भासैवदासीकृत दुग्धसिन्धुम्।"

महात्मा तुलसी के समय में **'आशा'** शब्द 'उम्मीद' के अर्थ में ही अधिक प्रचलित था; फिर भी **'दिशा'** के अर्थ में **'आशा'** शब्द का प्रयोग तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में किया है। महाकवि तुलसी ने लुप्तार्थ को आलोकित कर दिया।

"देखु बिभीषन दच्छिन **आशा**"—(मानस, लंका० दो० १३/१)

शब्दों के प्राचीन अर्थों को चमकाने का काम हिन्दी-साहित्य में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अधिक किया था। इसके लिए आचार्य मिश्र हिन्दी-आलोचना- जगत् में मूर्धन्य माने जाएँगे।

'बिहारी की वाग्विभूति' में अपने गुरु लाला भगवानदीन की मर्मज्ञता के लिए मिश्र जी ने लिखा है—

"लाला भगवानदीन की **नदीष्ण मर्मज्ञता** ने मुझे **पारंगत** किया"—(पृष्ठ ४)

नदी के गहरे जल में उतरकर जो उसके गड्ढों का पता लगाता है, उसे **नदीष्ण** कहते है। '**पारंगत**' का हिन्दी में प्रचलित अर्थ है—'किसी विद्या या शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता' लेकिन '**पारंगत**' का एक और अर्थ है—'पार पर पहुँचा हुआ'। इसी अर्थ में मिश्र जी से यहाँ '**पारंगत**' शब्द का प्रयोग किया है। प्रयोग क्या किया है; **पारंगत** को कमाल का नया आलोक दिया है।

'**अन्वय**' का हिन्दी में प्रचलित अर्थ है—'वाक्य में पदों का परस्पर उचित सम्बन्ध'। लेकिन एक अर्थ 'वंश' भी है। इसी विस्मृत 'वंश' अर्थ को '**अन्वय**' शब्द का प्रयोग करके आचार्य मिश्र ने अपने ग्रंथ–'हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग दो' में चमका दिया है। उन्होंने लिखा है—"श्रीहर्ष की **अन्वय–परंपरा** में"। अन्वय–परंपरा=वंश–परम्परा।

'**कर्ज़दार**' या '**ऋणी**' के अर्थ में एक शब्द संस्कृत में **अधमर्ण** है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने डा० राकेशगुप्त को एक पत्र में लिखा था कि आप मेरे **अधमर्ण** हैं।" यह बहुत प्राचीन शब्द है।

हिन्दी में **कली** और **फूल** शब्द का ही अधिक प्रयोग आज–कल होता है; लेकिन आचार्य मिश्र ने 'हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग दो' में **कुड्मल** और **प्रफुल्ल** शब्दों का प्रयोग किया है। इस तरह मिश्र जी ने प्राचीन विस्मृत अर्थों का स्मरण कराया है हिन्दी–पाठकों को।

वर्तमान हिन्दी भाषा में **प्रसन्न** शब्द 'खुश' के अर्थ में अधिक प्रचलित है; लेकिन 'प्रसन्न' का एक प्राचीन अर्थ '**निर्मल**' या 'स्वच्छ' भी है। इस प्राचीन '**निर्मल**' अर्थ में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने '**प्रसन्न**' शब्द का प्रयोग अपने एक लेख में किया था—

"ब्रजभाषा का ऐसा **प्रसन्न** और परिमार्जित स्वरूप भी दिखाई देता है।"
—(संपादिका शचीरानी गुर्टू, हिन्दी के आलोचक, सन् १६५५ ई०, लेख–आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, लेखक विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ ४५)

मैंने 'साहित्यरत्न दिग्दर्शन' नाम से तीन खण्डों में एक पुस्तक लिखी थी। उसे सम्मति के लिए मैंने डा० नगेन्द्र के पास भेजा था। उस पर डा० नगेन्द्र ने जो सम्मति दी थी, उसमें एक वाक्य यह भी था—"इसकी भाषा और शैली **प्रसन्न** है।"

आज की हिन्दी में **चिन्तन** और **चिन्ता** के अर्थों में आकाश–पाताल का अन्तर है।

किसी विषय पर बार–बार पर्याप्त समय तक विचार करना **चिन्तन** कहलाता है। **चिन्ता** का अर्थ है 'फिक्र' या 'सोच'। लेकिन प्राचीन ग्रन्थों में **चिन्ता** शब्द

'चिन्तन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। साहित्यदर्पण (परिच्छेद ३/१७१) में हित की अप्राप्ति पर 'ध्यान' को **चिन्ता** कहा गया है—

'ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः" —(सा० द० ३/१७१)।

डा० नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'रससिद्धान्त' में 'चिन्तन' के अर्थ में '**चिन्ता**' शब्द का प्रयोग किया है—

"जो भारत की मूलवर्ती **चिन्ताधारा** के अनुकूल थे।"

—(डा० नगेन्द्र, रससिद्धान्त, सन् १९६४ ई० पृष्ठ ७३)

पुराने विस्मृत शब्दार्थ को डा० नगेन्द्र ने चमका दिया है। डा० नगेन्द्र का '**चिन्ताधारा**' = चिन्तनधारा।

डा० विजयेन्द्र स्नातक द्वारा लिखी हुई, मेरे ग्रन्थ—'भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति' की, समीक्षा आकाशवाणी केन्द्र, नई दिल्ली—से ३ प्रसारित हुई थी। उस समीक्षा में डा० विजयेन्द्र स्नातक ने '**तत्त्वचिन्तन**' के लिए '**तत्त्वचिन्ता**' का प्रयोग किया था। उनका वाक्य इस प्रकार है—

"डा० सुमन ने भाषाविज्ञान और शब्द की **तत्त्वचिन्ता** से अपने ग्रन्थ को जोड़कर उसमें भाव और विचार की भित्ति—संस्कृति को पहली बार स्थान दिया है।" —(विजयेन्द्र स्नातक)

'**चिन्तन**' के अर्थ में '**चिन्ता**' का प्रयोग दिल्लीनिवासी हिन्दी—लेखकों की कृतियों की तुलना में डा० नगेन्द्र तथा डा० विजयेन्द्र स्नातक की कलम से अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। इससे '**चिन्ता**' शब्द के लुप्तप्राय प्राचीन अर्थ का पुनरुद्धार ही हुआ है।

'चिन्तन' के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले प्राचीन संस्कृत शब्द '**चिन्ता**' का प्रयोग आधुनिक हिन्दी भाषा में डा० नगेन्द्र और डा० विजयेन्द्र स्नातक ही नहीं करते, अपितु डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित भी करते हैं।

सन् १९८८ ई० में मेरी एक पुस्तक 'मेरे मानस के श्रद्धेय चित्र' प्रकाशित हुई थी। उसकी समीक्षा डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने दिल्ली से प्रकाशित मासिक पत्र 'प्रकर' (अप्रैल, १९८८ ई०) में की थी। उस समीक्षा में डा० दीक्षित का एक वाक्य इस प्रकार है—

"पुस्तक को एक बार उठाकर आद्यन्त पढ़े बिना रखने को मन नहीं होता—यह सब तब जब कि घटनाओं, व्याकरण, धर्म, दर्शन, विज्ञान, भाषाविज्ञान, इतिहास और संस्कृति की विचार एवं **चिन्तापरक** बातें काफी दूर तक लिपटी चली आती हैं।"

उपर्युक्त उद्धरण में डा० दीक्षित ने 'चिन्तनपरक' के अर्थ में '**चिन्तापरक**' शब्द का प्रयोग किया है।

हमारे पाठक जानते हैं कि आज हिन्दी भाषा में **विकल्प** शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'ऑप्शन' शब्द के समानान्तर ही अधिक होता है। कई वस्तुओं में से एक

का ग्रहण **विकल्प** कहाता है ।

प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में '**कौशल**' या '**कला**' के अर्थ में भी '**विकल्प**' शब्द का प्रयोग होता था । इसी अर्थ में कालिदास ने 'रघुवंश' (सर्ग १३/७५) में '**विकल्प**' शब्द का प्रयोग किया है । ''माया विकल्परचितैः स्यन्दनैः'' (रघु० १३/७५)

डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित के अभिनन्दन में पुणे विद्यापीठ द्वारा एक ग्रन्थ सन् १९८६ ई० में प्रकाशित कराया गया था । उसका नाम संपादक ने वाग्विकल्प' रखा था । '**वाग्विकल्प**' का अर्थ है 'वाणी का कौशल' । ग्रन्थ के संपादक डा० स० म० परलीकर ने प्राचीन अर्थ का वास्तव में जीर्णोद्धार किया है, ग्रन्थ का नाम '**वाग्विकल्प**' रखकर के ।

साहित्यकार शब्दों का उद्धार एक दूसरे प्रकार से भी करते हैं । विशिष्ट अर्थगामी जनपदीय लोक शब्द को उठाकर साहित्यकार उसे साहित्यिक रचना के दिव्य आसन पर विराजमान कर देता है । **गैल** जनपदीय ब्रजभाषा का शब्द है । च्युत संस्कृति दोष से बचने की दृष्टि से हिन्दी–कवि साहित्यिक खड़ीबोली अर्थात् मानक हिन्दी में उसका प्रयोग न करते थे । प्रसाद जी ने 'कामायनी' की रचना के समय 'रास्ता' अर्थवाले लोक–शब्द **गैल** का प्रयोग कर दिया । प्रसाद जी की यह सारस्वत क्रान्ति मानी जाएगी—

''शरद इन्दिरा के मन्दिर की
मानो कोई **गैल** रही ।'' —(कामायनी, आशासर्ग)

साहित्य में अब **गैल** शब्द समादृत होता रहेगा । पंडितों की दृष्टि में अब **गैल** अछूत नहीं रहेगा । वह साहित्य–समाज का ग्रहणीय एवं वरणीय सदस्य हो गया सदा के लिए । हिन्दी की जनपदीय भाषाओं के ऐसे ही शब्द यदि हिन्दी ग्रहण करती रहेगी, तो जल्दी ही हमारी राष्ट्रभाषा का अपना विशाल महाकोश तैयार हो जाएगा ।

प्रसाद जी ने जनपदीय शब्दों को साहित्यिक हिन्दी के आसन पर बिठाने के लिए ही क्रान्ति नहीं की, अपितु परंपरागत काव्यशास्त्र की रूढ़ियों को भी तोड़ा ।

परंपरागत छन्दःशास्त्र कहता है कि पाँच अक्षर दग्धाक्षर माने जाते हैं — (१) **झ** (२) **भ** (३) **र** (४) **ष** (५) **ह** । इनमें से कोई भी एक अक्षर यदि काव्य के आदि के छन्द में सर्वप्रथम आता है, तो छन्द दूषित हो जाता है । मंगलाचरण या देवतावाची शब्द में दूषण नहीं है ।

प्रसाद जी ने इसकी परवाह नहीं की । उनकी 'कामायनी' काव्यकृति के प्रथम छन्द का प्रथम अक्षर '**ह**' है, जो दग्धाक्षर है—

''**हिमगिरि** के उत्तुंग शिखर पर
बैठे शिला की शीलत छाँह ।'' —(कामायनी, चिन्ता सर्ग)

कुछ लोगों का कहना है कि कालिदास की भाँति हिमालय को देवतात्मा

मानते हुए प्रसाद जी ने 'हिमगिरि' का प्रयोग कर दिया है। उस दशा में दग्धाक्षर दोष दूर रहता है। इसे हम दूर की कौड़ी मानते हैं।

शब्द-श्लेष या वाक्य-श्लेष के अर्थ का निश्चितीकरण प्रसंग द्वारा ही संभव है

(१) **शब्द-श्लेष के अर्थ का निश्चितीकरण—**

"सैन्धव लाओ"—इस वाक्य के 'सैन्धव' शब्द के अर्थ एक से अधिक हैं। किस समय कौनसा अर्थ-ग्रहण किया जाना चाहिए उसका मूलाधार प्रसंग ही है।

एक व्यक्ति भोजन की थाली में से एक ग्रास खाकर बोला कि 'सैन्धव लाओ', तो समझदार श्रोता समझ लेगा कि '**सैन्धव**' का अर्थ '**नमक**' है।

एक व्यक्ति घुड़सवारी की पोशाक पहनकर अपने सईस से कहता है कि 'सैन्धव लाओ', तो समझदार सईस समझ लेगा कि '**सैन्धव**' का अर्थ '**घोड़ा**' है। सिन्धु प्रदेश के घोड़े तथा नमक प्राचीन काल में प्रसिद्ध थे। सिंधु + अण् = सैन्धव।

(२) **वाक्य-श्लेष के अर्थ का निश्चितीकरण—**

"**क्या रंग लायी है।**"—इस वाक्य के अर्थ एक से अधिक हैं। उनमें से कौनसा अर्थ कब ग्राह्य है, उसका अर्थ प्रसंग पर ही निर्भर है?

भाँग घुट गयी और छान ली गयी, तब उसे देखकर एक व्यक्ति बोला कि 'क्या रंग लायी है?', इसका अर्थ है कि भाँग अच्छी घुटी है और उसका रंग उत्तम है।

एक स्त्री से एक पुरुष ने पीला रंग लाने के लिए कहा था। जब वह स्त्री लौटकर आयी, तब उस पुरुष ने पूछा, 'क्या रंग लायी है?' तब उसका अर्थ है कि क्या तू रंग लायी है?

एक दूसरे पुरुष ने उसी स्त्री से दूसरे ही क्षण पूछा कि 'क्या रंग लायी है?' तो इसका अर्थ है कि वह स्त्री कौनसा रँग लायी है?

'क्या रंग लायी है?' का स्पष्ट अर्थ है कि वह स्त्री कौनसा रंग लेकर आयी है?

'**लायी है**' का अर्थ है 'लेकर आयी है'। **लाना** क्रिया में दो क्रियाएँ–संश्लिष्टावस्था में सम्मिलित हैं। **लाना** = लेना + आना।

'**लायी**' में लेना सकर्मक क्रिया पूर्वकालिक कृदन्त के रूप में है। '**लायी**' संश्लिष्ट संयुक्त क्रिया है।

'वह ज़मीन पर **गिर पड़ा**' में 'गिर पड़ा' भी संयुक्त क्रिया है; लेकिन यह विश्लिष्ट संयुक्त क्रिया है। इसमें 'गिरना' और 'पड़ना' का प्रयोग अलग-अलग है। अर्थ की दृष्टि से **गिरना** प्रधान है। 'पड़ना' तो अचानक या एकदम के भाव को प्रकट करती है। 'पड़ना' को हम 'रंजक क्रिया' भी कह सकते हैं, क्योंकि 'गिर पड़ा'

के अर्थ को 'पड़ना' ने कुछ रँग दिया है ।

महाप्राण निराला ने अपनी कविता में लिखा—

"बहुत दिनों बाद खुला आसमान ।
निकली है धूप हुआ खुश जहान ।।" —(निराला)

इन पंक्तियों को निराला ने किस पृष्ठभूमि में कब लिखा ? इसका क्या अर्थ है ? यह प्रसंग से ही स्पष्ट हो सकता है ।

निराला जी ने उपर्युक्त पंक्तियाँ सन् १९३८ ई० में लिखी थीं । तब भारत में कांग्रेस का शासन स्थापित हुआ था । उससे निराला के कवि को एक प्रसन्नता की अनुभूति हुई थी । उसी अनुभूति की अभिव्यक्ति हैं उपर्युक्त पंक्तियाँ । प्रसंग से सब कुछ सुस्पष्ट हो गया ।

हिन्दी भाषा के बहुत बुड्ढे कुछ शब्द

पूजा में काम आनेवाली अग्नि ब्रजभाषा में '**बैसान्दुर**' कहलाती है । 'उजाला' के लिए '**उजीता**' शब्द प्रचलित है । साग–भाजी काटने में काम आनेवाला एक औज़ार **दराँत** कहलाता है । ब्रजभाषा के ये शब्द बहुत बुड्ढे हो गये हैं । बुढ़ापे ने इनकी शारीरिक दशा में बहुत परिवर्तन कर दिया है । ऋग्वेद का '**वैश्वानर**' ही ब्रजभाषा में 'बैसान्दुर' हो गया है । ऋग्वेद का **दात्र** ही हिन्दी में **दराँत** बोला जाता है । ब्रजभाषा का **उजीता** संस्कृत का उज्ज्योति है । ऋग्वेद (७/५/६२) में **ज्योति** शब्द 'प्रकाश' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

अतः हम कह सकते हैं कि **बैसान्दुर, दराँत** और **उजीता** शब्दों की उम्र कई हजार वर्षों की हो गयी है । अब ये पर्याप्त वृद्ध हो गये हैं । अतः क्षीणकाय हैं ।

वे कुछ शब्द जो अपने प्राचीन अर्थ छोड़ चुके हैं

आज '**आचार्य**' शब्द 'प्रोफेसर' के अर्थ में प्रयुक्त होता है । प्राचीन काल में निःशुल्क अध्यापक को '**आचार्य**' कहते थे । आज **प्रवक्ता** शब्द 'लैक्चरर' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, प्राचीन काल में वेदमंत्रों का व्याख्याता **प्रवक्ता** कहलाता था । वेतनभोगी अध्यापक को प्राचीन काल में **उपाध्याय** कहते थे ।

आज नैष्ठिक ब्रह्मचारी देखने में कदाचित् ही कहीं मिले । प्राचीन काल में जो व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर अध्ययन करता था, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता था ।

जो बालक ब्राह्मण के घर जन्म लेता था, वह ब्राह्मण कहलाता था । संस्कारों से वह **द्विज** संज्ञा का अधिकारी होता था । तपस्या से **विप्र** कहलाता था । वेदों का विशेष अध्ययन करनेवाला ब्राह्मण **श्रोत्रिय** कहलाता था । कुरु जनपद में

विशेष रूप से श्रोत्रिय ब्राह्मण निवास करते थे। राजा जनक ने अपने यज्ञ में श्रोत्रिय ब्राह्मणों को अग्रिम पंक्ति में आसन दिया था।

शब्दों के मूल स्रोत सभ्यता और संस्कृति की आयु के सूचक हैं

शैतान या ऊधमी बालक **ईतरा** बालक कहलाता है। इसका मूल संस्कृत शब्द **इत्वर** है। बाण ने 'हर्षचरित' में इस शब्द का प्रयोग किया है। बाण सातवीं शती का गद्यकार है। इससे सिद्ध है कि शैतान या उधमी के अर्थ में **इत्वर** शब्द बाण के समय में प्रचलित था। सूरसागर में इसके लिए **ईतर** शब्द है—

"नान्हे लोग तनक धन **ईतर**" —(ना०प्र०सभा, सूरसागर स्कन्ध १०/६२४

एक बार एक व्यक्ति ने कहा था कि **कृष्ण** शब्द अंग० **क्राइस्ट** से विकसित है। कितनी बड़ी भ्रान्ति समा गयी थी उसकी बुद्धि में। भाषाविज्ञान के पाठकों को मालूम होना चाहिए कि **नामी** के उपरान्त ही **नाम** का जन्म होता है। पहले **कृष्ण** व्यक्ति होगा, फिर **कृष्ण** नाम होगा। ऋग्वेद (८/८५/३) में अंगिरा के वंशज एक वैदिक ऋषि का नाम **कृष्ण** मिलता है। ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ है विश्व में। इसलिए अंग० **क्राइस्ट** से कदापि **कृष्ण** शब्द का विकास नहीं हो सकता। '**कृष्ण**' शब्द उतना ही पुराना है, जितना कि ऋग्वेद।

ब्रज प्रदेश में **कोठी** या **कुठिया** शब्द प्रचलित है। मिट्टी का बना हुआ आयत के आकार का ऊँचा अन्न-भण्डार **कोठी** या कुठिया कहलाता है। इसका मूल शब्द **कोष्ठी** है। अन्न-भण्डार के अर्थ में **कोष्ठी** शब्द शतपथ ब्राह्मण (१/१/२/७) में आया है। वैदिक संहिताओं के उपरान्त ब्राह्मण ग्रंथों की रचना हुई थी। इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मण-काल में मनुष्य अन्न को कोष्ठियों में भरकर रखते थे।

कुठिया या कोठी में अनाज निकालने के लिए छोटा-सा आयताकार या वर्गाकार द्वार-सा बना होता है। उस द्वार का ढक्कन भी मिट्टी का ही बना होता है, जो **पिहान** कहलाता है। इस शब्द का मूल **अपिधान** ऋग्वेद (५/२६/१२) में आया है। वैदिक सं० **अपिधान** > **पिधान** > **पिहान**। मूल शब्द में आदि स्वर का लोप हो गया। हिन्दी की 'उठाना' क्रिया को मेरठ की कौरवी बोली में **ठाना** और 'इकट्ठा' को '**कट्ठा**' बोलते हैं।

गाँवों में दूल्हे की बारात जिस जगह पर ठहराई जाती है, उस स्थान को **जनवासा** कहते हैं। इसका मूल **जन्यवास** शब्द है। **जन्य** शब्द वेद (ऋक् ४/३८/६) में आया है। मोनियर विलियम्स-कोश में **जन्य** का अर्थ लिखा गया है, 'दूल्हे के साथी'।

सन को बटकर जो रस्सी बनायी जाती है, वह कई प्रकार की होती है।

पतली को **सुतली** या **डोर**, डोर से मोटी को **लेजू** और लेजू से मोटी को **बरत** कहते हैं। बरत से कुँए में से पानी भरा चरस खींचा जाता है। बरत को वैदिक काल में **बरत्रा** (अथर्व० ३/ १७/६) कहते थे। वैदिक सं० **वरत्रा > बरत**।

साग या फसल काटने में काम आनेवाला लोहे का एक औज़ार **दराँत** कह– कहलाता है। **दराँत** शब्द मूल वैदिक शब्द **दात्र** से विकसित है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है—"हस्ते दात्रं च नाददे"—(ऋक्० ८/७८/१०)। यास्क ने भी निरुक्त (नैगम काण्ड २/१/२) में कहा है—"दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु" अर्थात् प्राच्याभाषा में जिसे **दाति** कहते हैं, उसे उदीच्या में **दात्र** कहते हैं।

गाँवों में बैलों द्वारा खींची जानेवाली एक सवारी (वाहन) होती है, जो **बहली** कहलाती थी। उसकी छतरी इक्के की छतरी से मिलती-जुलती है। **बहली** सं० **वाह्याली** से विकसित है।

बाणकृत 'कादम्बरी' में **'वाह्याली'** शब्द आया है। राजा तारापीड ने पुत्र चन्द्रापीड के लिए विद्यालय के निकट एक **'बहली–खाना'** बनवाया था। बाण ने लिखा है—"वाह्याली विभागामकारयत्" (कादम्बरी)

इससे सिद्ध है कि ईसा की सातवीं शताब्दी में जनता बहलियों में बैठकर यात्रा करती थी। राजा भी वहली रखते थे।

नाम अपने रूप का अनुगामी है। पहले वस्तु अस्तित्व में होती है, फिर उसका नाम रखा जाता है। शब्दों के प्रयोग किसी देश की संस्कृति–सभ्यता की प्राचीनता का संकेत करते हैं। मानव जीवन में काम आनेवाली कोई वस्तु जिस काल में बनी होगी, तभी मनुष्य ने उसका नाम भी रख दिया होगा। नाम रूप के अधीन है, नामरूपात्मकं जगत्।

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता (१८/१२) में एक मंत्र इस प्रकार है—

'व्रीहयश्च मे, **यवाश्च** मे, माषाश्य मे, **तिलाश्च** मे
मुद्गाश्च मे, खल्वाश्च मे, प्रियंगवश्च मे, अणवश्च मे,
श्यामाश्च मे, **गोधूमाश्च** मे, **मसूराश्च** मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।"
—(वाजस० १८/१२)

इससे सिद्ध है कि भारत में आर्य लोग **जौ** (वैदिक सं० यव,) **तिल** (वैदिक सं० तिल), **मूँग** (वैदिक सं० मुद्ग), **गेहूँ** (वैदिक सं० गोधूम) और **मसूर** (वैदिक सं० मसूर) की खेती करने लगे थे।

भाषा अपने शब्द-शिशुओं को अलग-अलग ढंग से पालती है

'शब्द' भाषा के शिशु हैं। इन शिशुओं का पालन–पोषण अलग–अलग ढँग

से भाषा करती है। अंग्रेज़ी, फारसी, संस्कृत हिन्दी आदि भाषाओं में इस तथ्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं। भाषा के ये शिशु जब बालक हो जाते हैं, तब भाषा उन्हें चलना भी अलग-अलग तरह से सिखाती है।

'ग्यारह' के लिए अंग्रेज़ी में **'इलैविन'** शब्द है, लेकिन **'बारह'** के लिए **'टुलैविन'** नहीं हुआ, 'ट्वैल्व' हुआ।

फ़ारसी में प्राणिवाचक संज्ञा शब्द में-**आन** प्रत्यय लगकर बहुवचन बनता है, जैसे **मर्द** से **मर्दान** (मर्दों); लेकिन **परिन्द** (=पक्षी) से बहुवचन **'परिन्दगान'** बना 'परिन्दान' नहीं।

संस्कृत के **इंगित, गीत, जीवित, हसित स्मित** भूतकालिक कृदन्त विशेषण संज्ञा के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं; लेकिन **भीत, प्रीत, क्रीत** और **उदित** नहीं होते।

'मोघ' का अर्थ है 'निष्फल' और निष्फल न होनेवाले को **'अमोघ'** कहते हैं। भाषा में **'अमोघ'** का प्रयोग तो होता है, लेकिन **'मोघ'** का प्रयोग हमारे देखने में नहीं आया। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में **'अमोघ'** विशेषण का प्रयोग पाँच स्थलों पर हुआ है। रघुपति का बाण अमोघ था। तुलसी लिखते हैं—

"जिमि **अमोघ** रघुपति कर बाना।
एही भाँति चलेउ हनुमाना॥" —(मानस, सुन्दर० १/८)

संस्कृत का **'शक्त'** विशेषण एकाकी रूप में तो संज्ञा बनकर हिन्दी में प्रयुक्त नहीं होता, लेकिन **'सशक्त'** के रूप में होता है—**सशक्त**=शक्तिसहित।

'डरा हुआ' के अर्थ में **'भीत'** विशेषण है। इसका प्रयोग संज्ञा के अर्थ में नहीं होता; परन्तु **'सभीत'** का प्रयोग होता है। **सभीत**=भीति सहित, डरसहित।

सिद्ध है कि भाषा अपने शब्द-शिशुओं का **पालन**-पोषण अलग-अलग ढँग से करती है।

हिन्दी में वे प्रातिपदिक, जो संस्कृत में पद हैं

हिन्दी में प्रातिपदिक (शब्द)		**संस्कृत में पद**
(१) आप	(=जल)	(१) आपः, प्रथमा, बहुवचन
(२) पथ	(=रास्ता)	(२) पथः, द्वितीया, बहुवचन।
(३) गिरा	(=वाणी)	(३) गिरा, तृतीय, एकवचन।
(४) श्वान	(=कुत्ता)	(४) श्वानः, प्रथमा, बहुवचन।
(५) युवा	(=जवान)	(५) युवा, प्रथमा, एकवचन।
(६) हस्ती	(=हाथी)	(६) हस्ती, प्रथमा, एकवचन।
(७) राजा	(=बादशाह)	(७) राजा, प्रथमा, एकवचन।
(८) नाव	(=कश्ती)	(८) नावः, प्रथमा, बहुवचन।

हिन्दी में प्रातिपदिक (शब्द)		संस्कृत में पद
(९) सन्त	(=साधु–सज्जन)	(९) सन्तः, प्रथमा, बहुवचन ।
(१०) सम्राट्	(=राजाओं का राजा)	(१०) सम्राट्, प्रथमा, एकवचन ।
(११) श्रीमान्	(=श्रीसहित)	(११) श्रीमान्, प्रथमा, एकवचन ।
(१२) आत्मा	... ...	(१२) आत्मा, प्रथमा, एकवचन ।
(१३) नाम	... ...	(१३) नाम, प्रथमा, एकवचन ।
(१४) जन्म	(=पैदायश)	(१४) जन्म, प्रथमा, एकवचन ।
(१५) आशिष	(=आशीर्वाद)	(१५) आशिषः, प्रथमा, बहुवचन ।
(१६) उपानह	(=जूता)	(१६) उपानहः, प्रथमा, बहुवचन ।
(१७) पय	(=जल)	(१७) पयः, प्रथमा, एकवचन ।
(१८) तीन	... ...	(१८) त्रीणि, प्रथमा, बहुवचन (नपुं०)
(१९) पुर	(=गाँव)	(१९) पुरः, प्रथमा, बहुवचन ।
(२०) महन्त	(=बड़ा व्यक्ति)	(२०) महान्तः, प्रथमा, बहुवचन ।
(२१) कर्तार	(=करनेवाला, कर्ता)	(२१) कर्तारः, प्रथमा, बहुवचन ।

हिन्दी-संज्ञा-शब्दों में लिंग

हिन्दी-संज्ञा-शब्दों में कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनका लिंग निश्चित है । **मोती**, **पानी**, **बूरा**, **धनिया** आदि सदा पुंलिंग हैं । इनके स्त्रीलिंग रूप नहीं होते ।

चील, **मछली**, **हल्दी** आदि सदा स्त्रीलिंग हैं । इनके पुंलिंग रूप नहीं होते ।

नर, **देव**, **कवि**, **हाथी**, **साधु** आदि ऐसे पुंलिंग शब्द हैं, जिनके स्त्रीलिंग क्रमशः **नारी**, **देवी**, **कवयित्री**, **हथिनी**, **साध्वी** आदि होते है ।

जिन शब्दों का लिंग परिवर्तित नहीं होता, उन्हें श्री हाकेटने अपनी पुस्तक 'ए कोर्स इन मॉडर्न लिंग्विस्टिक्स' (सन् १९७० ई०) के अध्याय २७ (पृष्ठ २३०–२३९) में **चयनात्मक कोटि** के शब्द कहा है; शेष को **रूपात्मक कोटि** में माना है ।

देश–भेद अथवा भाषा–भेद के कारण शब्दों में लिंग–भेद

संस्कृत में	मानक हिन्दी में	ब्रजी [ब्रजभाषा] में	अवधी में
इतिहास (पुं०) —	इतिहास (पुं०) —	इतिहास (पुं०) —	इतिहास (स्त्री०) —मानस, बाल० १५२/
उपहास (पुं०) —	उपहास (पुं०) —	उपहास (पुं०) —	उपहास (स्त्री०) —मानस, बाल० १३६/३

× × × — खोज (स्त्री०) — खोज (स्त्री०) —खोज (पुं०), —मानस, किष्कि०४/४

चतुष्क (पुं०) — चौक (पुं०) — चौक (पुं०) —चौक (स्त्री०), —मानस, उत्तर० ६ (क)/३

प्रश्न (पुं०) — प्रश्न (पुं०) — प्रस्न (पुं०) —प्रस्न, (स्त्री०),—मानस, उत्तर० ६५/२, ३

भाद (पुं०) — भादों (पुं०) — भादों (स्त्री०) —भादव (पुं०)—मानस, बाल० १६/–

मनोरथ (पुं०) — मनोरथ (पुं०) — मनोरथ (पुं०) —मनोरथ (स्त्री०), —मानस, अयो० १०३/२

मीन (पुं०) — मीन (पुं०) — मीन (स्त्री०) —मीन (स्त्री०)—मानस, अयो० ५४/४

रज (न०) — रज (स्त्री०) — रज (स्त्री०) —रज (स्त्री०),—मानस, अयो० १६६/२

रेणु (पुं०, स्त्री०) — रेणु (स्त्री०) — रेनु (स्त्री०), —रेनु (स्त्री०),—मानस, बाल० ३४३/२

× × × — लात (स्त्री०) — लात (स्त्री०), —लात (पुं०),—मानस अयो० १६३/४, मानस, लंका, ६४/५

शाप (पुं०) — शाप (पुं०) — साप (पुं०) —साप (स्त्री०),—मानस, उत्तर० १०६/३

पादुका (स्त्री०)— पादुका (स्त्री०)— पादुका(स्त्री०) —पादुका (पुं०)—मानस, अयो० दो० ३२३/–

संस्कृत और हिन्दी में **चर्चा** शब्द स्त्रीलिंग लेकिन उर्दू में **चर्चा** पुंलिंग में प्रयुक्त होता है—

"हम आह भी भरते हैं तो हो जाते हैं बदनाम;
वो क़त्ल भी करते हैं तो **चर्चा** नहीं होता।"

संस्कृत में शरीरवाची शब्द **तनु** स्त्रीलिंग है, फ़ारसी का **तन** शब्द उर्दू में पुंलिंग है। हिन्दी में तनु या **तन** पुंलिंग है।

शक्ल के अर्थ में अरबी का **हुलिया** शब्द हिन्दी में पुंलिंग है; लेकिन ब्रज-भाषा में स्त्रीलिंग है।

फ़ारसी का **गज़क** (=एक मीठा पदार्थ जो तिलों से बनता है) शब्द मानक हिन्दी में पुंलिंग और ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग है।

हिन्दू महीनों में एक महीना **भादों** ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग और मानक हिन्दी में पुंलिंग है।

कभी-कभी लिंग अर्थ में भी रहता है

प्राय: लिंग शब्द में ही रहता है, अर्थ में नहीं। संस्कृत में स्त्री-अर्थवाची **'दारा'** शब्द पुंलिग है। स्त्री अर्थवाची **कलम** शब्द नपुंसक लिंग है।

हिन्दी में लघुता के कारण **खाट** स्त्रीलिंग और विशालता के कारण **पलँग** पुंलिग है। इन उदाहरणों से सिद्ध है, कि लिंग शब्द में होता है, अर्थ में नहीं। **कोठा** छोटा होता है, लेकिन पुंलिग है, **कोठी** बड़ी होती है, लेकिन स्त्रीलिंग है।

लेकिन साहित्य में ऐसे उदाहरण भी मिल जाते हैं, जहाँ लिंग अर्थ में होता है। संस्कृत में 'सिन्धु' शब्द ऐसा ही है।

संस्कृत का **'सिन्धु'** शब्द जब 'समुद्र' के अर्थ में आता है, तब संस्कृत-साहित्य में वह पुंलिग में प्रयुक्त होता है और जब 'नदी' के अर्थ में आता है, तब स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है। समुद्र बड़ा होता है, नदी छोटी होती है। पुंलिग का आधार विशालता और स्त्रीलिंग का आधार लघुता है।

'नदी' के अर्थ में स्त्रीलिंग 'सिन्धु' का प्रयोग—

कालिदासकृत 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' नाटक का दुष्यन्त शकुंतला से अपने दरबार में कहता है कि तट को बहा लेजानेवाली नदी की भाँति तुम अपने को क्यों कलंकित करना चाहती हो ?

"कूलंकषेव **सिन्धु** :" —(अभिज्ञान शाकुं० अंक ५/२१)

यहाँ 'सिन्धु' (=नदी) शब्द स्त्रीलिंग में है।

'कुमारसंभव' में शंकर जब ब्रह्मचारी वेश त्याग कर पार्वती के सामने खड़े हो गये, तब पार्वती की दशा उस नदी के समान हो गयी, जिसकी धारा के आगे पहाड़ आ गया हो। अर्थात् पार्वती तब न जा सकी और न खड़ी रह सकी—

"मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव **सिन्धु**:
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।"

—(कुमारसंभव, सर्ग ५/८५)

उपर्युक्त उद्धरण का **'सिन्धु'** शब्द भी स्त्रीलिंग में है।

हिन्दी में कुछ संज्ञा शब्दों में लिंग और वचन की समस्या : एक समाधान

वैसे तो लिग का आधार लोक-मानस है। लोक-मानस ने जिसे बलशाली, विशाल और कठोर आदि गुणवाला समझा, उसे पुंलिग में और जिसे दुर्बल, लघु और कोमल आदि गुणवाला समझा, उसे स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया। "लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य"—वैयाकरणों ने भी कहा।

हिन्दी में कुछ शब्द ऐसे हैं, जो शब्द-स्तर पर पुंलिग होते हुए भी स्त्रीलिंग

में प्रयुक्त होते हैं । क्यों ? 'लिंग' शब्द में भी होता है और अर्थ में भी ।

'राम' शब्द पुंलिंग है, **अयन** शब्द पुंलिंग है, लेकिन **'रामायण'** शब्द स्त्रीलिंग है । हिन्दी में **'पुस्तक'** शब्द स्त्रीलिंग है । जब **'रामायण'** शब्द **'पुस्तक'** के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया जाता है । 'चन्द्रमा' के अर्थ में **चाँद** शब्द पुंलिंग और 'खोपड़ी' के अर्थ में **चाँद** शब्द स्त्रीलिंग है—

(१) ईद का **चाँद** निकल आया । (२) उसकी **चाँद** गंजी है ।

'गाड़ी शब्द हिन्दी में स्त्रीलिंग है ।' **'कार'** शब्द जब 'गाड़ी' के अर्थ में आता है, तो स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है—"मोहन की **कार** गड्ढे में गिर गयी ।"

संस्कृत में **'इन्द्रिय'** शब्द नपुंसक लिंग है । हिन्दी में नपुंसक लिंग होता नहीं । हिन्दी ने **'इन्द्रिय'** तथा **इन्द्री** शब्दों को स्त्रीलिंग में ग्रहण किया है ।

(१) "एक हिजड़े ने अपनी **इन्द्री** काट ली थी ।"

(२) "बुढ़ापे में **ज्ञानेन्द्रियाँ** शिथिल पड़ जाती हैं ।"

(३) "हमें **ज्ञानेन्द्रियों** की रक्षा का ध्यान रखना चाहिए ।"

व्याकरण से **व्यक्ति** शब्द स्त्रीलिंग है । यह जब 'जन' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब पुंलिंग में आता है ।

लोक-भावना पुरुष प्रधान है । हिरनों और हिरनियों का वास किसी जंगल में हो, तो उसे **'हिरनों का जंगल'** ही कहते हैं । **'व्यक्ति'** में स्त्री और पुरुष दोनों का अर्थ समाविष्ट है, फिर भी पुरुषभावप्रधान लोक-मानस यही कहता है—

(१) "सड़क पर दस **व्यक्ति** खड़े हुए थे ।"

(२) "उस रात बीस बुड्ढे **व्यक्तियों** ने खाना खाया था ।"

आदर या संख्या-आधिक्य के समय कुछ संज्ञा शब्दों का प्रयोग बहुवचन में होता है—

(१) आदर के कारण—[दर्शन = अवलोकन]

(क) "गोपाल ने शिव जी के **दर्शन** किये थे ।

(ख) "हमने महात्मा गांधी के **दर्शन** किये थे ।"

अदरार्थ एक व्यक्ति के लिए भी संस्कृत में **सन्तः** और **भवन्तः** (बहुवचनीय) का प्रयोग किया जाता है ।

आदर के कारण ही हिन्दी में एकवचनीय **'वह'** सर्वनाम के साथ बहुवचनीय क्रिया प्रयुक्त होती है—"**वह** तो कल ही आ गये थे ।"

फिलॉसोफ़ी या विचार-धारा के अर्थ में आनेवाला **'दर्शन'** शब्द हिन्दी में एकवचन में ही प्रयुक्त होता है—

"मैंने **गांधी-दर्शन** पढ़ा है ।"

"मैंने **सांख्यदर्शन** पढ़ा है ।"

(२) संख्या-आधिक्य के कारण—

(क) "सोहन के पिता के **प्राण** रात्रि के दस बजे निकले थे।"

(ख) "प्रभु उसके **प्राणों** की रक्षा करें।"

प्राण पाँच होते हैं—(१) **प्राण** (२) **अपान** (३) **व्यान** (४) **समान** (५) **उदान**। मृत्यु के समय पाँचों ही प्राण निकल जाते हैं। इसलिए '**प्राण**' का प्रयोग बहुवचन में होता है।

शब्दान्तर्गत ध्वनियों का कमाल

'निशान' के अर्थ में हिन्दी में बहुत–से लेखक '**चिन्ह**' लिखते हैं। हिन्दी–शब्दकोशों में भी 'चिन्ह' लिखा मिलता है। वास्तव में यह मूल शब्द संस्कृत में **चिह्न** था। इसकी 'ह्' ध्वनि ने 'न्' ध्वनि का और 'न्' ध्वनि ने 'ह्' ध्वनि का स्थान ले लिया है। सं० **चिह्न** ही कालान्तर में 'चिन्ह' बोला जाने लगा।

संस्कृत का '**याच्ञा**' (=माँगना) शब्द कालान्तर में 'याञ्चा' बोला जाने लगा। इसमें भी अंतिम दो व्यंजन एक दूसरे के स्थान पर चले गये हैं। भाषाशास्त्री इसे वर्णविपर्यय कहते हैं।

'क्रोध' के अर्थ में एक हिन्दी–शब्द '**माख**' है। यह सं० **अमर्ष** का विकास है। सं० **अमर्ष** > **अमक्ख** > **मक्ख** > **माख**।

प्रातःकाल के अर्थ में एक शब्द '**भोर**' है। यह सं० **भावर** (=उत्तमप्रकाश) का विकास है। सं० भावर > भाउर > भोर।

हाथ, मुँह, शरीर आदि पोंछने में काम आनेवाला एक वस्त्र **अँगोछा** कहलाता है। यह संस्कृत शब्द अङ्ग + उक्षक=अङ्गोक्षक से विकसित है। सं० **अङ्गोक्षक** > **अंगोच्छअ** > **अंगोछा** > **अँगोछा**। √उक्ष् धातु प्रोक्षण या मार्जन के अर्थ में आती है।

सं० **निर्वाह** से हिन्दी शब्द '**निबाह**' है। इसका क्रियारूप '**निबाहना**' है। इसकी ब् + ह ध्वनियाँ मिलकर 'भ्' बन गयीं और यही 'निबाहना' शब्द फिर हिन्दी में '**निभाना**' भी बोला जाने लगा—

"गिला तब हो अगर तूने किसी से भी **निभायी** हो।"

वे शब्द जिनमें व्यंजन-द्वित्व का विकल्प स्वीकृत है

कुछ संस्कृत शब्द ऐसे हैं, जिनमें व्यंजन का द्वित्व कीजिए, तब भी ठीक हैं और न कीजिए, तब भी ठीक हैं।

निम्नांकित शब्दों में दोनों प्रकार का लेखन सही है—

द्वित्व सहित ठीक शब्द			**द्वित्व रहित ठीक शब्द**
(१) कर्त्ता	(२) कर्म्म–धर्म्म	—	(१) कर्ता (२) कर्म–धर्म

(३) मर्म्म (४) वर्म्मा — (३) मर्म (४) वर्मा
(५) शर्म्मा (६) आर्य्य — (५) शर्मा (६] आर्य

लेकिन 'कृत्ति' और 'कृति' में विकल्प नहीं है। दोनों शब्द अलग-अलग धातु से निर्मित हैं और अर्थ में भिन्न-भिन्न हैं।

√कृत् धातु का अर्थ 'काटना' और √कृ धातु का अर्थ 'करना' है। √कृत + क्तिन् = कृत्ति [= चमड़ा, भूर्जपत्र]। चर्म मृत पशु के शरीर से काटकर प्राप्त होता है।

√कृ + क्तिन् = कृति [= बनायी हुई वस्तु, किया हुआ काम]। जो वस्तु करके प्राप्त होती है।

शिव जी हाथी का चर्म धारण करते हैं, इसलिए उन्हें **'कृत्तिसिंधुर'** भी कहते हैं—

"निलिम्पनिर्झरीधरस्तनोतु **कृत्तिसिन्धुर** :" —[शिवताण्डवस्तोत्र, श्लोक ८]

श्रीराम के दरबार में लव-कुश ने वाल्मीकि रामायण गायी थी। कालिदास ने कहा है—

"**स्वकृतिं** गावयामास कविप्रथमपद्धतिम्।"

—[रघुवंश, सर्ग १५/३३]

अर्थात् वाल्मीकि ऋषि ने अपनी प्रथम काव्यकृति [रामायण] लव-कुश से गवायी थी।

वृत्त [√वृत् + क्त] और **वृत** [√वृ + क्त] में अर्थ-भेद का कारण धातु-भेद है। [१[**वृत्त** = घटित। [२] **वृत** = ढका हुआ।

निरुक्त और व्याकरण न जाननेवाले लेखक **कृत्ति**, **कृति**, **वृत्त** और **वृत** के प्रयोग और लेखन में भूल कर जाते हैं।

प्रारम्भ में किसी गण्य-मान्य लेखक से भूल हो गयी होगी। उसी भूल के कारण आज तक बहुत-से हिन्दी-लेखक रावण के पुत्र **'अक्षकुमार'** को 'अक्षयकुमार, और प्रह्लाद के पिता **'हिरण्यकशिपु'** को 'हिरण्यकश्यप' लिखते चले जा रहे हैं। जुआ खेलने के पासे को **अक्ष** कहते हैं। अक्षकुमार जुआरी था। प्रह्लाद का पिता सोने का तकिया लगाता था, इसलिए वह **हिरण्यकशिपु** कहलाता था। श्रवणेन्द्रिय की असावधानी भी इन भूलों में कारण हो सकती है। **'वक्षःस्थल'** को ठीक तरह न सुना, तो 'वक्षस्थल' लिखने लगे।

ध्वनियाँ भी भाषा का निर्णायक तत्त्व हैं

जिन शब्दों में ट्, ठ्, ड्, ढ् ध्वनियाँ हैं, वे हिन्दी के अपने शब्द होने चाहिए। जैसे—

(१) **अट्टी** या **आट** = सूत की बड़ी लच्छी।

(२) ठीकरा=खपड़े का टुकड़ा।
(३) डाल=शाखा (पेड़ की)।
(४) ढोर=चौपाया, मवेशी।

जिनमें टवर्गीय ध्वनियाँ होंगी, वे शब्द अरबी या फारसी भाषा के नहीं हो सकते। महाप्राण ध्वनि ध् या 'भ्' वाले शब्द भी अरबी या फारसी के नहीं हो सकते। धान या भात शब्द अरबी–फ़ारसी का नहीं है।

जिन शब्दों में ऐन (ع), गैन (غ), तोइ (ط), क़ाफ़ (ق), स्वाद (ص), बड़ी हे (ح) आदि ध्वनियाँ होंगी, वे अरबी भाषा के शब्द होंगे। जैसे—

(१) ईद (عيد)=मुसलमानों का खुशी का त्यौहार
(२) ग़ज़ल (غزل)=उर्दू कविता का एक रूप।
(३) तूफ़ान (طوفان)=पानी की बाढ़।
(४) क़लम (قلم)=लेखनी।
(५) साफ़ (صاف)=स्वच्छ।
(६) हाल (حال)=दशा, हालत।

मानस हिन्दी और अवधी भाषा की पदात्मक रचना में अन्तर है

सर्वनाम और संज्ञा—

संस्कृत में '**यस्य नाम**' का मानक हिन्दी में रूपान्तर होगा '**जिस का नाम**'। सं० यस्य का विकास हिन्दी में '**जिस**' है। इस **जिस** के साथ फिर **के** और लगाना पड़ा है। यह **के** अधिक है। भले अधिक हो, मानक हिन्दी में ऐसी स्थिति पायी जाती है।

संस्कृत में पदबन्ध	**मानक हिन्दी में पदबन्ध**
(१) यस्य नाम (सं० यस्य > प्रा० जस्स)	(१) जिसका नाम (प्रा० जस्स + का)

प्राचीन अवधी प्राकृत की रूपात्मक परंपरा के अधिक निकट है। प्राकृत में **जस्स नाम**, उसी तरह अवधी में **जासु नाम** (रामचरितमानस, किष्कि० १०/४)।

"**जासु नाम** बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अविनासी॥"
—(मानस, किष्कि० १०/४)

विशेषण और विशेष्य—

मानक हिन्दी में कारकसूचक तत्त्व विशेष्य में लगता है विशेषण में नहीं। जैसे—

संस्कृत में	हिन्दी में
विशेषण + विशेष्य + विभक्ति	**विशेषण + विशेष्य + करण कारकीय परसर्ग**
सं० कठोरेण कुठारेण	हिन्दी—कठोर **कुठार से**

[अथवा] कठोर **कुठारेण**

अवधी—**कुठार कठोरें** [विशेष्य + विशेषण + विभक्ति]

प्राचीन अवधी में विभक्ति प्रत्यय विशेषण में लगता है, विशेष्य में नहीं—कुठार कठोरें (मानस, बाल० २७५/८) = कुठार + कठोर + एँ

मानक हिन्दी में निपात **भी** का प्रयोग कारकीय सूचक संज्ञा संयुक्त परसर्ग के बाद होता है। जैसे—

हिन्दी–कहने से भी = संज्ञा + परसर्ग से + भी।

अवधी–कहेहू तें = संज्ञा + हू + तें —(मानस, सुन्द० १५/५)

"**कहेहू** तें कछु दुख घटि होई।" —(मानस, सुन्दर० १५/५)

मानक हिन्दी में 'कहने भी से' प्रयोग नहीं होता, लेकिन अवधी में **कहेहू तें** प्रयोग होता है।

मानक हिन्दी में 'ही' का प्रयोग	**अवधी भाषा में 'ही' का प्रयोग**
□ "**राम ही की** पनही (जूती)	□ '**रामहि की** पनही —(मानस, अयो० २३४/२)
□ **राम की ही** पनही (जूती)	
□ **चमार ही की** जूती, **चमार ही का** सिर।	

ब्रजभाषा में पुंलिंग अकारान्त शब्द का सप्तमी विभक्ति एकवचन का –ए प्रत्यय

सूर ने गाया—"**द्वारैं** ठाढ़े हैं द्विज बावन" —(संपा० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, चतुर्थ खण्ड, पद ४७४२)

तुलसी ने लिखा—

"अवधेस के **द्वारे** सकारे गई" (कवितावली, बालकाण्ड, छन्द १)

द्वारैं का **ऐं** विभक्ति प्रत्यय सप्तमी विभक्ति के एकवचन का ही सूचक है। यह–**ऐं –ए** विभक्ति प्रत्यय का ही एक परिवर्तित रूप है। **ऐं** = ए। तुलसी ने तो **द्वारे** स्पष्टतः लिखा ही है। **द्वारे** = द्वार पर [अधिकरण कारक, एकवचन] सं० द्वार + –ए = द्वारे।

ब्रजभाषा के इस **–ए** विभक्ति–प्रत्यय की परम्परा बड़ी प्राचीन है। संस्कृत में भी सप्तमी विभक्ति के एकवचन में **द्वारे** [द्वार + –ए] रूप ही मिलता है। **सं०** द्वारे = द्वार पर।

हाल [ई० २००–४५०] की 'सत्तसई' महाराष्ट्री प्राकृत का ग्रन्थ है। उसमें भी **गामे** [हाल १३८] रूप मिलता है, जो संस्कृत **ग्रामे** के समानान्तर है।

शौरसेनी प्राकृत में भी सप्तमी के–**ए** प्रत्ययों के उदाहरण मिल जाते हैं।

हैमचन्द्रकृत शब्दानुशासन के अपभ्रंश भाग में सप्तमी विभक्ति के एक-वचनीय प्रत्यय के प्रयोग मिलते हैं—

संस्कृत '**प्रिये**' के स्थान पर **पिये** [हैम० व्या० अ० ८/पा० ४/३६५/१] रूप मिलता है। संस्कृत **दृष्टे** के स्थान पर **दिट्ठे** [हैम० व्या० अ० ८/पा० ४/३६६/२] रूप मिलता है।

अतः ब्रजभाषा में सप्तमी का एकवचनीय प्रत्यय **–ए** इतना दृढ़ है कि संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश काल में भी अक्षुण्ण बना रहा है। यह माना कि अपभ्रंश में सप्तमी एकवचन में**–हिं** के उदाहरण अधिक मिलते हैं; जैसे **देसहिं** [हैम० व्या० ८/४/३८६/१]=देश में, परन्तु **–ए** के उदाहरण भी मिल जाते हैं।

हिन्दी के वैयाकरणों के अनुसार वाक्य में कर्ता

कामताप्रसाद गुरु के अनुसार 'कर्ता' वह है जिसके [जिस वस्तु या व्यक्ति के] विषय में क्रिया द्वारा विधान किया जाता है।

"चिट्ठी भेजी जाएगी"—इस वाक्य में '**चिट्ठी**' कर्ता है। [पं० कामता–प्रसाद का मत]।

पं० किशोरीदास वाजपेयी और श्री फिलमोर के अनुसार क्रिया के संचा-लक को **कर्ता** कहते हैं।

"पोस्टमैन द्वारा चिट्ठी भेजी जाएगी"—इस वाक्य में '**पोस्टमैन**' कर्ता और **चिट्ठी** कर्म है [पं० वाजपेयी का मत]

कर्ता कारक की संरचना के सम्बन्ध में वैयाकरणों में यह मत–भेद है। मैं आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के मत को ठीक मामता हूँ। पाश्चात्य विद्वान् फिलमोर का भी यही मत है।

डा० बाबूराम सक्सेना का मत और हिन्दी में वाच्य

"कर्तृवाच्य सकर्मक–अकर्मक दोनों तरह की धातुओं के रूपों में संभव है, कर्मवाच्य केवल सकर्मक धातुओं में और भाववाच्य अकर्मक धातुओं में ही।"

—(डा० बाबूराम सक्सेना, सामान्य भाषाविज्ञान, हिन्दी साहित्य–सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २०१३ वि०, पृष्ठ ६८)

उपर्युक्त कथन में यह त्रुटि या भूल है कि भाववाच्य अकर्मक धातुओं में ही होता **है**। हिन्दी में भाववाच्य अकर्मक और सकर्मक–दोनों ही–धातुओं में पाया जाता है—

[१] **अकर्मक धातु में भाववाच्य**—लड़के से नहीं **चला जाता**। लड़कों से

नहीं **चला जाता**। लड़की से नहीं **चला जाता**। लड़कियों से नहीं **चला जाता**। [यहाँ 'चला जाता' अपरिवर्तित है। अतः भाववाच्य है।]

(२) **सकर्मक धातु में भाववाच्य**—लड़के ने लड़की को पीटा। लड़कों ने लड़की को **पीटा**। लड़के ने लड़कियों को **पीटा**। लड़कों ने लड़कियों को **पीटा**। लड़की ने लड़के को **पीटा**। लड़कियों ने लड़के को **पीटा**। लड़कियों ने लड़कों को **पीटा**। (कर्ता और कर्म के लिंग–वचन के परिवर्तन पर भी क्रिया **पीटा** ही रही अर्थात् अपरिवर्तित। अतः यह भाववाच्य है।)

पं० गुरु और आचार्य वाजपेयी : कारक और उनकी संख्या

पं० कामताप्रसाद गुरु ने अपने 'हिन्दी व्याकरण' में अंग्रेजी ग्रामर के आधार पर आठ कारक माने हैं—(१) **कर्ता** (२) **कर्म** (३) **करण** (४) **संप्रदान** (५) **अपादान** (६) **सम्बन्ध** (७) **अधिकरण** (८) **सम्बोधन**।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने संस्कृत के वैयाकरणों के कथन का पालन करते हुए कुल छह कारक माने हैं। आचार्य वाजपेयी संज्ञा की उस अवस्था को ही कारक मानते हैं, जिसका सम्बन्ध सीधा क्रिया से है। प्राचीन वैयाकरणों ने कहा है—

"क्रियन्वयित्वं कारकत्वम्"। महाभाष्यकार पंतजलि ने अपने ग्रन्थ 'महा–भाष्य' में कहा है—"क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्"। अतः वाजपेयी इन छह को ही कारक मानते हैं—[१] **कर्ता** [२] **कर्म** [३] **करण** [४] **संप्रदान** [५] **अपादान** [६] **अधिकरण**। 'सम्बन्ध' और 'सम्बोधन' का सीधा सम्बन्ध क्रिया से न होने के कारण वाजपेयी जी इन दो को कारक नहीं मानते।

कर्ता-कर्म के सम्बन्ध में पं० गुरु और आचार्य वाजपेयी

पं० कामता प्रसाद गुरु का मत है कि क्रिया से जिस वस्तु के विषय में विधान किया जाता है, वह कर्ता है।

"**चिट्ठी** लिखी जाती है" वाक्य में **चिट्ठी** कर्ता है [पं० गुरु का मत)।

आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी और प्रो० फिलमोर का मत है कि क्रिया के करनेवाले को कर्ता कारक कहा जाता है।

"**राम चिट्ठी** लिखता है" में **राम** कर्ताकारक और **चिट्ठी** कर्मकारक है।

"**चिट्ठी** लिखी जाती है में **चिट्ठी** आचार्य वाजपेयी के अनुसार कर्म है। इस वाक्य में लिखनेवाला कर्ता लुप्त है। यही मत फिलमोर का भी है।

पंडित गुरु "चिट्ठी लिखी जाती है" में चिट्ठी को कर्ता मानते हैं, तो "**राम**

के द्वारा **चिट्ठी** लिखी जाती है" और "**राम** के द्वारा **कलम** से चिट्ठी लिखी जाती है"—में **राम** और **कलम** क्या माने जाएँगे ? यह एक झगड़ा पं० कामताप्रसाद गुरु के मत में पैदा होता है।

अतः आचार्य वाजपेयी के मतानुसार निम्नांकित निर्णय ग्राह्य है—

"**राम** के द्वारा **कलम** से **चिट्ठी** लिखी जाती है"—में **राम** कर्ताकारक, **कलम** करणकारक और चिट्ठी कर्मकारक है। हमारा मत भी यही है। "राम धोबी से कपड़े धुलवाता है" में **राम** प्रेरक कर्ता **धोबी** प्रेरित कर्ता और **कपड़े** कर्म कारक माना जाएगा। कपड़ों के धोने में **राम** परोक्षकर्ता और **धोबी** प्रत्यक्ष कर्ता भी माना जा सकता है।

हिन्दी में कुछ वाक्य ऐसे हैं, जिनमें कर्ता–कर्म कारक के निर्धारण में पं० गुरु और आचार्य वाजपेयी में मत–भेद है। उस मत–भेद का मूल कारण यह है कि पं० गुरु का व्याकरण अंग्रेज़ी भाषा के व्याकरण को आधार मानकर लिखा गया है और आचार्य वाजपेयी का हिन्दीशब्दानुशासन पाणिनीय व्याकरण को आधार मानकर रचा गया है। उदाहरणार्थ वाक्य—

[१] "**लड़का** दौड़ रहा है।"

[२] "**पेड़** कट रहा है।"

"**लड़का** दौड़ रहा है" वाक्य के 'लड़का' पद को पं० गुरु और आचार्य वाजपेयी दोनों ही कर्ता कारक मानते हैं।

"**पेड़** कट रहा है।" वाक्य के '**पेड़**' पद को पं० गुरु **कर्ता** कारक मानते हैं; लेकिन आचार्य वायपेयी उसे **कर्म** मानते हैं।

आचार्य वाजपेयी का कहना है कि हिन्दी में "**लड़का दौड़ रहा है**" वाक्य सापेक्ष कर्ता का प्रयोग है और "पेड़ कट रहा है" वाक्य निरपेक्ष कर्ता का प्रयोग है। "**पेड़ कट रहा है**" वास्तव में '**कर्म कर्तृक प्रयोग**' है। यहाँ पेड़ मूलतः कर्म है। पेड़ को काटनेवाला ही कर्ताकारक माना जाएगा। उसका ईप्सिततम कर्म 'पेड़' है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में कर्म की परिभाषा दी गयी है—

"कर्तुरीप्सिततमं कर्म" —[अष्टा० १/४/४६] [**कर्म** कर्ता का ईप्सिततम है।]

'पेड़' स्वयं अपने को नहीं काट सकता, इसलिए 'पेड़' कर्ता नहीं हो सकता। पेड़ को काटनेवाला लुप्त है। जो लुप्त है, वास्तव में वही कर्ता है। "पेड़ कट रहा है" का अर्थ है—"पेड़ किसी के द्वारा काटा जा रहा है।"

कर्ता–कर्म के निर्धारण में दोनों हिन्दी–वैयाकरणों के मतों में यही अन्तर है। मैं आचार्य वाजपेयी के मत का समर्थक हूँ।

कर्ता, कर्म और अधिकरण के सम्बन्ध में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का मत यह भी है, जो ध्यातव्य है—

(१) "**सोहन** को **भूख** लगी है"—'**सोहन**' कर्म है, **भूख** कर्ता है।
(२) "**सोहन** को **क्रोध** आ गया"—'**सोहन**' कर्म है, **क्रोध** कर्ता है।
(३) "**वह पढ़ना** चाहता है"—'**वह**' कर्ता है, '**पढ़ना**' कर्म है।

× × ×

(१) "**चींटी के** भी प्राण हैं"—'**चींटी के**' अधिकरण है।
(२) "**सोहन में** क्रोध है" —'**सोहन में**' अधिकरण है।
(३) "वह **रात को** जागता है।"—'**रात को**' अधिकरण है।

कुछ संज्ञा शब्द जिनके गर्भ में चमत्कारपूर्ण अर्थ रहता है

'**हरिऔध**' हिन्दी के एक प्रसिद्ध साहित्यकार का उपनाम है। यह उपनाम उसका नाम ही समझिए। **हरिऔध**=सिंह अयोध्या। अर्थात् अयोध्यासिंह। मुख्य नाम के शब्दों के पर्यायों को उलट दिया है। पं० अयोध्यासिंह का उपनाम था 'हरिऔध'

इसी तरह का एक नाम '**प्रतापहरी**' है; इसका अर्थ है प्रतापनारायण। पं० प्रतापनारायण अपना उपनाम 'प्रतापहरी' लिखते थे।

भारतवर्ष में नृत्य की चार शैलियाँ प्रसिद्ध हैं—(१) **भारतनाट्यम्** (२) **कथक** (३) **कथकलि** (४) **मणिपुरी**। '**भरतनाट्यम्**' के पूर्वांश में 'भरत' है। '**भरत**' शब्द में **भ** अक्षर भाव को, **र** अक्षर राग को और **त** अक्षर ताल को सूचित करता है। भरतनाट्यम् (भरत नृत्य शैली) में भाव, राग और ताल का सम्मेलन है।

भारत और योरोप की भाषाओं का सम्मिलित परिवार **भारोपीय** परिवार कहलाता है। हिन्दी और उर्दू का मिला-जुला रूप **हिंदू** कहलाता है।

'शुक्ल दिवस' वाला पाख **शुदि** और कृष्णपक्ष अर्थात् 'वद्स दिवस' वाला पाख **वदि** कहलाता है। इन शब्दों में संक्षिप्तीकरण है।

कुछ राजनीतिक लोगों ने मिलकर एक पार्टी बनायी थी और नाम रखा था, **अजगर**। **अ**=अहीर। **ज**=जाट। **ग**=गूजर। **र**=राजपूत।

ऐसी संज्ञाएँ अपने गर्भ में चमत्कार रखती हैं।

लय और छन्द का सम्बन्ध

छन्दों को वेद के चरण माना गया है। **लय** और **छन्द** में अर्थ-भेद है। लय में छन्द भी समाविष्ट रहता है।

छन्द में मात्राओं या अक्षरों की नियमबद्ध गणना तो रहती है, लेकिन वह

गणना किसी लय पर आधृत होती है। वास्तव में शृंखलाबद्ध लय का नाम ही **छन्द** है। मात्राओं या अक्षरों की नियमबद्ध गणना ठीक रहने पर भी लय–शृंखला का निर्वाह यदि न होगा, तो '**छन्दोभंग**' की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। वह लय–भंग '**गतिभंग दोष**' कहलाएगा।

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के किष्किधाकाण्ड (दो० १/१) की अर्द्धाली का निम्नांकित प्रथम चरण १६ मात्राओं का है—

"आगें चले बहुरि रघुराया"—आगें–४ मात्राएँ + चले–३ मात्राएँ + बहुरि –३ मात्राएँ + रघुराया–६ मात्राएँ = १६ मात्राएँ।

उपर्युक्त चरण को हमने इस प्रकार कुछ पद–क्रम का विपर्यय कर दिया—

"बहुरि आगें चले रघुराया"—इसमें १६ मात्राएँ तो हैं; लेकिन चौपाई छंद की लय समाप्त हो गयी है।

लय–भंग को ही छन्दःशास्त्र में **गति–भंग** कहते हैं। चरण में विश्राम–स्थल **यति** कहलाता है। उचित स्थान पर यति न होना **यति–भंग** कहा जाएगा। हम यह भी कह सकते हैं कि "बहुरि आगें चले रघुराया" में '**छन्दो भंग**' हो गया। सारांश यह कि मात्राओं की गणना ठीक हो, पर लय–भंग हो, तो 'छन्दोभंग माना जाएगा।

गालिब की एक ग़ज़ल है, जिसका प्रारंभ का शेर है—

"कोई उम्मीद बर नहीं आती। कोई सूरत नज़र नहीं आती।"—हर मिस्रे में १८ मात्राएँ हैं।

शेर के दोनों मिस्रे एक खा़स वज़न पर हैं और वह वज़न एक लय पर आधृत है। उपर्युक्त शेर के पहले मिस्रे में १८ मात्राओं के साथ हम यह परिवर्तन कर देते हैं—

उम्मीद कोई बर नहीं आती।"—इसमें वह लय नहीं रही। अतः छन्दोभंग माना जाएगा। हालाँकि **अर काफ़िया** और '**नहीं आती**' **रदीफ़** ज्यों की त्यों है।

अतः छन्द में मात्रा–अक्षर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण छन्द की लय है। मात्रा-अक्षर तो लय में ही आबद्ध रहते हैं।

कुछ संज्ञा शब्दों की भेदक रेखाएँ

संकार और **संस्कार** के अर्थ एक दूसरे के विरोधी हैं। '**संकार**' का अर्थ है कूड़ा–कर्कट, धूल, गंदगी आदि और **संस्कार** का अर्थ है परिष्कार, शुद्धि आदि।

स्तुति और **प्रार्थना** की सूक्षम भेदक रेखाएँ इस प्रकार हैं—'**स्तुति**' में हम अपने इष्टदेव या प्रभु का गुण–गान करते हैं और '**प्रार्थना**' में प्रभु से कुछ माँगते हैं।

'**संस्तुति**' का अर्थ है अच्छी तरह प्रशंसा करना या गुणों का बखान करना है। '**संस्तुति**' का यह अर्थ **प्राचीन** है; आज '**संस्तुति**' का अर्थ 'सिफारिश' या 'रिकमं-डेशन' लिया जाता है। शब्दों के अर्थों पर काल का प्रभाव भी पड़ता है। '**संस्तुति**' संज्ञा और '**संस्तुत**' विशेषण है।

भावक प्रतिभा (कारयित्री प्रतिभा) और **भावक प्रतिभा** (भावयित्री प्रतिभा) शब्दों का अर्थ सुगम शब्दों में क्रमशः समझ लेना चाहिए 'रसिक प्रतिभा' और 'रसज्ञ प्रतिभा' जायसीकृत '**पदमावत**' की नागमती पति रत्नसेन के वियोग में कहती है—

"पिय सौं कहेहु सँदेसरा, हे भँवरा हे काग।
सो धनि बिरहें जरि गई, तेहिक धुआँ हम लाग॥"
—(पदमावत ३४६/३०/६)

नागमती के विरह-**वर्णन** से स्पष्ट है कि जायसी में **भावुक प्रतिभा** है। 'जायसी ग्रंथावली की भूमिका में आचार्य शुक्ल कहते हैं, " वह पुण्य दशा धन्य है, जिसमें ये सब (भौंरे, कौए आदि) अपने सगे लगने लगते हैं।" इस टिप्पणी से प्रकट है कि शुक्ल जी में **भावक प्रतिभा** है। 'भावुक प्रतिभा' को तुरन्त देखनेवाला तीसरा नेत्र 'भावक प्रतिभा' के पास होता है। सच्चा कवि 'भावुक', तो सच्चा आलोचक 'भावक' है। सच्चा पाठक भी भावुक होता है। भागवत (स्कंध १/अ०१/३) में '**भावुक**' का विशेषण '**रसिक**' दिया गया है। सूक्ष्मदर्शिनी भावक- प्रतिभा को **वैपश्चिती प्रतिभा** कहते हैं।

व्यंग और **व्यंग्य**—ये दोनों शब्द अर्थ की दृष्टि से अलग-अलग हैं। **व्यंग** (वि+अंग) का अर्थ है विकारग्रस्त अंगवाली रचना।

अकबर इलाहाबादी के निम्नांकित शेर में व्यंग है—

"बाद मरने के मेरी क़ब्र पै आलू बोना।
ताकि वो समझें कि ज़रा चाट के शौकीन थे वो॥"
—(अकबर इलाहाबादी)

'रसध्वनि' में रस व्यंग्य होता है। 'व्यंग्य' का अर्थ है 'संकेतित कथन' या संकेतित (ध्वनित) भाव।

तुलसी 'रामचरितमानस' में सीताजी के सम्बन्ध में कहते हैं—

"प्रभुहि चितइ पुनि चितब महि, राजतलोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु मंडल डोल॥"
—(मानस, बाल०२५८/–)

उपर्युक्त दोहे में सीता जी का **लज्जा** भाव व्यंग्य है।

हरण और **अपहरण** शब्द 'छीन ले जाना' या 'भगा ले जाना' अर्थ रखते हैं। परन्तु गहराई से देखा जाए तो दोनों शब्दों के अर्थों में अन्तर है।

'हरण' वस्तु का भी होता है और व्यक्ति का भी। प्राचीन काल में नारियों का हरण किया जाता था।

यदि कोई नारी किसी पुरुष के द्वारा भगायी जाती थी और वह नारी भी उस पुरुष के साथ भागना चाहती थी, तो उसे **हरण** कहा जाता था। रुक्मिणी श्रीकृष्ण को पति रूप में देखना चाहती थी। श्रीकृष्ण उसे भगा ले गये थे। इसी कारण **रुक्मिणी–हरण** सामासिक शब्द प्रचलित हुआ।

जब कोई नारी किसी पुरुष द्वारा जबरदस्ती भगाकर ले जायी जाती है, तब वह हरण **अपहरण** कहलाता है। **सीतापहरण** शब्द समाज में बहुत प्रचलित है। रावण द्वारा सीता का **अपहरण** किया गया था। सीता रावण के साथ जाना नहीं चाहती थी।

अक्षर और **वर्ण** वस्तुतः शब्द के विभाजन हैं। **'अक्षर'** एकस्वरिक होता है। शुद्ध स्वर अथवा स्वररहित व्यंजन **'वर्ण'** कहलाता है। **'अमल'** शब्द है। इसमें तीन अक्षर हैं—(१) **अ** (२) **म** (३) **ल**। **'अमल'** शब्द में वर्ण पाँच हैं—(१) **अ** (२) **म्** (३) **अ** (४) **ल्** (५) **अ**।

'कम्पन' शब्द के तीन अक्षर हैं—(१) **कम्** (२) **प** (३) **न**। **'कम्पन'** में वर्ण सात हैं—(१) **क्** (२) अ (३) **म्** (४) **प्** (५) **अ** (६) **न्** (७) अ।

छन्दःशास्त्र की पुस्तकों में घनाक्षरी छन्द को वर्णिक छन्द लिखा गया है। लक्षण बताया गया है कि इसके प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं और १६, १५ वर्णों पर यति होती है। हमें कहना चाहिए कि घनाक्षरी आक्षरिक छन्द है। इसमें १६, १५ अक्षरों पर यति होती है।

हिन्दी में **क, ख, ग,** आदि अक्षर हैं। इनमें वर्ण इस प्रकार हैं—क्+अ; ख्+अ; ग्+अ।

लोकभाषा और लोकशास्त्र के अधीती पंडित कबीर ने तो **'प्रेम'** में ढाई अक्षर माने हैं। आज के आधुनिक भाषाविज्ञान का अध्येता तो **'प्रेम'** में दो ही अक्षर मानेगा—**प्रे+म**। गीता (८/१३) में 'ओम्' में—एक ही अक्षर माना गया है।

सन्त कबीरदास जी की गणना एवं मान्यता **अक्षर** के सम्बन्ध में भाषाविज्ञान की मान्यता से तनिक भिन्न है।

कबीरदास के मतानुसार हल युक्त **प्** आधा अक्षर है। यदि प् वर्ण में स्वर का योग होता तो, कबीर प्+अ=**प** को पूरा अक्षर मानते। इसलिए कबीर के मतानुसार **प्+रे+म**$=\frac{1}{2}+१+१=२\frac{1}{2}$ अक्षर (आखर)। तभी तो कबीर ने कहा—

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई आखर **'प्रेम'** का पढ़ै, सो पंडित होइ॥" —(कबीर)

कबीर 'प्रेम' का आलम्बन आत्मा को मानते हैं, शरीर को नहीं।

भाषाशास्त्र के तीन पारिभाषिक शब्द हैं—(१) **मूलस्वर** (२) **उद्वृत्त स्वर** (३) **विलक ध्वनि**।

'**इमली**' शब्द में '**इ**' मूलस्वर है । '**चलइ**' में **इ** उद्‌वृत्त स्वर है । सं० **चलति** अपभ्रंश या अवधी भाषा में **चलइ** रूप में विकसित हुआ है । '**ति**' में व्यंजन का लोप हुआ और इ स्वर शेष रह गया । यह **इ उद्‌वृत्त स्वर** कहलाता है ।

हिन्दी भाषा में '**क्लिक ध्वनि**' नहीं है । यह ध्वनि अमरीका तथा फ्रांस की भाषाओं में पायी जाती है । इस ध्वनि के उच्चारण में बाहर की हवा मुँह के अन्दर जाती है । हम लोग जब किसी को पुचकारते हैं, तब मुँह से जो '**च–च**' की–सी आवाज़ निकलती है, वह **क्लिक ध्वनि** है । कुत्ते को भगाते समय जो **दड़–दड़** की ध्वनि की जाती है, उसे भी '**क्लिक ध्वनि**' कह सकते हैं ।

ईर्ष्या, **स्पर्द्धा** और **स्पृहा** शब्दों में अर्थ की भूमि पर **ईर्ष्या** घटिया शब्द है । किसी की उन्नति देखकर जो डाह (जलन) होता है, वह **ईर्ष्या** है । ईर्ष्या परिचित के प्रति ही होती है और वह ईर्ष्यालु के पराजय का चिह्न भी है । ईर्ष्यालु ईर्ष्या भाव के आलम्बन का अनिष्ट चाहता है । ईर्ष्या कृष्ण भाव है ।

स्पर्द्धा में एक व्यक्ति दूसरे की उन्नति देखकर उससे आगे बढ़ने की होड़ करता है । स्पर्द्धी दूसरे की उन्नति से जलता नहीं, अपितु उससे ऊँचा उठने का प्रयास करता है । यह शुक्ल भाव है ।

'**स्पृहा**' धर्मानुकूल पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा का नाम है । इसी अर्थ में **स्पृहा** शब्द का प्रयोग महाभारत (संपा० सातवलेकर, शान्तिपर्व, अ० २२०/१०३) में हुआ है ।

स्वाभिमान और **मिथ्याभिमान** (घमंड) किसी व्यक्ति में हैं या नहीं; यदि हैं तो किस सीमा तक हैं ? इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है । स्वयं मनुष्य भी अपने अन्दर की इन दोनों वृत्तियों को ठीक–ठीक परख नहीं पाता ।

किसी मनुष्य में गुण, चरित्र, विद्‌या आदि की दृष्टि से जितनी पात्रता है, उसकी रक्षा करना स्वाभिमान है । स्वाभिमानी आदमी उस सम्मान–रक्षा के लिए कितनी भी हानि उठा सकता है और उस हानि में वह एक सुख का अनुभव करता है । मिथ्याभिमानी–कभी हानि उठाना नहीं चाहता । हानि से बचने के लिए यदि वह व्यक्ति कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाता है, तो उसमें स्वाभिमान नहीं 'मिथ्याभिमान है । अपनी पात्रता से अधिक अपना सम्मानादर चाहना मिथ्याभिमान माना जाएगा ।

मनुष्य में **काम**, **क्रोध**, **लोभ**, **मोह**, **मद** और **मात्सर्य** नाम के छह विकार हैं । इनमें लम्बी उम्र के **काम**, **लोभ** और **मोह** हैं ।

काम में स्पर्शेन्द्रिय–सुख प्रधान है । नर 'काम' में नारी के शरीर से मिलना चाहता है । और नारी काम में नर के शरीर से मिलकर सुख चाहती है । अर्थात् तन से तन के मिलन–सुख का नाम **काम** है । काम वृद्धावस्था में जाकर समाप्त–सा हो जाता है बूढ़े आदमी का काम भी बूढ़ा हो जाता है ।

लोभ का आलम्बन धन है । धन–प्राप्ति की ललक का नाम **लोभ** है । लोभ

मनुष्य में वृद्धावस्था या मृत्यु तक भी जीवित रह सकता है। लोभ का आलम्बन निर्जीव पदार्थ है। काम के आलम्बन–आश्रय सजीव प्राणी हैं।

'**मोह**' का क्षेत्र 'काम' और 'लोभ' से बड़ा है। काम का क्षेत्र भिन्नयौनि–क्षेत्र है और लोभ का क्षेत्र निर्जीव पदार्थ–क्षेत्र है; लेकिन **मोह** का सम्बन्ध सजीव और निर्जीव–दोनों से है। मनुष्य का मोह पुत्र में भी हो सकता है और मकान में भी। आयु और क्षेत्र की दृष्टि से **मोह** जीवन में '**काम**' और 'लोभ' से बड़ा माना जाएगा।

मानव–मन के निवासी **लोभ** और **मोह** वास्तव में तृष्णा के दो प्रमुख पुत्र हैं। ये दोनों अमर पुत्र हैं तृष्णा के। मनुष्य बूढ़ा हो जाता है, लेकिन तृष्णा बूढ़ी नहीं होती। मनुष्य के दिमाग के अन्दर 'थीटारिद्म' नाम का एक पदार्थ है। उसमें 'लोभ' और 'मोह' की विचार–तरंगें सुदीर्घ काल तक गतिमती रहती हैं, जो नींद में स्वप्न भी बनती हैं।

मोह और **ममता** में सूक्ष्म अन्तर यह है कि **मोह** पदार्थ अथवा प्राणी के प्रति गहरा लगाव है; लेकिन **ममता** केवल प्राणी के प्रति अत्यन्त गहरा लगाव है। माता में सन्तान के प्रति ममता का भाव अधिक पाया जाता है। इसलिए प्रायः माता का विशेषण 'ममतामयी' दिया जाता है।

सामान्यतया धर्मग्रन्थों में **मोह** को षट् विकारों में गिनाया गया है—(१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद (६) मात्सर्य। लेकिन महाभारत (संपा० सातवलेकर, अ० १७१/५२) में **ममता** को भी सातवाँ विकार माना गया है।

मोह और **ममता** आध्यात्मिकता में बाधक सिद्ध होते हैं। **मोह** और **ममता** के कारण ही श्रीराम के वियोग में दशरथ की मृत्यु हुई थी। काम और मोह के बंधन में बँधे दशरथ की तब बड़ी दुर्दशा हुई थी।

अभिलाषा, अभीप्सा, इच्छा और **वांछा** (वाञ्छा) शब्द भाववाचक संज्ञा के रूप में संस्कृत भाषा के हैं, जो हिन्दी भाषा में भी आज–कल प्रयुक्त होते हैं। इन चारों का अर्थ हिन्दी–शब्द कोशों में 'चाह' ही लिख दिया गया है। अर्थ की दृष्टि से इनमें कौन हल्का है, कौन भारी है–यह पता नहीं चलता?

अभिलाषा में √लष्, **अभीप्सा** में √आप्, **इच्छा** में √इष् और **वाञ्छा** में √वाञ्छ् धातु है। √आप् धातु का अर्थ है प्राप्त करना अर्थात् पाना। किसी वस्तु की प्राप्ति की प्रबल इच्छा का नाम **अभीप्सा** है। शेष धातुओं का अर्थ 'चाहना' है, मात्र चाहना।

'चाहना' से यह स्पष्ट नहीं है कि चाह किस प्रकार की है। लेकिन √आप् धातु से स्पष्ट है कि चाह कुछ प्राप्त करने की है। इसलिए **अभिलाषा, इच्छा** और **वाञ्छा** की अपेक्षा '**अभीप्सा**' भारी शब्द है। इसमें चाह की स्थिति घनीभूत है।

'अभीप्सा' में चाह की सबलता–प्रबलता का भाव निहित है। अन्य तीन शब्दों में ऐसा नहीं है।

उद्भावना और **कल्पना** भाववाचक संज्ञाएँ हैं। ये दोनों शब्द साहित्यकार की अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं।

अभिव्यक्ति की प्रथम सीढ़ी **'उद्भावना'** और द्वितीय सीढ़ी **'कल्पना'** है।

मानिए कि साहित्यकार के मानसरोवर में एक अनुभूति 'भाव' बनकर उद्बुद्ध हुई। उस उद्बुद्धि का नाम 'उद्भावना' है। अब वह 'उद्भावना' बिम्बात्मक रूप लेकर शब्दों के कलेवर में बाहर आना चाहती है। साहित्यकार अपनी संप्रेषणीयता को स्पष्ट तथा प्रभावी बनाने के लिए उस उद्भावना को प्रतीक या उपमान के माध्यम से व्यक्त करना चाहेगा। साहित्यकार ने आकाश में बिजली देखी है। धरती पर फूल भी देखे हैं। अब उसने बिजली और फूल को मिलाकर 'बिजली का फूल' बना लिया। यही **'कल्पना'** है। प्रसाद जी ने श्रद्धा के शरीर के लिए 'कल्पना' की–

"खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ–वन बीच गुलाबी रंग"

—(कामायनी, श्रद्धा)

कोई व्यक्ति जिस समय जैसी भावना रखता है तथा जैसा कार्य करता है, उसे उसी नाम से उस समय पुकारना चाहिए। 'इन्द्र' शब्द का जो अर्थ है, वह 'शुक्र' का नहीं है। 'शुक्र' शब्द का जो अर्थ है, वह पुरंदर' का नहीं है।

'इन्द्र' शब्द देवराज के वैभव का सूचक है। दैत्यों को नष्ट करने का भाव शुक्र शब्द में है। शत्रुओं को मारने वाले देवराज को **'पुरंदर'** कहेंगे। एक-दो शत्रुओं का नाशक नहीं, शत्रुओं के नगर के नगर नष्ट करने वाला देवराज **'पुरंदर'** कहलाता है। अतः योद्धा–भाव की भूमि में **'पुरंदर'** शब्द **'शुक्र'** शब्द से भारी है।

तमी, यामिनी, विभावरी और **राका**–इन चारों शब्दों का **अर्थ** 'रात्रि' तो है, लेकिन चारों शब्दों की अर्थच्छवियाँ अलग–अलग हैं।

कृष्णपक्ष की अँधेरी रात **तमी** कहलाती है। सूर्यास्त से तीन घण्टे का समय (याम) बीत जाने पर जो रात्रि हो, उसे **यामिनी** कहेंगे। **'यामिनी'** कृष्ण पक्ष की रात भी कही जाती है और शुक्ल पक्ष की भी। प्रसाद जी **ने** लिखा–"चुप रहो धीरे चलो यह **यामिनी है**।

'भा' शब्द का अर्थ है चमक या प्रकाश। भावर का अर्थ है उत्तम प्रकाश। उत्तम प्रकाश वाली को **भावरी** कहेंगे। और अधिक उत्तम प्रकाश वाली रात्रि **विभावरी** कहलाएगी। जिस रात में चन्द्रमा और तारों का प्रकाश होता है, वही 'विभावरी' है। विभावरी से भी अधिक प्रकाश वाली रात्रि **राका** कहलाती है। पूर्णिमा की रात्रि को **राका** कहते हैं। पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्रमा **राकेश** कहलाता है–राका + ईश = राकेश।

अमरकोश में **'मुख'** के सात नाम लिखे गये हैं–(१) **आनन** (२) **वदन** (३)

वक्त्र (४) **आस्य** (५) **मुख** (६) **तुण्ड** (७) **लपन** । इनमें पहले दो का अर्थ 'चेहरा' और शेष पाँच का अर्थ 'मुँह' है ।

चेहरा और **मुँह** दो अलग–अलग अर्थ रखनेवाले शब्द हैं ।

'मुँह' चेहरे का एक अंग है । माथा + नाक + आँखें + कपोल + मुख + ठोड़ी = चेहरा । **'मुँह'** = ओष्ठ और अधर नाम के द्वार वाला विवर, जिसमें भोजन के समय ग्रास दिया जाता है तथा जिसमें दाँत और जीभ रहती है । आवाज मुँह के अन्दर से निकलती है ।

आनन और **वदन** का अर्थ 'चेहरा' है । **आनन** और **वदन** की उपमा 'चन्द्रमा' से दी जाती है । महाकवि शंकर ने लिखा है—

"**आनन** की ओर चले आवत चकोर"—(नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर')

तुलसी कृत 'रामचरित मानस' में लिखा गया है–

"चंदबदनि दुखु कानन भारी"–(मानस, अयो०, दो० ६३/८)

'मुँह' के अर्थ में '**वक्त्र, आस्य, मुख, तुण्ड** और **लपन** का प्रयोग होता है ।

सुन्दरता, भव्यता और **दिव्यता** शब्दों के अर्थ कोशों में एक–से ही लिख दिये जाते हैं अर्थात् सौन्दर्य ।

आँखों को सुहानी लगने वाली अच्छाई का नाम **'सुन्दरता'** है । जिह्वा को अच्छा लगने वाला जायका **स्वाद** कहलाता है । स्वादयुक्त को **स्वादु** कहते हैं । जिस खाद्य पदार्थ में बहुत ज्यादा स्वाद होता है, वह **स्वादिष्ठ** कहलाता है । **स्वादिष्ठ** = स्वादुतम । स्वादु + इष्ठन् = स्वादिष्ठ (=अतिशय स्वाद वाला) । गुरु + इष्ठन् = गरिष्ठ (=अतिशय भारी) ।

आँखों को सुहानी लगनेवाली अच्छाई दो तरह की हो सकती है–लौकिक तथा अलौकिक । लौकिक सुन्दरता को **भव्यता** और अलौकिक सुन्दरता को **दिव्यता** कहते हैं । **'भव्य'** विशेषण से भाववाचक संज्ञा शब्द **भव्यता** और **'दिव्य'** विशेषण से भाववाचक संज्ञा शब्द **दिव्यता** बनता है । दोनों का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है– (१) राजा जनक के भवन की **भव्यता** देखकर अयोध्या के बराती आश्चर्यचकित हो गये । (२) इन्द्र लोक की **दिव्यता** का वर्णन करना कठिन है ।

सुन्दरता और **रमणीयता** एक बात नहीं है । यद्यपि महाकवि माघ ने शिशुपाल वध (सर्ग ४/१७) में बताया है कि क्षण–क्षण में नवीनता की अनुभूति करानेवाले तत्त्व का नाम **'रमणीयता'** है । 'रमणीयता की इस परिभाषा से बात बहुत स्पष्ट नहीं होती ।

वास्तव में सुन्दरसा में पर्यावरण का योग होने पर रमणीयता का जन्म होता है । **रमणीयता** मानवीय संवेदना के वे सरस–कोमल तन्तु हैं, जो सुन्दरता के सान्निध्य में झंकृत होते हैं । सुन्दरता + पर्यावरण = **रमणीयता** ।

महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' नाटक (अंक ६/१७) के नायक दुष्यन्त ने शकुंतला का जो चित्र बनाया है, उसे हम 'रमणीय चित्र' कह सकते हैं ।

उस चित्र में शकुंतला 'सुन्दरता' है और वह शकुंतला जहाँ खड़ी है, वहाँ का सारा दृश्य अर्थात् मालिनी नदी, नदी की रेती में हंसों का जोड़ा, नदी तट के वृक्षों पर लटके मुनि–वस्त्र, पर्वत की तलहटी में हिरन के सींग पर हिरनी द्वारा अपनी बायीं आँख का खुजाना आदि पर्यावरण हैं। शकुंतला के सान्निध्य में प्रस्तुत पर्यावरण झंकृत है। वही रमणीयता का रचना–विधान है। झंकृति ही प्रतिक्षण की नवीनता है।

निराशा और **नैराश्य**—दोनों शब्द भाववाचक संज्ञाएँ हैं; लेकिन अर्थों में अन्तर है। आशा का न रहना '**निराशा**' है। 'निराशा' भाव दुःख का कारण बनता है। सारांश यह है कि हम जिसकी प्राप्ति की आशा रखते हैं और किसी कारण उसकी प्राप्ति की आशा हमारी विवशता के कारण समाप्त हो जाती है, तो हमें दुःख होता है। **निराशा**=आशा का पूरा न होना।

'**नैराश्य**' का अर्थ है किसी भी वस्तु की प्राप्ति की आशा ही न रखना अर्थात् किसी की चाह न होना '**नैराश्य**' है। जब किसी की चाह ही न होगी, तब जीवन में मस्ती और आनन्द रहेगा। इसीलिए महाभारत में कहा गया—"नैराश्यं परमं सुखम्।" **नैराश्य**=किसी की आशा न रखना।

'नैराश्य' के भाव की व्याख्या कबीर के निम्नांकित दोहे में निहित है—

"चाह गई, चिन्ता गई, मनुआँ बेपरवाह।
जाको कुछ नहिं चाहिए, सोई साहंसाह॥" —(कबीरदास)

भूमा और **कैवल्य** भावों में परिणामतः अन्तर नहीं है। '**अल्प**' का विलोम '**भूमा**' है। छान्दोग्य उपनिषद् (प्रपाठक ७/खंड २३/१) में '**भूमा**' भाव को परम सुख तथा अमृत कहा गया है—'भूमैव सुखम्। यो वै भूमा तदमृतम्" (छान्दो० ७/२३/१)।

'**भूमा**' का अर्थ है 'अनन्त विस्तार'। अपनी आत्मा को इतना विस्तृत करना कि सब कुछ उसी में समा जाए। अर्थात् वह भाव, जिसमें कोई पराया ही नहीं। 'भूमा' कहलाता है।

'**कैवल्य**' शब्द 'केवल' विशेषण से भाववाचक संज्ञा है। **कैवल्य**=केवल एक ही भाव का होना अर्थात् कोई परभाव न होना।

इस तरह **भूमा भाव** और **कैवल्य भाव** आत्मा की चरम विस्तृति के भाव हैं। अपनी चरम कोटि पर दोनों समान हैं।

कारण (√कृ+णिच्+ल्युट्) और **कार्य** (√कृ+ण्यत्) के अर्थ में मुख्य अन्तर यह है कि **कार्य** कारण का परिणाम है। **कार्य** जिससे होता है, उसे **कारण** कहते हैं। 'साधन' भी कारण हो सकता है और 'कर्ता' भी कारण हो सकता है। 'विषयवस्तु' भी कारण हो सकती है। इस तरह सामान्यतया किसी कार्य के तीन कारण हो सकते हैं—(१) **उपादान कारण** (२) **निमित्त कारण** (३) **कर्तृ कारण**।

'घड़ा' यदि कार्य माना जाए, तो **मिट्टी** उपादान कारण, कुम्हार का **चाक**

और **डंडा** निमित्त कारण और **कुम्हार** कर्तृकारण है। निमित्तकारण कर्तृकारण का वशवर्ती होता है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि हे सव्यसाची! तू निमित्त कारण हो जा अर्थात् कर्तृकारण तो मैं हूँ; तू तो निमित्तमात्र (साधनमात्र) रहेगा। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'—(गीता, अ० ११/३३)। फलभोक्ता तो कर्तृकारण ही होता है।

मनु और **मन्वन्तर** में व्यक्ति और काल–मान का अर्थ निहित है। ब्रह्मा के मानस पुत्रों में एक पुत्र 'स्वायंभुव मनु' हुए। इस तरह सात मनुओं का उल्लेख मिलता है। सातवें मनु वैवस्वत मनु कहलाये। प्रत्येक मनु का अधिकार–काल **मन्वन्तर** (मनु + अन्तर) कहलाता है।

सत्युग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलियुग का योग एक चतुर्युगी कहलाता है। कलियुग का काल–मान मानव–वर्षों में ४ लाख ३२ हज़ार वर्ष है। इसका दूना **द्वापर**, तिगुना **त्रेता** और चौगुना **सत्युग** है। इस तरह ७१ चतुर्युगी '**मन्वन्तर कल्प**' कहलाता है। १००० चतुर्युगी को एक **कल्प** कहते हैं। १ कल्प का काल–मान = ब्रह्मा का एक दिन अर्थात् ४ अरब ३२ करोड़ मानव–वर्ष = ब्रह्मा का १ दिन। १००० × ४३२०००० वर्ष = १ कल्प।

न्यायशास्त्र के अनुसार चार प्रकार के प्रमाण माने गये हैं—

(१) **अनुमान** (२) **उपमान** (३) **प्रत्यक्ष** (४) **आप्तवचन**।

(१) **अनुमान प्रमाण** = प्रत्यक्ष के आधार पर साहचर्य सम्बन्ध के कारण अप्रत्यक्ष का ज्ञान। जैसे धुआँ देखकर वहाँ अग्नि का होना सिद्ध करना।

(२) **उपमान प्रमाण** = उपमान के आधार पर उपमेय को सिद्ध करना। गोलाई और छेद के आधार पर अँगूठी को सिद्ध करना।

(३) **प्रत्यक्ष प्रमाण** = आँखों से देखने पर वस्तु को सिद्ध करना।

(४) **आप्तवचन** = श्रुति,, स्मृति, पुराण, इतिहास का प्रमाण प्रस्तुत करके किसी बात को सिद्ध करना।

महिमा, **महत्ता** और **महानता** शब्द भी व्याकरण और अर्थविज्ञान की दृष्टि से विचारणीय हैं। यद्यपि संस्कृत व्याकरण के अनुसार **महानता** शब्द साधु नहीं; लेकिन हिन्दी में यह प्रयुक्त हो रहा है। हिन्दी में 'महान्' को प्रातिपदिक मानकर **महानता** भाववाचक संज्ञा शब्द बनाया जा सकता है। मनुष्य के बड़प्पन के लिए '**महानता**' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह मानवीय व्यक्तित्व का सूचक है।

संस्कृत में **महिमा** (महत् + इमनिच्) और **महत्ता** (महत् + ता) शब्द भाव-वाचक संज्ञा के रूप में प्रयोग में आते हैं। अर्थ–परिधि की दृष्टि से **महिमा** शब्द **महत्ता** से बड़ा है। महाशक्तिस्वरूप, गौरव या प्रताप के अर्थ में **महिमा** शब्द

प्रयुक्त होता है । कालिदास ने 'प्रताप' के अर्थ में इसका प्रयोग किया है—"अवस्था–भिर्महिमानमुदीरयन्"—(कुमार० सर्ग २/६) । रहीम ने कहा—"कोहिकी महिमा नहिं घटी परघर गये रहीम ।" **महिमा** ईश्वरीय, दैवी या मानवीय होती है । **महत्ता** का प्रयोग कार्य या मनुष्य के लिए ही अधिक किया जाता है । **'महत्त्व'** शब्द 'महत्ता' से सबल है, पुंलिग होने के कारण ।

मथन, **मंथन**, **मथना**, **मथनी**, **मंथनी** और **मथानी** शब्द अर्थों में भिन्नता रखते हैं । संस्कृत और ब्रजभाषा में इनके अर्थों में पर्याप्त अन्तर है ।

संस्कृत भाषा में **मथन और मंथन** का अर्थ है 'बिलोने की क्रिया' । संस्कृत में **मंथनी** का अर्थ है, वह बर्तन जिसमें मथानी (रई) डालकर दही मथा जाता है । संस्कृत **मंथनी**=ब्रजभाषा **मथनी** ।

ब्रजभाषा में मिट्टी का बना हुआ बड़ा घड़ा **मथना** कहाता है । संस्कृत में इसे **कुम्भ** और फारसी में **खुम** कहते थे । **मथना** आकार में लगभग **'मटका'** के बराबर होता है । **'मथना'** से कुछ छोटा मिट्टी का बर्तन **मथनी** कहलाता है । उसे **मटकी** के बराबर का समझना चाहिए । **दधि मथनी** का अर्थ है, वह मटकी जिसमें दही को मथानी (रई) से बिलोते हैं । सं० **दधि मंथनी**=ब्रज० **दधि मथनी** (=दही की मटकी) ।

सूरसागर में सूरदास जी के एक पद की टेक है—

"जब दधि–**मथनी** टेकि अरै" (पं० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, प्रथम खंड, पद १५१)

'सूरसागर' के सम्पादक तथा टीकाकार पं० सीताराम चतुर्वेदी ने उपर्युक्त पद के **मथनी** शब्द का अर्थ 'रई' किया है । यह ठीक नहीं है ।

ब्रजभाषा में **मथनी** और **मथानी** (मंथन–दण्डी) में अर्थ–भेद है । दही बिलोने की एक वस्तु जो लकड़ी की बनी होती है और उस पर एक डोरी लिपटी रहती है, **मथानी** या **रई** कहलाती है । डोरी को **नेती** कहते हैं । उपर्युक्त पद में **दधि मथनी** का अर्थ है 'दही की मटकी' ।

उपर्युक्त पद में सूर ने रई के अर्थ में **मथानी** का प्रयोग भी किया है । **मथनी** का पर्याय सूर ने उसी पद में **मटुकी** प्रयुक्त भी किया है । **मथानी**=मंथन–दण्डिका अथवा मथन–दण्डिका)

दही, **अधचला**, **मठा**, **छाछ**, **लोनी**, **माखन** और **छछिया** शब्दों में कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनके अर्थ कुछ लोग नहीं जानते ।

कच्चे दूध को बिलोकर जो तत्त्व निकलता है उसे **माखन** या **मक्खन** (सं० मृक्षण) कहते हैं । गर्म दूध को जामन देकर जमाया जाता है । जमा हुआ दूध **दही**(सं० दधि) कहलाता है । जामन को **सहेंजा या बीछन** भी कहते हैं । दही को **मथानी** (रई) से बिलोकर उसमें से कुछ **लोनी** (सं० नवनीत) निकाल लेते हैं और कुछ लोनी उस बिलोये हुए दही में बनी रहती है, उस दही को **अधचला** (अधचला मठा) कहते हैं ।

'अधचला' में से जब पर्याप्त लोनी निकाल ली जाती है, तब उस पानीवाले दही को **मठा** कहते हैं। 'मठा' को जब और बिलोकर उसमें से थोड़ी बची लोनी भी निकाल ली जाती है, तब उस पनिया मठे को **छाछ** कहते हैं। मठे की छूँछ समझिए।

छाछ जिस मिट्टी के छोटे बर्तन में भरकर किसी को दी जाती है, उस बर्तन को **छछिया** कहते हैं। **छछिया** मिट्टी के कुल्हड़ के समान एक पात्र होता है, जिसमें लगभग पाव भर (२५० ग्राम) छाछ आ सकती है। ब्रज में 'छछिया' को '**मलरिया**' या '**मलसिया**' भी कह देते हैं। वैसे छछिया मलरिया से आकार में छोटी होती है। **मलरिया** आकार में 'मलसिया' से छोटी होती है। 'मलरिया' में लगभग ५०० ग्राम छाछ आ सकती है। मलसिया में ५०० ग्राम से अधिक छाछ आ सकती है। सारांश यह है कि **छछिया** मिटटी का बहुत छोटा बर्तन है, जो ब्रज में उपयोग में आता है। उसी छछिया भर छाछ के लिए ब्रज-गोपियाँ कान्हा को नचाया करती थीं। रसखान ने तभी तो लिखा था—"ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।"—(रसखान)

स्त्रियों की छाती पर के दो अरोमभांस पिण्डों से सम्बद्ध **उरोज**, **कुच**, **स्तन**, **कुचाग्र** और **चूचुक** शब्द हैं। इनकी अर्थच्छवियों में अन्तर है।

दस-बारह साल की लड़की की छाती पर के दो छोटे-छोटे अरोममांसपिण्ड **उरोज** कहलाते हैं। उरोजों की बढ़ी हुई स्थिति **कुच** कहलाती है। जब लड़की गर्भ धारण के योग्य हो जाती है, तब उन्हें **स्तन** कहते हैं। स्तनों में दूध भी होता है। स्तन से निकलने के कारण दूध को **स्तन्य** भी कहते हैं। स्तन + यत् = **स्तन्य** = दूध।

स्तन की पूर्वावस्था **कुच** कही जाती है। कुच के सिरे पर जो घुंडी होती है, उसे **चूचुक** कहते हैं। चूचुक से नीचे का चारों ओर का भाग **कुचाग्र** कहलाता है। प्राचीन काल में नारियों के कुचाग्र-भाग पर रँगों से 'चित्रीकरण' किया जाता था। उस 'चित्रणा' को **चित्र-भंग रचना** या **चित्रप्रकल्पना** कहते थे। 'शिवताण्डवस्तोत्र' में शिव जी द्वारा पार्वती के 'कुचाग्र' पर 'चित्रप्रकल्पना' किये जाने का उल्लेख है—

"धराधरेन्द्रनन्दिनीकुचाग्रचित्रपत्रक
प्रकल्पनैक शिल्पिनि त्रिलोचने रतिर्यम।"

—(शिवताण्डवस्तोत्र, श्लोक-७)

स्तन के ऊपर की घुंडी '**चूचुक**' कही जाती थी। साहचर्य लक्षणा के कारण हिन्दी में 'स्तन' को 'चूची' भी कहने लगे। **उरोज**, **कुच** और **स्तन** चूची की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के रूप हैं।

महाभारत में पुरुष की छाती पर के उभरे दो मांसल अंगों को भी **स्तन** कहा गया है। दोनों स्तनों के बीच की दूरी छाती की लम्बाई मानी जाती है। स्तनान्तर भाग को ही '**छाती**' कहते हैं।

भू, भूमि, मृत्तिका और **धूलि**—ये चारों शब्द तत्सम हैं अर्थात् संस्कृत भाषा से हिन्दी में गृहीत हैं। इनमें पर्याप्त अर्थ-भेद है।

पृथिवी, धरा, धरती के अर्थ में 'भू' शब्द का प्रयोग होता है। वेदों में प्रयुक्त **'पृथिवी'** शब्द ही बाद में **पृथ्वी** भी पुकारा जाने लगा।

"स दाधार **पृथिवीं** द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम"

—(यजु० अ० १३/४)

वैदिक काल से लेकर 'महाभारत-काल' तक हमें **पृथिवी** शब्द का प्रयोग मिला है। महाभारत ग्रन्थ में **'पृथिवी'** शब्द का प्रयोग किया गया है। श्री कृष्ण द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

"पतेत् द्यौः हिमवान् शीर्येत् **पृथिवी** शकली भवेत्।
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे ! न मे मोघं वचो भवेत्॥"

—(संपा० सातवलकेर, महाभारत, आरण्यक पर्व अ० १३/११७)

'पृथिवी' के अर्थ में **'पृथ्वी'** शब्द कब संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त होने लगा था—इसका पता हमें नहीं लग सका ?

गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'महाभारत' में **'पृथिवी'** शब्द के स्थान पर **मेदिनी** शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है कि **पृथिवी** और **मेदिनी** समानार्थी हैं। (गीताप्रेस, महाभारत, उद्योग पर्व, अ० ८२/४८)।

विश्व के प्राणियों के ऊपर आकाश और नीचे पृथिवी (भू) है। 'भू' का एक बहुत छोटा भाग **भूमि** कहलाता है। इसके लिए फ़ारसी का शब्द **ज़मीन** है। **भूमि**=भू-खण्ड; ज़मीन। हिन्दी में **ज़मींदार** और **भूमिधर** शब्द प्रयुक्त होते हैं।

भूमि की ऊपरी सतह का चूरा **मृत्तिका** (मिट्टी) कहलाता है। मृत्तिका का भी बारीक चूरा **धूलि** (धूल) कहाता है। **धूलि** और **धूली** संस्कृत के शब्द हैं। प्रसाद जी ने 'आँसू' काव्य में 'धूली' शब्द का प्रयोग किया है—"जीवन की **गोधूली** में कौतूहल-से तुम आये।"—(आँसू)

कुतूहल और **कौतूहल** का एक ही अर्थ है। स्वार्थ में-**अण्** प्रत्यय के योग से **कौतूहल** (कुतूहल+अण्) सिद्ध है। **अलात** (=लुकाठी) और **आलात** का एक ही अर्थ है। **अलवाल** (=थाला) और **आलवाल** का एक ही अर्थ है।

भवन और **भुवन** शब्दों में अर्थ-भेद यह है कि **भवन** का अर्थ तो 'घर' है; लेकिन **भुवन** के दो अर्थ हैं—(१) जल (२) लोक। 'त्रिभुवन' का अर्थ है 'तीन लोक' अर्थात्—**स्वर्ग लोक, मर्त्यलोक** और **पाताल लोक**।

अमरकोश में जल के पर्यायवाची शब्दों में **भुवन** और **वन** भी दिये गये हैं। "जीवनं भुवनं वनम्।"—(अमरकोश) तुलसीकृत 'कवितावली' में 'नाव' के लिए **बनबाहन** (कविता० अयो० छंद ७) शब्द है। **बनबाहन**=जल की सवारी अर्थात् नाव।

तुलसी ने नाव के अर्थ में **'वनवाहन'** (=जल की सवारी) शब्द का प्रयोग

करके पाठकों को आश्चर्यचकित तो किया ही है, साथ में अर्थावगति के लिए पाठकों से गहरा गोता भी लगवाया है।

आज-कल भी हिन्दी के कुछ लेखकों में ऐसी प्रवृत्ति पायी जाती है। संस्कृत का एक शब्द है 'आशिर'। इसके अर्थ हैं—पेटू, भोजनभट्ट, दैत्य, राक्षस आदि। लेकिन एक अर्थ 'सूर्य' भी है, जो संभवत: लाखों में से किसी एक को मालूम होगा।

मैं एक जुलाई, सन् १९८४ ई० को अलीगढ़ से सहारनपुर आकर बसा था। सहारनपुर में मैंने एक प्रकाशन-सस्था देखी, आशिर प्रकाशन, सहारनपुर। मैं **'आशिर'** शब्द का अर्थ ही नहीं समझा। जब संस्कृत के कोश टटोले, तब **'आशिर'** का अर्थ मिला। तब समझा कि उस संस्था के स्वामी ने **'सूर्य'** के लिए **'आशिर'** शब्द ग्रहण किया होगा।

दुःख, **सुख** और **आनन्द** के अन्तर को इस तरह व्यक्त किया जा सकता है कि इच्छित वस्तु के प्राप्त न होने पर अथवा अनिच्छित वस्तु के प्राप्त होने पर मन की बेचैनी का नाम **दुःख** है। दुःख शारीरिक भी हो सकता है और मानसिक भी।

अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति पर मन को जो चैन मिलता है, वह **सुख** कहाता है। मनुष्य की वृत्तियों के अनुसार सुख के कई प्रकार हो सकते हैं। चोरी में इच्छित धन मिलने पर चोर को जो सुख मिलता है, वह परीक्षा में उत्तीर्ण छात्र के सुख से भिन्न होता है। भारत को स्वतन्त्र कराने में जेलों की यातनाएँ सहनेवाले मनुष्यों को स्वतन्त्रता मिलने पर जो मानसिक प्रसन्नता हुई होगी, वह भी उनका एक सुख था। मनुष्य--भेद से सुख के कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष हो सकते हैं। एक व्यक्ति का सुख दूसरे के सुख से भिन्न हो सकता है; लेकिन **आनन्द** में ऐसी बात नहीं है। **आनन्द** सदा शुक्ल पक्षीय ही होता है। उसमें सात्विकता, शाश्वतता और गहराई होती है। यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा के सुख का नाम **आनन्द** है। मन जब सात्विक मार्ग पर अग्रसर होकर आत्मा के लोक में विचरण करता है, तब **आनन्द** की प्राप्ति होती है। आनन्द=परम पवित्र आत्मिक सुख। **आनन्द**=सच्चा परम सुख।

सहजप्रवृत्ति, **भाव** और **मनोभाव** में सूक्ष्म अन्तर यह है कि जब सहजप्रवृत्ति में बाधा उत्पन्न होती है, तब **भाव** का जन्म होता है। सहजप्रवृत्ति को संस्कार कहा जा सकता है।

भाव अन्तर्मन में संचरित होकर आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से व्यक्त होता है। जब एक ही भाव बार-बार उद्दीप्त होता है, तब वह एक **स्थिरप्रवृत्ति** बन जाता है। उस प्रवृत्ति को **मनोभाव** कहते हैं। **भाव** को यदि एक लहर कहा जाए, तो लहर-पुंज अर्थात् धारा को **'मनोभाव'** कह सकते हैं।

मनोविज्ञान की भाषा में यह कहा जा सकता है कि सहज **प्रवृत्ति** ही भाव में और भाव मनोभाव में परिणत होता है। **'भाव'** को इमोशन और **मनोभाव** को सेन्टीमेन्ट समझना चाहिए। **'भाव'** व्यष्टि है, तो **'मनोभाव'** समष्टि है।

काम–भाव और **काम–वृत्ति** में अन्तर है। 'काम' वास्तव में मनुष्य की शरीर से शरीर–मिलन की इच्छा का नाम है। यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को देखकर उसके शरीर स्पर्श का सुख लेना चाहता है, तो उस चाह को **काम–भाव** कह सकते हैं। उस स्पर्श–सुख की चाह यदि उसी एक नारी तक सीमित है, तो उस 'काम–भाव' को हम **'मनोभाव'** की परिधि में मान सकते हैं। **मनोभाव** से बड़ी **मनोवृत्ति** है।

यदि वह पुरुष किसी भी सुन्दर नारी को देखता है और तुरन्त उसके शरीर स्पर्श का सुख पाने का प्रबल इच्छुक हो जाता है, तो उसकी वह इच्छा **काम–वृत्ति** कही जाएगी। पुरुष की 'कामवृत्ति' को सामाजिक दूषण भी माना जा सकता है। कामवृत्ति का क्रियान्वयन समाज को भ्रष्ट कर सकता है।

काम–भाव रहित मन से मन के मिलन को **प्रेम** कह सकते हैं। जब काम–भाव रहित निश्छल मन अलौकिक सत्ता के प्रति प्रेम करने लगता है, तब उस प्रेम का नाम **भक्ति** हो जाता है। "भक्ति परानुरक्तिः ईश्वरे"—(नारद भक्ति सूत्र)

भावना, कामना और **वासना** की भूमियों पर **अवतार** और **तीर्थंकर** शब्दों के अर्थों पर भी विचार कर लेना चाहिए।

सत् पक्षीय भावना जब सांसारिकता की चाह लेकर नीचे गिरती जाती है, तब **कामना** कहलाती है। **कामना** जब शरीर सम्भोग की इच्छा में डूब जाती है, तब वासना कहलाती है। शरीर से शरीर की मिलनेच्छा का नाम **वासना** है। **वासना**=घनीभूत काम–संस्कार।

जब मानव–समाज में भावनाएँ मिटने लगती हैं और कामनाएँ तथा वासनाएँ अपना सत्ताधिकार जमाने लगती हैं, तब धर्म के स्थान पर अधर्म अपना अधिकार स्थापित कर लेता है। इसे ही धर्म की ग्लानि कहते हैं। अधर्म के बढ़ जाने पर ही **अवतार** होता है। ईश्वर जब मनुष्य बनता है, तब वह **अवतार** कहलाता है और मनुष्य जब ईश्वर बन जाता है, तब **तीर्थंकर** कहलाता है। **'तीर्थ'** का अर्थ है पवित्र। जो पवित्र करता है, वह **तीर्थंकर** है। जब निराकार सत्ता साकारता में उतरती है, तब **अवतार** कहाती है।

सुश्रुत–संहिता के आधार पर **प्रज्ञा, धी, धृति** और **स्मृति** के अर्थों में अन्तर यह है कि **प्रज्ञा** वह शक्ति–पुंज है, जिसमें **धी, धृति** और **स्मृति** समाविष्ट हैं। **'प्रज्ञा'** का अर्थ है बुद्धि। जो बुद्धि अच्छे–बुरे का निर्णय करती है, वह **धी** कहलाती है। जो बुद्धि धैर्य धारण करने में सहायक सिद्ध होती है, वह **धृति** कहलाती है। जो बुद्धि भूतकाल की बातें याद रखने में सहायता करती है, वह **स्मृति** कहलाती है। जब **धी, धृति** और **स्मृति** ठीक काम नहीं करतीं तब बुद्धि की उस स्थिति को **'प्रज्ञाभ्रंश'** कहते हैं। प्रज्ञाभ्रंश=**धी भ्रंश + धृति–भ्रंश + स्मृति–भ्रंश**।

'सौन्दर्य' की अवधारणा व्यक्त करनेवाले तीन संज्ञा शब्द हैं—(१) **सुन्दरता** (२) **सुषमा** (३) **परमा**। इन तीनों में क्रमशः उत्तरोत्तर आरोही क्रम है।

'सुन्दरता' से अधिक **सुषमा** और सुषमा से अधिक **परमा** होती है। सर्वोत्तम सुन्दरता का नाम **परमा** है। **सुषमा**=प्रेम+श्रृंगार (रामचरितमानस, उत्तर०, दो० ५/–छन्द १)

'परमा' में छवि, रूप, शोभा और श्रृंगार एक साथ विराजमान रहते हैं। अर्थात् **परमा**=परम छवि+परम रूप+परम शोभा+परम श्रृंगार।

'सुन्दरत्व' और 'सुन्दरता' दोनों गुण सूचक भाववाची संज्ञाएँ ही हैं; लेकिन पुंलिंग **'सुन्दरत्व'** से स्त्रीलिंग **'सुन्दरता'** में कोमलता का भाव अधिक है। **'सुन्दरता'** में स्त्रीलिंगता उसकी कोमलता की सूचक है। –ता प्रत्यय से स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द बनता है और त्व प्रत्यय से पुंलिंग संज्ञा शब्द निर्मित होता है।

सौन्दर्यानुभूति और **रसानुभूति** दो भिन्न अनुभूतियाँ हैं। 'सौन्दर्यानुभूति' से आगे की अनुभूति 'रसानुभूति' है। 'सौन्दर्य' की अनुभूति हमें नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा होती है। रस की अनुभूति में हम कविता को पढ़कर तन्मय हो जाते हैं। तब हमारी चित्तवृत्ति पूर्णतः एकाग्र हो जाती है और वह एकाग्रता हमें आनन्द प्रदान करती है। वह अनुभूति सौन्दर्य की अनुभूति से उत्कृष्ट होती है। रसानुभूति निर्मल चित्त की अनुभूति है। वह निर्मलचित्तानुभूति कुछ अधिक स्थायी भी होती है। सारांश यह है कि चित्रकला, मूर्तिकला आदि से सौन्दर्यानुभूति और कविता से रसानुभूति होती है। कला सुख देती है, कविता आनन्द देती है। कविता के रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द आनन्द प्रदान करते हैं। कविता की रमणीयता की गहन अनुभूति सहृदय को ही होती है।

भावना और **विवेचना** की भूमियाँ क्रमशः हृदय और बुद्धि हैं। राग या भाव की भूमि में भावनाओं के अंकुर उगते हैं। बुद्धि की धरती से तर्क का जल पाकर 'विवेचना' के पौधे जन्म लेते हैं। भाव में भावना–पुंज और विवेचना में तर्क–पुंज देखा जा सकता है। **विचार** विवेचना का निवास–गृह है। कवि की भ्रमण–भूमि **भावना** और आलोचक की भ्रमण–भूमि **विवेचना** है।

उपपत्ति और **प्रतिपत्ति** में एक अन्तर यह है कि प्रतिपत्ति उपपत्ति के पीछे चलती है। तर्क तथा प्रमाणों की सहायता से किसी मुख्य प्रतिज्ञा को सिद्ध करना **उपपत्ति** कहलाता है। **उपपत्ति** द्वारा जो सिद्धि अर्थात् प्राप्ति है, उसका नाम **प्रतिपत्ति** है। 'प्रतिपत्ति' **'निष्पत्ति'** की सगी बहन है।

त्रिभुज के तीनों कोण १८० अंश के होते हैं—यह **प्रतिपत्ति** है। तीनों कोण १८० अंश के किस तरह होते हैं—यह सिद्ध करना **उपपत्ति** है।

त्रिभुज और उसके तीनों कोणों की १८० अंश की प्रस्तुति का नाम **मुख्य प्रतिज्ञा** है।

जायसी का 'पदमावत' यदि **मुख्य प्रतिज्ञा** है तो आचार्य शुक्ल का यह कहना कि "जायसी को 'लोक सामान्य भाव–भूमि' की पूरी पहचान थी", शुक्ल जी की **'प्रतिपत्ति'** मानी जाएगी।

शुक्ल जी कहते हैं कि रानी नागमती पति के वियोग में एक सामान्य नारी की भाँति निकल पड़ती है और काले भौरों तथा काले कौओं को देखकर समझती है कि उसीकी विरहाग्नि के धुँए से भौंरे और कौए काले पड़ गये हैं—यह कथन 'उपपत्ति' माना जा सकता है।

बुद्धि, मनीषा और **चेतना**—इन तीनों शब्दों की अवधारणाएँ अलग–अलग हैं। मनन करने की शक्ति रखनेवाली बुद्धि का नाम '**मनीषा**' है। मनन की प्रक्रिया में भूत, वर्तमान और भविष्य पर भी विचार किया जाता है, इसलिए **स्मृति, मति** और **प्रज्ञा** भी मनीषा के ही अंग हैं। मस्तिष्क की निश्चयात्मिका शक्ति का नाम **बुद्धि** है, जो मन की लगाम थामे रहती है। दुर्बल बुद्धि वाले मनुष्य इन्द्रियों के अधिपति मन के पाश में प्रायः बँधे रहते हैं।

चेतना मनीषा की ऊर्जा है। जिसमें सर्वाधिक चेतना होती है, वह सबसे बड़ा मनुष्य होता है। कीट, पतंग, पक्षी, आदि में चेतना का अंश मनुष्य की अपेक्षा कम होता है। अति चेतनांशी मनुष्य अतिजागरूक होते हैं। अतिचेतनांशी मनुष्य ही **महापंडित** और **महापुरुष** बनते हैं।

ग्रन्थ–ज्ञान रखनेवाला बुद्धिमान् मनुष्य **विद्वान्** कहलाता है। सदाचरण में महान् व्यक्ति **महापुरुष** कहलाता है। 'महापुरुष' के लिए ग्रन्थ–ज्ञान अनिवार्य नहीं। **सन्त, भक्त, साधु** और **मुनि** महापुरुषों में आते हैं। आचारवान् होना विद्वान् का अनिवार्य लक्षण नहीं।

जागरूकता के अंश को हम **चेतनांश** कह सकते हैं। अतिचेतनांशी मनुष्यों की जीवन–यात्रा के मार्ग मुख्यरूप से दो हैं—(१) **स्वोत्थान मार्ग** (२) **समाजोत्थान–मार्ग**।

मुनि स्वोत्थान–मार्ग पर चलते हैं और **ऋषि** समाजोत्थान–मार्ग पर। मुनि सरोवर हैं, ऋषि बादल हैं। मुनि स्थानकवासी हैं, ऋषि परिव्राजक हैं। ऋषि विभिन्न स्थानों पर जाकर बादलों की भाँति भद्राणि की वर्षा करके समाज का कल्याण करते हैं। मुनि सरोवर की भाँति एक स्थान पर ही अपने जल से प्यासों की प्यास बुझाते हैं।

चेतना का पौरुष जिसमें अधिक होता है, शतपथ ब्राह्मण के ऋषि की वाणी में वह **पुरुष** कहलाता है। शतपथ ब्राह्मण (२/५/१/१) में कहा गया है कि पुरुष ही ईश्वर के निकटतम है—

"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" —(शतपथ० २/५/१/१)

'चेतना' के महत्त्व के सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से गीता (अ० १०/२२) में कहा है कि मैं वेदों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन और प्राणियों में चेतना हूँ।

"भूतानामस्मि चेतना" —(गीता अ० १०/२२)

'चेतना' जीवन की संगिनी है। 'पत्थर' में '**ऊर्जा**' तो होती है, '**जीवन**'

नहीं होता। वृक्षों में 'जीवन' होता है। मनुष्य में चेतनांश सर्वाधिक है।

'अतिचेतनांशी' के लिए ऋग्वेद (५/४४/१४) में **जागार** शब्द आया है। ऋषि कहता है जो जागरूक है, उसे प्रशंसाएँ मिलती हैं—"यो जागर तं सामानि यान्ति"—(ऋक्० ५/४४/१४)

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और **समाधि** पातंजल योग दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। इनका सम्बन्ध चित्त के निरोध से है। **प्रत्याहार** (प्रति + आहार) का अर्थ है इन्द्रियों को उनके विषयों से पीछे खींचना। ध्याता के द्वारा चित्त में ध्येय को ग्रहण तथा रक्षण करने की क्रिया का नाम **धारणा** है। **ध्येय** में चित्त की एकाग्रता का नाम **ध्यान** है।

समाधि शब्द में √धा धातु है। इसका अर्थ है स्थापित करना। समाधि में ध्याता चित्त में ध्येय को स्थापित करता है। यह स्थापना दो प्रकार की होती है—
(१) **सविकल्प समाधि** (२) **निर्विकल्प समाधि**

'विकल्प' का अर्थ है **भेद** अर्थात् **अतादात्म्य**। जिस समाधि में ध्याता की ध्यान में ध्येय से पृथक्ता (भेद) बनी रहती है, वह **सविकल्प समाधि** कहलाती है। इसमें ध्याता का ध्येय से तादात्म्य नहीं होता।

जिस समाधि में ध्याता और ध्येय में भेद नहीं रहता उसे **निर्विकल्प समाधि** कहते हैं। इसमें ध्याता का ध्येय से **तादात्म्य** हो जाता **है**। निर्विकल्प समाधि में केवल **ध्येय** का ही अस्तित्व रहता है। वहाँ ध्याता और ध्यान समाप्त हो जाते हैं। सविकल्प समाधि में ध्याता और ध्येय का अस्तित्व अलग–अलग बना रहता है।

सविकल्प समाधि में ध्याता को अपने अस्तित्व का तथा ऊर्ध्वचैतन्य ध्येय के अस्तित्व का भान रहता है। निर्विकल्प समाधि में योगी सत्यस्वरूप परमचेतन सत्ता में अपने को पूर्णतः लीन कर देता है। तब पूर्ण सत्य का साक्षात्कार शेष रह जाता है।

ऋग्वेद के दसवें मंडल के १२१ वें सूक्त में एक मंत्र है, जिसमें **पृथिवी, रजस्, अन्तरिक्ष, द्यौ, नाक**, और **स्वः** शब्द आये हैं। **स्वः** का अर्थ है **स्वर्ग**। 'स्वर्ग' आकाश–मंडल में सबसे ऊपर का क्षेत्र है। पृथिवी से स्वर्ग की ओर जाने में क्रमशः **रजस, अन्तरिक्ष, द्यौ** और **नाक** के क्षेत्र पड़ते हैं। यह सम्पूर्ण आकाश–मंडल का विभाजन है।

रजस् वह क्षेत्र है जिसमें बादल अपना स्थान बनाते हैं। 'रजस्' से ऊपर का क्षेत्र **'अन्तरिक्ष'** कहलाता है। 'अन्तरिक्ष' से ऊपर का क्षेत्र **द्यौ** (निचला या मध्य आकाश) है। **'द्यौ'** से ऊपर **'नाक'** (ऊपरी या बड़ा आकाश) का क्षेत्र है। 'नाक' से ऊपर **स्वर्ग** माना गया है। वह ब्रह्म पृथिवी से स्वर्ग तक व्याप्त है। मंत्र है—

"येन **द्यौरुग्रा पृथिवी** च दृढा येन **स्वः** स्तभितं येन **नाकः**।
यो **अन्तरिक्षे रजसो** विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥"

—(ऋक्० मंडल १०/सू० १२१)

हताशा और **निराशा** की भेदक रेखाएँ पराये और स्वयं के द्वारा खींची गयी हैं। किसी दूसरे के द्वारा जब किसी व्यक्ति की आशा मार दी जाती है, तब वह मनोदशा **हताशा** कहलाती है।

जब किसी व्यक्ति को स्वयं ही आशा नहीं रहती, तब मन की वह स्थिति **निराशा** कही जाती है।

शुक्लपक्षीय भविष्य की उम्मीद **आशा** और कृष्णपक्षीय भविष्य का डर या आपदा **आशंका** कहलाती है। प्रयोग—

"मुझे **आशा** थी कि तुम मेरी सहायता करोगे।"

"मुझे **आशंका** थी कि वह नदी में डूब जाएगा।"

पुष्टि और **पुष्टता** दोनों ही भाववाचक संज्ञा–शब्द हैं। अन्तर यह है कि पुष्ट होने की प्रक्रिया जब चलती रहती है, तब उस दशा का नाम **पुष्टि** है और जब पुष्ट होने की क्रिया पूर्ण हो जाती है, तब उस दशा का नाम **पुष्टता** है। सारांश यह कि **पुष्टता** पूर्णतः पुष्ट हो जाने की दशा है। अतः **पुष्टि** की अपेक्षा **पुष्टता** में परिपक्वता अधिक है।

कठिनता, कठोरता और **कर्कशता** शब्दों की अवधारणाएँ ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर स्पष्ट हो सकती हैं। जो बुद्धि के लिए मुश्किल हो, वह **कठिन** है। जो स्पर्श करने पर सख्त लगे वह **कठोर** है। जो कानों को भद्दा लगे वह **कर्कश** है। जिस स्त्री का बोलना भद्दा लगे, उसे **कर्कशा** कहते हैं। **कर्कश** = कर्णकटु। इन विशेषणों से ही क्रमशः भाववाचक संज्ञाएँ **कठिनता, कठोरता** और **कर्कशता** बनी हैं। इनमें **–ता** प्रत्यय भावसूचक है। **–ता** में कोमलता और **–त्व** में कुछ कठोरता है। **'सुन्दरता'** अर्थ में **'सुन्दरत्व'** से कोमल है। 'सुन्दरता' में स्त्रीत्व और 'सुन्दरत्व' में पुरुषत्व है। शरीर से नारी कोमल होती है, और पुरुष कठोर।

परिचय और **जानना** शब्द अर्थों में अलग–अलग हैं। **'परिचय'** उभयपक्षीय है 'जानना' एकपक्षीय। 'परिचय' में कमला शोभा को जानती है और शोभा कमला को जानती है।

जब कमला शोभा के विषय में तो कुछ जानकारी रखती है, लेकिन शोभा कमला के विषय में नहीं रखती, तब हम कहेंगे कि कमला शोभा को जानती है। अकेले कमला का शोभा को जानना अथवा अकेले शोभा का कमला को जानना परिचय' नहीं कहा जा सकता। परिचय में एक–दूसरे को जानना अनिवार्य है। वास्तविक **'प्रेम' 'परिचय'** की धरती से ही उग सकता है। **'जानना'** की धरती से अभिलाषा या **इच्छा** जन्म ले सकती है।

प्रतिलोम विवाह और **अनुलोम विवाह** प्राचीन भारतीय समाज में प्रयुक्त होनेवाले शब्द थे। जब कोई पुरुष अपने वर्ण से ऊँचे वर्ण की कन्या से विवाह करता था, तब वह प्रतिलोम विवाह कहलाता था। यदि क्षत्रिय पुरुष ब्राह्मण–वंश की कन्या से विवाह करता था, तो वह प्रतिलोम विवाह था। क्षत्रिय राजा ययाति ने

शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया था, वह **प्रतिलोम विवाह** था।

जब कोई पुरुष अपने वर्ण से नीचे वर्ण की कन्या से विवाह करता था, तब वह विवाह अनुलोम विवाह कहलाता था। ऋषि विभाण्डक के पुत्र ऋष्यश्रृंग का विवाह राजा दशरथ की पुत्री शान्ता के साथ हुआ था; वह **अनुलोम विवाह** था।

सृष्टि–अनुलोम–क्रम और **सृष्टि–प्रतिलोम–क्रम** का उल्लेख महाभारत (संपा० सातवलेकर) के शान्तिपर्व (आ० २६४/३१) में मिलता है।

ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी का जन्म हुआ—यह **सृष्टि–अनुलोम–क्रम** है।

पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में और आकाश निर्विकार अव्यक्त ब्रह्म में लीन होगा—यह **सृष्टि–प्रतिलोम–क्रम** है।

गेरू और **धाऊ** शब्द अर्थ में अलग–अलग हैं। अमरसिंह–विरचित 'अमर–कोश' में **ग्रावन्** शब्द 'पर्वत' और 'पत्थर' के अर्थ में आया है। भवभूतिकृत 'उत्तर-रामचरित' नाटक (अंक १/श्लोक २८) में आये हुए **'ग्रावा'** का अर्थ 'पत्थर' ही टीकाकारों ने किया है। 'पत्थर दिल का पिघलना' या 'पत्थर का रोना' लोक में प्रचलित भी है। राम की दशा पर लक्ष्मण कहते हैं—"अपि **ग्रावा** रोदिति" (उत्तरराम० १/२८)।

कोई शब्द यदि कोशों में दो अर्थों में आता है, तो प्रसंग तथा लोक के आधार पर ही उसका अर्थ निश्चित होता है। संस्कृत के **गैरिक** और **धातु** समानार्थी नहीं हैं।

'अमरकोश' में 'गेरू' के अर्थ में 'धातु' शब्द दिया गया है। अमरकोश की रचना के समय तक पत्थरों की जातियों का गहरा अध्ययन नहीं हुआ था। वास्तव में अंग्रेज़ी शब्द **'रडिल'** का अर्थ **'गेरू'** है। विन्ध्यप्रदेश में **'हैमेटाइट'** पत्थर को **'धाऊ'** कहते हैं। संस्कृत शब्द **'धातु'** से **'धाऊ'** शब्द विकसित है। यदि 'धाऊ' को घिसा जाता है, तो वह रँग छोड़ता है। इसलिए कालिदासकृत 'मेघदूत' का यक्ष कहता है—"त्वामालिख्य प्रणयकुपितां **धातुरागैः** शिलायाम्"—(उत्तरमेघ, श्लोक ४७)।

मस्तक, **भाल** और **ललाट** पर्यायवाची होते हुए भी अर्थ में कुछ अन्तर रखते हैं। सामान्य माथे के लिए **मस्तक** शब्द का प्रयोग किया जाता है। जो माथा अपेक्षाकृत कुछ बड़ा (लम्बा–चौड़ा) होता है, उसे **भाल** या **ललाट** कहते हैं। शंकर का मस्तक बड़ा है, अतः उसके लिए **भाल** या **ललाट** का प्रयोग मिलता है—

"नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु **भाल**"—(मानस, बाल० १०६/–)

× × ×

"लोचन बिसाल लाल, सोहै बालचन्द्र **भाल**"–(कवितावली, उत्तर० १५६)

× × ×

"ससि **ललाट** सिर गंगा"—(मानस, बाल० ९२/३)

× × ×

"शम्भु–**भाले** त्रिपुण्ड्रम्"

"करालभालपट्टिका धगद्धगद्धगज्ज्वलद् धनंजयाहुतीकृतप्रचण्डपञ्चसायके"

—(शिवताण्डव स्तोत्र, श्लोक–७)

ललाट, शेखर और **शिर** की सीमा–रेखाएँ मिली हुई हैं। भोंहों के ऊपर का बड़ा मस्तक **ललाट** कहलाता है। ललाट से ऊपर **शेखर** होता है। तात्पर्य यह है कि ललाट और शिर के बीच का भाग '**शेखर**' कहलाता है। अथवा यों कहिए कि सिर का अग्रभाग जिसकी नीचे की सीमा–रेखा ललाट की ऊपरी सीमा–रेखा से मिलती है '**शेखर**' कहा जाता है।

ललाट, शेखर और **शिर** का प्रयोग शिवताण्डव स्तोत्र के एक श्लोक में करके रचनाकार ने संकेत कर दिया है कि **ललाट, शेखर** और **शिर** में अर्थ–भेद है। '**मुण्ड**' में इनके क्षेत्र अलग–अलग हैं।

"**ललाट**चत्वरज्वलद् धनज्जयस्फुलिङ्गभा—
निपीतपञ्चसायकं नमन् निलिम्पनायकम्।
सुधामयूखलेखया विराजमान**शेखरं**
महाकपालि सम्पदे **शिरो** जटालमस्तु नः॥"—(शिवताण्डव स्तोत्र, श्लोक ६)

भगवान् विष्णु का भी बड़ा मस्तक है। मनु और शतरूपा के समक्ष उपस्थित उन भगवान् महाविष्णु के विशाल 'मस्तक' को तुलसी ने **ललाट** ही बताया है—

"तिलक **ललाट** पटल दुतिकारी"—(मानस, बाल १४७/४)

× × ×

सूरदास की राधा का माथा भी विशाल था। उस माथे के लिए सूरसागर में **भाल** शब्द का ही प्रयोग हुआ है—

"औचक ही देखी तहँ राधा नैन विसाल **भाल** दै रोरी।"

—(संपा० सीताराम चतुर्वेदी, सूरदास, पद १४२९)

'**भाल**' शब्द में महाप्राण घोष वर्ण **भ्** और दीर्घ स्वर **आ** विशालता का संकेत करते हैं। **ललाट** के तीन अक्षर और **ट** वर्ण भी विशालता की सूचना देते हैं। अतः **भाल** और **ललाट** शब्द '**मस्तक**' से अर्थ में बड़े आकार के माने गये हैं।

सब जानते हैं कि शाही शान–शौकतवाले आलीशान महल को **प्रासाद** कहते हैं। 'प्रासाद' संस्कृत भाषा का शब्द है। राजाओं के निवास–गृहों के लिए 'अमर–कोश' में तीन नाम हैं—(१) **प्रासाद** (२) **सौध** (३) **राजसदन**।

'**मकान**' अरबी शब्द है। '**घर**' हिन्दी का तद्भव शब्द है। इसका संस्कृत शब्द **गृह** है। हिन्दी का **घर** शब्द अपनी अर्थ–परिधि में **मकान** शब्द के अर्थ से कुछ अधिक अपनापन रखता है। जब कोई व्यक्ति अपने परिवार सहित ऐसे सामान्य गृह

में रहता है, जो उसकी दादालाई अचल सम्पत्ति हो या अपनी कमाई से बनाया हुआ हो, तो उसे **घर** कहते हैं । प्राय: कह दिया जाता है कि "मोहनलाल जिस मकान में रहता है, वह किराये का नहीं है, वह उसका **घर का घर** है । "यहाँ '**मकान का मकान**' नहीं बोला जा सकता ।

मकान और **घर** का पूर्णतया एक अर्थ होता, तो कहा जा सकता था कि "वह उसका मकान का मकान है ।" लेकिन ऐसा नहीं कहा जाता ।

एक शायर ने **मकान** और **घर** के अर्थ-भेद को व्यक्त करनेवाला एक शेर कहा है—

"ईंटों से **मकाँ** बनते हैं ।
घर मोहब्बत से बना करता है ।"

लक्षणा के आधार पर **घर** शब्द हिन्दी में घर के निवासी व्यक्तियों के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । यदि किसी घर के आदमी आपत्ति-विपत्ति के कारण मारे-मारे फिरें, तो कहा जाता है कि "उसका तो सारा **घर** ही तबाह हो गया ।" इसके स्थान पर यह नहीं कहा जा सकता कि "उसका तो सारा मकान ही तबाह हो गया ।" अत: **घर** और **मकान** के अर्थों में अन्तर है ।

'**मकाँ**' अरबी '**मकान**' शब्द का लघुरूप है । अरबी-फ़ारसी के शब्दों का अन्तिम **न** (नून), अनुनासिकता (नून गुन्ना) में बदल जाता है । जैसे '**जहान**' का **जहां**, **गुलिस्तान** का **गुलिस्ताँ**, **हिन्दोस्तान** का **हिन्दोस्ताँ** आदि ।

"सारे **जहाँ** से अच्छा **हिन्दोस्ताँ** हमारा" (इक़बाल)

रँग शब्द अंग्रेज़ी के 'कलर' के समानान्तर है और **रंग** शब्द 'आनन्द' या 'ख़ुशी' का अर्थ देता है । "**रँग** में भंग होना" में **रंग** का अर्थ 'ख़ुशी' है । "उसका **रंग** काला है ।" में **रँग** का अर्थ '**वर्ण**' है ।

ख़याल (अरबी) और **ध्यान** (संस्कृत) संज्ञा शब्द हिन्दी में कुछ दूर तक तो अर्थ के मार्ग पर साथ-साथ चलते हैं; लेकिन फिर काफ़ी दूर चलने के बाद वे अलग-अलग हो जाते हैं ।

(१) जब साथ-साथ चलते हैं—

☐ "मैं बाज़ार तो गया था, लेकिन साबुन खरीदने का **ख़याल** नहीं रहा ।"

☐ "मैं बाज़ार तो गया था, लेकिन साबुन खरीदने का **ध्यान** ही न रहा ।"

(२) जब अलग-अलग हो जाते हैं—

☐ "मैं पूरी तरह समझ गया, तुम्हारा यह **ख़याल** अच्छा है ।"

इस उक्त वाक्य में '**खयाल**' शब्द के स्थान पर '**ध्यान**' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता ।

ग़ालिब ने कहा है—

"हमको मालूम है जन्नत की हक़ीकत लेकिन;

दिल के खुश करने को गालिब यह **ख़याल** अच्छा है।"—यहाँ **ख़याल** निश्चित रूप से '**ध्यान**' से अर्थ में भिन्न है।

ग़ालिब के पूर्ववर्ती शायर 'मीर' की उर्दू ग़ालिब की उर्दू से सरल है। मीरतकी 'मीर' की उर्दू में ब्रजभाषा के शब्दों का भी पुट मिलता है। ब्रजभाषा में '**लिए**' के अर्थ में '**ताईं**' का प्रयोग होता है। ब्रजभाषा में '**अपने ताईं**' और मानक हिन्दी में '**अपने लिए**' प्रचलित है। 'मीर' ने भी '**अपने तईं**' का प्रयोग किया है। अर्थात् सर्वनाम में। संज्ञा में ब्रजभाषा की शैली का 'ख्याल' न लिखकर 'मीर' '**ख़याल**' लिखते हैं—

"था मुल्क जिनके जेरे नगीं साफ़ मिट गये;

तुम इस **ख़याल** में हो कि नामोनिशाँ रहे।" —(मीर)

'मीर' के **ख़याल** शब्द के स्थान पर '**ध्यान**' का प्रयोग नहीं हो सकता। मीर ने एक जगह '**ख्याल**' भी लिखा है—

"इश्क हमारे **ख्याल** पड़ा है, ख्वाब गया आराम गया।"—(मीर)

फ़ारसी का शब्द **रोज़** है। कोशों में इसका अर्थ **दिन** लिखा गया है। **दिन** संस्कृत भाषा का शब्द है। इस तरह **रोज़** और **दिन** परस्पर पर्याय हैं। लेकिन **दिन** के निम्नांकित प्रयोग के स्थान पर **रोज़** प्रयुक्त नहीं हो सकता :—

(१) "**दिन** में काम करो, रात में आराम करो।"

(२) "**दिन** निकल आया, अभी तक सो रहे हो।"

निम्नांकित शब्द में **रोज़** के स्थान पर '**दिन**' का प्रयोग नहीं हो सकता—

(१) गोपाल मेरे घर **रोज़** आ रहा है।"

(२) वह **रोज़–रोज़** पैसे माँगने आ जाता है।

अतः सिद्ध है कि **रोज़** और **दिन** अलग–अलग शब्द हैं। **रोज़** का प्रयोग 'प्रतिदिन के अर्थ में भी होता है। '**भाषण**' का अर्थ है मौखिक व्याख्यान और **अभि-भाषण** का अर्थ है लिखित व्याख्यान।

ग्रह और **उपग्रह** में मुख्य अन्तर यह है कि जो उत्तप्त प्राकृतिक (भौतिक) पिण्ड अपने ही स्थान पर घूमता है, तारा कहलाता है। सूर्य अपने ही स्थान पर घूमता है, अतः तारा है। यह पृथ्वी से कई लाख गुना बड़ा माना गया है। पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, अतः **ग्रह** है।

पृथ्वी अपने स्थान पर घूमती है और सूर्य की परिक्रमा करती है। **उपग्रह** ग्रह की परिक्रमा करता है चन्द्रमा **उपग्रह** है। क्योंकि वह पृथ्वी ग्रह की परिक्रमा करता है।

एक वर्ष में चन्द्रमा पृथ्वी के बारह चक्कर लगाता है। चन्द्रमा का एक चक्कर = १ महीना। अतः **तारा, ग्रह** और **उपग्रह** के अर्थ अलग–अलग हैं।

प्रश्न, परिप्रश्न, अतिप्रश्न और **प्रतिप्रश्न** शब्दों के अर्थ में थोड़ा–थोड़ा

अन्तर है। किसी प्रकार से कोई बात पूछना **प्रश्न** कहाता है। जब किसी बात को जानने के लिए प्रश्नकर्ता बहुत श्रद्धा, विनय, आदर और विनम्रतापूर्वक अपनी इच्छा प्रकट करता है, तब वह प्रश्न **परिप्रश्न** कहलाता है। गीता (अ० ४/३४) में **'परि–प्रश्न'** शब्द का उल्लेख है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'परिप्रश्न' द्वारा भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान–प्राप्ति के प्रमुख साधन तीन हैं—(१) **प्रणिपात** (२) **परिप्रश्न** (३) **सेवा**।

"तद् विद्धि प्रणिपातेन **परिप्रश्नेन** सेवया" (गीता, अ० ४/३४)

जब किसी से कोई व्यक्ति प्रश्न पर प्रश्न शृंखलाबद्ध रूप में करता चला जाता है, तब उसे **अतिप्रश्न** कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी–याज्ञ–वल्क्य–संवाद है। गार्गी याज्ञवल्क्य ऋषि से प्रश्न पर प्रश्न पूछती चली गयी है। याज्ञवल्क्य उन प्रश्नों का उत्तर देते रहे हैं। वह प्रश्न–शृंखला **अतिप्रश्न** कहलाती है। प्रश्न के उत्तर में प्रश्न **प्रतिप्रश्न** कहलाता है। एक ने पूछा आपका क्या नाम है ? दूसरे ने कहा आपका क्या मतलब है ? दूसरे का कथन **प्रति–प्रश्न** है।

अरबी भाषा का एक शब्द है **'मातहत'**। इसके समानान्तर संस्कृत भाषा का शब्द है **अधीन**। इससे भाववाचक संज्ञा शब्द बना **अधीनता**। दूसरे के वश-वर्ती होकर काम करने की स्थिति **पराधीनता** कहलाती है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों के अधीन होकर काम करने की स्थिति का नाम **स्वाधीनता** है। पराधीनता हो या स्वाधीनता, दोनों में से कोई भी एक कष्ट प्रद भी हो सकती है। अतः **निरधीनता** की स्थिति में ही सुख मिल सकता है। **निरधीनता**=निकल गयी है अधीनता जिसमें से। यदि स्वाधीनता अर्थात् स्वतन्त्रता की स्थिति में विवेक–पूर्ण संयम न बरता गया, तो भविष्य में 'स्वाधीनता' **उच्छृंखलता** अथवा **स्वेच्छा-चारिता** में परिवर्तित हो सकती है। **उच्छृंखलता** काम, क्रोध, लोभ, मोह मद और मात्सर्य आदि विकारों का कुपरिणाम है। **'उच्छृंखलता'** वह कार्यप्रणाली है जो मर्यादा भंग करके चलती है।

मुलाक़ात और **विसाल** दोनों अरबी के संज्ञा शब्द हैं; लेकिन अर्थ में अन्तर है। किन्हीं दो मनुष्यों का मिलना **'मुलाक़ात'** कहलाता है। जब प्रेमी और प्रेमास्पद मिलते हैं, तब उसे **विसाल** कहते हैं।

"कौन कहता है **मुलाक़ात** नहीं होती है;
मुलाक़ात तो होती है पर बात नहीं होती है।"

× × ×

"न खुदा ही मिला, न **विसाले**–सनम
न इधर के रहे, न उधर के रहे।"

उर्दू शायरी के मैखाने में **साक़ी** (अरबी), **शराब** (अरबी), **खुम** (फ़ारसी), **सुराही** (अरबी), **मीना** (फ़ारसी), **जाम** (फ़ारसी), साग़र (फ़ारसी) और **पियाला** (फ़ारसी)

शब्द आसानी से सुने जा सकते हैं। इनके अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) **साक़ी**=शराब पिलानेवाला। (२) **शराब**=एक नशीला द्रव। (३) **खुम**=मटका (सस्कृत कुंभ=फ़ारसी खुम), **सुराही**=मिट्टी का एक लम्बोतरा पात्र जिसमें शराब भरी रहती है। **मीना**=शराब का जग (यह सुराही से कुछ छोटा होता है।) **जाम**=बड़ा पियाला जिसमें सुराही से शराब उँड़ेली जाती है। **साग़र**=जाम से छोटा पियाला। **पियाला**=साग़र से छोटा पियाला।

उर्दू =शायरी में इनके प्रयोग—

"क्या हालत हो गई है एक **साक़ी** के न रहने से;
कि **खुम** पे **खुम** भरे हैं मै से, पै **मैख़ाना** खाली है।"

× × ×

"तिही दस्तों का दर्जा अहले–दौलत से ज़ियादा है;
सुराही सर झुका देती है तब, जब **जाम** आता है।

× × ×

"गो हाथ को जुम्बिस नहीं आँखों में तो दम है;
रहने दो अभी **साग़रो–मीना** मेरे आगे।"—(ग़ालिब)

× × ×

साग़र और **पियाला** आकार की दृष्टि से अलग–अलग अर्थ रखते हैं। अर्थ–भिन्नता के कारण ही गालिब ने दोनों का प्रयोग साथ–साथ किया है—

"क्यों गर्दिशे–मुदाम से घबरा न जाए दिल;
इन्सान हूँ **पियाला–ओ साग़र** नहीं हूँ मैं।"—(ग़ालिब)

भाषाओं में कुछ शब्द मूल से भिन्न वचनों में भी प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी में '**प्राण**' और '**दर्शन**, का प्रयोग बहुवचन में होता है। (१) उसके **प्राण** निकल गये। (२) हमने एक बार ही उस महात्मा के **दर्शन** किये हैं।

अरबी '**क़ुसूर**' बहुवचन में है। इसका एकवचन **क़स्र** है। विचित्रता यह है कि उर्दू में '**क़ुसूर**' का प्रयोग एकवचन में होता है—

"लिपटा मैं बोसा लेके तो वो हँसके यूँ बोले;
ये दूसरी ख़ता है, वो पहला **क़ुसूर** था।"

× × ×

"क़ासिद को अपने हाथ से गर्दन न मारिए;
उसकी ख़ता नहीं, ये मेरा **क़ुसूर** था।"—(ग़ालिब)

अरबी शब्द एकवचन में **ताइफ़ः** है। इसका बहुवचन **तवाइफ़** है। **तवाइफ़** शब्द उर्दू में रंडी के अर्थ में एकवचन में प्रयुक्त होता है।

"इस मुल्क की सियासत का हाल न पूछ। घिरी हुई है तवाइफ़ तमाशबीनों में।"

अरबी का एक वचनीय शब्द **तारीख़** है। इसका बहुवचनीय शब्द **तवारीख़** है। 'इतिहास' के अर्थ में उर्दू भाषा में **तवारीख़** शब्द एक वचन में प्रयुक्त होता

है । मूलतः तारीख़ शब्द के बहुवचनीय शब्द **तवारीख़** का अर्थ है **तारीखें, तिथियाँ**। **तारीख**=तिथि ।

अरबी भाषा के **इस्तिक़बाल** और **ताज़ीम** शब्द उर्दू में प्रयुक्त होते हैं। '**इस्तिक़बाल**' का अर्थ है 'आगे बढ़कर स्वागत करना'। **ताज़ीम** का अर्थ है उठकर किसी का सम्मान करना । **ताज़ीम** के समानान्तर संस्कृत का शब्द 'अभ्युत्थान है ।

एक शायर ने लिखा है—

"क्या बताऊँ सीने में उभार क्यों आया ?
जवानी किसी की **ताज़ीम** को उट्ठी होगी ।"

फ़ारसी के '**तह**' (निचला भाग) और अरबी के **सतह** (ऊपरी भाग, धरा–तल) में उभयनिष्ठ '**तह**' एक अर्थ के नहीं है । दोनों शब्द अलग–अलग हैं ।

हिन्दी की नयी कविता (प्रयोगवादी कविता) के एक कवि ने **सहज** शब्द का विलोम अहज लिखा था । उसने मूल शब्द **हज** समझा था । यह उसके भाषा–ज्ञान की कमी थी ।

अरबी शब्द **तमन्ना** और फ़ारसी शब्द **आरज़ू** को प्रायः एक ही अर्थ में लिया जाता है । वास्तव में **तमन्ना** का अर्थ 'इच्छा' और **आरज़ू** का अर्थ 'आशा' (उम्मीद) है ।

दोनों की अर्थ–भिन्नता को प्रकट करते हुए अमीर ने लिखा—

"बाक़ी अभी है तरके–**तमन्ना** की **आरज़ू**;
क्योंकर कहूँ कि कोई **तमन्ना** नहीं मुझे ।"—(अमीर)

X X X

"मरते हैं **आरज़ू** में मरने की । मौत आती है पर नहीं आती । "(ग़ालिब)

फ़ारसी शब्द **शर्म** से अरबी शब्द **हया** का अर्थ भिन्न है । '**शर्म**' दूसरे को देखकर उत्पन्न होनेवाला एक संकोचन–भाव है । **हया** स्वयं में संस्कार जनित संगोपन-भाव है । '**हया**' एक स्वयंभू सहज स्वभाव है, उसे किसी कारण की आवश्यकता नहीं ।

"काबा किस मुँह से जाओगे ग़ालिब;
शर्म तुमको मगर नहीं आती ।"—(ग़ालिब)

X X X

"नज़र उठ गई तो दुआ बन गई;
नज़र झुक गई तो **हया** बन गई ।"

फारसी भाषा के **शिकवा** और **गिला** संज्ञा शब्दों के अर्थों में सूक्ष्म अन्तर यह है कि **गिला** अनुभूतिपरक है और **शिकवा** वाचिक है । 'शिकवा' वाणी द्वारा मनो-भाव की अभिव्यक्ति है—

"नहीं **शिकवा** मुझे कुछ बेवफाई का तेरी हरगिज़;
गिला तब हो अगर तूने किसी से भी निभाई हो ।"—(मीर दर्द)

अरबी शब्द **हरकत** का अर्थ है 'गति'। 'हरकत' दो तरह की होती है। जब शारीरिक शक्ति से शरीर का कोई अंग गतिमान् बनता है, तब उस हरकत को **जुंबिश** कहते हैं। जिस अंग को फ़ालिज मार जाता है, वह अंग गतिहीन हो जाता है। उस अंग को कह देते हैं कि फ़ालिज के कारण उसके हाथों में **जुंबिश** नहीं रही। हाथ या पैर की हरकत की ताक़त जुंबिश की ताक़त है।

रोग के कारण जब पूरे शरीर में कम्पन्न होता है, तब उसे **लरज़िश** कहते हैं। **जुंबिस** और **लरजिश** फ़ारसी भाषा के शब्द हैं, जो भावभाचक संज्ञाएँ हैं। शरीर के किसी अंग में हरकत न हो, तो उसे 'लाजुंबिश' कहेंगे। ग़ालिब ने कहा है—

"गो हाथ का **जुंबिश** नहीं आँखों में तो दम है;
रहने दो अभी साग़रो–मीना मेरे आगे।" —(ग़ालिब)

लरज़िश पूरे शरीर में कँपकँपी पैदा करनेवाली एक बीमारी है। आदमी न चाहे तो भी **लरज़िश** होती रहेगी। लरज़िश में पूरा शरीर काँपता है। वह कम्पन थोड़े समय तक रुक-रुककर होता रहता है। **जुंबिश** का कारण शरीर का दम है और **लरज़िश** का कारण शारीरिक रोग है।

अरबी भाषा से आये हुए दो शब्द हिन्दी-उर्दू में बहुत प्रचलित हैं—(१) **मुहव्वत** (२)**मुरव्वत**। '**मुहव्वत**' के समानान्तर '**स्नेह**' और 'मुरव्वत' के समानान्तर '**शील**' है। 'मुरव्वत' का अर्थ 'लिहाज़' भी है।

मुहव्वत दिल में और '**मुरव्वत**' आँखों में होती है। कभी-कभी 'मुरव्वत' मुहब्वत का आलम्बन बन जाती है। सारांश यह कि आशिक़ मुरव्वतवाले पर फ़िदा हो जाता है। एक शायर ने कहा है—

"**मुहब्बत** के करूँ भुजबल की मैं तारीफ़ क्या यारो;
सितम पर्वत हो तो उसको उठा लेता है ज्यूँ राई।" —(सौदा)

'मुरव्वत' अर्थात् 'शील' के समानान्तर तैत्तिरीय उपनिषद् (१/११) '**ह्री**' शब्द आया है। ऋषि कहता कि दान शील-संकोच के साथ देना चाहिए—"**ह्रिया-देयम्**" (तैत्ति० वल्ली १/अनुवाक ११)।

अरबी भाषा का 'मुरुव्वत' शब्द उर्दू–हिन्दी में 'मुरव्वत' बोला जाता है। जिस अर्थ में वैदिकी में **ह्री** प्रचलित था, उसी अर्थ में पाणिनीय संस्कृत भाषा में **शील** प्रचलित हुआ। उसी अर्थ में उर्दू में **मुरव्वत** प्रचलित हुआ।

तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' (लंका० ८०/५) में '**शील**' को धर्मरथ की दृढ़ पताका और **सत्य** को दृढ़ ध्वजा बताया है। इस तरह तुलसीदास जी की दृष्टि में **शील** (अरबी मुरुव्वत) का महत्त्व **सत्य** के बराबर ही है। जिस मनुष्य की वाणी में **सत्य** और आँखों में **शील** है, उसका व्यक्तित्व अभिनंदनीय है। उर्दू के एक शायर ने भी कहा—

"वो इन्सान भी क्या कोई इन्सान है,
न जिसमें **मुरव्वत** है, न जिसमें **मुहव्वत** है ।"

'**मुहव्वत**' की परिधि विस्तृत है । इसकी परिधि के अन्तर्गत सख्य, वात्सल्य, रति आदि भाव समाविष्ट हैं । '**इश्क़**' भी मुहव्वत के दायरे में आ जाता है, लेकिन दायरे में इश्क छोटा होता हुआ भी गहरा अधिक होता है । जिगर मुरादाबादी ने कहा है—

"ये **इश्क़** नहीं आसाँ इतना ही समझ लीजे;
इक आग का दरिया है और डूबके जाना है ।"
—(जिगर मुरादाबादी)

अरबी के तीन शब्द **शुऊर**, **सलीक़ा** और **तमीज़** हिन्दी–उर्दू में आये हैं । अरबी **शुऊर** हिन्दी में **शऊर** बोला जाता है । बात–चीत करने का सही ढँग अथवा किसी वस्तु के इस्तेमाल का मुनासिब तरीक़ा **शऊर** या **सलीक़ा** कहलाता है ।

तमीज़ उस विवेक को कहते हैं जो दो वस्तुओं में अन्तर को ठीक–ठीक समझता है ।

संस्कृत शब्द **विवेक** के समानान्तर अरबी शब्द **तमीज़** को माना जा सकता है । तैत्तिरीय उपनिषद् (१/११) में 'विवेक' के लिए 'संवित्' शब्द आया है ।

शऊर और **सलीक़ा** परस्पर पर्यायवाची हैं । एक शायर ने कहा है—

"**सलीक़ा** है तो आँखों में आँखें डालकर देखो;
बात होठों की नहीं, आँसू भी बात करते हैं ।"

संस्कृत शब्द **नीड** के समानान्तर फारसी के **आश्याँ** और **निशेमन** (उर्दू में नशेमन) शब्द हैं । पिंजड़ा या कैदखाना के अर्थ में अरबी शब्द **क़फ़स** है । एक शायर ने एक परिन्दे की वाणी में कहा है—

क़फ़स में आश्याँ में, फर्क क्या सैयाद सुन;
क़फ़स तेरा बनाया है, आश्याँ मेरा पसीना है ।"

अरबी भाषा से आये हुए **इश्क़**, **उल्फत** और **महब्बत** (उर्दू में मुहव्वत) सामान्यतया उर्दू में 'प्रेम' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं; लेकिन **इश्क़**, से हल्का **उल्फत** और उल्फत से हल्का **मुहब्बत** शब्द है ।

आसी गाज़ीपुरी ने इन तीनों शब्दों को एक शेर में प्रयुक्त करके इशारा कर दिया है कि इनमें अर्थ–भेद है—

"सिवा तेरे न मायल हो किसी पर, वो तबीअत दे;
तेरी **उल्फ़त** हो, तेरा **इश्क़** हो तेरी **मुहब्बत** हो ।"
—(आसी गाज़ीपुरी)

'इश्क़' दो तरह का होता है—(१) इश्क़ मज़ाजी (२) इश्क़ हक़ीक़ी । अर्थात् सांसारिक प्रेम और ईश्वरीय प्रेम ।

"**इश्क़** कहता है कि आलम से जुदा हो जाओ;

हुस्न कहता है जिधर जाओ नया आलम है ।"—(आसी गाज़ीपुरी)

इश्क के मूल में रति भाव है। इसका आलम्बन मनुष्य होता है। .'**मुहब्बत**' चमन आदि निर्जीव के प्रति भी हो सकती है—

"**मुहब्बत** थी चमन से लेकिन अब ये बेदिमाग़ी है"—(ग़ालिब)

अरबी के तीन शब्द **हस्रत** (=निराशा जनित दुःख), **शौक़** (=लगन) और **तमन्ना** (=इच्छा) हैं, जो अर्थ-भेद के साथ प्रयोग में आते हैं—

"कभी ये दिल तमाशागाह था ऐशो-मसर्रत का;
अब इसमें **हस्रतो-शौक़ो तमन्ना** सैर करते हैं।"—(दाग़)

बेचैनी पैदा करनेवाली गहरी ख़ाहिश का नाम भी हस्रत है। एहसान दानिश ने कहा है—

"हुए जिसपै महरबाँ तुम कोई खुशनसीब होगा;
मेरी **हस्रतें** तो निकलीं मेरे आँसुओं में ढलके।"
—(एहसान दानिश)

अरबी भाषा का **मसर्रत** और फ़ारसी भाषा का **खुशी** शब्द उर्दू-हिन्दी में प्रयुक्त होता है। दोनों शब्दों में अर्थ-भेद है। नूहनारवी शायर ने एक ही शेर में दोनों शब्दों का प्रयोग करके अर्थ-भेद का संकेत कर दिया है—

"क्या **मसर्रत** का ठिकाना, क्या **खुशी** का ऐतबार;
एक के घर से निकलकर एक के घर में रहा।" —(नूहनारवी)

'**मसर्रत**' भारी है, '**खुशी**' से। '**मसर्रत**' के समानान्तर हिन्दी में '**आनन्द**' और **खुशी** के समानान्तर **प्रसन्नता** को प्रस्तुत किया जा सकता है। ज़ौक ने कहा है—

"लाई हयात आये कज़ा ले चली चले;
अपनी **खुशी** न आये, न अपनी **खुशी** चले।"—(ज़ौक)

अरबी शब्द **ज़ियारत** पवित्र देव-दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। फारसी **दीद** मानवीय दर्शन के लिए प्रयोग में आता है। एक शायर ने कहा है—

"**ज़ियारत** होगी काबे की यही ताबीर है इसकी;
कई शब से हमारे ख्वाब में बुतख़ाना आता है।"

\+ \+ \+

एक दूसरे शायर ने कहा है—

"करता हूँ इन्तजार उनकी **दीद** भी होगी;
हररोज़ मुहर्रम है कभी ईद भी होगी।"

\+ \+ \+

"सद जल्वा रू-ब-रू है जो मिज़गाँ उठाइए;
ताक़त कहाँ कि **दीद** का एहसाँ उठाइए।"—(ग़ालिब)

फ़ारसी के **तुख्म** और **मग़ज़** शब्द उर्दू में प्रयुक्त होते हैं। मद्दाह में उर्दू-

हिन्दी कोश में **मग़ज़** को फारसी भाषा का माना गया है, कुछ अन्य कोशों में **मग़ज़** को अरबी का माना गया है।

तुख्म का अर्थ बीज और **मग़ज़** का अर्थ 'गिरी' या 'मींग' है। ख़रबूजे का बीज **तुख्म** है और उस बीज के अन्दर से जो मिंगी (गिरी) निकलती है, उसे '**मग़ज़**' कहते हैं। आम के फल के अन्दर की गुठली '**तुख्म**' है और उस गुठली के अन्दर की 'बिजली' '**मग़ज़**' है।

तुख्म और **मग़ज़** के अर्थ–भेद का संकेत करते हुए इंशा ने लिखा है—

"इश्क़ वो फल है कि जिसके **तुख्म** हैं ये अश्क़ सुर्ख़;
बेखुदी **मग़ज़** उसका और छिलका इज़्तराब।"—(इंशा)

ग़ालिब ने कहा है कि मेरे दिल का हर एक दाग़ चिराग़ों के पेड़ का बीज है—

"मेरा हर दाग़े–दिल इक **तुख्म** है सर्वे–चिराग़ाँ का;
किया आईनाखाने का वो नक्शा तेरे जल्वे ने।"—(ग़ालिब)

अरबी का एक शब्द **हसद** है और फारसी का एक शब्द **रश्क** है। '**हसद**' के समानान्तर संस्कृत शब्द **ईर्ष्या** है। 'ईर्ष्या' में ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे का अनिष्ट चाह–कर उसके समान बनना चाहता है। यह भाव अच्छा नहीं है। **ईर्ष्या** 'जलन' का भाव है, जो अपने आलम्बन की हानि चाहता है; नाश चाहता है।

रश्क में रश्क करनेवाला अपने आलम्बन का अनिष्ट न चाहते हुए उसके समान बनना चाहता है। '**रश्क**' कुछ–कुछ 'स्पर्द्धा' से मिलता–सा भाव है। यह अच्छा भाव है। हम दूसरों की तरह सुखी रहें—यह **रश्क** है। हम स्वर्गीय सुख भोगें, दूसरा नारकीय जीवन बिताये–यह **ईर्ष्या** है। डा० इक़बाल ने हिन्दोस्तान को **रश्के–जनाँ** (जन्नत जिस पर रश्क करती है) कहा है—

"गोदी में खेलती हैं इसकी हजारों नदियाँ;
गुलशन है जिनके दम से **रश्के–जनाँ** हमारा।" —(इक़बाल)

अर० **हसद**=अंग्रेज़ी **जैलसी** (JEALOUSY)। **फा० रश्क**=अंग्रेज़ी ऐन्वी (ENVY)।

वैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी में एक सूत्र है—

"क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः"—(अष्टा० १/४/३७)

इससे सिद्ध है कि **क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या** और **असूया** भाव अलग–अलग हैं।

सं० '**असूया**' भाव को फा० **रश्क** के समानान्तर कुछ–कुछ माना जा सकता है। इन्दुमती ने राजा अज को अपने रूप–गुण के समान मानकर उसे मन में वरण कर लिया था। वह इन्दुमती का 'असूया' भाव था। सुनन्दा दासी ने इन्दुमती से जब स्वयंवर सभा में आगे चलने को कहा, तब इन्दुमती सुनन्दा पर आँखें तरेरने लगी थी—

"असूया कुटिलं ददर्श"—(कालिदास, रघुवंश, सर्ग ६/८२)

बहुत से लेखक लोकभाषाओं का महत्त्व नहीं समझते । बहुत-से भावसूचक शब्द लोकभाषाओं में ही मिलते हैं, जो साहित्यिक भाषा में नहीं होते । अरबी का एक शब्द **तलब** है । इसका अर्थ मद्दाह के उर्दू-हिन्दी-कोश में इच्छा, चाह आदि दिया गया है । 'इच्छा' या 'चाह' शब्द '**तलब**' के अर्थ को पूरी तरह व्यक्त नहीं करता । वास्तव में '**तलब**' के समानान्तर एक शब्द है, जो ब्रजभाषा में ही पाया जाता है; वह है **हुड़क** । '**हुड़क**' शब्द ही '**तलब**' के अर्थ को पूरी तरह प्रकट करता है । "हुक्कची को हुक्के की **तलब** लगती है" इसके समानान्तर ठीक वाक्य होगा— "हुक्कची को हुक्के की **हुड़क** उठती है ।"

मैं बहुत दिनों तक फ़ारसी के **रश्क** शब्द के समानान्तर पूर्णतः अर्थवाले हिन्दी-शब्द की खोज करता रहा । अन्त में ब्रजभाषा में शब्द मिला '**सिहाना**' । किसी गुणी व्यक्ति के किसी विशिष्ट गुण को देखकर जो पुरुष सिहाता है, वह पुरुष तब प्रसन्न तो होता है लेकिन उस गुण का अभाव भी अपने में अनुभव करता है । उस समय वह पुरुष यह चाहता है कि कितना अच्छा होता कि मुझमें भी वैसा गुण होता । 'सिहाना' से विशुद्ध ब्रजभाषा भाववाचक संज्ञा रूप है '**सिहानि**' ।

कवितावली (लंकाकाण्ड, छन्द ४१) में तुलसीदास जी ने हनुमान्‌जी की युद्धवीरता का वर्णन किया है । हनुमान्‌जी के युद्ध-कौशल को देखकर अनेक देवता, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, चंडिका आदि सिहाते हैं । सारांश यह है कि वे प्रसन्न हो रहे हैं और मन में चाह रहे हैं कि जैसी फुरती हनूमान् में है, वैसी हम में भी होती, तो कितना अच्छा होता । अतः फ़ा० **रश्क**=ब्रजी० **सिहानि** ।

अरबी भाषा के दो शब्द हैं—(१) **रहम** (२) **करम** । मद्दाह ने अपने 'उर्दू-हिन्दी कोश' में दोनों शब्दों का अर्थ 'दया' लिखा है और 'कृपा' भी । सारांश यह कि **रहम** और **करम** का अर्थ एक ही लिखा है अर्थात् (१) **रहम**=दया, कृपा । (२) **करम**=दया, कृपा ।

वास्तव में **रहम** के समानान्तर हिन्दी शब्द '**दया**' है और **करम** शब्द के समानान्तर हिन्दी शब्द '**कृपा**' है । '**रहम**' वह भाव है, जिसमें मनुष्य दूसरे की दयनीय स्थिति को देखकर द्रवित होता है; अफसोस करता है, लेकिन **करम** वह भाव है जिसमें मनुष्य द्रवित होकर दुःखी व्यक्ति की सहायता करता है । दयालु बहुत-से हो सकते हैं, लेकिन 'कृपालु' कम होते हैं ।

फ़ना निज़ामी कानपुरी ने एक शेर में **रहम** और **करम** के अर्थों पर संकेतात्मक प्रकाश डाला है—

"साहिल के तमाशाई हर डूबनेवाले पर;
अफ़सोस तो करते हैं इम्दाद नहीं करते ।" —(फना निज़ामी)

कुछ उर्दू शब्द : उच्चारण-भेद से अर्थ-भेद

फ़ारसी का एक संज्ञा शब्द है **गिरेबान** या **गिरेबाँ**, जिसका अर्थ है कमीज

या कुर्ते आदि का गला।

"**गिरेबाँ** चाक करता है तंग जब दीवाना आता है।"

'गिरेबाँ' से कुछ मिलता-सा एक दूसरा फ़ारसी का विशेषण शब्द **'गि़रेबाँ'** है, जिसका अर्थ है चीख़ता-चिल्लाता हुआ।

एक शायर ने कहा है—

"मिज़ाजे-गि़रेबाँ को क्या पूछते हो;
ग़नीमत है जो दम कि आ-जा रहा है।"

ध्वनि के बहुत थोड़े अन्तर से उर्दू में प्रयुक्त होनेवाले दो शब्द हैं—(१) **जलील** (अरबी)=तेजस्वी (२) **ज़लील** (अरबी)=नीच।

उच्चारण के अन्तर से अरबी के दो शब्दों में आकाश-पाताल का अर्थ-भेद हो जाता है। वे दो शब्द हैं—(१) **ग़ज़ल** (२) **ग़ज़्ल**।

'ग़ज़ल' एक काव्य-रूप है, जिसका प्रमुख रस श्रृंगार या करुणा है। हिरन के बच्चे को **ग़ज़ाल** (अरबी) कहते हैं। उसके शिकारी का जब तीर लगता है, तब जो करुणाभरी कराह उस मृगशावक के मुँह से निकलती है, उसे 'ग़ज़ल' कहते हैं। कालान्तर में इस शब्द में अर्थादेश हो गया और इस शब्द 'ग़ज़ल' का अर्थ हुआ औरतों से बातें करना। फिर यही शब्द काव्य के उस रूप के लिए प्रयुक्त होने लगा, जिसमें ५ से ११ तक शेर होते हैं, जिसका पहला शेर अपने दोनों मिस्रों में रदीफ और काफ़िया एक रखता है। पहला शेर **'मतला'** और अन्तिम शेर **मकता** कहलाता है। अन्तिम शेर 'मकता' में शायर का नाम भी रह सकता है। ग़ज़लों का संग्रह 'दीवान' और पद्य-संग्रह (नज़्म-संग्रह) **'बयाज़'** कहलाता है। फिराक़ गोरखपुरी ने कहा है—

"ग़ज़ल क्या, इक नवा-ए-राज का सूरत पकड़ लेना;
सुनाई दे ख़बर होकर, दिखाई दे नज़र होकर।"
—(फ़िराक़ गोरखपुरी)

जब 'ज्' को शुद्ध व्यंजन के रूप में उच्चरित होते हुए 'ग़ज़्ल' शब्द सुनायी देगा, तब उसका अर्थ होगा 'रस्सी'।

ऊपर के कुछ शब्दों में उच्चारण-भेद से अर्थ-भेद की बात कही गयी है।

इसीलिए उर्दू के विद्वानों का कहना है कि उर्दू की शायरी के वक्त शीन-क़ाफ़ दुरुस्त रखना बहुत ज़रूरी है। कुछ हिन्दीवाले **'मजबूर'** को 'मज़बूर' और **'ग़ज़ल'** को 'गजल' बोलकर 'लफ्ज' का कुचला कर देते हैं। उनके कथन को हम सही मानते हैं; लेकिन हमें इसके साथ उर्दूवालों से बहुत बड़ी शिकायत है कि वे **'ब्राह्मण'** को 'बिरहमन' **'ग्रामी'** को 'गिरामी' और **'प्रसाद'** को 'परशाद' क्यों बोलते हैं? वे संस्कृत शब्द **'नामी-ग्रामी'** है। 'नामी' को तो उर्दूवाले 'नामी' ही बोलते हैं; लेकिन ग्रामी शब्द को शुद्ध न बोलकर 'गिरामी' ही बोलते हैं। आश्चर्य है, **'किलोग्राम'** को वे 'किलोग्राम' ही बोलते हैं। 'किलोग्राम' के बोलने में उनकी जीभ को कोई परेशानी नहीं होती। 'ग्रामी' के बोलने में परेशानी होती है।

हमारा सविनय अनुरोध है कि उर्दू वाले अपने दिल की सफाई करके राष्ट्र की राष्ट्रीयता की मुख्यधारा में मिलकर उर्दू की सेवा करें और राष्ट्र के आकाश से तथा राष्ट्र की धरती से सच्चा प्यार करें । **'किलोग्राम'** में **'ग्र'** बोल लेते हैं, तो **ग्रामी** में भी 'ग्र' बोल सकते हैं । वे संस्कृत के शब्द **'ग्रामी'** का कुचला न करें । कोशिश करेंगे तो **'ब्राह्मण'** और **'प्रसाद'** भी बोलने लगेंगे ।

सर, सिर, शेखर और **शिखर** शब्दों में सर उर्दू में और **सिर, शेखर** और **शिखर** हिन्दी में प्रायः प्रयुक्त होते हैं ।

संस्कृत भाषा का **शिर** ईरान में जाकर **सर** (फारसी में) बोला जाने लगा । फ़ारसी का **सर** ही उर्दू ने ग्रहण किया । फ़ा० **सरंगुश्त**=उँगली का सिरा ।

शायर साहिर लुधियानवी ने कहा है—

"**सर** झुकाने से कुछ नहीं होगा;
सर उठाओ तो कोई बात बने ।"—(साहिर लुधियानवी)

संस्कृत का **शिर** विकसित होकर हिन्दी में **सिर** के रूप में गृहीत हुआ । **सिर** शब्द कीट, पक्षी, पशु मनुष्य, देवता आदि सबके ऊर्ध्वांग के लिए प्रयोग में आता है । जैसे **सिरकटा** साँप, **सिरकटा** कबूतर, **सिरकटा** बकरा, **सिरकटा** आदमी आदि ।

रहीम ने शिव के ऊर्ध्वांग के लिए **सिर** शब्द का प्रयोग किया है—

"अच्युततरनि तरंगिनी सिव **सिर** मालतिमाल ।
हरि न बनाओ सुरसरी कीजो इन्दवभाल ।।"—(रहीम)

तुलसीदास ने रामचरितमानस (बाल० २३२/२) में श्रीराम–लक्ष्मण के सिरों पर मोरपंखों की शोभा का वर्णन किया है—

"मोरपंख **सिर** सोहत नीके ।"—(तुलसी, मानस,बाल० २३२/२)

अतः सिद्ध है कि हिन्दी में **सिर** शब्द सभी के ऊर्ध्वांग के लिए प्रयुक्त होता है ।

हिन्दी में **शेखर** शब्द का प्रयोग प्रायः देवताओं के सिर के लिए ही प्रयोग में आता है । संस्कृत में शंकर जी के लिए **'शशिशेखर'** शब्द आता है । रावणरचित 'शिवताण्डव स्तोत्र' में शिव को 'किशोरचन्द्रशेखर' कहा गया है—

"धगद्धगद्धगज्ज्वलल् ललाट पट्टपाल के
किशोरचन्द्र**शेखरे** रतिः प्रतिक्षणं मम ।"

—(शिवताण्डव० श्लोक २)

हिन्दी में **शिखर** शब्द का प्रयोग पर्वत के सिर अर्थात् पर्वत के सबसे ऊँचे भाग के अर्थ में किया जाता है ।

तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' (लंका० ११/२) में सुबेल पर्वत के सिर (चोटी, सर्वोच्च स्थल) के लिए **सिखर** (सं० शिखर) शब्द का प्रयोग किया है—

"**सिखर** एक उतंग अति देखी"—(मानस, लंका० ११/२)

कवि प्रसाद जी ने 'कामायनी' में लिखा है—

"हिमगिरि के उत्तुंग **शिखर पर**
बैठ शिला की शीतल छाँह।"

—(कामायनी, सर्ग चिन्ता, छंद १)

संस्कृत के **शेखर** और **शिखर** शब्दों के अर्थों में यही विशेष अन्तर है। **शेखर**=देव–सिर। **शिखर**=पर्वत–सिर।

मनुष्य जब अपने स्थिर शरीर को अस्थिर बनाता है, तब उसकी अस्थिरता के कई रूप बनते हैं। उनमें से कुछ नाम ये हैं—

(०) **वलन** (वलित)=अंगभंगी, अंगों को मोड़ना (शृंगार भाव के साथ)
(१) **रिंगण**=रेंगना, धीरे–धीरे चलना।
(२) **चलन** (चलित) = चाल, चलना।
(३) **धावन** (धावित) = दौड़ना।
(४) **भ्रमण** (भ्रमित) = घूमना।
(५) **नर्तन** (नृत्य) = नाचना।
(६) **नटन** (नटित) = अंग–संचालन, अभिनय।
(७) **नमन** (नति) = झुकना।

संस्कृत में **क्त** प्रत्यय के योग से बने हुए कुछ भूतकालिक कृदन्त विशेषण भाववाचक संज्ञा के अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं। **स्मित** शब्द का अर्थ है मुस्काता हुआ। संस्कृत–साहित्य में **'स्मित'** का प्रयोग 'मुस्कान' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अर्थात् **स्मित** 'स्मिति' का अर्थ भी देता है। **इंगित** 'इंगन' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी तरह **चलित**, **धावित**, **भ्रमित** और **नटित** को समझना चाहिए।

उसी प्रकार **वलित** 'वलन' का पर्याय बनकर प्रयुक्त होता है। श्री वल्लभाचार्य विरचित 'मधुराष्टक' में मधुराधिपति (श्रीकृष्ण) के **वलित** (वलन) को मधुर बताया है।

"वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं **वलितं** मधुरम्"

—(गीता प्रेस गोरखपुर, स्तोत्ररत्नावली, मधुराष्टकम्, श्लोक २)

नटन और **नर्तन** में मनुष्य के शरीर का अंग–संचालन तो होता है; परन्तु दोनों के अंग–संचालन में अन्तर है।

नटन वह अंग–संचालन है, जो वार्तालाप के समय मनुष्य द्वारा सहज होता रहता है। हम किसी व्यक्ति से जब बातें करते हैं, तब हमारे हाथ हमारी आँखें आदि इन्द्रियाँ हरकत करती रहती हैं—वही **नटन** है। 'नर्तन' में अंग–संचालन कुछ नियमों पर आधृत रहता है। **वलन** में अंग–संचालन शृंगार भाव के साथ होता है।

'उठना' और **'बैठना'** हिन्दी की सामान्य क्रियाएँ हैं। इनसे बने हुए भाववाचक संज्ञा शब्दों का द्वन्द्व समास **उठक–बैठक** प्रचलित है। शरीर की एक प्रकार की

कसरत भी '**उठक–बैठक**' कहलाती है। ब्रजभाषा में 'डंड–बैठक' शब्द प्रचलित है।

मकान के साथ बैठने के लिए एक कमरा बनाया जाता है, उसे भी **बैठक** कहते हैं। बैठने का एक आसन जो लकड़ी का बना हुआ होता है **बैठकी** कहलाता है। छोटी–सी चौकी के बराबर की वस्तु ब्रज में **बैठकी** कहलाती है। 'सूरसागर' में '**बैठकी**' शब्द का प्रयोग 'छोटी–चौकी' के अर्थ में ही किया गया है—

"करि–करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा कमल–**बैठकी** साजति"

—(पं० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, प्रथमखंड, पद ११०)

(**कमल–बैठकी**=कमलों का आसन)

'लेटना' से भाववाचक संज्ञा **लेट** और 'लोटना' से **लोट** है। 'लेट लगाना' तथा 'लोट–पोट होना' हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं। 'लेटना' के स्थान पर ब्रजभाषा में **पौढ़ना** शब्द भी प्रचलित है। संभवत: संस्कृत 'प्रलुठन' से 'पौढ़ना' विकसित है। इस '**पौढ़ना**' क्रिया का प्रयोग 'सूरसागर' में हुआ है—

"मुरली तऊ गोपालहिं भावति।

× × ×

आपुन **पौढ़ि** अधर–सेज्जा पर कर–सन पद पलुटावति।"

—(पं० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, द्वितीयखंड, पद ६६३)

खाट (सं० खट्वा) पर लेटनेवाला जब एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व पर लेटने की क्रिया करता है, तब उस क्रिया को '**करवट लेना**' कहते हैं। सं० **करपत्र** (= आरा) शब्द भी ब्रजभाषा में **करवट** हो गया है—"काशी करवट लेना प्रसिद्ध है। सं० **करपत्र** > करपत्त > करवत > **करवट**=आरा। सं० **कटिवर्त** > **करवट** (=कमर की घूम)।

छोटा बालक जब घुटनों के बल धीरे–धीरे चलता है, तब उसे ब्रजभाषा में **घुटुरवनि रेंगनि** (पं० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, पद १०५) कहते हैं। 'घुटनों चलना' अवधी भाषा में '**बकैयाँ चलना**' कहलाता है। **बकैयाँ** (सं० वक्रपादिका) के समानान्तर मानक हिन्दी में कोई शब्द नहीं है। मानक हिन्दी का महाकोश बोलियों के जनपदीय शब्दों की बाट जोह रहा है।

किसी शिशु का आनन्दपूर्वक हँसकर मन्द–मन्द आवाज़ करना '**किलकना**' कहलाता है। ब्रजभाषा में इसे **किलकनि** कहते हैं। 'किलकनि' में ध्वनि होती है, शब्द नहीं होते। '**हँसनि**' में बालक के दाँत दिखाई दे जाते हैं। **मुस्कानि** में दाँत दिखाई नहीं देते। शब्दों में बालक जब कुछ कहता है, तब उसे **बोलनि** या **बोलन** कहते हैं। तुलसीदास ने कवितावली में शिशु श्रीराम के सम्बन्ध में लिखा है— "बलिजाऊँ लला इन **बोलन** की"—(कवितावली, बाल० छन्द ५)। सूरदास ने **बोलनि** का प्रयोग किया है—"धूसर धूरि घुटरुवनि रेंगनि **बोलनि** बचन रसाल की।"

—(संपा० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, प्रथमखंड, पद १०५)

फ़ारसी शब्द 'बरबादी' का संस्कृत प्रतिशब्द **नाश** है। 'नाश' से बढ़कर

विनाश है। विनाश से भी बढ़कर **विध्वंस** है। अणुबमों के कारण अथवा भूचाल के प्रकोप से जब किसी नगर के मकान आदि गिरकर चूर–चूर हो जाते हैं, तब वह 'विनाश' **विध्वंस** कहलाता है। महाप्राणध्वनि **ध** के कारण **विध्वंस** शब्द में विनाश का कुप्रभावी स्वरूप अधिक समाविष्ट है। अतः '**विध्वंस**' में नष्ट होने की क्रिया वर्णनाद के कारण श्रोता के मन पर अधिक प्रभाव डालती है। शब्द में वर्णों की ध्वनि भी उसके अर्थ को प्रभावी बनाती है।

पर्वत के अर्थ में **गिरि** और **भूधर** शब्द हैं, लेकिन **भूधर** बहुत विशाल और भारी पर्वत को कहेंगे। इस अर्थ का कारण महाप्राण ध्वनियाँ (भ् और ध्) हैं। पृथ्वी को दाबे रखने के कारण **गिरि** से भूधर में विशालत्व है। कुंभकर्ण के लिए तुलसी ने लिखा—"नाथ **भूधराकार** सरीरा" (मानस, लंका० ६५/२)। तुलसी यदि लिखते, "नाथ गिरिवराकार सरीरा," तो पाठक के मानस–पटल पर सही बिम्ब न उभरता।

घमंड और **अभिमान** पूर्णतः एक अर्थ नहीं रखते। '**घमंड**' सदा कृष्णपक्षीय अर्थ रखता है। मन की वह विकृति जो अपने को बहुत बड़ा समझती है **घमंड** है।

अभिमान का प्रयोग कभी–कभी शुक्लपक्षीय भी होता है। 'देशाभिमान' को अच्छा माना जाता है।

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं है, पशु निरा है और मृतक समान है॥"
—(पं० गोकुलचन्द्र शर्मा 'परंतप')

'घमंड' अपने में होता है, **अभिमान** दूसरों पर होता है। हमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मदनमोहन मालवीय और महात्मा गान्धी पर अभिमान है कि वे हमारे देश में पैदा हुए थे। ये तीनों ही विभूतियाँ समकालीन थीं। रवीन्द्रनाथ और मालवीय जी का जन्म–वर्ष एक ही था। गांधी जी रवीन्द्रनाथ ठाकुर से ८ वर्ष छोटे थे।

मान, **अतिमान** और **अहंकार** क्रमशः विकृति की सीढ़ियों पर उत्तरोत्तर चढ़नेवाली दुर्भावनाएँ हैं। **अतिमान** का अर्थ है 'अतिअभिमान'। शतपथ ब्राह्मण (३/७/३/१०) में अतिमान को पतन का मुख बताया गया है—"पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः" (शतपथ ३/७/३/१०)

करने की इच्छा **चिकीर्षा**, जीने की इच्छा **जिजीविषा**, जाने की इच्छा **जिगमिषा**, तरने (पार करने) की इच्छा **तितीर्षा**, जानने की इच्छा **जिज्ञासा** और लड़ने की इच्छा **युयुत्सा** कहलाती है।

जन्म और मृत्यु के बीच में मनुष्य की सात अवस्थाएँ हैं—(१) **शैशव** (२) **बाल्यावस्था** (३) **पौगंड** (४) **यौवन** (५) **वयोगति** (प्रौढ़ता) (६) **वृद्धत्व** (७) **जरा**।

पढ़नेयोग्य **पठनीय**, जानेयोग्य **गमनीय**, ग्रहण करनेयोग्य **ग्रहणीय**, कामना

करने योग्य कमनीय और चाहने योग्य **कांक्षणीय** कहलाता है । ये विशेषण शब्द **–ता** प्रत्यय के योग से भाववाचक संज्ञा बन जाते हैं ।

निर्वृति का अर्थ 'आनन्द' और 'निर्वृत्ति' का अर्थ 'पूर्णता' है । **'निर्वृत्त'** का अर्थ 'पूर्ण' है । श्रीराम विभीषण से कहते हैं, "विभीषण ! रावण मर गया और हमारा प्रयोजन पूरा हो गया, इसीलिए अब तुम इसका दाहसंस्कार करो । मैं भी रावण का दाह–संस्कार तुम्हारे साथ–साथ करूँगा । वह जैसा तेरा भाई वैसा मेरा भी है । **निर्वृत्त** का प्रयोग—

"मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम् ।"

—(वाल्मीकि रामा०, युद्धकाण्ड सर्ग १०९/२५)

'परनिर्वृति' का प्रयोग परमानन्द' के अर्थ में मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में काव्य–प्रयोजन के हेतुओं में किया है—

'सद्यः **परनिर्वृतये** कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे"

—(काव्यप्रकाश, उल्लास १/कारिका २)

मानव शरीर को सजाने तथा अलंकृत करनेवाले तीन आभूषण अति प्राचीन-काल से वाल्मीकि रामायण–काल तक चले आ रहे थे—

(१) **नूपुर** (२) **केयूर** (३) **अंगद** ।

'नूपुर' (=पाज़ेब, पेंजनी, तोड़ियाँ या गुलशनपट्टियाँ) पाँवों में टखनों पर पहना जानेवाला आभूषण है । वाल्मीकि रामायण के राम किष्किंधाकाण्ड में लक्ष्मण से सीता जी के आभूषण की पहचान करने के लिए जब पूछते हैं, तब लक्ष्मण उत्तर में श्रीराम जी से कहते हैं कि प्रभो ! मैं माता जानकी के पाँवों के 'नूपुर' ही पहचानता हूँ, क्योंकि मैंने उनके चरणों का अभिवन्दन किया है—

"नुपुरेत्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्"

—(वाल्मीकिरामा०, किष्किं० सर्ग ६/श्लोक २३)

'नूपुर' स्त्री का आभूषण है ।

बाँहों के कुहनियों से ऊपर एक आभूषण पहना जाता था, जिसका नाम **'केयूर'** था । वर्तमानकाल में **'केयूर'** के समानान्तर **टड्डा** या **अनन्त** आभूषण माना जा सकता है । टड्डा स्त्रियों का और **अनन्त** पुरुषों का आभूषण है ।

'केयूर' सीता जी भी पहनती थीं और रावण भी बाँह में **'केयूर'** और अंगद धारण करता था । वाल्मीकि के लक्ष्मण श्रीराम से कहते है कि मैं माता जानकी के 'केयूर' नहीं पहचानता—

"नाहं जानामि **केयूरे** नाहं जानामि कुण्डले ।"

—(वाल्मीकि रामायण, किष्किं० सर्ग ६/२२)

रावण के भुजाभूषणों में वाल्मीकि जी ने **केयूर** और **अंगद** नाम के आभूषणों का वर्णन किया है । **केयूर** और **अंगद** प्रायः स्वर्ण के होते थे—

"**केयूराङ्गदवैदूर्य** मुक्ताहारस्रमुज्ज्वलम्"

—(वाल्मीकि रामा० युद्धकाण्ड /सर्ग १११/४३)

स्त्रियों का एक शिरोभूषण **बन्धुर** (=शीशफूल) भी था। शिव जी की अर्धाङ्गिनी पार्वती जी सिर पर **बन्धुर** धारण करती थीं—

"धराधरेन्द्रनन्दिनी विलासबन्धु**बन्धुर**—
स्फुरद्दिगन्तसन्तति प्रमोदमानमानसे।"

—(शिवताण्डवस्तोत्र, श्लोक ३)

अनुकरण (अनु + √कृ + ल्युट्) और **अनुसरण** (अनु + √सृ + ल्युट्) में 'अनु' उपसर्ग होने पर भी अर्थ में अन्तर है।

यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे की आंगिक चेष्टाओं की तरह अपनी चेष्टाएँ करता है या उस दूसरे मनुष्य की तरह से ही कार्य करता है, तो उस कार्य–प्रणाली को **अनुकरण** कहेंगे। अनुकरण में दूसरे के कर्म या क्रियाओं की नकल की जाती है।

'**अनुसरण**' वह क्रियान्वयन है, जिसमें एक व्यक्ति किसी दूसरे मनुष्य का अनुगमन करता है। '**अनुसरण**' का अर्थ है पीछे चलना। अनु=पीछे। सरण=चलना।

श्रीराम वन–मार्ग में जब पैदल चल रहे थे, तब श्रीराम आगे थे, उनके पीछे सीता जी और सीता जी के पीछे लक्ष्मण चल रहे थे। उस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि सीता जी श्रीराम का **अनुसरण** कर रही थीं और लक्ष्मण सीता जी का **अनुसरण** कर रहे थे। **अनुसरण**=अनुगमन।

अनुकरण करनेवाले व्यक्ति को अनुकारी या अनुकर्ता कहते हैं। अनुकरण करनेवाली यदि स्त्री है, तो वह **अनुकारणी** या **अनुकर्त्री** कहलाएगी।

जिसका अनुकरण किया जाता है, वह **अनुकार्य** कहाता है। नाटक में यदि अशोक कुमार राजा दुष्यन्त की भूमिका प्रस्तुत करता है, तो अशोक कुमार अनुकारी और दुष्यन्त **अनुकार्य** कहलाएगा।

अशोक कुमार का अभिनय '**अनुकरण**' कहा जाएगा।

अभिनेता अशोक कुमार का अभिनय पूर्णतः सफल तभी माना जाएगा, जब वह भाव–भंगिमा तथा आंगिक चेष्टाओं में अपने को दुष्यन्त में उतार दे। सहृदय दर्शक जब अशोक कुमार को दुष्यन्त ही समझें, तभी अशोककुमार के अभिनय की सफलता मानी जाएगी। **अनुकारी** का **अनुकार्य** में आत्मसात् हो जाना ही **अनुकरण** (अभिनय) की सफलता मानी जा सकती है।

अनुकरण में अनुकारी अपने को अनुकार्य में लीन करता है; लेकिन **अनुसरण** में **अनुसारी** और **अनुसार्य** के पृथक्–पृथक् दो अस्तित्व बने रहते हैं।

मनुष्य ध्वनियों की भी नकल करता है। बिल्ली की आवाज़ की नकल मनुष्य ने की और कहा कि बिल्ली '**म्याऊँ**' की आवाज़ करती है। मेंढक की आवाज़ की नकल की और कहा कि मेंढक '**टर्रटर्र**' करता है।

हिन्दी में **म्याऊँ** और **टर्रटर्र** शब्द अनुकरणात्मक कहे जाएँगे। प्राणी की

ध्वनि की नकल भी **'अनुकरण'** है।

जब मनुष्य किसी वस्तु से उत्पन्न ध्वनि की नकल करता है, तब वह ध्वनि **अनुरणन** कही जाती है। घंटे की आवाज़ की नकल करते हुए मनुष्य ने कहा कि घंटा **'टन'** बोलता है। पेड़ से आम का फल गिरने पर **पट** की आवाज़ होती है। हिन्दी में **टन** और **पट** अनुरणनात्मक शब्द हैं। इस तरह हिन्दी में ध्वन्यात्मक शब्द दो प्रकार के हैं—(१) **अनुकरणात्मक शब्द** (२) **अनुरणनात्मक शब्द**।

लय और हिन्दी-उर्दू छन्द

लय की प्रधानता को आधार मान लिया जाए तो कविता प्रेमी पाठकों को पता लग जाएगा कि जिस छन्द में ग़ालिब ने अपने ढँग से लिखा, उसी छन्द में सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने ढँग से लिखा। १८ मात्राओं के छन्दों में दोनों कवियों ने लिखा है। लय की समानता है—

(१) ग़ालिब का शेर—

"है ख़बर गर्म उनके आने की; —१८ मात्राएँ
आज ही घर में बोरिया न हुआ। —(ग़ालिब) —१८ मात्राएँ

(२) पन्त का छन्द—

"प्रमाण तूर शृंग भेरी बज उठे; —१८ मात्राएँ
घनन घनन पटह विकट गरज उठे। —१८ मात्राएँ

उर्दू–हिन्दी के छन्दशास्त्रियों ने नामकरण अलग–अलग कर दिया है। लय–साम्य दोनों भाषाओं की कविता को निकट ला सकता है।

ग़ालिब के निम्नांकित शेर को उर्दू का इल्मेअरूज़ [छन्दःशास्त्र] किसी भी छन्द में बाँधे, लेकिन लय और मात्राओं की दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि जिस ढँग से ग़ालिब ने लिखा, उसी ढँग से 'निराला' ने लिखा। 'निराला' की निम्नांकित पंक्तियाँ १८ मात्राओं वाले 'लीलावृत्त' छन्द में हैं।

[१] ग़ालिब ने लिखा—

"बात पर वाँ ज़बान कटती है;
वो कहें और सुना करे कोई।" [ग़ालिब]

[२] निराला ने लिखा—

"ऐसी ही एक बात चलती है;
घात खड़ी–खड़ी हाथ मलती है।"

—[निराला, अर्चना, गीत ४९]

उपर्युक्त दोनों कवियों में छन्दों के प्रत्येक चरण में १८ मात्राएँ हैं और लय भी समान है।

लय और मात्राओं की गणना के अनुसार मीरतक़ी 'मीर' ने एक छन्द में

निम्नांकित कविता लिखी थी। उर्दू के छन्दशास्त्रियों ने इसे कुछ भी नाम दिया हो। हमारे पाठक तनिक इसे लय से पढ़ें—

१६ १४

"इश्क़ हमारे ख्याल पड़ा है, ख्वाब गया आराम गया।
दिल का जाना ठहर गया है, सुबह गया या शाम गया।"

—(मीर)

१६, १४ मात्राओं पर यति के साथ इसके प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ हैं।

अब तनिक मैथिलीशरण गुप्त कृत **पंचवटी** के निम्नांकित छन्द को 'मीर' के छन्द की लय में पढ़िए और मात्रा गणना की समता देखिए—

१६ १४

"चारु चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल-थल में।

१६ १४

स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अम्बर-तल में।।

[मै० श० गुप्त]

उसी लय के साथ प्रसादकृत '**कामयनी**' के 'चिन्ता' सर्ग के निम्नांकित छन्द को पढ़िए और मात्राओं की गणना समता भी देखिए—

१६ १४

"बँधी महावट से नौका थी, सूखे में अब पड़ी रही।

१६ १४

उतर चला था वह जल प्लावन, और निकलने लगी मही।"

—(प्रसाद)

हिन्दी छन्दःशास्त्र के पंडित कहेंगे कि गुप्त जी और प्रसाद जी का छन्द '**लावनी**' है। उर्दू छन्दःशास्त्र के आलिम अपने सिद्धान्त से कोई भिन्न एक नाम देंगे छन्द का।

वास्तव में यह नामों का झगड़ा है, जो उर्दू-हिन्दी की कविता में दूरी पैदा कर सकता है। 'मीर' तो बड़ी सरल भाषा का कवि है। उसकी भाषा को 'भारती' भाषा का नाम दिया जा सकता है, जिसमें हिन्दी-उर्दू मिली हुई है। 'मीर' ब्रज-भाषा का शब्द '**ख्याल**' लिखते हैं। जिस लय में मीर ने लिखा उसी लय में मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद ने लिखा। उपर्युक्त उदाहरण प्रमाण हैं। पंडितों और आलिमों ने छन्दों के अलग-अलग नामकरण करके व्यर्थ का झगड़ा कविता में पैदा किया है।

उभय छन्द, स्वच्छन्द छन्द और **मुक्तछन्द** शब्दों की अर्थात्मक अवधारणाओं में अन्तर है। '**कमल**' शब्द में अक्षर तीन और वर्ण छह हैं। मात्राएँ तीन हैं।

जिस छन्द के चरणों में मात्राओं और अक्षरों की संख्या किसी क्रम से समान होती है, उसे **उभय छन्द** कहते हैं। निम्नांकित छन्द के प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ

और २० अक्षर हैं; अतः **उभय छन्द है—**

"कवि काल कालानल कृपाकर केतु करुणाकन्द है ।—२८ मात्राएँ, २० अक्षर
सुखधाम सत्य सुपर्व सच्छवि सर्वप्रिय स्वच्छन्द है ।।— ,, ,,
भगवान भावुक भक्तवत्सल भू विभू भुवनेश है ।— ,, ,,
करतार तारक है तु ही यह वेद का उपदेश है ।।— ,, ,,

× × ×

स्वच्छन्द छन्द में कई छन्दों का समावेश होता है । निराला के निम्नांकित स्वच्छन्द छन्द के प्रथम चरण में **राधिका छन्द**, द्वितीय में **साधिका छन्द**, तृतीय में **राधिका छन्द**, चतुर्थ में **साधिका छन्द** और पंचम चरण में **उर्मिला छन्द** है—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा–सी; —२२ मात्राओं का राधिका छन्द ।
वह दीपशिखा–सी शान्त भाव में लीन ।—२१ मात्राओं का साधिका छन्द ।
वह क्रूरकाल ताण्डव की स्मृति रेखा-सी; —२२ मात्राओं का राधिका छन्द ।
वह टूटे तरु की छुटी लता–सी दीन ।—२१ मात्राओं का साधिका छन्द ।
दलित भारत की ही विधवा है ।"—१७ मात्राओं का उर्मिला छन्द ।

× × ×

मुक्त छन्द में केवल लय प्रधान है । इसका प्रत्येक चरण अलग–अलग मात्राओं का होता है । एक प्रकार से मुक्त छन्द गद्यात्मक एवं लयप्रधान रचना है ! हिन्दी में **मुक्त छन्द** का प्रवर्तक निराला को माना जा सकता है । इसके प्रचार–प्रसार का क्षेत्र अज्ञेय को दिया जा सकता है ।

"वह आता,
दो टूक कलेजे करता,
पछताता,
पथ पर आता ।"—(निराला, मुक्तछन्द)

कीट, पक्षी और पशु के नामों पर कुछ छंदों के नाम

(१) **कीट के नाम पर भुजंगप्रयात** (गणात्मक अक्षर छन्द)
इसमें चार यगण प्रत्येक चरण में होते हैं—
"नमामीशमीशान निर्वाणरूपम्"

(२) पक्षियों के नामों पर—

(क) **अलिपद छंद**–इसके प्रत्येक चरण में छह मात्राएँ होती हैं ।
"क्षण भंगुर । अविचल उर ।" (अथवा)
"वह आता । कह जाता ।"

(ख) **चकोर छन्द**—इसके प्रत्येक चरण में सात भगण और गुरु–लघु (SI) होते हैं—

"भासत ग्वाल जहाँ लखियै कह वृत्त चकोर महा मुद मान ।"

(ग) **हंसगति छन्द**—यह मात्रिक छन्द है । इसमें कुल बीस मात्राएँ होती हैं । उन मात्राओं में ही चरणान्त में लघु-लघु (।।) का निर्वाह करता है ।

"होते हैं छवि देख विलोचन विकसित ।"

(३) **पशु के नाम पर**—

मत्तगयंद सवैया छन्द—यह गणात्मक अक्षर छन्द है । इसके प्रत्येक चरण में सात भगण और गुरु-गुरु (SS) होते हैं—

"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं ।"

कविता और संगीत में अंतर

कविता का माध्यम 'शब्द' है और संगीत का माध्यम 'नाद' है । शब्द भाव-प्रधान होने के कारण रस प्रदान करता है । संगीत का नाद सौन्दर्य प्रदान करता है । तात्पर्य यह है कि कविता रसानुभूति कराती है और संगीत सौन्दर्यानुभूति कराता है, इसलिए संगीत कला है । काव्य कला से उच्च है ।

भर्तृहरि ने कविता (**काव्य**) के अर्थ में ही **'साहित्य'** शब्द का प्रयोग किया है—

"साहित्यसंगीत कला विहीन :

साक्षात् पशुः **पुच्छ-विषाणहीनः** ।" (भर्तृहरि, नीतिशतक, श्लोक १२)

उपर्युक्त श्लोक का अर्थ **इस प्रकार** है—

साहित्यविहीनः, **संगीतकलाविहीनः** पुच्छविषाणहीन साक्षात् पशुः ।

पर्याय शब्दों में अर्थ-भिन्नता

द्रव्य-धर्म-भेद के साथ समानार्थक शब्द **'पर्याय'** कहलाते हैं ।

श्रीराम की वानर-सेना जब सेतु बाँधकर समुद्र पार चली गयी, तब राक्षसों ने रावण को वह समाचार सुनाया । रावण उस समाचार को सुनकर अपने दसों मुखों से अलग-अलग समुद्र के दस पर्यायवाची शब्द बोल उठा । उन दस पर्याय-शब्दों का उल्लेख तुलसीकृत 'रामचरितमानस' (लंका॰ दो॰ ५/-) में किया गया है—(१) **वननिधि** (२) **नीरनिधि** (३) **जलधि** (४) **सिन्धु** (५) **वारीश** (६) **तोयनिधि** (७) **कंपति** (८) **उदधि** (९) **पयोधि** (१०) **नदीश** ।

उपर्युक्त दसों शब्दों के अर्थ अलग-अलग हैं—

(१) **वननिधि**—√वन् धातु का अर्थ है 'सहायता करना', 'रक्षा करना' । वह जलराशि जो लंका की रक्षा करती थी, उसे रावण ने अपने पहले मुख से **'वन-**

निधि' कहा । '**वन**' शब्द का अर्थ 'पानी' है । अमरकोश में कहा है–"जीवनं भुवनं वनम्" (अमर०) ।

इसी तरह अन्य नौ पर्याय रावण ने शेष नौ मुखों से कहे ।

(२) **नीरनिधि**—'नीर' शब्द में √नी धातु है । जो अपने को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाता है, वह 'नीर' कहलाता है । उस नीर की राशि **नीरनिधि** कहलाती है ।

(३) **जलधि**—'तेज होना' के अर्थ में √जल् धातु है । वह जलराशि जो ज्वार–भाटा के कारण तेज हो जाती है वह **जलधि** कहलाती है ।

(४) **सिन्धु**–'सिन्धु' के मूल में √स्यन्द् धातु है । जिसका अर्थ है 'फैलना' । विशाल क्षेत्र में फैली हुई जलराशि **सिन्धु** कहलाती है ।

(५) **वारीश**—(वारि + ईश)--√वार् = निवारण करना । जो प्यास को दूर करता है, उसे **वारि** कहते हैं । ऐसे जल की राशि '**वारीश**' कहलाती है ।

(६) **तोयनिधि**--√तु धातु का अर्थ है 'आवाज करना' । जो जलराशि गर्जन करती है, उसे **तोयनिधि** कहते हैं ।

(७) **कंपति**—√कै धातु का अर्थ है ऐसी आवाज़ करना जो घटती–बढ़ती रहती है, वह जलराशि जिसकी आवाज़ घटती–बढ़ती है, **कंपति** कहलाती है ।

(८) **उदधि**—(उद + धि) भिगोना या तर करना अर्थ में √'उद्' धातु आती है । वह जलराशि जो तर करके गला देती है **उदधि** कही जाती है ।

(९) **पयोधि**—(पयः + धि) 'रक्षा करना' अर्थ में √पा धातु है । वह जलराशि जो लंका की रक्षा करती थी, **पयोधि** कहलायी । 'पयोधि' से लंका सुर–क्षित थी ।

(१०) **नदीश** (नदी + ईश)√नद् धातु का अर्थ है, आवाज करना । **नदी** = कलकल नाद करनेवाली । अनेक नदियों का स्वामी '**नदीश**' कहलाया ।

शब्द को सुनकर श्रोता के मानस–पटल पर जो बिम्ब बनता है, वह बिम्ब ही उस शब्द का अर्थ है । **मुखारविन्द, मुख, मुँह, म्हौड़ा** और **थूथड़ा** शब्दों को सुन-कर श्रोता के मन पर अलग–अलग बिम्ब बनते हैं । इसलिए इन पाँचों शब्दों के अर्थ भी अलग–अलग हैं । सच्चा साहित्यकार इन अर्थ–भेदों को पूरी तरह जानता है और यथावसर उन शब्दों का ठीक-ठीक प्रयोग भी करता है । शब्द के अर्थ–भेद की ऐसी पहचान ही साहित्यकार की साहित्य–साधना है ।

अयोध्यापति राजा दशरथ की तीनों रानियाँ ठुमककर चलते हुए बालक राम के सुन्दर मुख को देखकर आनन्दित हैं । साहित्यकार ने लिखा—"दशरथ की रानियाँ बालक राम के **मुखारविन्द** को निहारकर आनन्दित हो रही हैं ।"

एक व्यक्ति ने अपने विरोधी, निन्दक तथा कटुभाषी दुश्मन के मुँह से अपने सम्बन्ध में निन्दा के वाक्य सुनकर उस दुश्मन से चुप रहने के लिए कहा । तब एक योग्य लेखक लिखेगा—

"एक व्यक्ति ने अपने निन्दक दुश्मन से अपनी निन्दा के वाक्य सुनकर कहा, 'तू अब अपने थूथड़े को बन्द कर'' ।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से प्रकट है कि '**मुखारविन्द**' शब्द का अर्थ परमोत्कृष्ट और '**थूथड़ा**' शब्द का अर्थ निकृष्टतम है ।

इसी तरह अवरोही क्रम में **मुखारविन्द, मुख, मुँह, म्हौड़ा** और **थूथड़ा** शब्दों के अर्थों को समझ लेना चाहिए ।

एक शब्द है **चेहरा** (फा०चेहर:) और एक दूसरा शब्द है **मुख** (सं० मुख) । दोनों का अर्थ अलग–अलग है । मुख–मंडल को **चेहरा** कहते हैं । '**चेहरा**' के अर्थ में संस्कृत शब्द **आनन** और **वदन** हैं । अरबी शब्द **वदन** का अर्थ 'शरीर' या 'देह' है ।

'मुख' 'आनन' का वह भाग है, जो दोनों ओष्ठों से घिरा रहता है । उसके अन्दर मसूड़े और दाँत रहते हैं । हिन्दी–साहित्य में चन्द्रमा को उपमान रूप में और **आनन** या **वदन** को उपमेय के रूप में व्यक्त किया जाता है ।

सच्चा साहित्यकार **चन्द्रानन** या **चन्द्रवदन** शब्द का प्रयोग करेगा । किसी नारी के सुन्दर चेहरे को देखकर जो उसे 'चन्द्रवदनी' कहता है, वह सच्चा शब्द-साधक है । उसे '**चन्द्रमुखी**' कहना सही तथा उपयुक्त नहीं माना जा सकता ।

लता और **वल्ली** (बेल) में अन्तर यह है कि **लता** तो अपने बल–बूते पर भूमि पर बढ़नेवाली बेल है, लेकिन **वल्ली** या **वल्लि** किसी का सहारा लेकर चढ़ती है । खरबूज, तरबूज़ की बेल **लता** और गिलोइ की बेल **वल्ली** है ।

आज स्वागत करने या बधाई देने के अर्थ में **अभिनंदन** शब्द का प्रयोग होता है । प्राचीनकाल में समर्थन करना या अनुमोदन करना के अर्थ में **अभिनन्दन** शब्द का प्रयोग होता था । तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में 'अनुमोदन' के अर्थ में ही 'अभिनन्दन' का प्रयोग किया है—

"गुर के बचन सचिव **अभिनन्दनु**"—(मानस, अयो० १७६/७)

प्रजा का प्राचीन अर्थ 'सन्तान' था इसका अर्थ परिवर्तित तथा विस्तृत है । आज **प्रजा** शब्द का अर्थ है किसी राष्ट्र या राज्य की जनता । महाभारतकाल में **प्रजा** का अर्थ विस्तृत था । तब व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व और परलोक सबकी समष्टिमूलक अवधारणा **प्रजा** शब्द के अर्थ में समाविष्ट थी—

"धर्मो धारयति **प्रजा:**"—(सातव० महाभारत, कर्ण पर्व अ० ४६/५०)

संस्कृत **प्रेक्षण** (प्र+ईक्षण) शब्द का अर्थ है देखना या देखने की क्रिया । तुलसीदास जी ने '**रामचरितमानस**' (अयो० १२७/१) में **पेखन** शब्द का प्रयोग 'दृश्य' के अर्थ में किया है—

"जगु **पेखन** तुम्ह देखनिहारे ।"—(मानस, अयो० १२७/१)

'दृश्य' के अन्तर्गत 'वस्तु' भी समाविष्ट हो सकती है । 'वस्तु' में **विषय, रूप** और **शिल्प** भी समाये रहते हैं ।

मान लीजिए हम कपड़े की बनी हुई एक सुन्दर गेंद देखते हैं, तो कपड़ा, डोरा आदि सामग्री तो **विषय** है। गेंद की गोलाई रूप है। उस पर **जो** बेल–बूटी है, वह **शिल्प** है। कविता आदि में भी **विषय, रूप** और **शिल्प** होता है। कविता में रीति, गुण, अलंकार, शब्द–शक्ति आदि का विवेचन **'शिल्प' के अन्तर्गत** आता है।

'एका' या 'मेल' के अर्थ में **ऐक्य** या **एकता** शब्द का प्रयोग किया जाता है। समविचार के लिए '**एकीभाव**' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। उदाहरण—

"भीम और अर्जुन में ऐक्य तो था, लेकिन **एकीभाव** न था।" **एकीभाव**= समविचार।

अर्थ की दृष्टि से स्+ओ+च्+अ वर्तनीवाले दो शब्द हैं, हिन्दी में। एक **सोच** शब्द वह है, जो चिन्ता या फिक्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—

"मोहन परीक्षा–फल में अपना रोलनम्बर न देखकर **सोच** में पड़ गया।"

"काहे को **सोच** करै रसखान कहा करिहै रविनन्द विचारो।" (रसखान)

ऊपर के उदाहरणों में चिन्ता अर्थवाला '**सोच**' शब्द पुंलिंग है।

दूसरा **सोच** शब्द स्त्रीलिंग है, जो विचार या चिन्तन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे—

"महाभारत के सम्बन्ध में कुछ लोगों की सोच भिन्न–भिन्न है।"

भोर या **तड़का** (सूर्योदय से पूर्व का समय) के अर्थ में संस्कृत से गृहीत शब्द **उष** (पुं०), **उषस्** (स्त्री०), **उषा** (स्त्री०) और **ऊषा** (स्त्री०) हैं।

सायंकाल को **उषसी** कहते हैं। रेहवाली ऊसर भूमि को **ऊषर** (संस्कृत) या **ऊष** (संस्कृत) कहते हैं। **ऊसर** हिन्दी में तद्भव शब्द है। इसका मूल संस्कृत शब्द **ऊषर** है। रेह के कारण ऊसर भूमि में अन्न का पौधा नहीं उगता। तुलसीदास जी ने कहा है—

"ऊषर बरसइ तृन नहिं जामा।
जिमि हरिजन हियँ उपज न कामा।।"

—(मानस, किष्कि० १५/१०)

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में तत्सम शब्द '**ऊषर**' का प्रयोग किया गया है।

सन्मान और **सम्मान** में अर्थ–भेद है। सत्+मान=सन्मान का अर्थ है 'अच्छा मान'; लेकिन सम्+मान=सम्मान का अर्थ है विशेष मान (विशेष आदर) **सम्माननीय**=विशेष आदरणीय। स्मरण रखना चाहिए कि '**सत्**' शब्द विशेषण है और **सम्** उपसर्ग है। '**सन्नाम**' का अर्थ है 'अच्छा नाम' और **संशुद्धि** (सम्+शुद्धि) का अर्थ है 'विशेषशुद्धि'। **सन्मति**=अच्छी समझ। "सबको सन्मति दे भगवान्।"

कुछ हिन्दी–लेखक '**सम्मान**' के अर्थ में 'सन्मान' का प्रयोग कर देते हैं—यह उनकी भूल है। दोनों शब्द अर्थ में अलग–अलग हैं।

संस्कृत में **रिष** शब्द है। ब्रजभाषा का **रिस** शब्द संभवतः सं० **रिष** से ही

विकसित है। सबल-निर्बल की दृष्टि से **रिस** के कई भेद हैं—(१) **क्रोध** (२) **अमर्ष** (३) **झूँझल** (४) **अनरुचि** (५) **मन्यु**। इन पाँचों शब्दों में **क्रोध, अमर्ष** और **मन्यु** तो संस्कृत भाषा के शब्द हैं; लेकिन **झूँझल** और **अनरुचि** ब्रजभाषा के शब्द हैं।

'रिस' का सबसे अधिक प्रबल रूप **क्रोध** है। **अमर्ष** क्रोध से हल्का है। अप-कार करनेवाले से जब कोई व्यक्ति बदला न ले सका हो, तो उसके मन में जो आवे-शात्मक क्लेश होता है, वही वास्तव में **अमर्ष** है। अमर्ष की अभिव्यक्ति हल्की वाणी में होती है।

'**झूँझल**' अमर्ष से भी हल्की रिस है। इसे बहुत हल्का क्रोध कह सकते हैं। 'झूँझल' से भी हल्की रिस **अनरुचि** है। पुत्र को ऊपरी रिस दिखाते हुए जब माता डाँटती है, तब उसे **अनरुचि** कहते हैं। संस्कृत में **अरुचि** और हिन्दी में **अनरुचि** ग्राह्य है।

यशोदा के कान्हा ने मिट्टी खायी थी। जब माता यशोदा को वह बात मालूम हुई, तो उसे रिस आयी और साँटी लेकर कान्हा को डाँटने लगी। तब कृष्णभक्त कवि सूरदास के मानस-पटल पर **क्रोध, अमर्ष, झूँझल** और **अनरुचि** शब्द आये होंगे। उनमें से माता यशोदा के हृदय और पुत्र कन्हैया को देखते हुए सूरदास ने केवल **अनरुचि** को चुना। शेष तीन छोड़ दिये। इसे कहते हैं कवि की शब्द साधना अर्थात् शब्दाध्यापन की तपश्चर्या। भाव का आश्रय और आलम्बन कौन है? उसे दृष्टि-पथ में रखकर ही काव्यस्रष्टा कवि शब्द-चयन करता है। माता यशोदा बहुत हल्की बनावटी रिस कन्हैया के प्रति प्रकट कर रही है। अतः सूरदास कहते हैं—

"बार बार **अनरुचि** उपजावति महरि हाथ लिऐ साँटी।"

—(संपा० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, प्रथम खंड, पद २६६)

रिस का एक रूप **मन्यु** (संस्कृत) भी है। अत्याचार के विनाश के लिए जगनेवाला क्रोध **मन्यु** कहलाता है। यजुर्वेद का ऋषि कहता है कि हे परमेश! तू मन्युरूप है, मुझे 'मन्यु' प्रदान कर—

"ओ३म् मन्युरसि **मन्युं** मे धेहि"—(यजु० अ० १६/मंत्र ६)

कालिदासकृत 'रघुवंश' के राजा दिलीप ने नन्दिनी गाय पर आक्रमण करने-वाले सिंह को देखा और उनका मन्यु जाग उठा। उन्होंने धनुष पर बाण संधान किया, पर उनके हाथ की उँगलियाँ धनुष और बाण से चिपक गयीं। कालिदास ने रघुवंश (सर्ग २/श्लोक ३२) में '**मन्यु**' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। '**मन्यु**' ग्राह्य एवं वरणीय क्रोध का नाम है। अत्याचार को देखकर यदि किसी के मन में 'मन्यु' नहीं जागता, तो उस मनुष्य को अच्छा नहीं माना जाएगा। इसीलिए यजु-र्वेद के ऋषि ने परमेश से मन्यु के लिए प्रार्थना की है। **सं० मन्यु**=दुष्टताविनाशक क्रोध। कोई दुष्ट कामुक व्यक्ति किसी कन्या को छेड़ रहा हो और वह कन्या अपनी लज्जा तथा सतीत्व की रक्षा के लिए पुकार रही हो। उस दुष्ट कामुक पर यदि दृश्य-द्रष्टा व्यक्ति प्रहार करके कन्या की रक्षा करता है, तो वह व्यक्ति प्रशंसनीय

माना जाएगा। उसके 'मन्यु' को समाज में सराहा जाएगा। 'मन्यु' समाज को विकृति से बचाता है। 'क्रोध' अनिष्टकारी और **मन्यु** इष्टकारी है। क्रोध पुराना होकर **वैर** बन जाता है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने **वैर** को क्रोध का अचार या मुरब्बा बताया था।

संस्कृत भाषा में **फण, फणा, फणी** और **फणीन्द्र** शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) **फण**=साँप का फन। '**फण**' शब्द पुंलिंग है। इसका स्त्रीलिंग शब्द **फणा** है। फन के फैलाव को **आटोप** कहते हैं। **फणाटोप** का संधि–विग्रह दो तरह हो सकता है—(१) **फण+आटोप=फणाटोप**। (२) **फणा + आटोप=फणाटोप**।

सामान्यतया साँप के फन के लिए **फण** शब्द ही अधिक प्रयुक्त होता है; लेकिन रावणविरचित 'शिवताण्डव स्त्रोत' में 'फन' के अर्थ में स्त्रीलिंग **फणा** का प्रयोग किया गया है—

"जटाभुजङ्ग पिङ्गलस्फुरत् **फणा**मणिप्रभा
कदम्बकुङ्कुमद्रवप्रलिप्तदिग्वधूमुखे।"

—(शिवताण्डव०, श्लोक ४)

जिसके **फण** या **फणा** होता है उसे **फणी** कहते हैं। '**फणी**' (=फनवाला) संस्कृत प्रातिपदिक **फणिन्** (फण+इन्) का प्रथमा विभक्ति में एकवचन का रूप है। **फणी** का अर्थ है 'साँप'।

साँपों का राजा 'शेषनाग' या 'वासुकि' को माना गया है। इसलिए 'शेष–नाग' या 'वासुकि' के अर्थ में '**फणीन्द्र**' शब्द का प्रयोग होता है। सं०**फणि**+इन्द्र =**फणीन्द्र**। (समास में 'फणिन्' का **फणि**)

अतिगौरवर्ण राधिका का मुख चन्द्रभा के समान था और सिर के केशों का बन्धन (वेणी) शेषनाग के समान था। उन उपमानों की रक्षा करते हुए एक कवि ने दौड़ती हुई राधा को देखकर लिखा था—

"इन्दु भागा जा रहा, **फणीन्द्र** पड़ा पीछे से।"

यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार में **फणीन्द्र** (=शेषनाग) शब्द का सुन्दर प्रयोग है।

'पैदा होना' अर्थ में संस्कृत में **√जन्** धातु है।

√जन् धातु जिनके मूल में है, वे शब्द इस प्रकार से सामान्यतः प्रचलित हैं—

(१) **'ज'** =(√जन्+ड) समासान्त में अर्थ--पैदा हुआ, उत्पन्न।
जल+ज=जलज=जल से उत्पन्न।
(२) **जन** = (√जन्+अच्)=लोग, स्त्री या पुरुष, मनुष्य।
(३) **जनक**= (√जन्+णिच्+ण्वुल्)=पैदा करनेवाला, पिता।
(४) **जनन**= (√जन्+ल्युट्)=जन्म लेने की क्रिया।

(५) जनित= (√जन् + णिच् + क्त) = पैदा किया हुआ ।
(६) जन्य = (√जन् + णिच् + यत) = पैदा करने योग्य ।
(७) जन्मन् = (√जन् + भावे + मनिन्) = उत्पत्ति, पैदायश, जन्म ।
(८) जनता = (√जन + ता) = जन का समूह, जनों की भीड़ ।
(९) जननि = (√जन् + अनि) = जन्म देनेवाली, माता ।
जननी = (√जन् + अनि = जननि + ङीप् = जननी) = माता ।
(१०) जनयितृ = (√जन् + णिच् + तृच्) = पैदा करनेवाला, जनयिता ।
(११) जनयित्री = (√जन् + णिच् + तृच् + ङीप्) = पैदा करनेवाली ।
(१२) जायिन् = (√जन् + णिच् + णिनि) = पैदा करनेवाला, जायी ।
(१३) जायिनी = (√जन् + णिच् + णिनि + ङीप्) = पैदा करनेवाली ।
(१४) जात = (√जन् + क्त) = पैदा हुआ, उत्पन्न ।
(सं० जातः = फ़ा० ज़ादः)
(१५) जाति = (√जन् + क्तिन) = उत्पत्ति, पैदायश ।
(१६) जाया = (√जन् + यक् + आत्व) = पत्नी (पति ही पुत्र रूप में जिससे उत्पन्न होता है, वह '**जाया**' कहलाती है ।
(१७) प्रजाति = (जाति की जाति ।
(१८) जानकी = (√जन् + ण्वुल = जनक । जनक + अण् + ङीप् = जानकी) = जनक की पुत्री ।
(१९) जातीय = (√जन् + क्तिन् = जाति + ईय = जातीय) जाति से संबद्ध ।
(२०) जातक = (√जन् + क्त + स्वार्थे कन्) = उत्पन्न

कमलों के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं । उनके अर्थों में अन्तर है । वह अन्तर रँगों के आधार पर है । भागवत (स्कंध १०/९०/६) में उन कमलों का उल्लेख है । रँग-भेद से नाम-भेद—

(१) नीले रँग के कमलों के नाम—**उत्पल, इन्दीवर, राजीव, कुवलय** ।

(२) पीले रँग का कमल—**कल्हार** ।

(३) सफेद रँग के कमल—**पुण्डरीक, कुमुद श्वेतपत्र** ।

(४) लाल रँग के कमल—**अम्भोज, कोकनद** ।

(५) सभी प्रकार के कमलों के लिए सामान्य शब्द—**पंकज, कंज** ।

भौंरे के अर्थ में 'अमरकोश' में ११ नाम दिये गये हैं । उनमें से दस नामों का अर्थ आसानी से समझ में आ जाता है—

(१) **मधुकर** = मकरन्द एकत्र करनेवाला । (२) **मधुलिह्** = मकरन्द चाटनेवाला । (३) **मधुप** = मकरन्द पीनेवाला । (४) **अलिन्** = डंकवाला । (५) अलि डंकवाला । (६) **पुष्पलिह्** = फूल चाटनेवाला । (७) **द्विरेफ** = (भ्रमर) दो र हैं

जिसके नाम में (८) **भृंग**=जो उड़ने में 'भृङ्' की ध्वनि करता है। (९) **षट्पद** =छह पाँवोंवाला। (१०) **भ्रमर**=घूमनेवाला।

इनके अतिरिक्त ग्यारहवाँ नाम **मधुव्रत** भी है। भौंरे का नाम '**मधुव्रत**' क्यों है? यह बात सुगमता से समझ में नहीं आती। '**मधु**' (मकरन्द) के साथ '**व्रत**' का क्या अर्थ है?

'**व्रत**' शब्द के अनेक अर्थ हैं। उनमें एक अर्थ '**भक्षण**' (**भोजन**) भी है। मकरन्द भोजन है जिसका, वह 'मधुव्रत'।

पार्वती जी की रूप–रस–माधुरी को पान करनेवाले शिव को शिवताण्डव स्तोत्र में '**मधुव्रत**' बताया गया है। पार्वती जी का एक नाम 'सर्वमङ्गला' भी है।

"अखर्व सर्वमङ्गलाकलाकदम्बमञ्जरी—
रसप्रवाहमाधुरीविजृम्भणामधुव्रतम्।"—(शिवताण्डव, छंद १०)

'**व्रत**' शब्द 'भोजन' के अर्थ में अकेला नहीं आता। हिन्दी में अकेला '**मृग**' शब्द 'हिरन' का अर्थ देता है; लेकिन '**मृगेन्द्र**' में 'मृग' शब्द 'पशु' के अर्थ में आता है।

'मधुव्रत' में भी 'व्रत' शब्द '**भक्षण**' (भोजन) के अर्थ में जीवित है। कुछ शब्द अपने विशिष्ट अर्थ में 'समास' में जीवित हैं। एकाकी लगभग मृत हैं।

अमरकोश में '**आम**' के चार नाम दिये गये हैं—(१) **आम्र** (२) **चूत** (३) **रसाल** (४) **सहकार**।

(१) √अम् धातु का अर्थ है 'खाना'। जो खाया जाता है वह **आम्र** कहलाया।

(२) √चुष् धातु का अर्थ '**चूसना**'। जो चूसा जाता है, उसका अन्वर्थ नाम '**चूत**' हुआ। √चुष्+क्त=चूत।

(३) रस+आलच्=रसाल। '**रसाल**' का अर्थ है 'रसयुक्त'। रस से युक्त होने के कारण 'आम' को '**रसाल**' कहा गया। गन्ना भी रसयुक्त होता है; इसलिए गन्ने को भी **रसाल** कहते हैं।

अमरकोश में अति सुगन्धित आम के लिए '**सहकार**' शब्द है—

"**सहकारो**ऽतिसौरभः"—(अमरकोश, २/४/३३)

कलमी आम देशी आम की अपेक्षा अधिक सुगंधवाला होता है। '**सहकार**' नाम पड़ने का कारण यह है कि कलमी आम तैयार करने के लिए देशी आम की डाली की कलम लगायी जाती है। इस सहयोग के कारण कलमी आम का अन्वर्थ नाम '**सहकार**' प्रचलित हुआ।

अब्दुर्रहमान ने अपने अपभ्रंश–काव्य–ग्रन्थ 'संदेशरासक' (प्रक्रम ३/ग्रीष्म वर्णन/छन्द १३४) में '**साहार**' (सं० सहकार) शब्द का प्रयोग 'आम' के लिए ही किया है। सं० सहकार–वने > अपभ्रंश साहारवणि।

शब्द, **स्फोट** और **ध्वनि** में संस्कृत के वैयाकरणों की दृष्टि से अन्तर यह है

कि **शब्द** अर्थयुक्त नादात्मक (ध्वन्यात्मक) इकाई है। 'शब्द' में स्फोट समाविष्ट रहता है, उसका बोध बुद्धि द्वारा होता है। अर्थात् **स्फोट** बुद्धिगम्य है।

ध्वनि का बोध कानों के माध्यम से होता है। स्फोट + ध्वनि = शब्द।

स्फोट के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने अपने ग्रथ 'वाक्यपदीय' में लिखा है कि जब अन्तिम ध्वनि के साथ पूर्व-पूर्व ध्वनि के संस्कार का बीज बुद्धि में समाहित होता है, तब पुनः पुनः आवृत्ति से बुद्धि परिपक्व होती है। तभी यह निश्चय होता है कि यह अमुक शब्द है और यह इसका अर्थ है।

स्फोट के दो भेद हैं—(१) स्थान-भेद (२) उपाधि-भेद। **परा, पश्यन्ती, मध्यमा** और **बैखरी** स्थान भेद हैं। **वर्ण, पद** और **वाक्य** उपाधि-भेद हैं।

परा वाणी मूलाधारचक्र में, पश्यन्ती वाणी मणिपूरचक्र में और मध्यमा अनाहतचक्र में निवास करती है। वैखरी कण्ठ–प्रदेश में रहती है। "विखरेषु भवा वैखरी; वैखरी कण्ठदेशगा। देहेन्द्रियसंघातः विखरः।"

धर्म, संप्रदाय, दर्शन और **अध्यात्म** में अर्थ-भेद है। वे कल्याणकारी व्यवहारात्मक कर्म जो आस्था, श्रद्धा और भक्ति भावना सहित मनुष्य को प्रेम से भर देते हैं **धर्म** कहलाते हैं।

जो विचारात्मक प्रयास तर्क और प्रमाण के साथ सत्य की खोज करता है, **दर्शन** कहलाता है। धर्म को दर्शन की आवश्यकता इसलिए है कि दर्शन से धर्म अंधविश्वास तथा असत्य से बचा रहता है। धर्म मानव मात्र का एक है, अखंड है। **धर्म** जीवन जीने की सच्ची कला है। सत्य, प्रेम और सदाचरण धर्म के चरण हैं।

जब किसी समाज की स्वार्थमयी संकीण विचारधारा कर्म में परिवर्तित होकर दूसरों को हीन समझकर उनकी हानि करने लगती है, तब वह रूढ़ कर्म **'संप्रदाय'** कहलाता है। **संप्रदाय** वास्तव में रूढ़ि का अन्धानुकरण है। संप्रदाय अनेक हैं, खंडित हैं। संप्रदायों ने ईश्वर को ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा आदि में बाँट दिया।

वह आत्मचिन्तन जो दर्शन और धर्म से संवलित होता है **अध्यात्म** कहलाता है। **अध्यात्म** सच्चे धर्म की प्राण–ऊर्जा है।

वेदान्त, अद्वैतवाद और **द्वैतवाद** पारिभाषिक शब्द हैं, दर्शन शास्त्र के। **'वेदान्त'** शब्द का अर्थ है वेद का अन्तिम भाग। चार वैदिक संहिताएँ (ऋक्, यजु, साम और अथर्व) ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् मिलकर वैदिक साहित्य कहे जाते हैं। आरण्यक और उपनिद् के अन्तिम भाग में ब्रह्मविद्या का प्रतिवादन किया गया है। उसमें परमात्मा, आत्मा और जगत् का निरूपण किया गया है, वह दार्शनिक साहित्य **वेदान्त** कहलाता है।

वेदान्त के मुख्य दो भाग हैं—(१) **अद्वैतवाद** (२) **द्वैतवाद**। अद्वैतवाद वह दर्शन है जिसमें एक ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्ता माना गया है। वहाँ जीव और जगत् का अलग अस्तित्व नहीं है। 'एकं ब्रह्म द्वितीयोनास्ति ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अद्वैतवाद का सिद्धान्त है।

द्वैतवाद ब्रह्म, जीव और जगत् की **प्रथक्** सत्ताएँ मानता है। भक्ति का प्रतिपादन करनेवाले कुछ दर्शन द्वैतवादी हैं।

द्वैतवाद शब्द का प्रयोग एक भिन्न अर्थ में भी होता है—**द्वैतवाद**=अहं का सिद्धान्त अर्थात् अहं ही मानव और उसके स्रष्टा के मध्य आपात दृष्टि से विभेद का कारण है। अहं ही मानव और स्रष्टा को दो अलग-अलग अस्तित्व में बना देता है। तब वह सृष्ट जीव अपने को स्रष्टा मानने लगता है। इस तरह **अहंवाद** का दूसरा नाम **द्वैतवाद** है।

'अमरकोश' में 'अग्नि' के ३४ नामों में **अग्नि**, बह्नि, **वैश्वानर पावक**, **धनंजय**, **अनल** और **विभावसु** नाम संस्कृत-साहित्य में मिल जाते हैं। '**वैश्वानर**' उस अग्नि को कहते हैं, जिसके द्वारा किसी देवता विशेष की पूजा की जाती है। हिन्दी या ब्रजभाषा का '**बैसान्दुर**' शब्द संस्कृत के '**वैश्वानर**' से ही विकसित हुआ है। '**बैसान्दुर**' नाम की अग्नि पर घी, लौंग, नैवेद्य आदि पूजा के समय चढ़ाये जाते हैं।

विश्व के प्राणियों की रक्षा करने के कारण इस पूज्य अग्नि का नाम '**वैश्वानर**' हुआ। **विश्वानर**+स्वार्थे **अण्**=**वैश्वानर**। गीता (१५/१४) में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि मैं प्राणियों के शरीर में वैश्वानर की तरह स्थित होकर चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ। वे चार प्रकार के अन्न हैं—(१) **भक्ष्य** (२) **भोज्य** (३) **लेह्य** (४) **चोष्य**। √**चूष**+ **ण्यत्**=**चोष्य**। संस्कृत की √चूष् धातु की विकसित अवस्थाओं से हिन्दी में दो क्रियाओं का जन्म हुआ—(१) **चूसना** (२) **चौंखना**। चौंखने में दाँत और जीभ काम करते हैं। चूसने में दाँत काम नहीं करते। **आम** चूसा जाता है; **गन्ना** चौंखा जाता है।

चबाकर खाया जानेवाला अन्न **भक्ष्य** है, जैसे रोटी। जो निगला जाता है, वह **भोज्य** है, जैसे दूध। जो चाटा जाता है, वह **लेह्य** है, जैसे चटनी, लप्सी आदि। **वैश्नावर अग्नि** सभी अन्नों को पचाती है।

'**धनंजय**' उस अग्नि को कहते हैं, जो किसी वस्तु या प्राणी को क्षण मात्र में भस्मीभूत कर देती है। ताण्डवनृत्यकारी शिव ने अपने तृतीय नेत्र की अग्नि से कामदेव को क्षणमात्र में भस्म कर दिया था। उस अग्नि का नाम **धनंजय** था।

शिवताण्डव स्तोत्र में **धनंजय** नाम की अग्नि का उल्लेख है। 'धनंजय' नामक धधकती अग्नि ने रुद्र-भाल के तृतीय नेत्र से निकलकर कामदेव को तुरन्त भस्मसात् कर दिया था—

> "करालभालपट्टिकाधगद्धगद्धगज्ज्वलद्
> **धनंजयाहुतीकृत**प्रचण्डपञ्चसायके।"
>
> —(शिवताण्डव स्तोत्र, श्लोक ७)

रुद्र-नेत्रजन्मा उस 'धनंजय' नाम की अग्नि ने कामदेव को उतने ही समय में भस्मावशेष कर दिया था, जितने समय में देवताओं ने रुद्र से प्रार्थना की कि

"प्रभो ! क्रोध को रोकिए-रोकिए"—बस यह वाक्य पूरा भी न हो पाया और कामदेव भस्म हो गया। इस त्वरित घटना का उल्लेख कालिदास ने अपने काव्य 'कुमारसंभव' में किया है—

"क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥"
—(कालिदास, कुमारसंभव, सर्ग ३/७२)

जो अग्नि जलते समय धुआँ भी देती हो, उसे **विभावसु** कहते हैं। वाल्मीकि-रामायण के सुन्दरकाण्ड में 'विभावसु' नाम की अग्नि का उल्लेख है। **अशोकवन** वासिनी सीता जी राम-वियोग में 'ऐसी मालूम पड़ती थीं, मानो धुएँ से ढकी हुई 'विभावसु' नाम की अग्नि हो—"**पिनद्धां** धूमजालेन शिखामिव **विभावसोः**" —(वाल्मीकिरामा० सुन्दर० सर्ग १५/२०)।

देव, असुर, राक्षस और **मनुष्य** शब्दों की संस्कृति अर्थात् अर्थ-परिधि अलग-अलग है। आधुनिक विकासवाद कहता है कि 'मनुष्य' प्राणी के विकास की चरम कोटि है। वैदिक सिद्धांत मनुष्य योनि से आगे **देव योनि** भी मानता है।

महामहोपाध्याय विद्यावाचस्पति (स्व०) श्री मधुसूदन ओझा ने 'इन्द्रविजय' नामक ग्रन्थ में अनेक प्रमाण प्रस्तुत करके सिद्ध किया है कि भारत के उत्तर का प्रदेश प्रारम्भ में हिमाच्छन्न नहीं था। वहाँ भी लोग निवास करते थे। उस प्रदेश के निवासी **देव** कहे जाते थे। देवों से विरोध करनेवाली जातियाँ **असुर, राक्षस** आदि थीं। **असुर** और **राक्षस** अलग-अलग थे। देवों और असुरों के संग्रामों का वर्णन वेदों तथा पुराणों में मिलता है। ओझा जी ने सिद्ध किया है कि स्वर्ग दो प्रकार का था—(१) **द्युलोक स्वर्ग,** जिसके निवासी अमरदेव थे (२) **भौम-स्वर्ग,** जिसके निवासी मनुष्यदेव कहलाते थे। मनुष्यदेवों में ही ब्राह्मण देव थे। सुमेरपर्वत द्युलोक स्वर्ग में था। वहाँ **इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि** आदि का निवास था।

महाभारत (सातवलेकर, भीष्म पर्व, अ० ६२/६) में **दानव, राक्षस** और **दैत्य**—तीनों को अलग-अलग माना गया है।

सूर्य और **सविता** एक बात नहीं है। ब्रह्माण्ड में अनेक सूर्य हैं। वे सभी उष्णता एवं प्रकाश के पुंजीभूत हैं। सभी सूर्य अपनी ऊर्जा एकमात्र भागवत ऊर्जा-स्रोत 'सविता' से प्राप्त करते हैं। **सूर्य** अनेक हैं, लेकिन **सविता** एक है। यजुर्वेद के ऋषि ने सविता देव से प्रार्थना की है कि वह हमारे संपूर्ण पापों को दूर करे और कल्याण की वर्षा करे—

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रन्तन्न आसुव॥"—(यजु० अ० ३०/मंत्र ३)

आकाश के परितप्त पिंड **तारे** कहाते हैं। 'सूर्य' भी एक तारा है। सूर्य की परिक्रमा करनेवाला पिंड **ग्रह** और ग्रह की परिक्रमा करनेवाला पिंड **उपग्रह** कहलाता है। अनेक ब्रह्माण्डों के अनेक सूर्य एक ही सविता से प्रकाश पाते हैं। सूर्य तारा

पृथ्वी के पास है, इसीलिए अधिक प्रकाशवान् लगता है। अन्य कुछ तारे सूर्य से भी बड़े हैं। पृथिवी से बहुत दूर होने के कारण बहुत छोटे दिखायी पड़ते हैं।

सत्य शब्द अर्थ में **ऋत** से छोटा है। **ऋत** अर्थ में बहुत व्यापक है। वेद में एक मंत्र आया है। उसमें कहा गया है कि उस ईश्वर से **सत्य** और **ऋत** का जन्म हुआ—

"ॐ ऋतं च सत्यञ्चाभीदात्तपसोऽध्यजायत।"—(वेद)

शाश्वत सत्य का नाम ऋत है। तत्कालीन सत्य 'सत्य' कहलाता है। सत्य से ऋत बड़ा है। सत्य को ऋत का अंश भी माना जा सकता है। "सविता प्रकाशपुंज है"—यह ऋतात्मक कथन है। "सूर्य प्रकाशवान् है"—यह सत्यात्मक कथन है।

ब्रह्माण्ड के संपूर्ण सूर्य जिससे प्रकाश और उष्णता प्राप्त करते हैं, उसका नाम **सविता** है। **सविता** यदि ऋत रूप है, तो **सूर्य** सत्य रूप है। "सूर्य लाल है"—यह कथन सत्य है। "सविता अनेक रँगों का है"—यह कथन ऋत है। ऋत अपरिवर्तित और सत्य परिवर्तनशील है। **अंग० राइट=सं० ऋत। अंग० ट्रू=सं० सत्य।**

मनोविज्ञानी और **मनोवैज्ञानिक** में अर्थ-भेद है। बहुत-से लेखक इन शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं करते। दिनांक २१-६-९२ ई० (रविवारीय संस्करण) के 'नवभारत टाइम्स' में एक लेख के अन्दर एक वाक्य यह था—

"सन् १९०० ई० में सिग्मंडफ्राइड नाम के एक मशहूर **मनोवैज्ञानिक** ने सपनों की एक नयी व्याख्या पेश की"—(रविवार्ता, २१-६-९२, पृष्ठ ३)

उपर्युक्त वाक्य के 'मनोवैज्ञानिक' शब्द के स्थान पर **मनोविज्ञानी** या **मनोविज्ञानवेत्ता** शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए था। यह कर्तृवाचक संज्ञा शब्द है।

'मनोवैज्ञानिक' विशेषण है, जो 'मनोविज्ञान' संज्ञा से बना है। इसका प्रयोग इस तरह उपयुक्त है—

"फ्राइड की **मनोवैज्ञानिक** परिकल्पना पर विचार करना चाहिए।"

निद्रा की दो स्थितियाँ हैं—एक **स्वप्न** और दूसरी **सुषुप्ति**। स्वप्नावस्था में अनेक दृश्य दिखाई देते हैं और घटनाएँ घटती हैं। 'सुषुप्ति' में कुछ पता नहीं रहता। **जागर्ति** (जागरण) और **निद्रा** के बीच की एक दशा और होती है, जिसे तंद्रा कहते हैं। **समाधि** में शरीर की बाह्य दशा 'मरण' के सदृश होती है, लेकिन योगी को उसमें आन्तरिक चेतना रहती है। 'संप्रज्ञात **समाधि**' में ध्याता और ध्यान की समाप्ति हो जाती है। एकमात्र ध्येय शेष रह जाता है। पंतजलि के अष्टांग योग में **समाधि** 'ध्यान' से आगे की अवस्था है। **असंप्रज्ञात समाधि** में ध्याता भी समाप्त हो जाता है। नितान्त शून्यता की स्थिति होती है।

झंकार, झनकार, गुहार, पुकार और **चहकार** नादात्मक भाववाचक संज्ञा शब्द हैं।

झाँझ या पायल की आवाज़ **झंकार** (झङ्कार) कहलाती है। यह अनुरणना-

त्मक आवाज़ है। जब झींगुर, झिल्ली आदि आवाज़ करते हैं, तब उस आवाज़ को **झनकार** कहते हैं। सहायता के लिए किसी मनुष्य के कण्ठ से निकली हुई आवाज़ **गुहार** कहलाती है। जब सहायता के लिए आर्तस्वर में किसी मनुष्य के कण्ठ से आवाज़ निकलती है, तब वह **पुकार** कहलाती है। अपनी लज्जा की रक्षा के लिए द्रौपदी के कण्ठ से जो आर्तवाणी निकली थी, वह **पुकार** थी।

आनन्दानुभूति के समय यदि किसी चिड़िया के कण्ठ से आवाज़ निकलती है, तो वह **चहकार** कहलाती है।

कुछ लेखक **झंकार**, **झनकार** आदि के प्रयोग में भूल कर जाते हैं। स्मरण रखना चाहिए—

[१] झाँझ की आवाज़ **झंकार** है। [२] झिल्ली की आवाज़ **झनकार** है। [३] मनुष्य की आवाज़ **गुहार** और **पुकार** है। पुकार में स्वर आर्त होता है। [४] चिड़िया की आवाज़ **चहकार** है।

झंकार और **झनकार** में मुख्य अन्तर यह भी है कि **झंकार** निर्जीव वस्तु से निकली हुई ध्वनि है। **झनकार** सजीव प्राणी के मुख की आवज़ है। **झंकार**, **झनकार** और **चहकार** शुद्ध ध्वन्यात्मक हैं; लेकिन **गुहार** और **पुकार** शब्दात्मक हैं। शब्दात्मकता से तात्पर्य है, वह ध्वनिसमष्टि जिसे वर्णगत अर्थात्मक कहा जा सकता है।

अनुभव और **अनुमान** में अन्तर है। हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से कोई भी एक इन्द्री जो ज्ञान प्राप्त करती है, उसके साथ **मन**, अहंकार और **बुद्धि** का योग अवश्य होता है। किसी वस्तु या दृश्य का वह प्राप्त ज्ञान **अनुभव** कहलाता है। हमारी आँखों ने किसी पर्वत को देखा, पर्वत का वह ज्ञान हमारा **अनुभव** कहलाएगा।

जिसका ज्ञान हमारी किसी ज्ञानेन्द्री ने नहीं किया अर्थात् जिसके सम्बन्ध में हमने किसी ग्रन्थ में पढ़ा है, अथवा किसी व्यक्ति से सुना है, उसे हम **अनुमान** कहेंगे। 'स्वर्ग–सुख' के सम्बन्ध में हम केवल ग्रन्थों में पढ़ते है। हमारे नेत्रों ने कभी स्वर्ग को नहीं देखा। अतः 'स्वर्ग–सुख' को हम **'अनुमान'** कहेंगे।

इस तरह ज्ञान के दो प्रधान भेद हैं—(१) **अनुभव ज्ञान** (२) **अनुमान ज्ञान**। इस शब्दार्थ–विवेचन का आधार कपिल का सांख्य दर्शन है। इन्द्रियाँ अपना अनुभव मन को, मन अहंकार को और अहंकार बुद्धि को अर्पित करता है। बुद्धि निर्णय देती है। धुआँ देखकर परोक्षत: समझना कि वहाँ अग्नि होगी—यह भी **अनुमान** है।

उपमान और **प्रतीक** की अवधारणाएँ कुछ दूर तक समानता रखते हुए भी पृथक्–पृथक् हैं। हिन्दी के काव्यशास्त्री पंडितों ने **'उपमान'** और **'प्रतीक'** के सम्बन्ध में अलग–अलग बातें कही हैं। किसी ने 'उपमान' और प्रतीक को एक माना है, किसी ने उनमें कुछ अन्तर माना है।

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार उपमान व्यष्टिपरक है और रूप, गुण और

क्रिया की समता पर आधृत है अर्थात् उपमान का आधार सादृश्य और साधर्म्य है। 'चन्द्रमा' उपमान और 'मुख' उपमेय तभी माना जाएगा, जब दोनों में रूप–गुण–क्रिया–साम्य होगा। 'कमल' उपमान और 'नेत्र' उपमेय तभी माने जाएँगे, जब नेत्र कमल के समान सुन्दर और कान्तिमान् होंगे। "आज कमल कैसे खिल रहा है ?" —यहाँ **'कमल'** उपमान है। उपमेय **'मुख'** लुप्त है।

प्रतीक की व्यंजना बहुत विस्तृत होती है। वह रूप, गुण, क्रिया, प्रभाव आदि के साम्य को लेकर संकेत करता है। जब **कमल** शब्द कोमलता, सुन्दरता, शीतलता, शुद्धता, स्वच्छता, निर्लेपता, विकासशीलता आदि भावों की समष्टिपरक अभिव्यक्ति करेगा, तब **कमल** प्रतीक बन जाएगा। कबीर ने **आत्मा** प्रतीयमान के लिए **नलिनी** प्रतीक का प्रयोग किया है। कबीर का 'सरोवर–पानी' **ब्रह्म** का प्रतीक है। **'प्रतीक'** प्रायः बिना प्रतीयमान के आते हैं। प्रतीकात्मक कविता में प्रतीयमान को बुद्धि से समझना पड़ता है। कबीर ने कहा—

"काहे री **नलिनी** तू कुम्हलानी।
तेरे ही नाल **सरोवर–पानी**॥" —(कबीरदास)

भारतीय काव्यशास्त्र के रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में भी अकेला उपमान ही होता है, वहाँ उपमेय को बुद्धि से समझना होता है। परन्तु वह उपमान व्यष्टिमूलक होता है तथा सादृश्य–साधर्म्य पर ही आधृत होता है। **'प्रतीक'** विस्तृत व्यंजनागर्भी होने के कारण उपमान से बड़ा आयाम रखता है। प्रतीक में प्रभाव–साम्य को कवि द्वारा आरोपित किया जाता है। इसलिए कभी–कभी पाठक कवि द्वारा आरोपित प्रतीक को कविता में पढ़कर भी उसके प्रतीयमान को समझ नहीं पाता; क्योंकि कवि के प्रतीक की व्यंजना का संकेत बहुत लम्बा होता है। विस्तृत आयाम रखता है।

सुमित्रानन्दन पन्त ने धूल में लिपटे हुए छोटे–छोटे बालकों को देखा और कवि के संवेदनशील हृदय से कविता फूट पड़ी। तब कवि की लेखनी ने लिखा—

"धूल की ढेरी में अनजान।
छिपे हैं मेरे मधुमय गान॥" —(सुमित्रानन्दन पन्त)

उपर्युक्त पंक्तियों में 'धूल की ढेरी' प्रतीक है और धूल में लिपटे अबोध 'छोटे बालक' प्रतीयमान हैं। 'मधुमय गान' प्रतीक है और मधुर गीत कविता प्रतीयमान है। व्यंजना की विस्तृति और प्रभाव–साम्य प्रतीक की असली पहचान है।

ग़ालिब के निम्नांकित शेर में **जाम** (प्याला) माशूक का प्रतीक है—

"ग़ैर की महफिल में बोसे **जाम** के;
हम रहें यूं तिश्ना–लब पैग़ाम के।" —(ग़ालिब)

हमारे वैदिक मंत्रों में प्रतीकों के उदाहरण बहुत मिलते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय १/ब्राह्मण ३/२८) में 'अन्धकार' (तमस्) और **'प्रकाश'** (ज्योति) प्रतीक हैं। इनके प्रतीयमान क्रमशः 'अज्ञान' और 'ज्ञान' हैं—

"तमसो मा ज्योतिर्गमय" —(बृहदा० १/३/२८)

मुण्डक उपनिषद् (मुण्डक ३/खण्ड १/मंत्र १) में वर्णित है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें एक पक्षी फल नहीं खाता, दूसरा खाता है। मंत्र में फल न खानेवाला पक्षी **ब्रह्म** है और फल खानेवाला पक्षी **जीव** है। मंत्र के प्रतीयमान **ब्रह्म** और **जीव** पाठक की बुद्धि की पकड़ में सुगमता से नहीं आते। 'संसार' प्रतीयमान है. वृक्ष प्रतीक है—यह सभी जानना कठिन है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" (मुण्डक ३/१/१)

वैदिक ऋषि की मेधा ने संसार में वृक्षत्व और पक्षियों में ब्रह्मत्व–जीवत्व आरोपित कर दिया है। 'प्रतीक' द्वारा 'प्रतीयमान' के लिए संकेत ही मंत्र का सौन्दर्य है।

काल की सन्तानें

काल और **समय** का एक अर्थ नहीं है। **समय** काल का खंड या अंश है। 'समय' के अनेक नाम हैं छोटे–बड़े की दृष्टि से।

काल को तो नहीं नापा जा सकता; हाँ, समय को नापा गया था। समय की सबसे बड़ी इकाई का नाम **कल्प** रखा गया और कल्प का विभाजन **युगों** में किया गया है। 'मनुस्मृति' और 'सूर्यसिद्धान्त' के अनुसार कलियुग की गणना ४३२००० (चार लाख बत्तीस हज़ार) वर्षों की मानी गयी। कलियुग से दूना **द्वापर युग**, तिगुना **त्रेता युग** और चौगुना **कृतयुग** (सत्युग) माना गया। चतुर्युगी के एक हज़ार गुने समय को **कल्प** नाम दिया गया। ४३२०००० (तेतालीस लाख, बीस हज़ार) वर्ष = चतुर्युगी। चतुर्युगी × १००० = १ कल्प। यजुर्वेद में **एकवर्ष** को **'एकयुग'** कहा गया है।

तिथि और **तारीख** एक बात नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार तिथि वह समय है, जब चन्द्रमा अस्त होता है और फिर उदय होता है। **तारीख** रात्रि के १२ बजे से रात्रि के दूसरे १२ बजे तक मानी जाती है। एक सूर्योदय दूसरे सूर्योदय तक के समय को **दिन** कहते हैं। एक पूर्णिमा से दूसरी पूर्णिमा तक का समय **महीना (मास)** कहलाता है। एक वर्षा से दूसरी वर्षा तक की अवधि का नाम **वर्ष** है। अब **वर्ष** की अवधारणा बारह महीनों के योग में समाविष्ट हो गयी है।

धरती अपनी धुरी पर एक चक्कर जितने समय में पूरा कर लेती है, वह समय १ **दिन** कहाता है। जितने समय में धरती सूर्य का एक चक्कर पूरा कर लेती है, वह समय **एक वर्ष** कहाता है।

जितने समय में चन्द्रमा धरती की एक परिक्रमा पूरी कर लेता है, वह समय **एक महीना** कहलाता है। एक महीने में तीस तिथियाँ होती हैं। एक चक्कर पूरा करने में चन्द्रमा ३६० अंश की यात्रा तय करता है। चन्द्रमा एक तिथि से दूसरी

तिथि तक १२ अंश खिसकता है। इस तरह एक महीने में ३० तिथियाँ हुईं। तिथि का विभाजन **घड़ी, पल, विपल,** आदि में होता है। **मास** (महीना) का विभाजन **पक्ष** (पाख), **सप्ताह, वार** आदि में किया जाता है।

संस्कृत भाषा का **वि** उपसर्ग दो अर्थ रखता है—(१) **वि**=विशेषता सूचक (२) **वि**=निषेध सूचक।

'**विनाश**' में वि–विशेषतासूचक है। **वियोग** में वि निषेधसूचक है।

सामान्यत: काल तीन माने जाते हैं—(१) भूतकाल (२) वर्तमानकाल (३) भविष्यत्काल। इन तीनों कालों को सूचित करनेवाले अन्य शब्द भी साहित्य में प्रयुक्त होते हैं—

(१) भूत (=हुआ)	(२) भवत् (=हो रहा)	(३) भव्य (=होगा), भविष्यत्।
(२) गत	(२) आगत, आगच्छत्	(३) अनागत, आगमिष्यत्।
(३) इत, एत	(३) आइत	(३) इत्य, एष्यत्, अनेत।

भूतकाल में दो भेद हैं—(१) अदूर भूत (२) दूरभूत। **अदूरभूत**=गत, व्यतीत (वि+अति+इत) [व्यतीत=जो अतीत नहीं है।] **दूरभूत**=विगत, अतीत (अति+इत)

सारांश यह कि 'व्यतीतकाल' से 'अतीतकाल' दूर है। व्यतीत (वि+अतीत) का **वि** उपसर्ग निषेधसूचक है।

कालिदासकृत 'रघुवंश' के वरतन्तु–शिष्य कौत्सु ब्रह्मचारी ने राजा रघु से कहा, "राजन्! मैं व्यतीतकाल में आपके पास आया।"

सारांश यह कि राजा रघु को सन्यास लिये कुछ ही समय बीता था। **व्यतीतकाल**=निकटभूतकाल।

"**व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेत:**"— (कालिदास, रघु० सर्ग ५/१४)

'**अतीत**' (दूरगामी भूतकाल) का प्रयोग भट्टिकाव्य में किया गया है—

"**अतीते** वर्षके काले"—(भट्टिकाव्य, ७/१८)

प्रलय की घटना से बहुत समय पहले मनु का जीवन बहुत सुखमय था। प्रलय काल में उसकी याद करते हुए मनु कहते हैं--

"चिन्ता करता हूँ मैं जितनी उस **अतीत** की, उस सुख की।"
—(प्रसाद, कामायनी, चिन्ता सर्ग)

काव्यशास्त्र एवं भाषाशास्त्र के कुछ पारिभाषिक शब्दों के अर्थ

काव्यशास्त्र में **साधारणीकरण, मानवीकरण** और **सूक्ष्मीकरण** शब्दों का प्रयोग होता है। 'सामान्य' या 'मामूली' के अर्थ में '**साधारण**' शब्द का प्रयोग होता है।

फिर 'साधारणी' शब्द का क्या अर्थ है ?

संस्कृत व्याकरण में एक प्रत्यय 'च्वि' है, जो अकारान्त शब्द को ईकारान्त कर देता है। ऐसा परिवर्तन √कृ और √भू धातु से निर्मित शब्दों के पहले होता है।

असाधारण को साधारण करना '**साधारणीकरण**' कहलाता है। 'अमानव' को मानव करना '**मानवीकरण**' कहलाता है। 'मानवीकरण' में पूर्वांश 'मानवी' स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द नहीं है।

रसप्रक्रिया में 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त बहुत व्यापक सिद्धान्त है। '**मानवीकरण**' एक अलंकार है, जिसमें जो मानव रूप नहीं है, उसे मानव रूप दे दिया जाता है। जैसे—

"ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व वन की व्याली"

—(कामायनी, चिन्ता सर्ग)

जब कविता में स्थूल उपमान के स्थान पर सूक्ष्म उपमान या प्रतीक ग्रहण किये जाने लगे, तब उसे '**सूक्ष्मीकरण**' नाम दिया गया। ऐसी प्रस्तुति छायावादी कवियों के काव्यों में अधिक पायी जाती है। डा० नगेन्द्र ने इसे ही 'स्थूल' से सूक्ष्म का विद्रोह कहा था।

पहले हिन्दी कवियों के काव्य में मुख, नेत्र, हाथ आदि उपमेयों के लिए '**कमल**' उपमान प्रस्तुत किया जाता था। तुलसीदास जी ने श्रीराम के अंगों को '**कंज**' की उपमा दी है—

'नवकंज लोचन, कंज–मुख, कर–कंज, पद–कंजारुनं।"

—(विनयपत्रिका, पद ४५)

उपर्युक्त पंक्ति में उपमेय और उपमान–दोनों ही स्थूल हैं। अब 'प्रसाद' जी की 'किरण' शीर्षक कविता की पंक्ति में उपमेय उपमान देखिए—

"धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश्य, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।"

—(**प्रसाद**)

उपर्युक्त पंक्ति में **किरण** उपमेय है और **प्रार्थना** उपमान है, जो सूक्ष्म है। यही अलंकार–विधान में '**सूक्ष्मीकरण**' है।

स्वरीभवम और **विशेषीकरण** भाषाशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। प्राकृत–भाषा में अस्वर का परिवर्तन स्वर में हुआ है। वह प्रक्रिया '**स्वरीभवन**' कहलाती है। संस्कृत के अनेक शब्दों का प्राकृत की अवस्था में 'स्वरीभवन' हुआ है। जैसे—

संस्कृत	**प्राकृत**	**हिन्दी की बोलियाँ**	**अर्थ**
कटुक	कडुअ	कडुआ	=कड़वा
गंधिक	गंधिअ	गंधी	=गंधयुक्त
पितृगृह	पिइहर	पीहर	=पिता का घर

गलक गलअ गला = कंठ

संस्कृत शब्द **'कटुक'** के अन्तिम **'क'** अक्षर में क + अ का संयोग है। प्राकृत में केवल **'अ'** स्वर रह गया। यही **स्वरीभवन** है। सं० **कटुक** > प्रा० **कडुअ**।

'अविशेष' को 'विशेष' बनाना **विशेषीकरण** कहलाता है। हिन्दी भाषा में कहीं–कहीं **को** परसर्ग विशेषीकरण कर देता है।

(१) **'को'** परसर्ग सहित वाक्य––

"नेवला साँप मारता है।"

यहाँ नेवले द्वारा साँप के मारे जाने का सामान्य कथन है।

(२) **'को'** परसर्ग सहित वाक्य––

"नेवला **साँप को** मारता है।"

उपर्युक्त वाक्य में **'साँप को'** के कर्मकारकीय परसर्ग 'को' ने बताया है कि नेवले ने किसी विशेष साँप को मारा है। यही **'विशेषीकरण'** का सिद्धान्त है।

भारतीय व्याकरणानुसार पद और पाश्चात्य भाषाविज्ञाना–नुसार रूपिम एवं वर्णिम

आधुनिक भाषाविज्ञान में **रूपिम** और **वर्णिम** विशिष्ट अर्थ रखते हैं। रूप–अर्थयुक्त भाषा की लघुतम इकाई का नाम **रूपिम** है। **'कटवाऊँगा'** हिन्दी का क्रिया-पद है। इसमें ५ रूपिम हैं– (१) **कट** (२) **वा** (३) **ऊँ** (४) **ग्** (५) **आ**। इसमें वचन, लिंग, पुरुष, काल, वृत्ति और वाच्य की सूचना संनिहित है।

"चूना **पिसता** है" में **पिसता** में तीन रूपिम हैं—(१) **पिस** [इसमें चूर्णी-भवन का अर्थ है।] (२) **त्** [इससे क्रिया की अवस्था प्रकट है।] (३) **आ** [पुंलिंग एक वचन–सूचक तत्त्व]।

'कट' = क् + अ + ट् + अ—ये चार वर्णिम हैं।

'पिस' = प् + इ + स् + अ—ये चार वर्णिम हैं।

'लड़कों' में रूपिम—(१) लड़क् (२)—**ओं** [दो रूपिम]

'लड़की' में रूपिम (१) लड़क् (२)—ई [दो रूपिम]

स्वानिमिकी के आधार पर वर्णिम को **स्वनिम** (ध्वनिग्राम) भी कहा जा सकता है।

प्राचीन ग्रन्थों में दो शब्द : 'मन' और 'चित्त'

कठ उपनिषद् (वल्ली ३/मंत्र ३) के अनुसार **'चित्त'** का अस्तित्व ही नहीं है। कठ के अनुसार **आत्मा** रथी है, **बुद्धि** सारथि है, **मन** लगाम है और **इन्द्रियाँ** घोड़े हैं।

महाभारत (सातव० शान्तिपर्व, अ० २६७/१६) में **चित** का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। महाभारत में कहा गया है कि पंच ज्ञानेन्द्रियों से श्रेष्ठ **चित्त** है। चित्त से श्रेष्ठ **मन** है। मन से श्रेष्ठ **बुद्धि** है और बुद्धि से श्रेष्ठ **आत्मा** है।

महाभारत (संपा० सातवलेकर) के स्त्रीपर्व (अ० ७/१३) में शरीर को रथ और आत्मतत्त्व को सारथि बताया गया है। इन्द्रियों को घोड़े और कर्म तथा बुद्धि को रासें बताया गया है। चित्त का उल्लेख वहाँ नहीं है।

गीता (अ० ६/१८, अ० ६/२०, अ० १२/६) में **'चित्त'** शब्द **'मन'** के अर्थ में ही प्रयुक्त है।

अद्वैतवेदान्त वादिनी 'अष्टावक्र गीता' में राजा जनक के प्रश्नों का उत्तर देते हुए जब अष्टावक्र अद्वैत ब्रह्म का **प्रतिपादन** करते हैं, तब वहाँ भी **चित्त** शब्द का प्रयोग **'मन'** के अर्थ में ही है।

वेदान्त में अन्तःकरण चतुष्टय के अन्तर्गत **चित्त** को मन से भिन्न माना गया है और सबलता–उत्तमता के क्रम में **मन, बुद्धि, चित्त** और **अहंकार** का अस्तित्व स्वीकृत है।

जायसी ने **मन** और **चित्त** को अलग–अलग माना है—

"**मन चित** हुतें न बिसरै मोरें"—(पदमावत, नागमती–सन्देश खंड ३१/४)

वेदान्त दर्शन अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) के अन्तर्गत **चित्त** का अस्तित्व स्वीकारता है। उसी का अनुगमन तुलसीदास जी भी करते हैं और **मन** को चन्द्रमा, **बुद्धि** को ब्रह्मा, **चित्त** को विष्णु और **अहंकार** को शिव बतलाते हैं—

"अहंकार शिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥"

—(मानस, लंका० १५ (क)/–)

तुलसीदास जी मानते हैं कि जिस तरह मनुष्य शरीर में **मन, बुद्धि, चित्त** और **अहंकार** वास करते हैं, उसी प्रकार भगवान् राम में **ब्रह्मा**, विष्णु, महेश और चन्द्रमा का वास है। तुलसी के श्रीराम ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी ऊपर अनन्त शक्ति स्वरूप हैं तथा चर-अचर के स्वामी हैं। वे त्रिदेवाधिपति हैं।

विष्णु को चित्त का उपमान प्रस्तुत करके तुलसी ने सिद्ध किया है कि **चित्त** बुद्धि से ऊपर है। बुद्धि के निर्णय पर चित्त अपनी मोहर लगाता है; तभी विचार कर्म में बदलता है।

योगदर्शन में चित्त की वृत्ति के निरोध को 'योग' बताया गया है— "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"। इससे ऐसा लगता है कि पतंजलि के मतानुसार **चित्त** वास्तव में **मन** का ही पर्याय है।

√चित् धातु से बने हुए **चेतस्** और **चित्त** दो शब्द हैं। 'चेतस्' का अर्थ

'मन' है। कालिदास ने 'कुमारसंभव' में 'मन' के अर्थ में 'चेतस्' शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है कि विकार पैदा करनेवाली वस्तुओं के बीच रहकर भी जिन व्यक्तियों के मन विकारग्रस्त नहीं होते वे ही 'धीर' कहलाते हैं। कालिदास ने **मन** के अर्थ में ही 'चेतांसि' का प्रयोग किया है—

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न **चेतांसि** त एवधीराः।"

—(कालिदास, कुमारसंभव, सर्ग १/५९)

कश्मीरी शैवदर्शन के अनुसार चित्त की एक अवस्था का नाम **मन** है। विकल्पों से भरा हुआ चित्त ही **मन** कहलाता है। मन कल्पनाओं का जाल बुनता रहता है। मन का कल्पना-जाल **विकल्प** कहलाता है। विकल्पों से रहित स्थिति **निर्विकल्प** कहलाती है। निर्विकल्प मन का एक नाम **चित्त** भी है। 'चित्त' मन से कोई अलग वस्तु नहीं। चित्त अर्थात् निर्विकल्प मन। योगवासिष्ठ में कहा गया है— "संकल्पविकल्पात्मकं मनः"।

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा (अन्तरात्मा)—ये चार तत्त्व ही प्रमुख हैं। कश्मीरी शैवदर्शन ऐसा मानता है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि इन्द्रियों से ऊपर **मन**, मन से ऊपर **बुद्धि** और बुद्धि से ऊपर **आत्मा** है। आत्मा से ऊपर पर-मात्मा है।

विषयलिप्त इन्द्रियों का अनुगामी मन संसार में फँसता चला जाता है। यदि मन बुद्धि की ओर और बुद्धि आत्मा की ओर यात्रा करती है, तो मन 'अमन' अर्थात् निर्विकल्प हो जाता है। इसीलिए कहा है—"मनएव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"।

संकल्प और **विकल्प** की भेदक रेखाएँ समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी बुद्धि कमर कसकर खड़ी हो जाए और कर्तव्य-अकर्तव्य के भँवरों में पड़े हुए मन को धक्का देकर उसे कर्तव्य कर्म करने के लिए पक्का बना दे। 'संकल्प' का अर्थ है 'सत्संकल्प'। 'संकल्प' सत्कर्म-पथ पर दृढ़ता से चलने के लिए ही किया जाता है। 'संकल्प' शब्द के पहले 'सत्' विशेषण न भी लगाया जाए, तो भी '**संकल्प**' का अर्थ 'सत्संकल्प' ही लिया जाता है। सद्विचार की ध्रुव प्रतिज्ञा का नाम **संकल्प** है। 'संकल्प' की शक्ति में शिवत्व की ऊर्जा सहज रूप से समाविष्ट रहती है, इसी-लिए यजुर्वेद के ऋषि ने कहा था—

"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" —(यजु० अ० ३४/मंत्र ६)।

वेद में एक **मंत्र** आया है। उसमें कहा गया है कि तुम सबका मन समान हो। इन सबका चित्त समान हो—

"समानं मनः सहचित्तमेषाम्।"

यजुर्वेद (अ० ३४/मंत्र ६) में मन को हृदय में स्थित बताया गया है— "हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः संकल्पमस्तु"—(यजु० अ० ३४/६)

ऋग्वेद के ऋषि ने **हृदय** और **मन** में यह अन्तर बताया है कि हृदय वह

स्थल है, जहाँ रस निवास करता है और मन वह स्थल है, जहाँ बल निवास करता है। 'बल' से तात्पर्य है, निर्णयात्मक बल।

"हृदातष्ठेषु मनसो जवेषु" —(ऋक्० १०/७१/८)

उपर्युक्त मंत्र में **'मनस्'** शब्द का प्रयोग **'बुद्धि'** के अर्थ में किया गया है। संस्कृत में मनस् प्रातिपदिक है; लेकिन हिन्दी में **मन** प्रातिपदिक है। संस्कृत में **मनोहर** शुद्ध है; हिन्दी में **मनहर** भी शुद्ध है। कवित्त या घनाक्षरी छन्द को **मनहरण** छन्द भी कहते हैं। यह अक्षरात्मक छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में १६, १५ अक्षरों पर यति के साथ ३१ अक्षर होते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में सनत्कुमार ने नारद को बताया है कि वाणी से **मन** बड़ा है। मन से **संकल्प** बड़ा है। संकल्प से **चित्त** बड़ा है। चित्त से **ध्यान** बड़ा है। और ध्यान से **विज्ञान** बड़ा है। विज्ञान में ही भूमा भाव जागता है—

"यो वै भूमा तत्सुखम्"—(छान्दो० ७/२३/१)

छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि के मतानुसार **मन** और **चित्त** को अलग-अलग माना गया है।

छान्दोग्य उपनिषद् के आलोक में कहा जा सकता है कि इन्द्रियों से आत्मा तक की यात्रा में **मन** और **चित्त** नाम के दो अलग-अलग पड़ाव हैं।

परमहंस श्री योगानन्द ने अपनी 'आत्मकथा' लिखी है, जिसका नाम है 'योगी कथामृत'। सन् १९७४ ई० में जैको पब्लिशिंग हाउस, १२५-महात्मा गांधी रोड, फोर्ट, बम्बई-१ से प्रकाशित हुई। उसके पृष्ठ ३२८ पर पाद टिप्पणी में श्री योगानन्द ने पातंजल योगदर्शन के सूत्र "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (योगसूत्र, १/२) में आये हुए **'चित्तवृत्ति'** शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

"**चित्त** चिन्तन शक्ति का सूचक है, जिसमें प्राण-शक्ति-समूह, मानस सत्ता (मन या इन्द्रिय चैतन्य), अहंकार और बुद्धि का समावेश है। **वृत्ति** मनुष्य के चैतन्य में अनवरत उठने और बुझनेवाले विचारों और उद्वेगों की सूचक है। **निरोध** का अर्थ है निष्क्रिय करना, नियन्त्रित करना, रोक देना।"

उपर्युक्त व्याख्या में **मन** और **चित्त** का अस्तित्व अलग-अलग माना गया है।

न्यायदर्शन में महर्षि गौतम का मत है कि मन के माध्यम से आत्मा शरीर में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध है। मन एक ओर आत्मा से सम्बद्ध है और दूसरी ओर ज्ञानेन्द्रियों से सम्बद्ध है। एक समय में मन एक ही ज्ञानेन्द्रिय से सम्बद्ध रहता है। जब मन नेत्रों से सम्बद्ध रहता है, तभी हम उस वस्तु को देख पाते हैं। मन का ज्ञानेन्द्रियों से संयोग ही ज्ञान का कारण है।

महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन में कहना है कि सुषुप्ति में मन शरीर की बहत्तर हजार नाड़ियों से हटकर सुषुम्णा में जाकर सो जाता है। अतः सुषुप्ति अवस्था में हमें कोई ज्ञान नहीं रहता। वास्तव में मन शरीर तथा इन्द्रियों में आत्मा के

चैतन्य का संचार करता है ।

अद्वैतवेदान्त में संकल्प आदि वृत्तियों का आश्रय मन है । उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि न्यायदर्शन, वैशेषिक दर्शन और अद्वैतवेदान्त दर्शन मन का अस्तित्व मानते हैं, चित्त का नहीं ।

यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक मंत्रों के अनुसार हृदय, **मन**, और **चित्त** की अवधारणाएँ अलग–अलग हैं । और मन की स्थिति हृदय में है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि विचार की तरंगें भाव के सागर में उठती हैं । अर्थात् बुद्धि की सीप हृदय के समुद्र में रहती है । सारांश यह कि विचार (बुद्धि) का अंकुर भाव की भूमि में उगता है । तुलसीदास का भी यही मत है—

"हृदय सिंधु मति सीप समाना" —(मानस, बाल॰ ११/८)

मन बन्धन का कारण तब बनता है, जब वह '**धारा भाव**' में बहता है । मन मोक्ष का कारण तब बनता है, जब वह '**राधा भाव**' में बहता है ।**धारा–भाव** का उल्टा **राधा-भाव** है ।

आत्मा जब बुद्धि की ओर, बुद्धि मन की ओर और मन विषयासक्त इन्द्रियों की ओर **बहता** है, तब वह **धारा–भाव** कहलाता है ।

इन्द्रियाँ जब मन की ओर, मन बुद्धि की ओर, बुद्धि आत्मा की ओर और आत्मा परमात्मा की ओर प्रवाहित होती है, तब उसे **राधा–भाव** कहते हैं । **धारा–भाव** उलटकर ही तो **राधा–भाव** बनता है । मन राधा–भाव में डूबा नहीं, कि मनुष्य को मोक्ष मिला नहीं । **मोक्ष**=सांसारिक बन्धनों से छुटकारा । जीवित अवस्था में भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।

महाभारत (सातव॰ शान्तिपर्व अ॰ १९७/११) में कहा गया है कि शुद्ध चेतन आत्मा से ज्ञान का जन्म होता है । ज्ञान से बुद्धि का और बुद्धि से मन का जन्म होता है । मन इन्द्रियों के माध्यम से विषयों का अनुभव कराता है । महाभारत के इस श्लोक में **चित्त** का अस्तित्व ही नहीं है । गीता (अ॰ ३/४२) में भी **चित्त** की स्वीकृति नहीं है ।

सारांश यह कि प्राचीन ग्रन्थों में **चित्त** की अवधारणा स्पष्ट नहीं है । अधि–संख्यक ग्रन्थों में **मन–चित्त** परस्पर पर्याय हैं । अथवा निर्विकल्प मन को **चित्त** कह दिया गया है ।

बरसा (सं॰ वर्षा), **बरसात** और **बरसाइत** शब्दों के अर्थ हिन्दी के पाठक को अच्छी तरह समझ लेने चाहिए ।

"कल रात अच्छी **बरसात** हुई"—इस वाक्य में '**बरसात**' का प्रयोग ठीक नहीं है । हमें लिखना चाहिए—"कल रात अच्छी **बरसा** (वर्षा) हुई ।"

बादलों से कुछ देर जो पानी बरसता है, उसे **वर्षा** कहते हैं । **बरसात** तो वर्षावाले दिनों की एक कालावधि है, जो असाढ़ से आश्विन (क्वार) तक मानी जाती है । **बरसात** एक मौसम है ।

कुछ हिन्दी-लेखक **वर्षा** और **बरसात** के प्रयोगों में भूल कर जाते हैं। वे 'वर्षा' के स्थान पर 'बरसात' का प्रयोग कर जाते हैं।

'**बरसाइत**' एक दम भिन्न अर्थ रखता है। यह संस्कृत और अरबी से बना हुआ संकर शब्द है—सं० वर+अर० साअत=बरसाअत>बरसाइत=शुभ मुहूर्त। '**षट्सावित्री**' से भी 'बरसाइत' का सम्बन्ध कुछ मनुष्य जोड़ते हैं। अर० साअत= हि० + साइत। कबीर-पंथियों में कबीर के जन्म के विषय में एक उक्ति प्रचलित है—

"जेठ सुदी **बरसाइत** को पूरनमासी प्रगट भए।"

बरसात के चार मास (चार महीने) बहुत प्रसिद्ध हैं—(१) **असाढ़** (सं० आषाढ) (२) **सावन** (सं० श्रावण) (३) **भादों** (सं० भाद्रपद) (४) **क्वार** या **असौज** (सं० आश्विन)। इन चारों महीनों का समाहार-काल-**चौमासा** (सं० चतुर्मास) कहलाता है। इन चार महीनों की वर्षा **चौमासी वर्षा** कही जाती है। **चौमासी वर्षा** =सं० **चातुर्मासी वर्षा**।

जाड़ों के दिनों की वर्षा को **महावट** या **माहौट** (सं० माघवृष्टि) कहते हैं। पछाँही हिन्दी में जिसे माहौट कहते हैं, उसे ही पूरबी हिन्दी में **महवट** या **माहुट** कहते हैं। **माँहुट** का प्रयोग जायसी ने अपने काव्य ग्रन्थ 'पदमावत' में किया है। राजा रत्नसेन के वियोग में उसकी रानी नागमती की विरह-दशा का वर्णन करते हुए जायसी लिखते हैं—

"नैन चुवहिं जस **माँहुट** नीरू।" —(पदमावत ३५१/५)

जटाजूटक और **जाटजूटक** में अर्थ का सूक्ष्म अन्तर है। (१) **जटाजूटक**= जटा का जूड़ा। (२) **जाटजूटक**=जटा-समूह का जूड़ा। 'वन' का समूह **वान** कहलाता है। जिस आश्रम के ग्रहण करने पर मनुष्य वन-समूह में निवास करता है, उसे **वानप्रस्थ** कहते हैं। **वन**=एक वन। **वान**=वनों का समूह। **जटा**=एक जटा। **जाट**=जटा-समूह। **जाटजूटक**=जटा-समूह का जूड़ा।

जूड़ा हिन्दी का तद्भव शब्द है। सं० **जूटक**>प्रा० **जूडअ**>**जूड़ा**। '**जूड़ा**' शब्द के अर्थ में हिन्दी की जनपदीय भाषा अवधी में **खोंपा** शब्द प्रचलित था। जयसी ने 'पदमावत' में इसका प्रयोग किया है। इसे तमिल में '**कुप्पु**' कहते हैं। अतः **खोंपा** देशी शब्द है। तमिल भाषा का '**कुप्पु**' हिन्दी भाषा में पहुंचकर **खोंपा** हो गया। संस्कृत में 'खोंपा' के लिए **धम्मिल्ल** शब्द है। 'अमरकोश' में बँधे हुए बालों को **धम्मिल्ल** (२/६/९७) कहा गया है।

जायसी लिखते हैं—

"सरवर तीर पदुमिनीं आईं। **खोंपा** छोरि केस मुकराईं।।"
—(जायसी, मानसरोदक खंड ६१/१)

सामान्यतया साधु लोग अपनी जटाओं का जूड़ा सिर पर बाँधते हैं। शंकर का जूड़ा भी सिर के ऊपर रहता है। रावणोक्त शिवताण्डव स्तोत्र में शंकर का स्वरूप-वर्णन इस प्रकार है—

"भुजंगराजमालया निबद्धजाटजूटकः"

—(शिवताण्डव स्तोत्र, श्लोक ५)

वानप्रस्थ=बनसमूह में स्थित। इसी तरह **जाटजूटक**=जटा-समूह का जूड़ा। ब्रज की नारियाँ सिर के बालों का जूड़ा पीछे की ओर बनाती हैं, लेकिन रोहतक-हिसार की जाट स्त्रियाँ बालों का जूड़ा सिर के ऊपर मध्य भाग में बनाती हैं। शंकरजी का **जाटजूटक** भी जाटनियों के जूड़े से मेल खाता है।

संगीत के आकाश में चार शब्द सुनायी दे सकते हैं—(१) **लय** (२) **गति** (३) **ताल** (४) **सम**।

संगीत के स्वर की चाल अथवा कविता के एक चरण के पठन की एक निश्चित चाल **गति** कहलाती है। गति-समष्टि का नाम **लय** है। गायन के समय कण्ठ-ध्वनि एक विशेष ढँग से गतिमान् होती है, वही **लय** है। लय के रथ पर छन्द चलता है।

लय को सौन्दर्य प्रदान करने के लिए नियत समय पर मात्राओं का ध्यान रखते हुए तबला आदि पर हाथों से चोट मारकर जो ध्वनि पैदा की जाती है, **ताल** कहलाती है। गायन में एक ऐसा स्थल आता है, जब तबले में थाप मारी जाती है। वह थाप-ध्वनि ही **ताल** है; लेकिन वह गायन-स्थल **सम** कहलाता है। 'ताल' और 'सम' का उसी प्रकार साथ है, जो साथ 'चोली' और 'दामन' का है।

'सम' पर 'ताल' लगने से संगीत का सौन्दर्य बहुत बढ़ जाता है। '**नृत्त**' की परिभाषा में आचार्य भरतमुनि ने कहा—"नृत्तंताललयाश्रयम्"।

जीवन के संगीत में प्रिय का मिलन सम पर ताल के समान है। प्रसाद जी ने ऐसा संकेत किया है।

एक पद की प्रथम पंक्ति है—

"मत जइयो राधे जमुना के **तीर**"—इसमें **तीर** पर 'सम' है। इसी स्थल पर ('**तीर**' पर) **ताल** लगायी जाएगी।

'सम' पर 'ताल' लगते ही 'सम' की कान्ति मधुर ज्योत्स्ना बन जाएगी।

दोनों हथेलियों के संयोग से भी **ताल** ली जाती है। भवभूति की सीता जी मोर को ताली बजाकर नचाया करती थीं—

"करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानं सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि।" —(उत्तर राम० अंक ३/१९)

(सं० **ताल**=कर-संघट्टनजातध्वनि)।

पात, अतिपात, उत्पात, निपात और **प्रणिपात** भाववाची संज्ञा शब्द √पत् (=गिरना) धातु से निर्मित हैं; लेकिन विभिन्न उपसर्गों के कारण अर्थ-भेद रखते हैं।

पात (√पत्+घञ्) का अर्थ है गिरना अर्थात् ऊपर से नीचे आना। '**अश्रु-पात**' और '**गर्भ-पात**' शब्दों में '**पात**' शब्द ही प्रमुख है। **अश्रु-पात**=

आँसुओं का गिरना । गर्भ-पात = गर्भ का गिरना ।

अतिपात = व्यतीत होना, नष्ट होना । समय नष्ट होने के अर्थ में **कालातिपात** शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

उत्पात = विपत्सूचक घटना जैसे भूकम्प आदि ।

निपात = निरन्तर गिरना । कालिदासकृत 'कुमारसम्भव' के पार्वती-प्रसंग में और प्रसादकृत 'कामायनी' में निरन्तर गिरने के अर्थ में **निपात** शब्द का प्रयोग हुआ है—

"पयोधरोत्सेध**निपात** चूर्णिताः······प्रथमोदविन्दवः"

—(कुमार० ५/२४)

× × ×

"शंपाओं के शकल-**निपात**" --(कामायनी, सर्ग चिन्ता)

प्रणिपात = (प्र + निपात) = विनम्रता, प्रणाम ।

'निपात' में '**प्र**' उपसर्ग के योग ने निपात के अर्थ में विशिष्ट कोमलता का भाव भर दिया है । 'न्' के पहले 'र्' है, अतः 'न्' का परिवर्तन 'ण्' में हो गया है । 'प्रनिपात' का 'प्रणिपात' हो गया ।

गीता (अ० ४/३४) में कहा गया है कि ज्ञान प्राप्ति के मुख्य साधन तीन हैं—(१) विनय (२) श्रद्धापूर्वक पूछते रहना (३) ज्ञानदाता की सेवा करना । विनय या प्रणाम के अर्थ में गीता में **प्रणिपात** का प्रयोग हुआ है । श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

"तद् विद्धि **प्रणिपातेन** परिप्रश्नेन सेवया" —(गीता ४/३४)

संस्कृत के तीन शब्द हैं—(१) **वसन** (२) **वासन** (३) **वासना** । तीनों शब्दों के मूल में √वस् धातु है ।

(१) √वस् + ल्युट् = **वसन** अर्थात् वस्त्र ।

(२) √वस् + णिच् + ल्युट् = **वासन** अर्थात् बर्तन ।

(३) √वस् + णिच् + ल्युट् + टाप् = **वासना** अर्थात् संस्कार ।

कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का राजा दुष्यन्त शकुन्तला को मैले कपड़ों में देखकर कहता है—

"**वसने** परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।"

—(अभिज्ञानशाकु०, अंक ७/श्लोक २१)

तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' के कोल-किरात श्रीराम से कहते हैं, "प्रभो ! हम जिसके बर्तन-कपड़े न चुरावें, उसके प्रति हमारी बहुत बड़ी सेवा समझी जाती है"—

"यह हमारि अति बड़ि सेवकाई । लेहिं न **बासन बसन** चोराई ।।"

—(मानस, अयो०, २५१/३)

वासना शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) **मिथ्या संस्कार** (२) **संस्कार** (अच्छे या बुरे) ।

मिथ्या संस्कार से तात्पर्य है दूषित कामवृत्ति। मिथ्या संस्कारी व्यक्ति अच्छा नहीं माना जाता। वह अधिक कामी, अधिक क्रोधी या अधिक लोभी होता है।

वासना का द्वितीय अर्थ है ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अनुभव जनित संस्कार जो द्रष्टा के मन के तल में बस जाते हैं; कभी हटते नहीं। वे अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी।

कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति ने काष्ठ के एक पात्र में लहसन की चटनी, रख दी। दूसरे एक पात्र में शहद रख दिया। तीसरे काष्ठ–पात्र में चन्दन पीसकर रख दिया। कुछ घंटों के बाद उन तीनों काष्ठ–पात्रों की वस्तुओं को उन पात्रों में से निकाल लिया। वस्तुओं के निकल जाने के बाद भी पहले पात्र में लहसन की गंध, दूसरे पात्र में शहद की गंध और तीसरे पात्र में चन्दन की गन्ध शेष रहेगी। वह गंध बहुत दिनों तक बनी रहेगी। गंध की तरह ही **वासना** के स्वरूप को समझना चाहिए। मानव–मन में सात्विक, राजस और तामस वासनाएँ दीर्घकाल तक निवास करती हैं। वासनाओं से भी **विचार** बनते हैं और विचारों के अनुसार ही मनुष्य कर्म करता है।

संस्कृत शब्द **वास** और **वासना** में धातु √वस् है, जिसका अर्थ है 'रहना'। **वास** (निवास) का अर्थ है रहना या रहने का स्थान। **वासना** का अर्थ है जो रहती है। वासना मनुष्य के मन में ही नहीं, पशु–पक्षी के मन में भी रहती है। भामिनी विलास, (४/१७) में कहा गया है—"महती **वासना** चातकेषु" (भामिनी विलास, ४/१७)।

'वासना' मन में रहती है, लेकिन मन को पता नहीं चलता। सत् वासना से मनुष्य अच्छे कर्म करता है और असत् वासना से बुरे कर्म करता है। हींग के बटुए में हींग न भी रहे, तब भी उस बटुए में से हींग की गन्ध आती रहती है। बटुए में हींग की वास के समान ही मन में वासना रहती है। ज्ञानेन्द्रियों का आलम्बन हट जाने पर वह आलम्बन मन पर एक अज्ञात प्रभाव छोड़ जाता है, वह प्रभाव ही **वासना** है।

एक घर **वास** है, तो आबादघरों का समूह हिन्दी में **बस्ती** कहलाता है। संस्कृत का **वसती** शब्द ही हिन्दी में **बस्ती** बोला जाने लगा और संस्कृत शब्द **वसती** के अर्थ में विस्तार हो गया।

अतः **बसन**, **वासन**, **वासना**, **वास**, और **वसती** शब्द धातु √वस् की ही परिक्रमा करते हैं। **वसन** और **वासस्** का एक ही अर्थ है अर्थात् वस्त्र। गीता में श्री कृष्ण अर्जुन को देह और **देही** (आत्मा) के सम्बन्ध में बतलाते हैं—

"**वासांसि** जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।" —(गीता, २/२२)

स्मृति, **स्मरण**, **संस्मृति** और **संस्मरण** शब्द ऐसे भाववाचक संज्ञा शब्द हैं,

जो √स्मृ धातु से निर्मित हैं।

स्मृति (√स्मृ + क्तिन्) याद रखने की एक मानसिक शक्ति का नाम है और **स्मरण** (स्मृ + ल्युट्) याद रखने की एक क्रिया है। स्मरण का आधार 'स्मृति' है।

भूतकाल में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो अनुभूति होती है, उसका पुनः जाग्रत् होना 'स्मृति' है। पूर्वानुभूत दुःख या सुख की पुनः याद 'स्मृति' है। 'स्मृति' तीन प्रकार से उत्पन्न होती है—(१) साहचर्य से। (२) समता से (३) विषमता से।

चौदह वर्ष के वनवास में सीता जी दण्डकारण्य में श्रीराम के साथ थीं। वहाँ वह एक मोर को हाथों से ताली बजाकर नचाया करती थीं। वर्षों बाद जब श्रीराम शम्बूक का वध करने के लिए उस दण्डकाराण्य में पहुँचे और वहाँ उस मोर को देखा, तब श्रीराम को सीता जी की स्मृति हो आयी थी। वह स्मृति **साहचर्य** के आधार पर थी। भवभूति के श्रीराम कहते हैं—

"भ्रमिषु कृतपुरान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः
प्रचलितचटुलभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानं
सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि॥

--(उत्तरराम० अंक ३/१९)

प्रसाद के 'आँसू' काव्य में प्रेमी को सुदिन के प्रेमास्पद की याद दुर्दिन में आयी है। इस स्मृति का आधार **विषमता** है---

"जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई॥"

—(आँसू से)

किसी कवि ने लिखा है—

"अर्कन-जवासन की सूखी डार देखि-देखि,
हाय वे हरे-हरे तमाल सुधि आवै हैं।"

यह 'स्मृति' भी **विषमता** (विरोध) पर आधृत है। रीतिकालीन कवि बिहारी ने एक दोहा लिखा है—

"सघन कुंज छाया सुखद सीतल सुरभि समीर।
मनु ह्वै जातु अजौं वहै उहि जमुना के तीर॥"

—(बिहारीरत्ना दो० ६८०)

यह 'स्मृति' **समता** पर आधृत है।

स्मरण वर्तमान में याद रखने की क्रिया-विधि है। भगवान् के नाम को बार-बार जपते हुए उनको ध्यान में रखना भी **स्मरण** है। भागवत (स्कंध ७/अ० ५/२३) में नवधा भक्ति में एक प्रकार की भक्ति भी '**स्मरण**' बतायी गयी है।

"स्मरणं पाद-सेवनम्" —(भाग० ७/५/२३)

पूर्ण स्मृति का नाम **संस्मृति** है । 'अच्छी तरह याद' को **संस्मृति** कहते हैं । अच्छी तरह से याद के आधार पर किसी घटना या प्राणी की याद की क्रिया–विधि **संस्मरण** है । संस्मृति के आधार पर कोई लिखित लेख या ग्रन्थ भी **संस्मरण** कह–लाता है ।

इसी तरह सामाजिक कर्तव्यों की याद दिलानेवाले कुछ धार्मिक ग्रन्थ भी **स्मृति** कहलाते हैं । अठारह स्मृतियाँ प्रसिद्ध हैं—(१) मनु–स्मृति (२) अत्रि-स्मृति (३) विष्णु–स्मृति (४) हारीत–स्मृति (५) याज्ञवल्क्य–स्मृति (६) उशना-स्मृति (७) अंगिरा–स्मृति (८) यम–स्मृति (९) आपस्तम्ब–स्मृति (१०) संवर्त–स्मृति (११) कात्यायन–स्मृति (१२) बृहस्पति–स्मृति (१३) पाराशर–स्मृति (१४) शंख-स्मृति (१५) लिखित–स्मृति (१६) दक्ष–स्मृति (१७) गौतम–स्मृति (१८) शाता-तप–स्मृति । इनमें मनु, पाराशर और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं ।

शक्तिस्वरूपा स्मृति को दुर्गा का एक रूप भी माना गया है ।

१३ अध्यायों की 'दुर्गा सप्तशती' के पंचम अध्याय में मेधा ऋषि ने राजा सुरथ से देवी के इक्कीस रूपों का निरन्तर वर्णन **चेतना** से **चिति** तक किया है । वे इक्कीस रूप भाववाचक संज्ञाओं के रूप में ही प्रस्तुत किये गये हैं । अर्थात प्रकाम चेतनारूप से इक्कीसवें चितिरूप तक । उन रूपों में स्मृति रूप सोलहवाँ है । उदा–हरण—

"या देवी सर्वभूतेषु **स्मृतिरूपेण** संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।"

—(दुर्गा सप्त० अ० ५/६२–६४)

क्रमशः देवीरूप संज्ञाएँ—(१) **चेतना** (२) बुद्धि (३) निद्रा (४) क्षुधा (५) छाया (६) शक्ति (७) तृष्णा (८) क्षान्ति (=क्षमा) (९) जाति (१०) लज्जा (११) शान्ति (१२) श्रद्धा (१३) कान्ति (१४) लक्ष्मी (१५) वृत्ति (१६) **स्मृति** (१७) दया (१८) तुष्टि (१९) मातृ (२०) भ्रान्ति (२१) **चिति** ।

[विशेष–'स्मृतिरूपेण संस्थिता' वाला श्लोक 'तन्त्रोक्त देवीसूक्त' में २२ वाँ है ।]

'देवीकवच' में नव दुर्गाओं के नाम हैं—(१) **शैलपुत्री** (२) **ब्रह्मचारिणी** (३) **चन्द्रघंटा** (४) **कूष्माण्डा** (५) **स्कन्दमाता** (६) **कात्यायनी** (७) **कालारात्रि** (८) **महागौरी** (९) **सिद्धिदात्री**

स्मृति के पटल पर भूत वर्तमान बन जाता है । दूर पास आ जाता है । परोक्ष प्रत्यक्ष–सा बनकर मानस पर छा जाता है इसीलिए शमशाद नज़मा ने कहा है—

"जब मेरे पास वो नहीं होते;
उनसे होती हैं राज़ की बातें ।" —(नज़मा)

कवयित्री महादेवी वर्मा ने लिखा—"दूर तुम से हूँ अखंड सुहागिनी भी हूँ !"

कविता अनुभूति की स्मृतिजनित अभिव्यक्ति है।

× × ×

कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य ने यह वाक्य कहा—

"**खाना खाने** के बाद मैं दस मिनट अवश्य लेटता हूँ।"—इस वाक्य में पहला '**खाना**' शब्द (वाक्यगत **खाना** पद कहा जाएगा) जातिवाचक संज्ञा है और दूसरा '**खाना**' भाववाचक क्रियार्थक संज्ञा है।

मनुष्य खाता है; लेकिन पशु **खाता है, चरता है** और **पगुराता** है। पगुराने को जुगाली करना भी कहते हैं।

गाय नाँद में सानी खाती है और खेत में घास चरती है। यदि कोई कहता है कि "गाय नाँद में घास चर रही है" तो यह वाक्य अशुद्ध माना जाएगा।

'**चरना**' क्रिया में चौपाया खेत में उगी हुई घास को मुँह से उखाड़कर खाता भी है और चरता भी है और चलता भी जाता है। पशु के द्वारा चलते-चलते खेत की घास खाना **घास–चरना** कहा जाता है। गायें–भैंसें घास चरने के बाद बैठ–कर जुगाली भी करती हैं। वे जुगाली करते समय चरी हुई घास को अन्दर से पुनः मुँह में लाकर उसे बार-बार घंटों रौंथती रहती हैं। पशुओं की वह रोमंथन क्रिया 'पगुराना' भी कही जाती है।

'**रौंथना**' संस्कृत के '**रोमंथन**' शब्द का विकसित रूप है। मनुष्य भी अपने दाँतों से रौंथने की क्रिया करता है।

चबाना और **रौंथना** दो अलग–अलग क्रियाएँ हैं। भुनेहुए चनों या मुरमुरों (चिरवों) को मनुष्य जब अपने दाँतों से कुचलता है, तब वह क्रिया **चबाना** (सं० **चर्वण**) कहलाती है। चबाई हुई वस्तु को बार–बार कुछ देर तक चबाते रहना **रौंथना** कहलाता है। मनुष्य प्रायः अनार के दानों को पहले दाँतों की सहायता से कुचलकर उनका रस पी जाता है और फिर शेष दानों को दाँतों से बार–बार देर तक चबाता है, ताकि वे अनार–दाने द्रव के समान हो जाएँ। वही क्रिया **रौंथना** है। मनुष्य का **रौंथना** और भैंस का **पगुराना** लगभग समान क्रियाएँ हैं। ब्रज में कहावत है—"भैंस के आगें बीन बाजै, भैंस ठड़ी पगुराइ।" **पगुराना** = जुगाली करना।

भुने चने चबाये जाते हैं। कभी–कभी भूखा मज़दूर चनों को चबाने से पहले भसकता भी है। भुने हुए चनों आदि को खौंच में भरकर जल्दी-जल्दी मुँह में डालना **भसकना** कहलाता है। संस्कृत शब्द **भक्षण** से **भसकना** का विकास है, लेकिन भसकने में कुछ हेठा भाव आ गया है, जिसे भाषाशास्त्र में 'अर्थापकर्ष' नाम दिया गया है।

खाना खाते समय एक क्रिया और भी कुछ लोग करते हैं, जिसे **भकोसना** कहते हैं। जब अन्न के ग्रास जल्दी–जल्दी एक साथ मुँह में ठूँसे जाते हैं, तब वह क्रिया **भकोसना** कहलाती है। ब्रज में इसे **ठेसना** भी कहते हैं।

कुछ वस्तुएँ दाँतों और जीभ की सहायता से चौंखी जाती हैं। **चौंखने** की क्रिया मनुष्य भी करता है और पशु भी। गाय का बछड़ा गाय के थनों से दूध चौंखता है। मनुष्य गन्ने के गूदे में से दाँतों द्वारा पहले रस निकलता है, फिर उसे

पीता है। उस क्रिया को भी चौंखना ही कहते हैं। गन्ने चौंखे जाते हैं। चौंखना 'चूसना' से भिन्न क्रिया है। पका आम चूसा जाता है।

किसानों के बालक गाय के थनों में से दूध चौंख लेते हैं। दुधारू तथा सीधी गाय के थनों में से किसानों के बालक हाथ के अँगूठे और उँगलियों की दाब से दूध की धार निकाल कर सीधे अपने मुँह में उस धार को डालते हैं। इस तरह जब वे गाय का धारोष्ण दूध पीते हैं, तब वह क्रिया **घैया पीना** कही जाती है।

सूरदास जी के गोपाल कृष्ण ने घैया पीने का आनन्द बचपन में लिया था। सूर की गोपिकाओं ने मथुरा से आये हुए उद्धव से पूछा है, "उद्धव! हमारे श्याम क्या कभी बचपन में हमारी गायों की घैया पीने की भी याद करते हैं?"

सूर के उद्धव यशोदा से कृष्ण के कथन को कहते हैं कि तुम्हारे कन्हैया ने यह संदेश तुम्हारे लिए दिया है, "जिस दिन से मैं ब्रज से मथुरा आया हूँ, उस दिन से आज तक न तो किसी ने मुझे 'कन्हैया' कहकर पुकारा, प्रातः न मैंने कभी कलेऊ किया और न साँझ को **घैया** का स्वाद लिया।

पंडित सीताराम चतुर्वेदी ने अपने संपादित सूरसागर (चतुर्थ खंड) में **घैया** का अर्थ किया है—'ताजे दूध के ऊपर का मक्खन'। '**घैया**' का यह अर्थ नहीं है।

"प्रात न कियौ कलेऊ कब हू साँझ न चाखी **घैया**।"

—(संपा० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, पद ३४७०)

'**घैया**' का ब्रज में वही अर्थ है, जो ऊपर लिखा गया है।

खौंसना और **बकोटना** दो क्रियार्थक संज्ञाएँ हैं। हाथों के नाख़ूनों से किसी मनुष्य या जानवर के द्वारा किसी दूसरे प्राणी के शरीर पर जख़्मी करनेवाली रेखाएँ बनाया जाना **खौंसना** कहलाता है। **बकोटना** खौंसने से अधिक जख़्मी बनाने की क्रिया है। जब हाथ के नाखूनों तथा दाँतों से किसी अन्य प्राणी के शरीर को बहुत घायल कर दिया जाता है, तब उस क्रिया को **बकोटना** कहते हैं। बिल्ली **खौंसती** है, कुत्ता **बकोटता** है।

बुकटना बिल्कुल भिन्न क्रिया है। जितनी मात्रा में कोई वस्तु एक बार में खौंच में आ सकती हो, उतनी उठा लेना **बुकटना** कहलाता है। इसे **बुकटा भरना** या **बुकटा मारना** भी कहते हैं।

हिन्दी की **झूमना** क्रिया बुन्देली में **झीमना** कहलाती है। आनन्द में आकर सिर हिलाना '**झूमना**' कहा जाता है। 'झूमना' के स्थान पर मैथिलीशरण गुप्त ने 'पंचवटी' खण्ड–काव्य के प्रथम छन्द में '**झीमना**' का प्रयोग किया है—

मानो तरु भी **झीम रहे हैं** मन्द पवन के झोंकों से।"

—(मैथिलीशरण गुप्त)

मारने अर्थात् प्रहार करने के लिए किसी व्यक्ति पर जब कोई मनुष्य या जानवर वेग के साथ झपटता है, तब वह क्रिया **अर्राना** कहलाती है। '**अर्राना**' के

समान बिम्बात्मक अर्थ देनेवाली क्रिया परिनिष्ठित हिन्दी में नहीं है । **अर्राना** व्रज–भाषा की क्रिया है ।

वायु मुख्यतः दो प्रकार की होती है—(१) **समीर**=मन्द वायु । (२) **प्रभं-जन**=तेज़ वायु, आँधी । 'रामचरितमानस' में '**समीर**' और '**प्रभंजन**' का प्रयोग मिलता है—"त्रिबिध **समीर** सुसीतलि छाया" —(मानस, बाल० १०६/३)

"जब सो **प्रभंजन** उर गृहँ जाई । तबहिं दीप बिग्यान बुझाई)"

—(मानस, उत्तर० दो० ११८/१३)

संस्कृत **वात** (=हवा) शब्द ही ईरान में जाकर **बाद** (फा० बाद=हवा) हो गया । **हवा** अरबी का शब्द है । अंग्रेज़ी **एअर** (AIR) के समानान्तर अरबी शब्द **हवा** है । कुछ गतिमान् हवा को **समीर** कहते हैं । **समीर** का स्पर्श सुखद होता है । यह मन्द, सुगंधित और शीतल भी हो सकती है । त्रिविध समीर प्रसिद्ध है । 'समीर' के समानान्तर अंग्रेज़ी शब्द **विंड** (WIND) माना जा सकता है । उर्दू की शायरी में संस्कृत शब्द **समीर के** समानांतर अरबी शब्द **सबा** का प्रयोग मिलता है—**बादे सबा=शीतल समीर** । सं०वात=फा० बाद (=हवा) ।

जो मन्द वायु शीतल अथवा सुगंधित होगी, उसे **समीर** कहेंगे । एक संस्कृत कवि ने तथा रीतिकालीन हिन्दी–कवि बिहारी ने शीतल–मन्द वायु को **समीर** ही कहा है—

"पुष्प-सुगंध–सुमलय–**समीरे**,
पावन-मुनि-जन–यमुना–तीरे,
मधुरं गायति वनमाली ।"

× × ×

कविवर बिहारी लिखते हैं—

"सघन कुंज छाया सुखद, शीतल सुरभि **समीर** ।
मनु ह्वै जात अजौं वहै उहि जमुना के तीर ॥"

—(बिहारी रत्नाकर से, दो० ६८०)

बीन, बीना और **बैन** हिन्दी के वस्तुवाची संज्ञा शब्द हैं । **बीन** और **बीना** शब्द संस्कृत **वीणा** शब्द से विकसित हैं । सितार की तरह का एक बाजा **वीणा** (बीन, बीना) कहलाता है । **बीन** शब्द का प्रयोग '**वीणा**' के अर्थ में जायसी कृत पदमावत (३३२/२६) में और महादेवी वर्मा की कविता में किया गया है । पद्मा–वती की सखियाँ गाने–बजाने लगीं, तब कवि जायसी लिखते हैं—

"काहूँ **बीन** गहा कर काहू नाद म्रिदंग" —(३३२/२६)

कवयित्री महादेवी वर्मा ने लिखा—

बीन हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ ।" —(महादेवी)

हिन्दी में **बीन** (=वीणा) शब्द स्त्रीलिंग है, लेकिन जायसी ने पुंलिंग (पदमा० ३३२/२६) में लिखा है ।

'सूरसागर' में सूर ने 'वीणा' के अर्थ में 'बीन' शब्द का प्रयोग किया है—

"दूर करहु **बीना** कर धरिबौ ।
रथ थाक्यौ मानौ मृग मोहे नाहिन होत चन्द्र कौ टरिबौ ।"
—(सूरसागर, ना० प्र० स०, पद, ३३५७)

वल्लकी और **विपंची** नाम वीणा के ही हैं । सात तारोंवाली वीणा **परिवादिनी** कहलाती है । नारद की वीणा का नाम **महती** है । माघकृत 'शिशुपालवध' काव्य (सर्ग १/श्लोक १०) में कहा गया है कि नारद जी आकाश मार्ग से पृथिवी की ओर जब आ रहे थे, तब वायु के प्रताडन से उनकी महती नाम की वीणा में से **ग्राम** और **मूर्च्छना** प्रस्फुटित हो रहे थे । एक षड्ज से दूसरे आरोही षड्ज तक का स्वर–समूह **ग्राम** कहलाता है । ग्राम का आरोही स्वर–समूह तथा अवरोही स्वर–समूह मिलकर **मूर्च्छना** कहलाता है । अर्थात् **मूर्च्छना** = आरोहीग्राम + अवरोही ग्राम ।

एक विशेष प्रकार की वीणा **विचित्र वीणा** के नाम से प्रसिद्ध है । प्रवाल (वीणा-दण्ड) के ऊपर-नीचे दो तूँबे–से होते हैं, उन्हें **ककुभ** और **प्रसेवक** कहते हैं ।

मुरली और **बैन** शब्दों की अर्थ–भूमि पर खड़े होकर यह जान लेना चाहिए कि **वंशी** के मुख्य भेद दो हैं—

(१) **वेणु** (२) **मुरली** । संस्कृत शब्द **'वेणु'** पुंलिंग है और संस्कृत शब्द **मुरली** स्त्रीलिंग है । भागवत के श्रीकृष्ण सदा वेणु ही बजाते थे । भागवत में **वंशी** शब्द नहीं आया है । सूरदास के श्रीकृष्ण प्रायः **मुरली** बजाते हैं । मुरली में ऊपरी सिरे से कुछ नीचे एक छेद होता है, उसमें मुरलीवादक मुरली को निचले होंठ पर रखकर फूँक मारता है । उस छेद से कुछ दूरी पर नीचे की ओर कई छेद होते हैं, मुरलीवादक मुरली बजाते समय उन छेदों पर उँगलियाँ रखता है, स्वरों के आरोह–अवरोह के लिए । सूरसागर के श्रीकृष्ण मुरली बजाते समय त्रिभंगी मुद्रा भी कर लेते थे । सूरदास जी ने 'सूरसागर' में इसका उल्लेख किया है ।

बैन (सं० वेणु) के सिरे को मुख में कुछ अन्दर करके उसे बजाते हैं । इस प्रसंग में यहाँ इतना भी स्मरण रखना चाहिए कि सूरदास जी ने यदि 'सूरसागर' में **बैन** शब्द का प्रयोग किया है, तो वहाँ उनका मन्तव्य 'मुरली' से ही है । इसी कारण सूर ने **बैन** शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया है—

"माई ! बहुरि न बाजी **बैन**"—(पं० सीताराम चतुर्वेदी संपादित सूरसागर खंड ४, पद ३३४७, ना० प्र० स० संस्करण, पद ३३५०)

किसी शब्द के प्रयोग के समय प्रयोक्ता के मानस–पटल पर जैसा वस्तु-बिम्ब होता है, उसी के अनुसार शब्द का लिंग और अर्थ होता है। तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' के भरत के लिए श्रीराम की चरण–पादुकाएँ श्रीराम का ही दूसरा रूप थीं, अतः तुलसी ने **पादुका** शब्द का प्रयोग पुंलिंग में किया है—

"सिंघासन **प्रभु–पादुका** बैठारे निरुपाधि" —(मानस, अयो० दो ३२३/–),

सपेरे साँप को आनन्दविभोर करने के लिए एक तरह का मोटे पेट का **बैन** बजाते हैं। भोपा लोग भी एक भिन्न प्रकार का **बैन** बजाया करते हैं। वे **बैन** फूँक से बजनेवाले बाजे हैं। **बीन** (सं० वीणा) में तार होते हैं। तारों की झंकार ही वीणा का नाद है।

जो वंशी, सिरे को मुँह में कुछ अन्दर करके बजायी जाती है। **बैन** कहाती है। **बाँसुरी** बैन से भिन्न वस्तु है। बाँसुरी में सिरे पर एक गोल छेद होता है, जिसमें फूँक मारी जाती है तब बजती है। बाँसुरी को ही सूरदास ने 'सूरसागर' में '**मुरली**' कहा है।

गन्त्री (धातु √ गम्) और **गायत्री** (धातु √ गै) दो शब्द संस्कृत भाषा के हैं। जो चलती है, वह **गन्त्री** है अर्थात् गाड़ी। जो गाती है, वह **गायत्री** है। छान्दोग्य उपनिषद् (प्रपाठक ३/खंड १२/१) में कहा गया है कि वाणी ही '**गायत्री**' है, क्योंकि यह प्राणियों को गाती है अर्थात् उनके दुःख-सुख वर्णित करती है।

महाभारत (आरण्यक पर्व, अ० १३४/१०) में अष्टावक्र ने राजा जनक से कहा है कि वाणी के चार चरण हैं अर्थात् वह चतुष्पदा है। वे चार चरण हैं—(१) **परा** (२) **पश्यन्ती** (३) **मध्यमा** (४) **बैखरी**। **परा** वाणी जब मूलाधार चक्र के ऊपर उठती है, तब नाभि प्रदेश में वह **पश्यन्ती**, हृदय प्रदेश में **मध्यमा** और कण्ठ प्रदेश में **बैखरी** कही जाती है। इन्द्रिय-संघात का नाम **विखर** है। "विखरे कुभला वैखरी"। मनुष्य मात्र का व्यवहार-जगत् वैखरी पर ही आश्रित है।

कान्ति, **ज्योति** और **ज्वाला** भाववाचक संज्ञा शब्दों के अर्थ शीतलता तथा उष्णता की अनुभूति पर आधृत हैं। शीतल और मधुर चमक का नाम **कान्ति** है। '**ज्योति**' कान्ति से अधिक चमक रखती है। 'मधुर' शब्द आस्वाद्य बिम्ब ही नहीं बनाता, श्रव्य बिम्ब और चाक्षुष बिम्ब भी बनाता है। स्वाद मधुर होता है, नाद भी मधुर होता है और आकृति भी मधुर होती है। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' नाटक में शकुन्तला की आकृति को मधुर बताया है--

"किमिव हि **मधुराणां** मण्डनं नाकृतीनाम्"

—(अभि० शाकुं० अंक १/१६)

जिस प्रकाश में उष्णता का आधिक्य होता है, उसे **ज्वाला** कहते हैं। **कान्ति** और **ज्योति** शान्त-शीतल होती हैं, लेकिन **ज्वाला** उग्र तथा उष्ण होती है। कामदेव को भस्म करने के लिए रुद्र के तृतीय नेत्र से **ज्वाला** निकली थी।

"देव-यजन के पशु-यज्ञों की वह पूर्णाहुति की **ज्वाला**"

—(प्रसाद, कामायनी, सर्ग चिन्ता)

क्रन्दन और **रोदन** में मुख्य अन्तर यह है कि **क्रन्दन** अपने अर्थ में कठोर और कोमल दोनों बिम्ब समय-समय पर प्रस्तुत करता है। **क्रन्दन**=युद्ध के लिए आह्‌-वान की ललकार। **क्रन्दन**=वायु, समुद्र या बिजली की गर्जन। **क्रन्दन**=विलाप, करुणा भरी पुकार। **रोदन**=रोना, करुण विलाप।

ऋग्वेद में समुद्र या बादलों की गर्जन के लिए **क्रन्दन** शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रकृति का भीषण नाद **क्रन्दन** है। इसी प्राचीन अर्थ में प्रसाद जी ने 'कामायनी' में **क्रन्दन** शब्द का प्रयोग किया है—"करका **क्रन्दन** करती गिरती और कुचलना था कब का"—(चिन्ता सर्ग)

कालिदासकृत 'रघुवंश' में करुण चीत्कार के लिए **क्रन्दन** का प्रयोग हुआ है—अन्धा–अन्धी के पुत्र की करुणपुकार दशरथ ने सुनी—"हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य"

—(रघुवंश, सर्ग ६/७५)।

रोदन या **रुदन** का अर्थ 'रोना' है। इसका अर्थ सदा करुणविलाप ही है।

प्रसाद जी संस्कृत–साहित्य के अधीती विद्वान् थे। उन्होंने '**क्रन्दन**' का प्रयोग कठोर बिम्बात्मक तो किया ही है, कोमल बिम्बात्मक भी किया है। 'करुण विलाप' के अर्थ में 'आँसू' काव्य में '**क्रन्दन**' का प्रयोग किया गया है—

"मेरे **क्रन्दन** में बजती क्या वीणा जो सुनते हो।" —(आँसू)

प्रसाद जी ने 'कामायनी' के 'संघर्ष' सर्ग में तो 'क्रन्दन' का ऐसा श्लेषात्मक प्रयोग किया है, जिसके अर्थ में कठोर और कोमल दोनों ही बिम्ब हैं अर्थात् उसमें रोदन भी है और अट्टहास की तुमुल ध्वनि भी—

"**क्रन्दन** का निज अलग एक आकाश बना लूँ।
उस रोदन में अट्टहास हो तुम को पा लूँ।।"

—(कामायनी, संघर्ष)

'**क्रन्दन**' के इस प्रयोग में करुणा भी है और उल्लास भी।

लास, **लास्य** और **उल्लास** तीन भाववाचक संज्ञाएँ हैं। संस्कृत **लास** शब्द का अर्थ है 'उछल–कूद'। पार्वती जी के सरस कोमल नृत्य को **लास्य** कहते हैं। लास्य में गीत के साथ ताल–लय में वाद्य भी बजते हैं। '**लास्य**' नृत्य के दस अंग हैं—(१) गेय पद (२) स्थित पाठ (३) आसीन (४) पुष्पगंडिका (५) प्रच्छेदक (६) त्रिगूढ (७) संधवास्य (८) द्विगूढक (९) उत्तमोत्तम (१०) युक्त–प्रयुक्त।

वीर–रौद्र रसवाला शंकर का प्रचण्ड नृत्य **ताण्डव** कहलाता है। कहा जाता है कि शिव ने जिस नृत्य को तण्डु नामक ऋषि को सप्रर्वथम सिखाया, वह **ताण्डव–नृत्य** कहलाया। **उल्लास** का अर्थ 'उमंग' है।

'कामायनी' में प्रसाद जी ने **लास**, **उल्लास** और **ताण्डव** का प्रयोग किया है—

"मांसल–सी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी।
उस **लास** रास में विह्वल थी हँसती–सी कल्याणी।।"

—(आनन्द सर्ग)

X X X

"**उल्लास** रहा युवकों का शिशुगण का था मृदु कलकल।
महिला मंगल गानों से मुखरित था वह यात्री दल।।"

—(आनन्द सर्ग)

× × ×

"पंचभूत का वह **ताण्डव** मय नृत्य हो रहा था कब का।"

—(चिन्ता सर्ग)

शंकर ताडण्व करते समय डमरू भी बजाते हैं। 'शिवताण्डवस्तोत्र' में वर्णित है—

"डमड्डमड्डमड्डमन्निनादवड्डमर्वयं
चकार चण्ड **ताण्डवं** तनोतु नः शिवः शिवम्।"

—(शिवता० श्लोक १)

संस्कृत शब्द **विक्षोभ** का अर्थ है 'मन की उद्विग्नता'। इससे विकसित शब्द '**बिछोह**' है—सं० **विक्षोभ** > प्रा० विछोह > ब्रजभाषा **बिछोह**। **बिछोह** का अर्थ है 'वियोग' या 'जुदाई'। ब्रजभाषा में '**बिछोह**' शब्द का अर्थ बिलकुल बदल गया है। इस प्रकार के अर्थ-परिवर्तन हिन्दी में बहुत हैं। संस्कृत का **क्षोभ** हिन्दी में **छोह** हुआ और अर्थ हुआ प्रेम।

मोहित अर्थ में संस्कृत शब्द '**मुग्ध**' है। इसका विकसित रूप 'मूढ़' है—सं० मुग्ध > प्रा० मुडढ > मूढ़। 'मूढ़' का अर्थ है 'मूर्ख'। यह अर्थ परिवर्तन ही है। भाषाशास्त्रियों ने ऐसे अर्थ परिवर्तन को 'अर्थादेश' नाम दिया है।

राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदासकृत 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' नाटक का अनुवाद ब्रजभाषा में किया था। शकुन्तला की विदा के समय महर्षि कण्व कहते हैं—

"मो-से बनवासीन को इतौ सतावत मोह।
ते गेही कैसे सहैं दुहिता-प्रथम **बिछोह**।"

—(राजा लक्ष्मणसिंह)

(कालिदास का **विश्लेष** = लक्ष्मणसिंह का **बिछोह**) सं० **तनया-विश्लेष** = ब्रजभाषा **दुहिता-बिछोह**)।

'**मूढ़**' का प्रयोग तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में है। श्रीराघवेन्द्र बाली से कहते हैं—

"**मूढ़** तोहि अतिसय अभिमाना" —(किष्कि० दो० ६/३)

कुछ शब्द-कोशों में '**मूढ**' को संस्कृत शब्द लिखा गया है। हमारा विचार है कि यह शब्द संस्कृत में पीछे के द्वार से घुस गया होगा।

'कुत्ता' के अर्थ में '**कुक्कुर**' शब्द को संस्कृत का माना गया है। यह भी पीछे के द्वार से संस्कृत में घुसा होगा—ऐसा हमारा मत है। मध्यभारतीय आर्यभाषा काल का **कुक्कुर** आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-काल में '**कूकुर**' हो गया। ब्रजभाषा में 'कुत्ता' 'अर्थ' में **कूकुर** शब्द प्रचलित है।

"ताको कहाय कहै 'तुलसी, तू लजाहि न माँगत **कूकुर** कौरहि।"

—(तुलसी, कवितावली, उत्तर० छंद २६)

लोकभाषा और **साहित्यिक भाषा** (मानक भाषा) में एक मुख्य अन्तर यह है कि लोकभाषा बहुत जल्दी परिवर्तित होती रहती है। उसके शब्द विकसित होकर बोलियों में कई रूप ग्रहण कर लेते हैं।

मानक भाषा या साहित्यिक भाषा में अपेक्षाकृत स्थायित्व अधिक होता है और एकरूपता भी पायी जाती है। स्थिरता साहित्य भाषा का गुण है।

मानक हिन्दी में दो शब्द हैं—(१) **फुरहरी** (२) **फुरैरी**। इनके अर्थ अलग–अलग हैं। ठंड आदि के कारण कुछ क्षण का शरीर–कंपन 'फुरहरी' कहलाता है। किसी तीली या सींक के सिरे पर जब थोड़ी–सी रुई लपेट दी जाती है और जब उसे तेल आदि में डुबाकर कहीं लगाते हैं, तब वह रुईवाली सींक **फुरैरी** कहलाती है।

लोकभाषा हिन्दी में **फुरहरी** और **फुरैरी** शब्द एक हो गये हैं—**फुरैरी**= कंपन, रुईलगी सींक। **फुरहरी**=शरीर–कंपना, रुईलगी सींक। साहित्यिक हिन्दी में **फुरहरी** और **फुरैरी** का प्रयोग अलग–अलग अर्थों में करना चाहिए।

हिन्दी-कविता में व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों के भी पर्याय मिलते हैं

बालि के भाई का नाम 'सुग्रीव' था। '**सुग्रीव**' व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द है। तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में 'सुग्रीव' का पर्यायवाची शब्द '**सुकण्ठ**' भी लिखा है।

एक नदी का नाम **गोमती** है। तुलसी के 'मानस' में उसको **धेनुमति** लिखा है—

"जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली।
फिरि **सुकंठ** सोइ कीन्हि कुचाली॥"

—(रामचरितमानस, बाल० २९/६)

× × ×

"पहुँचे जाइ **धेनुमति** तीरा।
हरषि नहाने निरमल नीरा॥"

—(मानस, बाल० १४३/५)

डा० नगेन्द्र की कृपामयी सहायता से राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर के हिन्दी–विभाग में प्रोफेसर बने थे डा० सरनामसिंह। प्रोफेसर बन जाने के बाद डा० सरनामसिंह ने मुझे पत्र द्वारा सूचित किया था। उस पत्र में एक पंक्ति यह भी थी–

"भाई–भाई की जय बोलो, **नगराज** हमारा अटल रहा।" यहाँ '**नगेन्द्र**' नाम का पर्याय है '**नगराज**'।

डा० नगेन्द्र जिस चयन–समिति में रहते थे, उसमें वह अपनी बात पर प्राय: अड़ जाते थे। जिस व्यक्ति को वह नियुक्त करवाना चाहते थे, उसके लिए दृढ़ता

पूर्वक प्रबल तर्क प्रस्तुत करते थे और नियुक्त करवा लेते थे। डा० सरनामसिंह की नियुक्ति में भी डा० नगेन्द्र अड़ गये थे। तभी डा० सरनामसिंह ने मुझे पत्र में लिखा था—

"भाई–भाई की जय बोलो **नगराज** हमारा अटल रहा।"

उत्तम पुरुषीय सर्वनाम और को

हमें और **हमको** सर्वनाम पदों में अर्थ भेद हैं। '**हमको**' में विशिष्टता तथा निश्चितता का भाव निहित है।

"हमें मालूम है" में '**हमें**' का अर्थ है कि औरों को भी मालूम है और हमें भी मालूम है।

"**हमको** मालूम है" में '**हमको**' का अर्थ है कि हमें ही मालूम है, औरों को मालूम नहीं। "**उसको** देखो" में 'उसको' पूर्वपरिचित है।

शायर ग़ालिब ने लिखा है—

"**हमको** मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन;
दिल के ख़ुश करने को 'ग़ालिब' ये ख़याल अच्छा है।"

—(ग़ालिब)

जन्नत (स्वर्ग) में हूरें–सिलमे मिलेंगे कि नहीं—इसकी हक़ीक़त बस ग़ालिब को ही मालूम है। दूसरे लोग तो भुलावे में हैं। जन्नत के आनन्द को ग़ालिब कल्पना मानते हैं।

मध्यम पुरुषीय सर्वनाम और को

हमें और **हमको** में जो अर्थ–भेद है, उसी प्रकार का अर्थ–भेद **तुम्हें** और **तुमको** में है।

'**तुमको**' का अर्थ है 'तुम्हीं को' ख़ास तौर से,–किसी और को नहीं।

ग़ालिब ने लिखा है—

"काबा किस मुँह से जाओगे ग़ालिब;
शर्म **तुमको** मगर नहीं आती।"

—(ग़ालिब)

ग़ालिब पूर्ववर्ती शायर 'मीर' ने भी '**तुमको**' सर्वनाम का प्रयोग उसी अर्थ में किया है—

"चाहें तो **तुमको** चाहें देखें तो **तुमको** देखें;
ख़्वाहिश दिलों की तुम हो आँखों की आरज़ू तुम।"

—(मीर)

हिन्दी में अन्यपुरुषीय सर्वनाम वह और वे का प्रयोग

२६ फरवरी, १९९२ ई० के 'नवभारतटाइम्स' में मलयेशिया के रक्षामंत्री श्री रज़ाक के भारत आने का समाचार छापा गया था,

"वह दोनों देशों के बीच रक्षा के क्षेत्र में गहरे सहयोग पर भी बातचीत करेंगे।"

उसी तारीख के उसी दैनिक पत्र 'नवभारतटाइम्स' में मणीन्द्र चक्रवर्ती (कलकत्ता) के निधन का समाचार छापा गया था और मणीन्द्र चक्रवर्ती के सम्बन्ध में लिखा था, **"कोयला मज़दूरों के बीच वे खास तौर से सक्रिय थे।"**

उपर्युक्त दोनों समाचारों में एक स्थल पर अन्यपुरुषीय सर्वनाम वह है और दूसरे स्थल पर **वे** है। दोनों सर्वनामों में संज्ञा शब्द पुंलिंग एकवचन में हैं। फिर भी उनके अन्यपुरुषीय सर्वनाम अलग-अलग हैं।

दिनांक २६-२--९२ ई० के ही 'नवभारतटाइम्स' में प्रधानमंत्री श्री पी०वी० नरसिंह राव के सम्बन्ध में श्री भजनलाल का वक्तव्य छापा गया था—

"वह जो भी करेंगे, वह हरियाणा के लिए उचित होगा।"—इस वाक्य में 'नरसिंह राव' संज्ञा शब्द का स्थानापन्न अन्यपुरुषीय सर्वनाम **वह** है।

परिणाम निकलता है कि **वह** और **वे** के प्रयोग में 'नवभारतटाइम्स' किसी नियम सिद्धान्त का पालन नहीं करता।

हिन्दी में **वह** और **वे** सर्वनामों के प्रयोग में निम्नांकित नियम का पालन करना चाहिए—

जब संज्ञा शब्द एकवचन में हो, तब **वह** का प्रयोग करना उपयुक्त है—

"श्रीकृष्ण हस्तिनापुर से वापस आ गये हैं; अब **वह** युधिष्ठिर से वार्तालाप कर रहे हैं।"

जब संज्ञा शब्द बहुवचन में हो, तब **वे** का प्रयोग उपयुक्त है—

"वहाँ लोग तो लगभग पचास थे; लेकिन **वे** तमाशा देख रहे थे।"

उर्दू वाले इस **वह** और **वे** के चक्कर से दूर रहते हैं। वे तो एकवचन तथा बहुवचन की स्थिति में **वो** का ही प्रयोग करते हैं। जैसे—

"श्रीकिशन हस्तिनापुर से वापस आ गये हैं; अब **वो** युधिष्ठिर से बातचीत कर रहे हैं।"

"वहाँ लोग तो लगभग पचास थे; लेकिन **वो** तमाशा देख रहे थे।"

"उल्फ़त का तब मज़ा है **वो** भी हो बेक़रार।
दोनों तरफ़ हो आग बराबर लगी हुई॥"

X X X —(इस्माईल मेरठी)

"चाहिए अच्छों को जितना चाहिए।
गर **वो** ही चाहें तो फिर क्या चाहिए॥"

हिन्दी और उर्दू में 'यह' और 'ये' सर्वनाम

हिन्दी में तो एकवचन में **यह** और बहुवचन में ये का प्रयोग किया जाता है; लेकिन उर्दू में एकवचन और बहुवचन में ये ही लिखा जाता है—

"ये खुलता नहीं कुछ कि वो तुम थे कि मैं थी;
मगर ये कि हायल कोई दरमियाँ था। —(शमशाद नज़्मा)

X X X

"खेतों में दे लो पानी ये बहरही है गंगा।
कुछ कर लो नौजवानो ! उठती जवानियाँ हैं।।" —(हाली)

X X X

"ये भोली–भाली सूरतें जो देखते हैं आप।
कितने हैं इनमें वाक़ई इंसाँ न पुछिए।।"

उर्दू की शायरी में कहीं–कहीं वज़्न का निर्वाह करने के लिए **ये** के स्थान पर **य** भी उच्चरित किया जाता है।

ग़ालिब ने एक शेर कहा है—

"तुम उनके वादे का ज़िक्र उनसे क्यों करो 'ग़ालिब';
य क्या कि तुम कहो और वो कहें कि याद नहीं।"—(ग़ालिब)

हिन्दी का यह सर्वनाम उर्दू–कविता में कहीं ये बनकर और कहीं **य** बनकर प्रयुक्त हुआ है।

संकेतात्मक विशेषण के प्रयोग के समय उर्दू–कवियों ने '**यह**' का भी प्रयोग किया है—

"मुहब्बत थी चमन से लेकिन अब **यह** बेदिमाग़ी है;
कि मौजे–बूए–गुल से नाक में आता है दम मेरा।"

—(ग़ालिब)]

उर्दू में वो का प्रयोग

ये की भाँति ही उर्दू में एकवचन और बहुवचन में **वो** का ही प्रयोग होता है। उर्दू नहीं जानती कि **वह** और **वे** क्या हैं ?

उर्दू में एकवचनीय **वो** का प्रयोग—

"होगा कोई ऐसा भी कि ग़ालिब को न जाने;
शायर तो **वो** अच्छा है पे बदनाम बहुत है।।" —(ग़ालिब)

उर्दू में बहुवचनीय **वो** का प्रयोग—

"वो शरमाई सूरत **वो** नीची निगाहें,
वो भूले–से उनका इधर देख लेना।" —(हसरतमुहानी)

"जब मेरे पास वो नहीं होते;
उनसे होती हैं राज़ की बातें। —(शमशाद नज़मा)

X X X

'जो' सर्वनाम का प्रयोग

मानक हिन्दी में **जो** सर्वनाम का प्रयोग एकवचन तथा बहुवचन में होता है—

एकवचन में	**बहुवचन में**
(१) **जो** यहाँ रहेगा, वह सुख पाएगा।	(१) **जो** यहाँ रहेंगे, वे सुख पाएँगे।

ब्रजभाषा में एकवचन में **जो** और बहुवचन में **जे** का प्रयोग होता है —

(१) **जो** इहाँ रहैगौ, सो सुख पाइगौ।	(१) **जे** इहाँ रहिंगे, **वे** सुखुपांगे। "**जे** आवैं **ते** कारे" (संपा० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, खंड, ४, पद ३७५६)

तुलसीकृत रामचरितमानस' की अवधी भाषा में एकवचन में **जो** बहुवचन में **जे** का प्रयोग है—

(१) **जो** सुमिरत (मानस, बाल० सो० १/–)	(१) **जे** न मित्र दुख होहिं दुखारी" (मानस, किष्कि० ७/१)

विशेष्य अपने विशेषण का और विशेषण अपने विशेष्य का अर्थ बदल देता है

हिन्दी में विशेषण के व्याकरणिक रूप दो हैं—

(१) मूल विशेषण, जैसे **सफेद** घोड़ा; **भूरी** बिल्ली; **भूरी** भैंस।

(२) कृदन्त विशेषण, जैसे **उगता** सूरज; **उगा** सूरज, **उठी** पैंठ।

मूल विशेषण **काना** का अर्थ विशेष्य–भेद से अलग–अलग है—**काना** आदमी, **काना** अमरूद, **कानी** खाट, **कानी** भिंडी।

मीठा–मीठा दर्द, **मीठी–मीठी** आँच, **मीठी–मीठी** बातें।

कृदन्त विशेषण **ढका** का अर्थ विशेष्य–भेद से अलग–अलग है—

ढका मुर्दा, **ढका** घड़ा, **ढकी** बात, **ढका** साल (=जिस साल में किसी घर में कोई व्यक्ति मर जाता है, उस साल में उस घर के मनुष्य होली–दिवाली नहीं मनाते, क्योंकि वह साल **ढका साल** माना जाता है।)

बोलती औरत और **बोलती** तस्वीर में '**बोलती**' में अर्थ–भेद है।

'भारी' या 'महत्त्वपूर्ण' अर्थ में संस्कृत में विशेषण शब्द 'गुरु' है। इसकी तीन कोटियाँ हैं—(१) **गुरु** (२) **गरीयान्** (३) **गरिष्ठ**।

गुरु=भारी । **गरीयान्**=तुलना में अन्य की अपेक्षा अधिक भारी। **गरिष्ठ**=सबसे अधिक भारी। **गरिष्ठ** (गुरु+इष्ठन्)=सबसे अधिक भारी। **गरिष्ठ**=गुरुतम (विशेषण की तृतीय कोटि)

विशेष्य की भिन्नता से **गरिष्ठ** की अर्थच्छवि बदल जाती है—

(१) **गरिष्ठ भोजन**=कब्ज़ करनेवाला भोजन। (२) **गरिष्ठ रत्न**=बहुमूल्य रत्न। "**गरिष्ठरत्नलोष्ठयो:** सुहृद् विपक्षपक्षयो:"—(शिवताण्डव स्तोत्र, छन्द १२)

(बहुमूल्यरत्न और मिट्टी के ढेले में; मित्र और शत्रु के पक्ष में)

(१) **विलोल** कुण्डल=हिलते हुए कुण्डल।

(२) **विलोल** लोचन=अश्रुपूर्ण नेत्र (शिवताण्डव स्तोत्र, छन्द १३)

'कुण्डल' और 'लोचन' विशेष्य शब्दों ने **'विलोल'** विशेषण का अर्थ बदल दिया।

अरबी भाषा का **हवा** शब्द संज्ञा है। इससे—ई प्रत्यय लगकर अरबी में विशेषण शब्द **हवाई** बनता है। अरबी विशेषण **हवाई** का अर्थ है 'हवा से सम्बन्ध रखनेवाला'।

'हवाई' विशेषण अपने विशेष्य के साथ अपनी अर्थच्छवि बदल लेता है।

हवाई चप्पल, **हवाई** जहाज़, **हवाई** फ़ायर, **हवाई** तीर, **हवाई** बातें आदि में 'हवाई' का अर्थ अलग-अलग है।

अत: सिद्ध है कि विशेष्य से विशेषण का अर्थ बदल जाता है। विशेषण अपने विशेष्य पर आधृत तो है, लेकिन अपने विशेष्य के अर्थ का वह निर्णायक भी है। इसे कहते हैं, सेवक का स्वामी के सिर पर सवार हो जाना।

विशेषण का महत्त्व

विशेषण से विशेष्य का लिंग और वचन निश्चित होता है—(१) बड़ा **सामर्थ्य**, बड़ी **सामर्थ्य** (२) अच्छा **काम**, अच्छे **काम**; टूटता **परिवेश**, टूटते **परिवेश**। **सामर्थ्य** का लिंग, **काम** का वचन और **परिवेश** का वचन यहाँ उसके विशेषण से निश्चित हो रहा है।

जैसे-जैसे किसी विशेष्य के विशेषणों की संख्या बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उस विशेष्य के अर्थगत अस्तित्व की संख्या घटती जाती है।

'घोड़ा' विशेष्य है। संसार में पशु जाति में जितने घोड़े हैं, उनमें **'श्यामकर्ण घोड़े'** कम हैं। **"श्यामकर्ण'** विशेषण है, **घोड़े** विशेष्य है। **सफ़ेद श्यामकर्ण घोड़े श्यामकर्ण घोड़ों** से भी कम हैं। **सैन्धव सफ़ेद श्यामकर्ण घोड़े** उनसे भी कम हैं।

अत: सिद्ध हुआ कि विशेषण विशेष्य को सीमित कर देता है। विशेषण संख्या में बढ़ते हैं, तो विशेष्य कम होता चला जाता है।

किसी विशेष्य का विशेषण दो प्रकार का हो सकता है—

(१) **नित्य विशेषण**—जैसे **काला** घोड़ा; इसमें 'काला' नित्य विशेषण है। **तिलकतोड़** घोड़ा– में 'तिलकतोड़' नित्य विशेषण है।

(२) **अनित्य विशेषण**—जैसे **जवान** घोड़ा; इसमें '**जवान**' विशेषण अनित्य है। **दौड़ता घोड़ा**; इसमें '**दौड़ता**' विशेषण अनित्य है।

मिलते-से विशेषण और संज्ञा शब्द

द्वि और **द्वय** में तथा **त्रि** और **त्रय** में व्याकरणिक अन्तर यह है कि **द्वि** संख्यावाचक विशेषण और **द्वय** समूहवाचक संज्ञा है। **त्रि** संख्यावाचक विशेषण और **त्रय** समूहवाचक संज्ञा है।

द्वि का अर्थ है '**दो**' और **द्वय** का अर्थ है **दो का समाहार**। **द्विमित्र**=दो मित्र। मित्र-द्वय=मित्रों का जोड़ा या दुगड्डा। इसी प्रकार **त्रि** का अर्थ है **तीन** और **त्रय** का अर्थ है **तीन का समाहार**। **द्वय**=युग्म=युगल (=जोड़ा)

त्रिब्राह्मण=तीन ब्राह्मण। **ब्राह्मण-त्रय**=ब्राह्मणों का तिगड्डा। "न गच्छति ब्राह्मण-त्रयम्"=ब्राह्मणों का तिगड्डा नहीं जाता अर्थात् तीन ब्राह्मण इकट्ठे एक साथ किसी एक स्थान से प्रस्थान नहीं करते। वैसा करना अप-शकुन माना जाता है।

कुछ विशेषण शब्दों की भेदक रेखाएँ

विशिष्ट और **विशेष** विशेषण शब्दों के अर्थों में एक मुख्य अन्तर यह है कि **विशिष्ट** केवल मनुष्य का विशेषण हो सकता है, लेकिन **विशेष** मनुष्य या वस्तु का विशेषण हो सकता है। जैसे—

(१) **विशिष्ट** पुरुष (२) **विशेष** पुरुष, **विशेष** वस्तु।

विशिष्ट=(वि+शिष्ट)=सुसंस्कृत (व्यक्ति)

विशेष=असामान्य (व्यक्ति), ख़ास (वस्तु)

(२) **अशेष** और **निःशेष** एक दूसरे के विरोधी हैं।

'**अशेष**' का अर्थ है पूर्ण। '**निःशेष**' (निश्शेष) का अर्थ है, जिसमें कुछ बच न जाए; अर्थात् संपूर्ण की समाप्ति।

अग्रणी=[अग्र+√नी+क्विप्]=आगे रहनेवाला, श्रेष्ठ।

अग्रणीय=[अग्र+√नी+अनीयर्]=आगे रखने योग्य।

अग्रणीय व्यक्ति में आगे पहुँचने की पात्रता (योग्यता) होती है। **अग्रणी** व्यक्ति आगे पहुँचा हुआ होता है और सदा आगे रहता है।

गामी चलनेवाला या जानेवाला। **आगामी**=आनेवाला। **आगामी वर्ष**=आनेवाला वर्ष। √गम्+णिनि=गामिन्, गामी।

संस्कृत भाषा में कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें इडागम अनिवार्य है; जैसे √जागृ धातु में **क्त** प्रत्यय का योग इडागम के साथ ही होता है। अतः भूतकालिक कृदन्त **जागरित** ही होता है। हमें जागी हुई अवस्था को सदा 'जागरितावस्था' लिखना चाहिए।

संस्कृत की √ग्रस् धातु में **क्त** प्रत्यय इडागम के साथ नहीं आता। अतः सदा ग्रस्त ही भूतकालिक कृदन्त रूप बनता है, 'ग्रसित' कभी नहीं बनता। हमें 'रुग्ण' के लिए '**रोगग्रस्त**' का ही प्रयोग करना चाहिए, 'रोगग्रसित' का नहीं। 'रोगग्रसित' अशुद्ध है, व्याकरणविरुद्ध है। सं०ग्रस्तः = फा० **गिरिफ़्तः**। **रोगग्रस्त** = रोग से पकड़ा हुआ।

पुष्ट और **पोषित** दोनों ही भूतकालिक कृदन्त विशेषण शब्द हैं। '**पुष्ट**' में '**क्त**' प्रत्यय है; लेकिन 'पोषित' में **क्त** प्रत्यय इडागम के साथ है। **पोषित** में कर्ता का कर्तृत्व प्रधान है। '**पुष्ट**' में कर्ता के कर्तृत्व का अस्तित्व नहीं है।

महा, अति, परम विशेषण शब्दों में सूक्ष्म अर्थ–भेद है। '**महा**' शब्द विशालता और गरिमा का सूचक है। **अति** अधिकता का सूचक है। '**अति**' में अधिक संख्या का भी भाव समाविष्ट है।

- ☐ "वह **महाकवि** है।" **महाकवि** = काव्य रचना में बड़ा कवि।
- ☐ इसके स्थान पर "वह **अतिकवि** है" **प्रयोग** नहीं हो सकता। "उसे **अतिकाल** हो गया" प्रयोग ठीक है। '**अतिकाल**' से '**महाकाल**' बड़ा है। **महा** से **परम** बड़ा है। "वह **महाशक्ति** रखता है"; "वह **परमशक्ति** रखता है"—यहाँ **महाशक्ति** से 'परमशक्ति' बड़ी है। '**महावीर**' से '**परमवीर**' बड़ा होता है।

वृहत्, बड़ा, विशाल, विराट् और **महान्** एक ही वर्ग के ऐसे विशेषण शब्द हैं, जो अर्थ में अपनी निजी विशेषताएँ रखते हैं।

जो वस्तु लम्बी, चौड़ी और मोटी होती है, उसे **वृहत्** (बृहत्) कहते हैं; जैसे वृहत्कोश (बृहत्कोश), बृहदारण्यक उपनिषद्।

बड़ा विशेषण वस्तु और व्यक्ति दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकता है; जैसे बड़ा ग्रंथ, बड़ा आदमी।

कोई वस्तु जो बृहत् और वैभवपूर्ण है, उसे **विशाल** कहते हैं। जैसे **विशाल** नगरी अयोध्या। **विशाल** से भी बड़ा विशेषण **विराट्** है। **विशाल नगरी विराट् नगरी** से छोटी मानी जाएगी। **विराट् शरीर विशाल शरीर** से बड़ा होता है।

महान् में गुणाधिक्य होना अनिवार्य है। **बड़ा पुरुष** बनना सुगम है, लेकिन **महान्** पुरुष बनना बहुत कठिन है। **बड़ा कवि** और **महान्** कवि में गुणवैशिष्ट्य का बहुत बड़ा अन्तर है। भूषण **बड़े कवि** थे, लेकिन तुलसी **महान् कवि** थे।

प्रभु, परिभू, स्वयंभू, परिभव, विभव और **पराभव** शब्दों में अर्थ–भेद है—

(१) **प्रभु**=शक्तिशाली। (२) **परिभू**=चारों ओर होनेवाला अर्थात् चारों र से आच्छादित करनेवाला (३) **स्वयंभू**=स्वयं होनेवाला अर्थात् स्वयं उत्पन्न वाला। यजुर्वेद (अ० ४०/८) और ईशावास्य उपनिषद् (मंत्र ८) में **परिभू** और यंभू विशेषण उस परब्रह्म के लिए आये हैं--[सं० स्वयंभू=फ़ा० खु.दा) कविर्मनीषी **परिभूः स्वयंभूः**"—(यजु० ४०/८, ईशावा० मंत्र ८)

(४) **परिभव** या **भव**=उत्पत्ति, जन्म। (५) **विभव**=वैभव, महिमा, लन। (६) **पराभव**=नाश, समाप्ति।

तुलसीदास जी ने **भव, विभव और पराभव** की कारणरूपा श्री पार्वतीजी को ाया है। सीता जी पार्वती जी की पूजा करते हुए कहती हैं—

"भव **भव विभव पराभव** कारनि"—(मानस, बाल० २३५/८)

शेष, विशेष और **अशेष** का अर्थ-भेद इस प्रकार है—

(१) **शेष**=बचा हुआ अर्थात् बहुत थोड़ा।

(२) **विशेष**=थोड़ापन निकल गया है जिसमें से अर्थात् अधिक।

(३) **अशेष**=जो बचा हुआ नहीं है अर्थात् शेष रहित संपूर्ण। '**अशेषवित्**' का अर्थ है संपूर्ण का ज्ञाता।

संस्कृत के एक कवि ने एक बाला को देखा, जो एक डोरे में काच, मणि, र स्वर्ण-मूँगा पिरो रही थी। उसे देखकर कवि ने कहा, बाले! तुम्हारी कोई ती नहीं मानी जाएगी, संपूर्णज्ञाता शब्दमर्मी वैयाकरण शिरोमणि पाणिनि ने श्वन, युवन् और मघवन् शब्द एक सूत्र में रख दिये थे"—(श्वन्=कुत्ता; न्=युवक; मघवन्=इन्द्र) "काचं मणिं काञ्चनमेक सूत्रे ग्रथ्नासिबाले! नहि चित्रम्। अशेषवित् पाणिनिरेक सूत्रे श्वानंयुवानं मघवानमाह।"

"श्वयुवमघोनांमतद्धिते" --(पाणिनि, अष्टा० ६/४/१३३)

अन्तर् (अन्तः) और **अन्तर** में अर्थ-भेद है। अंग्रेज़ी शब्द **इन (IN)** के ानान्तर **अन्तर्** (अन्तः) है और अंग्रेज़ी शब्द **इंटर (INTER)** के समानान्तर तर शब्द है। **Inland** letter=अन्तर्देशीय पत्र। **Inernational games** =अन्तर राष्ट्रीय खेल।

'**अन्तर्राष्ट्रीय**' का अर्थ है राष्ट्र के अन्दर का। **अन्तरराष्ट्रीय** का अर्थ है दो न्न राष्ट्रों के बीच का। **अन्तरराष्ट्रीय कानून**=International law.

'**अन्तरराज्यीय बस-अड्डा**' का अर्थ है वह बस-अड्डा जिसका सम्बन्ध कई न्न राज्यों से है। '**अन्तर्राज्यीय बस-अड्डा**' का अर्थ है एक ही राज्य के अन्दर बस-अड्डा।

'**अन्तरजातीयविवाह**' का अर्थ है दो भिन्न जातियों के बीच हुआ विवाह। ह्मण जाति का लड़का यदि वैश्य जाति की लड़की से विवाह करेगा, तो वह ाह '**अन्तरजातीयविवाह**' कहलाएगा। एक ही जाति में यदि विवाह होगा, तो '**अन्तर्जातीय विवाह**' कहा जाएगा।

संस्कृत भाषा से हिन्दी में आये हुए दो विशेषण शब्द बहुत प्रचलित हैं—(१) **मृदु** (२) **मंजु**।

'**मृदु**' शब्द सं० **खर** का विलोम है। '**खर**' का अर्थ है 'कठोर' और **मृदु** का अर्थ है 'कोमल'। कालिदास ने 'रघुवंश' में राजा अज के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है—"राजा अज अपने शत्रु राजाओं के प्रति न कठोर थे और न अधिक कोमल"—

"न खरो न भूयसा मृदुः" —(रघुवंश, सर्ग ८/श्लोक ९)

तुलसीदास 'रामचरितमानस' में लिखते हैं कि पति श्रीराम के कोमल और मनोहर वचन सुनकर सीता जी के सुन्दर नेत्र आँसुओं से भर गये—

"सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के।
लोचन ललित भरे जल सिय के॥"—(मानस, अयो० ६४/१)

'**मंजु**' का अर्थ सुन्दर है। नेत्रों को जो आकृष्ट करता है, वह 'मंजु' है। तुलसी बालक राम की पनहीं को **मंजु** बताते हैं। अर्थात् राम की पनहीं सुन्दर चाक्षुष बिम्ब उपस्थित करती हैं। बालक राम की जूतियाँ सुन्दर हैं अर्थात् कामदार जूतियाँ हैं। तुलसी ने लिखा—

"पदकंजनि **मंजु** बनीं पनहीं"—(कवितावली, बाल०, छन्द ६)

श्रीराम सीता जी से वन चलने के लिए मना करते हैं, क्योंकि सीता जी के चरणकमल कोमल और सुन्दर हैं—

"चरन कमल **मृदु मंजु** तुम्हारे" —(मानस, अयो० ६२/६)

तुलसीदास 'मानस' (बाल० २/१) में गुरु की पद-रज को **कोमल** (मृदु) और **सुन्दर** (मंजुल) अंजन बताते हैं। **मृदु** और **मृदुल** का एक ही अर्थ है। **मंजु** और **मंजुल** का एक ही अर्थ है।

तुलसीदास जी ने भरत के वचनों को **मृदु** और **मंजु** बताया है। अर्थात् भरत के वचन कोमल और सुन्दर हैं। 'वचन' शब्द-पुंज ही है। '**शब्द**' में 'नाद' और 'अर्थ' होता है। 'अर्थ' में भाव समाविष्ट है। भरत की वाणी का नाद कानों के लिए कोमल है, इसलिए तुलसी ने 'मृदु' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थ-सौन्दर्य के लिए '**मंजु**' शब्द का प्रयोग किया है। अतः लिखा—

"भरत बचन सुनि देखि सुभाऊ। सहित समाज सराहत राऊ॥
सुगम अगम **मृदु मंजु** कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे॥"
—(तुलसीकृत 'मानस', अयो० २९४/१,२)

'**मृदु**' कोमल नाद बिम्ब की सृष्टि करता है। 'मंजु' से **भाव** का सौन्दर्य (भाव की सरसता) व्यक्त होता है। अतः '**मृदु**' का अर्थ कोमल और '**मंजु**' का अर्थ मनोहर (सुंदर) है।

'**मृदु**' और '**मंजु**' के अर्थों को संक्षेप में एक वाक्य में इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है—

"**मृदु**' का सम्बन्ध स्पर्श बिम्ब से और '**मंजु**' का सम्बन्ध चाक्षुष बिम्ब से है।"

धर्मिष्ठ और **धर्मात्मा** शब्द अर्थों में छोटे-बड़े हैं। **धर्मिष्ठ** का अर्थ 'अत्यन्त' धार्मिक तो है, लेकिन अर्थ में '**धर्मात्मा**' शब्द से छोटा है। '**धर्मात्मा**' पुरुष की आत्मा में धर्म उतर जाता है। धर्मात्मा का शरीर, मन और आत्मा धर्म से ओतः-प्रोत रहते हैं।

यजुर्वेद (अ० ४०/६) में एक मंत्र है, जिसमें 'धर्मात्मा' के स्वरूप की व्याख्या मिल जाती है—

"सर्वाणि भूतान्यात्मन्नूनेवान् पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥" —(यजु० ४०/६)

तुच्छ बुद्धिवाले को **लघुचेता** और बुद्धिमान् को **सुचेता** कहते हैं।

निरुद्ध का अर्थ है 'विशेष रूप से रुका हुआ', लेकिन **नीरुद्ध** का अर्थ है, जो रुका हुआ न हो अर्थात् अनवरुद्ध।

आद्यन्त और **आद्योपान्त्य** में अर्थ-भेद यह है—

(१) **आद्यन्त** = आदि से अन्त तक। उदा०—"गोपाल ने यह पुस्तक **आद्यन्त** पढ़ ली है।"

(२) **आद्योपान्त्य** (आद्य + उपान्त्य)—**आद्य** = आदि का।
उपान्त्य = किनारे का अथवा अन्तिम से पूर्व का एक (अन्त से अव्यवहित पूर्व)।
उदा० "मैंने इस पुस्तक का आद्य पाठ और उपान्त्य पाठ पढ़ लिया है।"

"मैंने इस पुस्तक के आद्योपान्त्य पाठ पढ़ लिये हैं। **आद्यन्त** और **आद्योपान्त** में अर्थ-भेद है।

अचल और **निश्चल** अर्थ में एक नहीं हैं। **अकंटक** और **निष्कंटक** अर्थ में एक नहीं हैं। **अ** और **निस्** (निः) निषेधात्मक होते हुए भी शब्द के आदि में लगकर उसके अर्थ में भेद कर देते हैं।

अचल और **अकंटक** विशेषण शब्दों का अर्थ—

(१) **अचल** = गति से हीन। 'अचल' में गति का अनस्तित्व सदा भूत में भी था और वर्तमान में भी रहता है।

(२) **अकंटक** = काँटों रहित। 'अकंटक' में काँटे न भूत में थे, न वर्तमान में हैं।

निश्चल और **निष्कंटक** विशेषण शब्दों के अर्थ—

(१) **निश्चल** = निकल गयी है गति जिसमें से। 'निश्चल' में आदि में तो गति का अस्तित्व होता है, लेकिन बाद में समाप्त हो जाता है।

(२) **निष्कंटक**=निकल गया है काँटा जिसमें से। 'निष्कंटक' में आदि में काँटा होता है; लेकिन बाद में निकल जाता है।

मान लीजिए कि निर्जन वन में एक तालाब है। यदि आपने उसके जल में भारी ईंट फैंक दी, तो उसका पानी गतिमान् हो जाएगा। फिर शनै: शनै: वह गति कम होती जाएगी। अन्त में वह गति समाप्त भी हो जाएगी। तब हम कह सकते हैं कि "तालाब का पानी **निश्चल** है।" हिमालय पर्वत के लिए कहेंगे, "हिमालय **अचल** है।"

श्रीराम ने रावण को मारकर लंका का राज्य विभीषण को दे दिया था। तब लंका का राज्य **निष्कंटक** हो गया था।

अयोध्या के राज्य के लिए कह सकते हैं कि अयोध्या का राज्य **अकंटक** था।

प्रभावी, **प्रभाविनी**, **प्रभावक**, **प्रभावशाली** और **प्रभविष्णु** शब्द अर्थ में कुछ कुछ मिलते हुए तो हैं; परन्तु इनके अर्थों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है।

प्रभावी (प्रभाव+इनि) मूलतः 'प्रभाविन्' प्रातिपदिक से प्रथमा विभक्ति के एकवचन में पुंलिंग शब्द है। इसका अर्थ है प्रभाववाला, असरवाला। 'प्रभावी' का स्त्रीलिंग रूप **प्रभाविनी** है अर्थात् असरवाली। '**प्रभावी**' और '**प्रभावक**' अर्थ में समान हैं।

'**प्रभावशाली**' का अर्थ है 'प्रभाव से युक्त' या 'प्रभाव से सम्पन्न'। √शाल् धातु का अर्थ 'चमकना' भी है। अतः **शाली** (√शाल्+णिन्) का अर्थ 'चमकदार' भी है। 'प्रभावशाली' का अर्थ हुआ 'प्रभाव से चमकदार। इसलिए '**प्रभावी**' गुण में '**प्रभावशाली**' से घटिया है।

अब प्रश्न '**प्रभविष्णु**' शब्द के अर्थ का है। **प्रभविष्णु** (प्र+√भू+इष्णुच्) का अर्थ है शक्तिमान्, बहुत बड़ी सामर्थ्यवाला।

हिन्दी में '**प्रभविष्णु**' शब्द 'प्रभावशाली' की अर्थ-परिधि में आ गया है। बृहत् हिन्दीकोश (ज्ञानमंडल, काशी) में '**प्रभविष्णु**' का अर्थ 'प्रभावशाली' लिखा गया है।

अर्थ की दृष्टि से 'प्रभविष्णु' में प्रभावित करने की शक्ति सबसे अधिक है। अतः '**प्रभविष्णु**' अर्थ में '**प्रभावशाली**' से बढ़कर है।' **प्र**+√भू+इष्णुच् से निर्मित 'प्रभविष्णु' में 'प्र' उपसर्ग आधिक्य का सूचक है। 'दान' से 'प्रदान' में विशेषता का अर्थ निहित है '**भविष्णु**' से **प्रभविष्णु** अर्थ में भारी है।

अर्थ के आरोही-क्रम में **प्रभावी**, **प्रभावशाली** और **प्रभविष्णु** शब्द हैं। 'प्रभविष्णु' सर्वोपरि है।

सन्मुख और **सम्मुख** शब्दों के अर्थों में भी भिन्नता है। सत्+मुख='**सन्मुख**' का अर्थ है 'अच्छा मुख'। सत्कर्म=अच्छा काम। **सन्मुख**=अच्छा है मुख जिसका।

सम्+मुख=**सम्मुख** का अर्थ है मुख के सामने उपस्थित। सम्+अक्ष=

समक्ष का अर्थ है 'आँखों के सामने उपस्थित ।

'सम्मुख' शब्द विशेषण है ।

सन्मुख का प्रयोग—

(१) "**सन्मुख** सबको प्रिय लगता है ।" (२) **सन्मुख** राम के (अच्छे मुख-वाले राम के) दर्शन किये ।"

सम्मुख और **समक्ष** का प्रयोग—

(२) "गोपाल मेरे **सम्मुख** था, लेकिन दिखाई नहीं पड़ा ।"

(३) "गोपाल मेरे **समक्ष** था, लेकिन दिखाई नहीं पड़ा ।"

निर्धन और **दरिद्र** विशेषण शब्द हैं । **'धनहीन'** तो 'निर्धन' और 'दरिद्र' दोनों ही होता है; लेकिन **'दरिद्र'** का जीवन अधिक कष्टमय बीतता है । उसका हाल भी निर्धन की अपेक्षा अधिक बुरा होता है । 'दरिद्र' शब्द अर्थ में 'कँगला' शब्द के अधिक निकट है । यदि सहृदय मनुष्य के आगे निर्धन और दरिद्र व्यक्ति खड़े हों, तो उसकी करुणा का आलम्बन दरिद्र पहले बनेगा, क्योंकि **दरिद्र** की दुर्दशा **निर्धन** की अपेक्षा अधिक दयनीय होती है ।

'भावना' का अर्थ है **'भावोद्बुद्धि का चिन्तन-बीज भाव'** । किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति बार-बार चिन्तन से जो मनोविकार उत्पन्न होता है, वह **भाव** है । उस भाव की जिसमें प्रधानता है, वह **'भावुक'** कहलाता है । भावुक के हृदय में व्याप्त भाव 'भावुकता' कहा जाता है । 'भावना' की द्रवणशील घनीभूत आंगिक अभिव्यक्ति का नाम **भावुकता** है । भावुकता के आवेग में मनुष्य का शरीर रोमांचित हो जाता है, कण्ठ गद्गद हो जाता है और नेत्रों से अश्रु-प्रवाह होने लगता है । भावुक प्रायः **गलदश्रु** भी हो जाता है । जयनेन्द्र जी की नारियों में **भावना** तो है; लेकिन 'भावुकता' नहीं है । उनके उपन्यासों की नारियाँ विषम परिस्थितियों में दुखी और संतप्त तो होती हैं; लेकिन आँसू नहीं बहातीं । सूरदास जी की गोपियाँ 'भावुकता' की प्राणवन्त साकार मूर्तियाँ हैं ।

भावुक, संवेदनशील और **तुनुकमिजाज** विशेषण शब्दों में पर्याप्त अर्थ-भेद है । अच्छाई की दृष्टि से **भावुक** व्यक्ति उत्तम, **संवेदनशील** मध्यम और **तुनुकमिज़ाज** (चिड़चिड़ा) निकृष्ट माना जाता है ।

कोमल या करुण भावों से शीघ्र प्रभावित होनेवाला व्यक्ति **भावुक** माना जाता है । जो कोमल या कठोर भावों के अधीन बहुत जल्दी हो जाता है, उसे **'संवेदनशील'** कहते हैं । **भावुकता** शुक्लपक्षीय स्वभाव है, लेकिन **संवेदनशीलता** शुक्लपक्षीय या कृष्णपक्षीय भी हो सकती है । **तुनुकमिज़ाजी** सदा कृष्णपक्षीय मानी जाती है । तुनुकमिज़ाज व्यक्ति अच्छा नहीं माना जाता । तुनुकमिज़ाज व्यक्ति अपनी रुचि के प्रतिकूल बात सुनकर या किसी दृश्य को देखकर बहुत जल्दी चिड़चिड़ा हो जाता है । **भावुक**=EMOTIONAL; **संवेदनशील**=SENSITIVE **तुनुकमिज़ाज**=TOUCHY.

भावुक व्यक्ति में सहृदयता की प्रधानता होती है। कवि और भक्त भावुक होते हैं। रसज्ञ भक्तों के लिए भागवत (स्कंध १/अ० १/३) में 'रसिक भावुक' कहा गया है। बुद्धिप्रधान मर्मज्ञ **भावक** कहलाता है। सहृदय आलोचक **'भावक'** कहा जाता है।

संवेदनशील व्यक्ति भड़कीले स्वभाव का होता है। संवेदनशील में विवेक की कमी भी हो सकती है।

घटिया संवेदनशील को तुनुकमिज़ाज भी कह सकते हैं। तुनुकमिज़ाज छोटी-सी बात पर भी भड़क जाता है। वह स्वभाव का हेटा (छोटा) माना जाता है।

फ़ारसी के 'तुनुक' शब्द और संस्कृत के 'तुनुक' शब्द का अर्थ 'अल्प' है। स्वभाव के अर्थ में अरबी शब्द 'मिज़ाज' है। सं० **अल्पस्वभाव**=फा०+अर० **तुनुकमिज़ाज**।

हिन्दी के लेखक प्रायः **दिवंगत, स्वर्गगत** और **स्वर्गीय** विशेषण शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में करते हैं। सारांश यह कि जिस व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, उसे शुभानुसारिणी वाणी में दिवंगत, स्वर्गगत या स्वर्गीय कह देते हैं, भले ही उस मृत मनुष्य को स्वर्ग मिला हो या न मिला हो। बहुत-से तो मृत मनुष्य के प्रति अपनी महती श्रद्धा प्रकट करने के लिए उसे **ब्रह्मलीन** भी कह देते हैं। **दिव**=स्वर्ग। **दिवंगत**=स्वर्गगत।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि **स्वर्गगत** और **स्वर्गीय** शब्द का एक अर्थ है अथवा नहीं? **परदेशगत**=परदेश को गया हुआ।

'स्वर्गगत' द्वितीया तत्पुरुष समास (कर्म तत्पुरुष समास) है। अर्थ है 'स्वर्ग को गया हुआ'। **स्वर्गीय** (स्वर्ग+छ+ईय) का अर्थ है स्वर्ग से सम्बद्ध। जैसे **ईश्वरीय** माया, **स्वर्गीय** दृश्य, **जलीय** तत्त्व, **प्रान्तीय** स्थिति आदि में **ईश्वरीय, स्वर्गीय, जलीय** और **प्रान्तीय** विशेषण शब्द अपना अर्थ प्रकट कर रहे हैं।

'स्वर्गीय' शब्द का प्रयोग 'दिवंगत' या 'स्वर्गगत' अर्थ में नहीं करना चाहिए।

यदि **स्वर्गीय** का अर्थ 'स्वर्ग को गया हुआ' लिया जाएगा, तो **भारतीय** का अर्थ 'भारत को गया हुआ' होगा। फिर तो कोई चीनी मनुष्य यदि भारत जा चुका होगा, तो वह **भारतीय** कहा जाएगा। जब **स्वर्गीय** का अर्थ 'स्वर्गगत' है, तब तो '**भारतीय**' का अर्थ होगा 'भारतगत'। 'भारतीय' का ऐसा अर्थ कभी नहीं होता। प्रारम्भ में किसी लेखक ने 'स्वर्गगत' के अर्थ में **स्वर्गीय** शब्द का प्रयोग कर दिया होगा। लेखक भी कुछ वज़नदार होगा; अतः परवर्ती लेखक भी वैसा ही लिखने लगे।

अद्वैत, एकक और **द्वैत** विशेषण शब्दों के अर्थों में सूक्ष्म अन्तर है। देखने में **अद्वैत** और **एकक** का अर्थ एक ही लगता है; लेकिन अन्तर यह है कि **'अद्वैत'** की बिम्बात्मक अर्थ-प्रक्रिया में पहले दो का अस्तित्व मानस-पटल पर आसन जमाता

है, तत्पश्चात् उन दो के अस्तित्वों का निराकरण करके एक के अस्तित्व को ग्रहण किया जाता है। "एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, जीवो ब्रह्मैव नापरः"

सारांश यह कि **ब्रह्म** और **जीव**—इन दो की अनादि पृथक्-पृथक् सत्ताएँ मानना, **द्वैत** है। इस द्वैत का न होना **'अद्वैत'** है। अर्थात् द्वैत भाव के नाश का नाम **'अद्वैत'** है। 'अद्वैत' की अर्थच्छवि में पहले दो की छवि है, फिर एक छवि शेष रह जाती है।

एकक में प्रारम्भ से एक का ही अस्तित्व रहता है। **एकक**=केवल एक। **अद्वैत**=जो दो नहीं है। द्वीनं भावः द्वैतम्। **द्वैतं नास्ति यस्य तत् 'अद्वैतम्'**; अर्थात् द्वितीय-शून्य।

द्वैत दो का भाव है। 'द्वैत' में **ब्रह्म** और **जीव** का अस्तित्व अनादि काल से माना जाता है। द्वैत के भाव का खंडन 'अद्वैत' कहलाता है।

'अद्वैतवाद' को 'एककवाद' नहीं कहा गया। इसका अर्थ यह है कि दर्शन के क्षेत्र में पहले द्वैतवाद का अस्तित्व था। उसके खंडन में 'अद्वैतवाद' दर्शन का प्रतिपादन हुआ। यदि 'द्वैत' दर्शन पहले अस्तित्व में न आया होता तो फिर **'अद्वैतवाद'** का नामकरण 'अद्वैत' न किया जाता। **'अद्वैत'=द्वैत का खंडन। द्वैत=DUAL अद्वैत**=NOT DUAL. **एकक**=Only One.

विषाक्त और **विषक्त** विशेषण शब्द भूतकालिक कृदन्त हैं। **'विषाक्त'** में √अञ्ज् धातु और **'विषक्त'** में √सञ्ज् धातु है। विष+अक्त=विषाक्त (विष मिला हुआ है जिसमें)। विषक्त=वि+सक्त (विशेष रूप से चिपका हुआ)

धातु √अञ्ज्+क्त=अक्त (मिला हुआ)। √सञ्ज्+क्त=सक्त (चिपका हुआ)

(१) यह दही **विषाक्त** है। यह पर्यावरण **विषाक्त** है।

(२) इस खम्भे से स्वर्णपत्र **विषक्त** है। काँतर मेरे शरीर से **विषक्त** है।

'अक्त' में मिलान अन्दर से है और **सक्त** में मिलान बाहर से है। **विष+अक्त =विषाक्त। वि+सक्त=विषक्त।**

अगला, पिछला, पहला और **बाब का** शब्द विशेषण के रूप में हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं।

'अगला' शब्द दो अर्थों में आता है--

(१) **अगला**=आगे आनेवाला अर्थात् भविष्य का।

"अब तो कुछ चैन भी है; लेकिन **अगला** ज़माना बहुत परेशानियों का आएगा।"

(२) **अगला**=भूतकाल का। ग़ालिब ने एक शेर में इसी अर्थ में **'अगला'** का प्रयोग किया है—

"रेखती के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब;
कहते हैं अगले जमाने में कोई 'मीर' भी था।" —(ग़ालिब)

जोश मलीहावादी ने भी **'अगली'** शब्द का प्रयोग 'भूतकाल' के ही अर्थ में किया है—

"तबीअत खु.श हुई हमनशीं कल 'जोश' से मिलकर;
अभी **अगली** शराफ़त के नमूने पाये जाते हैं।
—(जोश मलीहाबादी)

'अगला' के साथ **'पिछला'** का अर्थ वर्तमानकाल होता है। **पहला** और **बाद** का में **पहला** भूतकाल का और **बाद का** वर्तमान या भविष्यत् का सूचक है। **पहला** ज़माना हमने देखा था, **बाद का** तुम देखोगे। 'आगे' का अर्थ भविष्यसूचक भी है—

'आगे' कालवाची क्रियाविशेषण तथा स्थानवाची क्रियाविशेषण है।

(१) **आगे**—भविष्यत्कालीन क्रियाविशेषण।

"इब्ताए-इश्क़ है रोता है क्या ?
आगे-आगे देखिए होता है क्या ?" —(मीरतक़ी 'मीर')

× × ×

"हम **आगे** पता लगाएँगे कि कौन दूध में पानी मिलाता है ?"

(२) **आगे**—स्थानवाची क्रियाविशेषण।

"गो हाथ को जुम्बिश नहीं, आँखों में तो दम है;
रहने दो अभी साग़रो-मीना मेरे **आगे**।" —(ग़ालिब)

× × ×

"तुम मेरे **आगे** खड़े हो जाओ।"

अतः अर्थ भिन्नता के कारण **आगे** अलग-अलग दो शब्द माने जाएँगे।

'मीर' ने **'आगे'** का प्रयोग 'भविष्य' के अर्थ में किया है। ग़ालिब ने **'आगे'** का प्रयोग अपनी एक ग़ज़ल में 'भूतकाल' के अर्थ में किया है—

"**आगे** आती थी हाले दिल पे हँसी;
अब किसी बात पर नहीं आती। —(ग़ालिब)

'आगे' की तरह संस्कृत का **अग्र** शब्द भी द्विरर्थक है। अतः कहीं-कहीं भ्रांति उत्पन्न कर देता है। **'अग्र'** का अर्थ कुछ गीता-व्याख्याताओं ने ठीक नहीं समझा है। गीता (अ० ६/१३) में 'नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य' का अर्थ कुछ व्यक्ति करते हैं—"नाक के ऊपर के सिरे को देखकर"। सारांश यह कि योगी नासिका के ऊपरी सिरे पर ध्यान जमाये।

भगवद् गीता का श्लोक यह है—

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य **नासिकाग्रं** स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥"—(गीता ६/१३)

(अर्थात् योगी धड़, गर्दन और सिर एक सीध में अचल रखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ अपनी नासिका के अग्र भाग पर निगाह टिकाकर)

उपर्युक्त श्लोक के 'नासिकाग्र' का वास्तविक अर्थ यहाँ पर समझना परमा-

वश्यक है ।

योग में षट्चक्रों का उल्लेख है—

(१) मूलाधार चक्र (२) स्वाधिष्ठान चक्र (३) मणिपूर चक्र (४) अनाहत चक्र (५) विशुद्धाख्य चक्र (६) आज्ञाचक्र ।

आज्ञाचक्र का केन्द्र त्रिकुटी है । दोनों भौंहें और नासिका-मूल का मिलन–बिन्दु त्रिकुटी है । गीता के श्लोक (अ० ६/१३) में आये हुए 'नासिकाग्र' का अर्थ है नासिका का मूल जहाँ आज्ञाचक्र है, योगी अपना ध्यान वहीं पर स्थिर करे । गीता में श्रीकृष्ण का यही मंतव्य है ।

नासिका–मूल भी 'नासिकाग्र' कहलाता है । 'अग्र' शब्द के दुहरे अर्थ ने ही भ्रान्ति को जन्म दिया ।

हठयोग का सिद्धान्त मानता है कि महाकुण्डलिनी विश्वव्याप्त है । सम्पूर्ण सृष्टि–व्याप्त महाकुण्डलिनी का लघुतम रूप कुण्डलिनी है, जो व्यक्ति के शरीर में है । कुण्डलिनी और प्राण–शक्ति को लेकर जीव माता की कोख में प्रवेश करता है ।

छठा चक्र 'आज्ञाचक्र' है । वह दो दल का कमल है । योगी को वहाँ दीपक की लौ दिखाई देती है । दीपक की लौ के दर्शनों के लिए ही गीता में 'नासिकाग्र' पर ध्यान लगाने की बात कही गयी है । सप्त लोकों में जो स्थान तपलोक का है, व्यष्टि में वही स्थान आज्ञाचक्र (आज्ञा कमल) का है ।

फ़ारसी भाषा में दो विशेषण शब्द हैं, जिनका प्रायः एक ही अर्थ समझा जाता है—(१) **बदनाम** (१) **रुसवा** । दोनों शब्दों का एक अर्थ 'कुख्यात' बता दिया जाता है ।

वास्तव में **बदनाम** और **रुसवा** के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर यह है कि '**बदनाम**' का अर्थ 'कुख्यात' है और **रुसवा** का अर्थ 'अधिक कुख्यात' है । बदनामी के मामले में '**रुसवा**' '**बदनाम**' से अधिक भारी है । अर्थ–भिन्नता के कारण ही दोनों शब्द साथ–साथ भी प्रयुक्त होते हैं । एक शायर ने लिखा है—

"मुहब्बत ने किया **बदनाम रुसवा** इस क़दर मुझको;
कि हर महफ़िल में मेरी दास्ताँ दुहराई जाती है ।"

वाल्मीकि–रामायण और दीवाने–ग़ालिब को पढ़ते समय मुझे कई शब्द ऐसे मिले जो फ़ारसी भाषा ने संस्कृत भाषा से ग्रहण किये हैं । संस्कृत का विशेषण शब्द **पिनद्ध** (=छिपा हुआ) फ़ारसी ने **पिनहाँ** करके ले लिया है ।

महर्षि वाल्मीकि ने अशोक वाटिका में बैठी हुई सीता को धुएँ से छिपीहुई अग्निशिखा के समान बताया है—

"**पिनद्धां** धूमजालेन शिखामिव विभासोः"

—(वा० रामा० सुन्दर० १५/२०)

शायर ग़ालिब ने लिखा—

"सब कहाँ ? कुछ लाल–ओ–गुल में नुमायाँ हो गई;
ख़ाक में क्या सूरतें होंगी कि **पिन्हाँ** हो गई।"—(ग़ालिब)

संस्कृत का आप्तः (=पाया हुआ) ही फ़ारसी ने **याफ्तः** करके अपने घर में बसा लिया है। दोनों ही कृदन्त विशेषण हैं।

फ़ारसी ने संस्कृत से शब्द ही ग्रहण नहीं किये, संस्कृत की उच्चारण–पद्धति भी कुछ ग्रहण की है।

संस्कृत में ऐसे अनेक शब्द हैं, जो **व** और **ब** से लिखे जाते हैं **और** एक ही अर्थ देते हैं। जैसे—

व सहित संस्कृत शब्द	**ब सहित संस्कृत शब्द**		**अर्थ**
वृहत्	बृहत्	=	बड़ा
व्राह्मण	ब्राह्मण	=	एक सर्वोच्च वर्ण
व्रह्म	ब्रह्म	=	जगत् का मूलतत्त्व
विभीषण	बिभीषण	=	रावण का छोटा भाई

फ़ारसी ने भी इसी परम्परा का पालन किया है—

व सहित फ़ारसी शब्द	**ब सहित फ़ारसी–शब्द**		**अर्थ**
आव	आब	=	पानी

संस्कृत में अन्तिम **न्** व्यंजन अनुनासिकता (चन्द्र बिन्दु) में बदल जाता है। यही बात फारसी में भी पायी जाती है।

संस्कृत में	**फ़ारसी में**		
श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्=श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्। —(गीता, ४/३६)	आस्मान्	=	आस्माँ
	मर्दान्	=	मर्दाँ
	हिन्दोस्तान्	=	हिन्दोस्ताँ
	मकान्	=	मकाँ
	बयान्	=	बयाँ

भाषा के कुछ समानरूप पुत्र

कभी–कभी भाषा के दो पुत्र रूप, गुण, आकृति आदि में ऐसी समानता रखते हैं कि उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है। प्रायः **मृदु** और **मंजु** को 'कोमल' कह दिया जाता है। अर्थात् **मृदु**=कोमल। **मंजु**=सुंदर। वास्तव में दोनों शब्द रूपाकृति और स्वभाव में अलग–अलग हैं। '**मृदु**' कोमल के साथ सुंदर भी हो सकता है।

तुलसीदास जी लिखते हैं—

"सुगम अगम **मृदु मंजु** कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे।।"
—(मानस, अयो० २६४/२)

क्रियाविशेषण अव्यय

मधुर–मधुर और **धीरे–धीरे** में अर्थ–भेद यह है कि 'मधुर–मधुर' की मन्दता या मंथरता अधिक प्रिय है। 'धीरे' की अपेक्षा 'धीरे–धीरे' में आधिक्य सूचक भाव अधिक है। 'धीरे–धीरे' में गति की अधिक मन्दता है। पद–चाप की ध्वनि न करते हुए मन्द–मन्द चलना 'धीरे–धीरे चलना' कहाता है। प्रसाद जी ने कहा है–

"चुप रहो **धीरे** चलो यह यामिनी है।" —(प्रसाद)

तुलसी ने रामचरित मानस (लंका. १३/२) में बादलों के मन्द–मन्द ध्वनि से गरजने के लिए "**मधुर–मधुर**" का प्रयोग किय है। इसमें श्रव्य बिम्ब है–

"मधुर–मधुर गरजइ घन घोरा" —(मानस, लंका० दो० १३/२)

कवयित्री महादेवी वर्मा ने लिखा—

"**मधुर–मधुर** मेरे दीपक जल" —(महादेवी वर्मा)

यह 'मधुर–मधुर' चाक्षुष बिम्ब बनाता है और कालसूचक है। महादेवी को दीपक का धीरे–धीरे जलना प्रियतम की याद में अच्छा लगता है, इसलिए 'मधुर–मधुर' का प्रयोग किया है। प्रियतम के वियोग में स्मृति–संयोग प्राप्त करते हुए जीवन–दीप धीरे–धीरे जलेगा, तो अधिक समय तक मिलन का सुख मिलेगा।

लाहौर की कवयित्री शमशाद 'नज्मा' ने वियोग में 'स्मृति–संयोग' की बात बड़े सुन्दर ढंग से कही है—

"जब मेरे पास वो नहीं होते ;
उनसे होती हैं राज़ की बातें।" —(नज़्मा)

× × ×

मोमिन ने भी वियोग में प्रिय के मिलन का वर्णन ऐसे ढंग से किया है कि उस शेर पर गालिब मोमिन को अपना सारा दीवान देने के लिए तैयार हो गये थे।

मोमिन ने कहा है—

"तुम मेरे पास होते हो गोया;
जब कोई दूसरा नहीं होता।" —(मोमिन)

इसी भाव को महादेवी वर्मा ने इन शब्दों में कहा—

"दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।" —(महादेवी वर्मा)

कवयित्री महादेवी वर्मा का 'प्रिय' भी तम और एकान्त में मिलन के लिए आता है—

'मेरे प्रिय को भाता है तम के परदे में आना।
ओ नभ की दीपावलियो ! तुम क्षण भर को बुझ जाना"
—(महादेवी वर्मा)

'**तम**' अन्धकार के साथ शून्य में एकान्त का भी संकेत करता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से 'तम का परदा' वही है' जिसे श्वेताश्वतर उपनिषद् के

ऋषि ने बताया—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्" —(श्वेता० अ०६/१४)

धन्यवाद पूर्वक और **सधन्यवाद** क्रियाविशेषण शब्दों का एक अर्थ नहीं है। वाक्यों में दोनों शब्दों के प्रयोगों पर विचार करना चाहिए–

(१) "मैं सात दिनों के बाद आपकी पुस्तक **धन्यवादपूर्वक** लौटा दूंगा।"

इसका अर्थ है कि पहले धन्यवाद दिया जाएगा, फिर पुस्तक लौटायी जाएगी।

(२) मैं सात दिनों के बाद आपकी पुस्तक **सधन्यवाद** लौटा दूंगा।"

इसका अर्थ है कि पुस्तक के साथ धन्यवाद भी लौटा दिया जाएगा।

अतः दूसरे वाक्य में '**सधन्यवाद**' का प्रयोग गलत है।

"मोहन ने गोपाल के उधार रुपये गोपाल को **सधन्यवाद** दिये।"

इस वाक्य का अर्थ है कि मोहन ने गोपाल को धन्यवाद दिया और उधार रुपये भी दिये।

यहाँ 'सधन्यवाद' का प्रयोग सही है।

हमें अर्थ को दृष्टि-पथ में रखकर **धन्यवादपूर्वक** और **सधन्यवाद** का प्रयोग करना चाहिए।

फारसी भाषा के कुछ विशेषण और अव्यय

फारसी का उपसर्ग '**बर**' हिन्दी के '**सु**' के समानान्तर है। सं० **सुभाग्य**= अच्छा भाग्य, सौभाग्य। फा० **बरखुर्द**=खुशकिस्मती। **बरखुर्दार**=खुश किस्मत-वाला। फा बर=सं० सु।

फारसी का **बर** वास्तव में संस्कृत का **वर** (=अच्छा) ही है। भारत से ईरान गया तो **वर बर** में बदल गया। देश की प्राकृतिक दशा और जलवायु का प्रभाव ध्वनियों पर भी पड़ता है।

संस्कृत में विशेषणसूचक **तरप्** और **तमप्** प्रत्यय हैं। जैसे **सुन्दर, सुन्दरतर सुन्दरतम**। इसी प्रकार फारसी में भी **तर, तरीन** प्रत्यय हैं – **बहतर, बहतरीन**। संस्कृत का **बृहत्तर** फारसी में **बहतर** और संस्कृत का **महत्तर** फारसी में **महतर** हो गया। फा० बहतरीय=सं० वृहत्तम, बृहत्तम।

संस्कृत में **प्रशस्य, श्रेयान्** और **श्रेष्ठ** शब्द हैं। सं० श्रेयान्=फा० बरतर। सं०वरतर=फा० बरतर। फा० **बर** (=अच्छा)। ग़ालिब ने 'बर' का प्रयोग विशेषण के रूप में किया है—

"कोई उम्मीद **बर** नहीं आती। कोई सूरत नजर नहीं आती॥

—(गालिब)

फारसी भाषा के तीन अव्यय बहुत प्रचलित हैं—

(१) **अगर** या **गर** (=यदि, जो) (२) **मगर** (=लेकिन' परन्तु, शायद)
(३) **काश** (यदि ऐसा हो, खुदा करे, ईश्वर करे)।

सामान्यतया सभी लेखक '**मगर**' अव्यय का प्रयोग 'लेकिन अर्थ में करते हैं। शायर गालिब ने '**मगर**' का प्रयोग 'शायद' के अर्थ में किया है। ग़ालिब के समय में '**मगर**' का प्रयोग संभवतः 'शायद' के अर्थ में होता होगा। कालान्तर में उस अर्थ का लोप हो गया। ग़ालिब ने लिखा है —

''काबा किस मुँह से जाओगे 'गालिब';
शर्म तुमको **मगर** नहीं आती।'' —(ग़ालिब)

उपर्युक्त शेर में '**मगर**' का अर्थ 'शायद' है; लेकिन नहीं।

'**काश**' फारसी का संक्षिप्त वाक्य मूलक अव्यय है। ग़ालिब ने लिखा है—

''मैं भी मुँह में जबान रखता हूँ;
काश पूछो कि मुद्आ क्या है? —(ग़ालिब)

मानक हिन्दी में क्रिया विशेषण 'अव्यय' भी है और 'पद' भी

'**अव्यय**' अपरिवर्तित रहता है और '**पद**' परिवर्तनशील होता है। **अव्यय** =शब्द। **पद**=शब्द का विभक्तिगत रूप।

(१) लड़का **अच्छा** गाता है। (२) लड़के अच्छा गाते हैं।
(३) लड़की **अच्छा** गाती है। (४) लड़कियाँ **अच्छा** गाती हैं।

उर्युक्त चारों वाक्यों में **अच्छा** क्रियाविशेषण अपरिवर्तित है। अतः **अच्छा** क्रियाविशेषण अव्यय है।

निम्नांकित वाक्यों के क्रियाविशेषण परिवर्तनशील हैं, अतः ये क्रियाविशेषण **पद** हैं—

(१) कौआ **तिरछा** उड़ता है (२) कोए **तिरछे** उड़ते हैं।

निषेधात्मक अव्यय

न, नहीं और **मत** निषेधात्मक अव्यय हैं। इनमें **न** संस्कृत भाषा का अव्यय है।

'**नहीं**' में '**न**' की अपेक्षा अधिक बलात्मक निषेध है।

(१) पिता ने अपने पुत्र गोपाल से कहा, ''गोपाल! तू आज सन्ध्या को खेलने **न** जाएगा।''

(२) पिता ने अपने पुत्र मोहन से कहा, ''मोहन! तू आज सन्ध्या को खेलने **नहीं** जाएगा।

पिता ने गोपाल से खेलने के लिए मना किया है। यदि गोपाल खेलने चला गया, तो पिता उस पर कुछ नाराज होगा।

यदि मोहन खेलने चला गया, तो पिता उस पर बहुत नाराज होगा। उसकी हड्डी–पसली भी तोड़ सकता है, क्योंकि पिता की बलात्मक निषेधाज्ञा का उल्लंघन मोहन ने किया है।

मत भी निषेधात्मक अव्यय है। **न** और **मत** में प्रयोगात्मक अन्तर है। **मत** आज्ञार्थ में निषेधसूचक है।

(क) **न** के प्रयोग—

(१) । । "मेरा लड़का न पढ़ता है, **न** दुकान का काम करता है।"

(२) ☐ "मेरा लड़का **न** इंजीनियर बना, **न** डाक्टर बना।"

(३) ☐ "मेरा लड़का **न** तुम्हारे यहाँ जाएगा, **न** कभी खाना खाएगा।"

(४) ☐ "तुम इस समय न पढ़ो।"

उपर्युक्त चारों वाक्यों में **न** अव्यय का प्रयोग है। चतुर्थ वाक्य आज्ञार्थसूचक वर्तमान काल में है। बस, आज्ञार्थ में ही **मत** अव्यय का प्रयोग हो सकता है। ऊपर के पहले तीन वाक्यों में **न** के स्थान पर **मत** का प्रयोग नहीं हो सकता। "तुम इस समय **मत** पढ़ो" वाक्य साधु है।

उच्चारण में निषेधात्मक एक न, अर्थ में निषेधात्मक दो न

कभी–कभी वाक्य में एक निषेधात्मक **न** दीपदेहली प्रयोग के रूप में दो **न** का अर्थ दिया करता है—

उच्चारण अवस्था	**अर्थात्मक अवस्था**
(१) लेटो **न** बैठो, खड़े रहो।	(१) **न** लेटो, **न** बैठो, बस खड़े रहो।
(२) मैं कहीं गया **न** आया; लोग मुझे व्यर्थ बदनाम करते हैं।	(२) मैं **न** कहीं गया, **न** कहीं आया; लोग मुझे व्यर्थ बदनाम करते हैं।

विध्यर्थ न और नहीं

विधिसूचक **न** और **नहीं** के प्रयोग भी हिन्दी भाषा में मिलते हैं। जैसे—

(१) तुम मेरे साथ चलो **न**। (यहाँ **न** बलात्मक विध्यर्थ में है, निषेधार्थ में नहीं)

(२) बस, गोपाल आया **नहीं** कि मैं यहाँ से चला **नहीं**। (यहाँ दोनों **नहीं** विध्यर्थ में हैं, निषेधार्थ में नहीं।)

सं० **न** (निषेधार्थ में), सं० नहि (निश्चयात्मक निषेध) सं० **नहि**=हिं० **नहीं**। संस्कृत **नहि** अव्यय का प्रयोग ऋग्वेद तथा शतपथब्राह्मण में मिलता है।
X X X

तिरछा, तिरछी पदात्मक क्रियाविशेषण और **तिरछे** शब्दात्मक (अव्ययरूप)

क्रियाविशेषण है।

(१) कौआ **तिरछे** उड़ता है; चील **तिरछे** उड़ती है। (अपरिवर्तित क्रिया-विशेषण)

(२) कौआ **तिरछा** उड़ता है; चील **तिरछी** उड़ती है। (परिवर्तित क्रिया-विशेषण)

उपर्युक्त वाक्यों में **तिरछा, तिरछे, तिरछी** परिवर्तित रूप में हैं। अतः इन्हें 'अव्यय' न कहकर 'पद' कहना चाहिए। अपरिवर्तित **तिरछे** को अव्यय कहना चाहिए।

मानक हिन्दी और ब्रजभाषा में भूतकालीन क्रियापद

मानक हिन्दी में सामान्य भूतकाल में क्रियाएँ एकाकी रहती हैं; लेकिन अतीतभूत में वे संयुक्त क्रियाएँ हो जाती हैं।

सामान्य भूत में क्रिया एकाकी	**अतीतभूत में क्रिया संयुक्त**
मानक हिन्दी में—	
(१) गोपाल मेरे घर **आया**। (पुं०)	(१) गोपाल मेरे घर **आया था**। (पुं०)
(२) गोपाल ने किताब **पढ़ी**। (स्त्री०)	(२) गोपाल ने किताब **पढ़ी थी**। (स्त्री०)

लेकिन ब्रजभाषा में सामान्यभूत और अतीतभूत में क्रियाएँ एकाकी ही रहती हैं (पुंलिंग में)—

सामान्यभूत में क्रिया एकाकी (पुं०)	**अतीतभूत में क्रिया एकाकी** (पुं०)
ब्रजभाषा में—	
(१) गोपाल मेरे घर **आयौ** (पुं०)	(१) गोपाल मेरे घर **आयो**। (पुं०)
(२) गोपाल ने किताब **पढ़ी**। (स्त्री०)	स्त्रीलिंग में क्रिया संयुक्त हो जाती है— (२) गोपाल नैं किताब **पढ़ी ही**। (स्त्री०)

खड़ी बोली हिन्दी की दो क्रियाएँ

जाना और **चलना** गत्यर्थक सामान्य क्रियाएँ हैं, जिनकी धातु क्रमशः √जा और √चल् है। हिन्दी की √जा धातु संस्कृत की √या धातु की विकसित अवस्था है, जिसे तद्भव रूप भी कह सकते हैं। संस्कृत की √चल् धातु ही हिन्दी में गृहीत है।

'**जाना**' का अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए हरकत करना या एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी तय करना। उदाहरण—

"गोपाल एक घंटे में दो कोस जाता है।"

'**चलना**' क्रिया के अर्थ में 'जाना' से बड़ी परिधि रखती है। 'चलना' के दो

अर्थ हैं—(१) अपनी जगह पर ही हरकत करना। जैसे—मशीन **चल रही है**; नाड़ी **चल रही है**, उसकी जीभ बहुत **चल रही है**। (२) एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी तय करना। जैसे—मोहन एक घंटे में तीन कोस **चलता** है। 'चलना' क्रिया में साथ का भाव भी है। जैसे—"तुम मेरे साथ **चलो**।" "गोपाल ! क्या तुम **चलोगे** ?" **'जाना'** में अकेले का भाव रहता है। "गोपाल ! क्या तुम **जाओगे** ?"

'जाना' क्रिया सहायक क्रिया के रूप में भी प्रयुक्त होती है। जैसे—"प्रदीप प्रातः चार बजे **उठ जाता है**।"—यहाँ **जाना** सहायक क्रिया और **उठना** मुख्य क्रिया है। "मेरी आवाज़ सुनकर गोपाल एकदम **उठ गया**।"—यहाँ **'गया'** सहायक क्रिया है। इस वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि गोपाल उठा और फिर गया। इसका अर्थ है कि गोपाल उठा। **'गया'** ने शीघ्रता का रँग दे दिया है। इसीलिए कुछ वैयाकरण सहायक क्रियाओं को **'रंजक क्रिया'** भी कह देते हैं। **उठ गया** = उठा (जल्दी से)।

'चलना' क्रिया का प्रयोग सहायक क्रिया के रूप में नहीं होता। निम्नांकित वाक्यों में **चलना** एकाकी क्रिया है—

(१) प्रदीप प्रातः चार बजे **उठ चलता है** (= उठकर चलता है)।

(२) मेरी आवाज़ सुनकर गोपाल एकदम **उठ चला** (उठकर चला)

उपर्युक्त दोनों वाक्यों में **चलना** एकाकी क्रिया है। 'उठना' का प्रयोग तो पूर्वकालिक क्रिया के रूप में क्रियाविशेषण का सूचक है।

'चलना' क्रिया कई अर्थों में प्रयुक्त होती है—

(१) ब्रज में बरातों में दही-बूरा **चलता है**।

(२) मारकीन से लठ्ठा अच्छा **चलता है**।

(३) हमारे राज्य में चाँदी का सिक्का **चलता है**।

(४) बोलो मत, यहाँ मेरा हुक्म **चलता है**।

(५) वह ग़ज़ब की चाल **चलता है**।

(६) वह लड़का तो है दस वर्ष का, पर बहुत **चलता है**।

(७) गौड़ ब्राह्मणों में लगन में एक रुपया **चलता है**।

(८) जर्मनी की मशीन का हर पुर्जा अच्छा **चलता है**।

(९) सोहन एक घंटे में तीन कोस **चलता है**।

(१०) कमज़ोर की जीभ चलती है, पुरज़ोर का हाथ **चलता है**।

हिन्दी की तीन क्रियाएँ हैं, जो आँखों से सम्बद्ध हैं—

(१) **देखना** (२) **निहारना** (३) **अवलोकना**। इनके समानान्तर अंग्रेज़ी में क्रमशः टू लुक (To Look), टू सी (To SEE) और टू ऑब्ज़र्व (To OBSERVE) क्रिया शब्द हैं।

जिस व्यक्ति ने नीम का पत्ता **देखा** है, वह बस इतना बता सकता है कि नीम का पत्ता हरा होता है, छोटा-सा होता है और उसके किनारे कटे हुए-से होते

हैं।

जिस व्यक्ति ने नीम का पत्ता **निहारा** है, वह बताएगा कि नीम का पत्ता, हरा होता है, छोटा-सा होता है, उसके किनारे कटे-हुए-से होते हैं। एक सिरा नोकदार होता है। बीच में नसें-सी भी होती हैं।

जिस व्यक्ति ने नीम का पत्ता **अवलोका** है, वह निहारनेवाले व्यक्ति की भाँति तो सब बातें बताएगा ही उनके अतिरिक्त यह भी बताएगा कि नीम की पत्तियों के किनारों में कटानें कम-से कम कितनी और अधिक से अधिक कितनी होती हैं? बीच में पूरी लम्बाई में एक मोटी नस होती है। उस मोटी नस के दायें-बायें पतली नसें भी होती हैं। नीम के पत्ती के पृष्ठ भाग में वे नसें भी उभरी हुई होती हैं। पत्ती के सीधे तरफ नसें दबी हुई होती हैं। चखने पर नीम की पत्ती कड़वी लगती है। नीम की पत्तियाँ कीटाणुनाशक भी हैं। नीम की पत्तियों को पानी में उबालकर और उस पानी को छानकर नहाने के काम में भी लिया जाता है, ताकि रोगों के कीटाणु मर सकें। नीम की डाली पर उगी हुई प्रारम्भिक पत्ती कुछ-कुछ लाल-सी होती है; उसे **कोंपल** कहते हैं।

'क़मर' जलालवी ने एक शेर में **देखना** क्रिया का प्रयोग किया है—

"पीरी में नहीं मेरी कमर ऐ 'क़मर' झुक गई;
झुक-झुक के **देखता** हूँ कि जवानी किधर गई?"

—(क़मर जलालवी)

X X X

हिन्दी के रीतिकालीन कवि 'मतिराम' ने निहारना क्रिया का प्रयोग इन शब्दों में किया है—

"ज्यों-ज्यों **निहारिए** नेरे ह्वै नैननि
त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई।" —(मतिराम)

X X X

गोस्वामी तुलसीदासकृत 'कवितावली' में अयोध्यावासिनी एक नारी अपनी सखी से उस प्रभाव को कहती है, जिसके कारण वह ठगी-सी हो गयी थी—

"**अवलोकि** हौं सोच-बिमोचन को ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक से।"

—(तुलसी, कवितावली, बाल० छन्द १)

उपर्युक्त दुर्मिल सवैया-चरण में **अवलोकना** का प्रयोग है।

'**अवलोकना**' क्रिया में जिस गहरे निरीक्षण का भाव निहित है, उसी भाव को व्यक्त करते हुए कालिदास ने अपने 'कुमारसंभव' (सर्ग ३/श्लोक ५०) में लिखा है कि समाधि में बैठे हुए शंकर वहाँ अविनाशी आत्मा की ज्योति को **अपने भीतर** अवलोक रहे थे—

"तमात्मानमात्मन्य**वलोकयन्तम्**" —(कुमार० सर्ग ३/५०)

भिन्न संदर्भ और क्रिया का भिन्न अर्थ

भिन्न वस्तु के संदर्भ में क्रिया के अर्थ की छवि परिवर्तित हो जाती है। **दबाना**, **निचोड़ना** और **उठना** क्रियाओं की अर्थ-छवि भिन्न वस्तुओं के संदर्भ में भिन्न-भिन्न है--

(क) **दबाना**—(१) गोपाल ने मोहन का **पाँव** दबाया। (२) उसने सारा **माल** दबा लिया। (३) सोहन ने दफ्तर का **मामला** दबा दिया। (४) उसने अपनी **कार** अपने हाथ पर ठीक नहीं दबायी।

(ख) **निचोड़ना**—(१) उसने **नीबू** निचोड़ा। (२) कमला ने **साड़ी** धोकर फिर ठीक तरह निचोड़ी। (३) ज़मींदारों ने किसानों को बड़ा निचोड़ा था।

(ग) **उठना**—(१) कमला प्रातः पाँच बजे उठती है। (२) मेरी भैंस आज उठ रही है। (३) जवानी उठती है तो कुछ कौतुक कराती है। (४) गोपाल की गर्दन पर एक फोड़ा उठ आया है। (५) समुद्र में ज्वार उठता है।

एकाकी क्रिया और संयुक्त क्रिया में अर्थ-भेद

(१) एकाकी क्रिया **लिया**--

"मैंने अपने भाई से एक रुपया माँग कर **लिया**"—इसका अर्थ है कि रुपया पहले माँगा, फिर लिया (इसमें **लेना** प्रधान है।)

"मैंने सब सामान देखकर **लिया**"—इसका अर्थ है कि पहले सब सामान देखा, फिर लिया (इसमें **लेना** प्रधान है।)

(२) संयुक्त क्रिया—

"मैंने भाई से एक रुपया **माँग लिया**"—इसका अर्थ है कि एक रुपया माँगा (इसमें **माँगना** प्रधान है।)

"मैंने सब सामान **देख लिया**"—इसका अर्थ है कि सब सामान देखा। (इसमें **देखना** प्रधान है।)

अर्थ की दृष्टि से संयुक्तक्रिया में मुख्य क्रिया प्रधान होती है, सहायक क्रिया नहीं।

वाक्य में क्रिया के प्रयोग और अर्थ ही उसके काल के निर्धारक हैं

भाषाविज्ञान में रूपविज्ञान कहता है कि "लड़का **आ रहा** है" में **'आ रहा'**

वर्तमानकाल है और "लड़का **आया**" में '**आया**' भूतकाल है।

अब निम्नांकित वाक्यों में **आ रहा**, **आता** और आया के कालों पर विचार कीजिए—

(१) लड़का अभी दस मिनट में **आ रहा** है। (भविष्यत् काल)

(२) बस वह लड़का **आया** और मैं चला। (भविष्यत् काल)

(३) यदि वह कल **आया**, तो मैं अवश्य जाऊँगा (भविष्यत् काल)

(४) वह **आता**, तो मैं जाता। (भविष्यत् काल)

अत: क्रिया पद का काल–निर्धारण अर्थ पर है, रूप पर नहीं।

वे वाक्य जिनमें निषेधात्मक अव्यय विधेयात्मक अर्थ देते हैं

'**नहीं**' निषेधात्मक संयुक्त अव्यय है। न + हीं = **नहीं**। '**न**' के प्रभाव से '**हीं**' पर अनुनासिकता का असर हो गया है।

(१) "गोपाल **नहीं** जाएगा" में '**नहीं**' निषेधात्मक अव्यय है।

"तुम रात में **मत** पढ़ो"—यहाँ '**मत**' निषेधात्मक अव्यय है।

'**ही**' के उपरान्त आनेवाला '**नहीं** '(निषेधात्मक अव्यय) विधेयात्मक अर्थ देता है--

(२) "गोपाल ही **नहीं**, मोहन भी जाएगा"—इस वाक्य में '**नहीं**' निषेधात्मक नहीं है। (अथवा) "गोपाल ही **न**, मोहन भी जाएगा।"—**न** भी यहाँ विधेयात्मक है।

(३) "गोपाल **नहीं** जाएगा, ऐसी बात नहीं है।"—'**नहीं**' के निषेधार्थ का निषेध करने पर उसका अर्थ 'विधेयात्मक' हो जाता है।

(४) "तुम्हारी '**नहीं**' का अर्थ मैं समझता हूँ"—यहाँ '**नहीं**' निषेधपरक नहीं।"

(५) "उस किताब को ठीक तरह देख लो, **मत** कहीं इधर–उधर हो गयी हो।" यहाँ **मत** निषेधपरक नहीं।

हिन्दी और उर्दू के कुछ संयुक्त क्रियापद

कृदन्त क्रिया के साथ सहायक क्रिया का योग होने पर भी संयुक्त क्रियापद बनते हैं, जो सामान्यतया तीन प्रकार के हैं—

(१) पूर्वकालिक कृदन्त + सहायक क्रिया—

"गोपाल तो अपनी बात **कह गया**।"

"लिखत सुधाकर **गा लिखि** राहू"

—(तुलसी, मानस, अयो० ५५/२)

(२) वर्तमान कालिक कृदन्त + सहायक क्रिया—

"गोपाल **कहता रहा** और मैं **सुनता रहा**।"

(३) भूतकालिक कृदन्त + सहायक क्रिया—

"गोपाल अपनी बात **सुना गया** और हम सुनते रहे।"

इसके अतिरिक्त हिन्दी में क्रियार्थक संज्ञा और सहायक क्रिया के मेल से भी संयुक्त क्रिया पद प्रचलित हैं--

"मैं अपनी माता को **देखना** चाहता हूँ।"

हिन्दी का 'देखना चाहना' उर्दू में प्राय: **देखा चाहना** के रूप में प्रयुक्त होता है और होता था।

ग़ालिब ने लिखा है—

"ग़ालिब तुम्हीं कहो कि मिलेगा जवाब क्या ?
माना कि तुम **कहा किये** और वो **सुना किये**।" —(ग़ालिब)

ग़ालिब की संयुक्त क्रियाएँ		**वर्तमान हिन्दी की संयुक्त क्रियाएँ**
(१) माना कि तुम **कहा किये**	=	(१) माना कि तुम कहते रहे।
(२) वो **सुना किये**	=	(२) वह **सुनते रहे**। (अथवा वे सुनते रहे)।

'रामचरितमानस' में तुलसीदास जी ने लिखा—

"**देखी चहउँ** जानकी माता।"--(मानस, सुन्दर० दो० ८/४)

आज की मानक हिन्दी में प्रयोग है—'जानकी माता **देखना चाहता** हूँ।"

उर्दू की कविता में निर्देशार्थक वर्तमानकालीन अन्यपुरुषीय क्रिया

जब कर्ता पुंलिंग एकवचन में अन्य पुरुषीय होता है, तब निर्देशार्थक वर्तमान कालीन क्रियापद इस तरह होते हैं—

(१) वह करता है। (मानक हिन्दी में)

(२) वह लूटता है। (मानक हिन्दी में)

अठारहवीं सदी में मीर और नज़ीरअकबराबादी ने उपर्युक्त क्रियाओं को इस रूप में प्रयुक्त किया है—

(१) मीर का प्रयोग—'करे है'।

"मुँह तका ही **करे है** जिस–तिस का;
हैरती है ये आइना किसका ?" —(मीर)

(२) ग़ालिब ने 'भागा जाता है' के स्थान पर '**भागा जाये है**' का प्रयोग किया है और उसी शेर में 'ठहरा जाता है' के स्थान पर '**ठहरा जाये है**' का प्रयोग किया है—

"हुए हैं पाँव ही पहले नबर्दे–इश्क में ज़ख़्मी;
न भागा जाये है मुझसे न **ठहरा जाये है** मुझसे।" —(ग़ालिब)

नज़ीर अकबराबादी ने 'लूटता है' के स्थान पर मीर और ग़ालिब की परंपरा में '**लूटे है**' का प्रयोग किया है—

(३) नज़ीर का प्रयोग—'लूटे है ।

"टुक हिर्स हवा को छोड़ मियाँ मत देश-बिदेश फिरे मारा ।
कज़ाक अजल का **लूटे है**, दिन–रात बजाकर नक़्क़ारा ।।"
—(नज़ीर)

उर्दू ज़बान का यह प्रयोग आज तक शायरी में मौजूद है । उर्दू की नस्र में यह प्रयोग नहीं मिलता । नज़्म में मिलता है ।

हम यह कह सकते हैं कि उर्दू ज़बान की शायरी अभी तक कुछ क्रिया–प्रयोगों में प्राचीनता से चिपकी हुई है । इस बीसवीं शताब्दी में भी उर्दू के शायर अपनी शायरी में '**देखता** है' के स्थान पर **देखे है** और '**जलता है**' के स्थान पर '**जले है**' प्रयुक्त कर रहे हैं ।

वर्तमान हिन्दी–कविता **देखे है**, **जले है** जैसे क्रिया–प्रयोग नहीं स्वीकारती ।

हिन्दी की 'चाहना' क्रिया पर विचार

✓चाह् धातु से बने **चाहिए** पद का प्रयोग 'ग़ालिब' ने अपनी शायरी में किया है—

"**चाहिए** अच्छों को जितना **चाहिए**;
ये अगर **चाहें** तो फिर क्या **चाहिए** ।" —(ग़ालिब)

× × ×

"ग़ाफिल इन महन्तलअतों के वास्ते;
चाहनेवाला भी अच्छा **चाहिए** ।" —(ग़ालिब)

× × ×

"चाहते हैं खूबरूओं को 'असद';
आपकी सूरत तो देखा **चाहिए** ।" —(ग़ालिब)

आज की मानक हिन्दी '**देखना चाहिए**' प्रयोग को अच्छा मानती है । उसकी दृष्टि में **देखा चाहिए** प्रयोग ग्राह्य नहीं ।

हिन्दी की 'चाहना' क्रिया सकर्मक है । '**मानना**' क्रिया भी हिन्दी में सकर्मक है । दोनों के काल–अर्थगत प्रयोगों पर ध्यान दीजिए—

'चाहना' के प्रयोग—(प्रथम तालिका)	**'मानना' के प्रयोग**—(प्रथम तालिका)
(१) मैं ऐसा चाहता हूँ ।	(१) मैं ऐसा मानता हूँ ।
(२) मैंने ऐसा चाहा ।	(२) मैंने ऐसा माना ।
(३) मैंने ऐसा चाहा था ।	(३) मैंने ऐसा माना था ।
(४) मैं ऐसा चाहूँगा ।	(४) मैं ऐसा मानूँगा ।

(५) तू ऐसा चाह ।
(६) तू ऐसा चाहना ।

'चाहना' के प्रयोग (द्वितीय तालिका)

(१) मुझे धन चाहिए ।
(कर्ता–मुझे, कर्म–धन)
(२) तुझे धन चाहिए ।
(कर्ता–तुझे, कर्म–धन)
(३) उसे धन चाहिए ।
(कर्ता–उसे, कर्म–धन)
(४) मुझे धन चाहिए था ।

(५) तू ऐसा मान ।
(६) तू ऐसा मानना ।

मानना के प्रयोग (द्वितीय तालिका)

(१) मुझे गुरु मानिए ।
(कर्ता–लुप्त; कर्म-मुझे)
(२) तुझे गुरु मानिए (ऐसा प्रयोग नहीं होता)
(३) उसे गुरु मानिए ।
(कर्ता–लुप्त, कर्म–उसे)
(४) मुझे गुरु मानिए था । (ऐसा प्रयोग नहीं है)

'मानना' क्रिया की द्वितीय तालिका में जो वाक्य हैं, उनमें कर्ता–कर्म उस तरह से नहीं हैं, जिस तरह से 'चाहना' क्रिया के वाक्यों में हैं । यद्यपि दोनों क्रियाओं के प्रयोग काल–अर्थ के अनुसार समान हैं । इस भिन्नता का कारण क्या है ?

इसका मुख्य कारण यह है कि **चाहना** शुद्ध आत्मनेपदी क्रिया है; 'मानना' आत्मनेपदी क्रिया नहीं ।

शब्दों में उपसर्ग-भेद से अर्थ-भेद

'आदान' का अर्थ है, 'लेना' और **प्रदान** का अर्थ है देना । इनमें अर्थ–भेद के कारण **आ** और **प्र** उपसर्ग हैं । √दा धातु तो दोनों में है ।

विहार (वि + √हृ + घञ्) का अर्थ है, 'सुखार्थ भ्रमण' । **संहार** (सम् + √हृ + घञ्) का अर्थ है, 'नाश' । इनके अर्थ–भेद का कारण उपसर्ग–भेद है । इनमें धातु और प्रत्यय तो एक ही हैं । उपसर्ग **वि** और **सम्** अलग–अलग हैं ।

विग्रह का अर्थ है 'युद्ध' और **निग्रह** का अर्थ है 'दबाना' या 'वश में करना' । "जो विग्रह का निग्रह कर लेता है, वह वीर शिरोमणि कहा जाता है ।"—इस वाक्य से दोनों शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है ।

उपस्थित, **स्थित**,**प्रस्थित**–इन तीन शब्दों में शरीर और मन की स्थितियाँ प्रमुख हैं । किसी स्थान पर जो शरीर से मौजूद हो, वह **उपस्थित** है । जो मन से स्थिर हो, वह स्थित है । गीता (अ० १८/७३) में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा था— "स्थितोऽस्मि गतसन्देहः" । जो शरीर से अन्यत्र चला जाए, उसे **प्रस्थित** कहते हैं ।

लेने योग्य को **आदेय** और देने योग्य को **प्रदेय** कहते हैं । किसी जगह में **प्रवेश** मनुष्य का होता है और **निवेश** पूँजी का होता है । 'निवेश' का सम्बन्ध निर्जीव पूँजी से है । किसी घर में मनुष्य तो प्रवेश कर सकता है, पशु नहीं । पशु घुस सकता है ।

उपहत और **आहत** कृदन्त विशेषण हैं। जो चोट खाया हुआ हो या क्षत-विक्षत हो, उसे **उपहत** कहते हैं। जब उपहत व्यक्ति कुछ अधिक घायल हो जाता है, तब **आहत** कहाता है।

प्रायः उपसर्ग लगने से मूल शब्द के अर्थ में विशेषता आ जाती है; लेकिन **हत** और **आहत** में मामला उलट गया है। **आहत** का अर्थ है 'घायल' और **हत** का अर्थ है 'मृत' (मरा हुआ)।

जो सुस्ता लिया हो अर्थात् जिसने विश्राम कर लिया हो, उसे **विश्रान्त** कहते हैं। जो बहुत थकाहुआ हो, वह **परिश्रान्त** कहलाता है।

अतृष्ण और **वितृष्ण** में मुख्य अन्तर यह है कि अतृष्ण में लालच होना ही नहीं। **वितृष्ण** में प्रारम्भ में लालच होता है, फिर बाद में समाप्त हो जाता है। **वितृष्ण**=निकल गयी है तृष्णा जिसमें से।

आयोजना और **संयोजना** में मुख्य अन्तर है पहले और बाद का। '**आयोजना**' पहले और '**संयोजना**' बाद में होती है। किसी काम को आरम्भ करने से पहले जो व्यवस्था की जाती है, उसे **आयोजना** कहते हैं। उस काम को सफल बनाने के लिए जो जोड़ने-मिलाने की क्रिया की जाती है, उसे **संयोजना** कहते हैं।

परिशुद्ध और **विशुद्ध** में अन्तर यह है कि पूरी तरह **शुद्ध** '**परिशुद्ध**' कहाता है और परिशुद्ध में भी जब शुद्धता अधिक हो जाती है, तब वह **विशुद्ध** कहलाता है। जो शुद्ध नहीं होता, उसे **अशुद्ध** कहते हैं।

प्रवृत्ति और **निवृत्ति** एक दूसरे के विलोम हैं। 'प्रवृत्ति' का अर्थ है 'लगाव' और **निवृत्ति** का अर्थ है छुटकारा।

'**निवृत्ति**' से कुछ मिलता-सा एक शब्द **निर्वृति** है। इसका अर्थ है 'परम सुख' या 'आनन्द'। 'काव्यानन्द' के अर्थ में मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में **परनिर्वृति** शब्द प्रयुक्त हुआ है—

"सद्यः परनिर्वृतये" —(काव्यप्रकाश उल्लास १/कारिका २)

[**परनिर्वृतये**=परम आनन्द के लिए]

अचल=जो कभी चलायमान न था; सदा स्थिर। **निश्चल**=जो प्रारंभ में चलायमान था, फिर स्थिर हो गया था।

एक ही उपसर्ग विभिन्न अर्थों में

भाषा में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें एक ही उपसर्ग कई भिन्न अर्थों में आता है।

स्थिति और **अवस्थित** का एक ही अर्थ है। लेकिन **अवगुण** शब्द अर्थ में **गुण** शब्द का विलोम है।

'**प्रति**' उपसर्ग का प्रयोग विभिन्न अर्थों में—

(१) **प्रतिदिन**=हर एक दिन ।

(२) **प्रतिध्वनि**=ध्वनि के बदले ध्वनि ।

(३) **प्रतिपक्षी**=विरोधी पक्षवाला ।

'**निर्**' उपसर्ग भिन्न अर्थों में—

(४) **प्रतिरूप**=समानरूप या समानरूपवाला ।

(५) **प्रतिबिम्ब**=बिम्ब के सदृश ।

(६) **प्रतिपत्ति**=सिद्धि, प्राप्ति, निष्कर्ष ।

आ उपसर्ग के विभिन्न अर्थ—

(१) आ+दान = अपनी ओर दान, अर्थात् लेना ।

(२) आ+गमन = अपनी ओर गमन अर्थात् आना ।

(३) आ+लोचन = अच्छी तरह से (चारों ओर से) देखना ।

(४) आ+पूर्ति = पूरी तरह से पूर्ति ।

(५) आ+लाप = पूरी तरह से कथन ।

(६) आ+वक्ष = वक्ष तक ।

(७) आ+जीवन = जीवन पर्यन्त, जीवन तक ।

(८) आ+मरण = मरण पर्यन्त, मृत्यु तक ।

संस्कृत में **नि** उपसर्ग कहीं विशेषार्थवाची है और कहीं निषेधार्थवाची । भाषा की गति विचित्र है ।

सं० **निरोध**=नि+रोध (=विशेष रोक) ।

सं० **निवात**=नि+वात (=जहाँ हवा न हो) ।

'**निरोध**' का **नि** उपसर्ग और **निवात का नि** उपसर्ग अर्थों में अलग-अलग हैं ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी (अ० ६/२/८) में सूत्र है—'**निवाते वातत्राणे**' । ब्रजभाषा में एक विशेषण शब्द है '**निवाया**' । 'निवाया **जाड़ा**' उस जाड़े को कहते हैं, जब ठंड बहुत कम हो जाती है और शीत वायु नहीं चलती । सं० **निवात**> **निवाया** ।

उपसर्ग एक, अर्थ अनेक

(१) **निर्दलीय**=जिसका कोई दल न हो (निषेधसूचक)

(२) **निराकार**=जिसका आकार न हो । (निषेधसूचक)

(३) **निर्दलन** =अच्छी तरह दलन । "बाली निर्दलनं समुद्रतरणं लंकापुरी-दाहनम् ।" (यहाँ '**निर्**' निषेधात्मक नहीं)

निर्धारण (=निश्चय) **निर्ऋति** (=नियत घृणा), **निर्देश** (=आज्ञा) और **निर्णय** का '**निर्**' उपसर्ग निषेधात्मक नहीं है ।

परिग्रह (=विशेष पकड़) में 'परि' निषेधपरक नहीं है, लेकिन 'परिवाद' (निन्दा, विलोम कथन) में 'परि' निषेधपरक है।

'गुण' का विलोम 'अवगुण' है। अवगुण=गुण का न होना। अतः 'अवगुण' में 'अव' उपसर्ग निषेधार्थक है; लेकिन 'अवरोध' में 'अव' निषेधार्थक नहीं है। रोध और अवरोध अर्थ में समान हैं।

नि और निस् उपसर्गोंवाले शब्द और अर्थ

सामान्यतया **नि** उपसर्ग आधिक्यसूचक अर्थ में आता है—
निनाद=विशेष नाद, अधिक आवाज़। **निनाद**=विनाद, अतिनाद।
निधान=वह स्थान जहाँ कोई वस्तु विशेष रूप से रखी जाती है (गीता, अ० ११/३८)
निहत =विशेष रूप से माराहुआ।
निबद्ध=विशेष रूप से बँधाहुआ (गीता अ० १८/६०)

नि उपसर्ग निषेधसूचक अर्थ में—
निवात=नहीं है हवा जिसमें (**निवाते** वातत्राणे–अष्टा० ६/२/८)
निधन=नहीं है धन जिसके पास। **निधन**=निर्धन।
निस्पन्द=निकल गया है स्पन्दन जिसमें से, स्पन्दनरहित।
'**निस्**' उपसर्ग निषेधार्थ में—
निःस्पन्द=नहीं है स्पन्दन जिसमें; निकल गया है स्पन्दन जिसमें से।
निस्सन्देह=नहीं है संदेह जिसमें; निकल गया है सन्देह जिसमें से।
निस्सीम=नहीं है सीमा जिसकी; निकल गयी है सीमा जिसमें से।

निःस्पन्द और **निस्स्पन्द** का अर्थ तो स्पन्दरहित है ही; '**निस्पन्द**' का अर्थ भी कोशों में स्पन्दरहित दिया गया है। ऐसा लगता है कि लेखकों एवं प्रतिलिपिकारों ने '**निस्स्पन्द**' को कभी '**निस्पन्द**' लिख दिया होगा। फिर वैसा ही चलता रहा।

'प्र' उपसर्ग के अर्थ

प्रभेद=भेद के अन्दर भेद। **प्रबुद्ध**=अधिक बुद्धिमान।
प्रणीत=(प्र+नीत) रचा हुआ।
प्रणय=(प्र+नय) प्रेमी–प्रेमिका का प्रेम।
उपर्युक्त शब्दों में 'प्र' विभिन्न अर्थ प्रकट कर रहा है।

मिलते-जुलते से पूर्व प्रत्यय और अर्थ-भेद

सम्, **सह**, **स** और **सु** में अर्थ–भेद है।

(१) सम्- 'योग'=मिलन। संयोग=विशेष मिलन।
'शुद्धि'=शुद्धता। संशुद्धि=विशेष शुद्धता।

(२) सह- पाठी=पढ़नेवाला। **सहपाठी**=किसी के साथ पढ़नेवाला।
'सहपाठी' को अंग्रेज़ी में 'क्लासफैलो' कहते हैं।

(३) स- तीर्थ=विद्यालय। **सतीर्थ**=विद्यालय में साथ-साथ पढ़ने-वाला। 'सतीर्थ' को अंग्रेजी में 'कॉलेज-फैलो' कह सकते हैं।
सदेह=देहसहित। **सप्रेम**=प्रेमसहित।

(४) सु- **योग**=मिलन। **सुयोग**=अच्छा मिलन।
कर्म=काम। **सुकर्म**=अच्छाकाम।
आगत=आगमन। **सु**+आगत=स्वागत=अच्छा आगमन।

सु और **सत्** विशेषण, और **सम्** उपसर्ग हैं। **सन्मति**=अच्छी बुद्धि। **सम्मति**=सलाह, राय।

हिन्दी में पूर्वसर्ग की स्थिति

हिन्दी में पूर्वसर्ग संज्ञा पद के पहले भी आ सकता है और बाद में भी—

(१) **बिना** पूर्वसर्ग—"**बिना धोती** नहा लीजिए।" "**धोती बिना** ही नहा लीजिए।"

(२) **भर** पूर्वसर्ग—"हमने **भर जन्म** ऐसी सुन्दरता नहीं देखी।"
"हम **जन्म भर** कष्ट ही झेलते रहे।

संस्कृत के विशेष प्रत्यय

'वाला' अर्थ में संस्कृत के प्रत्यय इन्, र और **वलच्**

(१) इन्—हस्त+इन्=हस्तिन् = सूंडवाला अर्थात् हाथी (हस्ती)
,, —फण+इन्=फणिन् = फनवाला अर्थात् साँप। (फणी)
,, —शास्त्र+इन्=शास्त्रिन्=शास्त्रवाला, शास्त्रज्ञाता (शास्त्री)
,, —धन+इन्=धनिन्=धनवाला, धनी।
,, —गुण+इन्=गुणिन्=गुणवाला, गुणी।
,, —ऋण+इन्=ऋणिन्=ऋणवाला, ऋणी।

(२) र —शिखा+र=शिखर=शिखावाला।
,, —कुंज+र=कुंजर=कुंजों में रहनेवाला, हाथी।
,, —सिंधु+र=सिंधुर=सिंधुवाला, हाथी।
,, —मधु+र=मधुर=मधुरतावाला, मीठा।

(३) वलच्—शिखा+वलच्=शिखावल=शिखावाला, मोर।

अरबी का–ई प्रत्यय और अंग्रेज़ी का– **र** प्रत्यय भी वाला अर्थ में आते हैं—(१) अर० **किताब + ई = किताबी** = किताबवाला।

नूर + —ई = नूरी = रोशनीवाला। **नार + ई = नारी** = आगवाला, नरक–वाला। **जवाब + —ई = जवाबी**—जवाबवाला। अदब + —ई = अदबी = अदब–वाला। **मुरादाबाद + —ई = मुरादाबादी** = मुरादाबादवाला।

(२) अँग० **बिगुल + र = बिगुलर** = बिगुलवाला।

,, **टॉप + र = टॉपर** = शीर्षवाला, सर्वोच्च।

,, **फार्म + र = फार्मर** = खेतवाला, किसान।

लगता है उपर्युक्त प्रत्यय–**ई** अरबी ने और–**र** प्रत्यय अंग्रेज़ी ने संस्कृत से ग्रहण किये हैं। इन प्रत्ययों वाले शब्दों में और उनके अर्थों में संस्कृत के शब्दों के साथ बहुत कुछ समानता है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' (बाल० २५२/३) में कहा—

"अब जनि कोउ माखै भट **मानी**। वीरविहीन मही मैं जानी।"
—(मानस, बाल० २५२/३)

इक़बाल ने कहा—

"ये ख़ाकी अपनी फितरत से न **नूरी** है, न **नारी** है।"
—(इक़बाल)

सं० मान + —ई = मानी। अर० नूर + –ई = नूरी। अर० नार + –ई = नारी।

संस्कृत में संज्ञा को विशेषण बनानेवाला एक प्रत्यय–**ल** है।

	संज्ञा	**प्रत्यय**	**विशेषण**	**अर्थ**
(१)	**जटा**	—आलच्	= (१) **जटाल** =	जटाओं से युक्त।
(२)	**शिखा**	—वलच्	= (२) **शिखावल** =	चोटीवाला, मोर।

'शिवताण्डवस्तोत्र' में शंकर के **शिर** का विशेषण 'जटाल' दिया गया है—"महाकपालि सम्पदे शिरो **जटाल**मस्तु नः"—(शिवता० श्लोक ६)

–ल प्रत्यय स्वार्थ में भी आता है।

	मूल शब्द		**अर्थ**	**प्रत्यय**	**सप्रत्ययशब्द**	**अर्थ**
(१)	**मृदु**	=	कोमल	—ल	(१) **मृदुल**	= कोमल
(२)	**पट**	=	छत, तख़ता	–ल	(२) **पटल**	= छत, तख़ता
(३)	**धव**	=	एक वृक्ष	—ल	(३) **धवल**	= एक वृक्ष
(४)	**गर**	=	विष	—ल	(४) **गरल**	= विष
(५)	**श्याम**	=	साँवला	—ल	(५) **श्यामल**	= साँवला
(६)	**वृष**	=	बैल	—ल	(६) **वृषल**	= बैल
(७)	**नव**	=	नया	—ल	(७) **नवल**	= नया

संस्कृत में **कन्** और **अण्** प्रत्यय भी स्वार्थ में आते हैं—

(१) कन् प्रत्यय (स्वार्थ में)—

बाल और बालक—दोनों का एक ही अर्थ है।
दीप और दीपक— ,, ,, ,,
मृत और मृतक— ,, ,, ,,

[२] अण् प्रत्यय [स्वार्थ में]

मूल शब्द		प्रत्यय		सप्रत्ययशब्द
पद	+	अण्	=	पाद
भण्डार	+	,,	=	भाण्डार
भ्रम	+	,,	=	भ्राम
मनस्	+	,,	=	मानस
मरुत्	+	,,	=	मारुत
शन्तनु	+	,,	=	शान्तनु
विश्वानर	+	,,	=	वैश्वानर

कुछ हिन्दी-प्रत्यय और उनके स्रोत

हिन्दी में **वान्** और **बान** प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसे **धनवान्**, **गुणवान्**, **विद्यावान्** में संस्कृत का 'वान्' प्रत्यय है।

फारसी शब्द **दरबान** में **बान** प्रत्यय है। **रथबान**, **गाड़ीबान** में भी फारसी का **बान** प्रत्यय है। फारसी के **बान** प्रत्यय का मूल स्रोत संस्कृत का **वान्** प्रत्यय है।

हिन्दी में एक प्रत्यय **वाल** और दूसरा **वाला** भी है। **वाल** का मूल शब्द **पाल** है—सं० **कोटपाल** > **कोतवाल**। सं० **गोपाल** > **गोवाल**, **ग्वाल**।

संस्कृत का 'आलच्' प्रत्यय भी 'वाला' अर्थ देता है—सं० **जटा** + **आलच्** = **जटाल** (=जटाओंवाला)। सं० वाच् + आलच् = **वाचाल** (वाणी वाला)। '**वाचाट**' में **आटच्** प्रत्यय है; यह प्रत्यय हीनार्थसूचक है। '**वाचाल**' शुक्ल पक्ष में और **वाचाट** कृष्णपक्ष में प्रयुक्त होता है। अवरोह–क्रम **वाग्मी**, **वाचाल**, **वाचाट**।

'**वाला**' अर्थ देनेवाला संस्कृत प्रत्यय '**वलच्**' है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उल्लेख है कि **रजस्** और **शिखा** शब्दों में **वलच्** प्रत्यय लगता है। रजस् + वलच् = रजस्वल, रजस्वला। शिखा + वलच् = शिखावल।

'**रजस्वल**' = रजवाला। **शिखावल** = चोटीवाला। मोर के अर्थ में संस्कृत में '**शिखावल**' का प्रयोग मिलता है। अतः संस्कृत का **वलच्** प्रत्यय ही हिन्दी में **वाला** है। **अग्रवाल**, **पालीवाल**, **जायसवाल** आदि शब्दों का **वाल** प्रत्यय संस्कृत के **वलच्** प्रत्यय का विकास है। **रजस्वल** शब्द का प्रयोग **मनुस्मृति** (६/७७) और रघुवंश (११/६०) में मिलता है।। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उल्लेख है कि **रजस्** और **शिखा** में 'वलच्' प्रत्यय लगता है।

विभक्ति और परसर्ग के झमेले की सफाई

हिन्दी के कई व्याकरण ग्रंथों में विभक्ति और परसर्ग की अवधारणाएँ स्पष्ट नहीं हैं। ने, को, से, में, पर आदि को किसी ने विभक्ति कहा है, किसी ने कारक-चिह्न और किसी ने परसर्ग।

ब्रजभाषा और अवधी में विभक्ति और परसर्ग को स्पष्टत: अलग-अलग देखा जा सकता है। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में 'वरों के साथ' के अर्थ में लिखा गया है—'**बरन्ह सह**' (मानस, बाल० दो० ३२५/छन्द ४)

'**बरन्ह सह**' में प्रातिपदिक **बर** + **न्ह** विभक्ति प्रत्यय और **सह** परसर्ग है। इसी प्रकार '**दुलहिनिन्ह सहित**' (मानस, बाल० दो० ३२६/छंद ४) में प्रातिपदिक **दुलहिनी** + **न्ह** विभक्ति प्रत्यय और **सहित** परसर्ग है।

'**बालकों को**' में प्रातिपदिक **बालक** + **-ओं** विभक्ति और **को** परसर्ग है।

कारकीय परसर्गों के अर्थ

'ने' परसर्ग का अर्थ—

(१) "श्याम ने पुस्तक पढ़ ली।"—इसमें '**ने**' परसर्ग कर्ताकारक का सूचक है।

(२) "आग **ने** दाल जल्दी पका दी।"—इसमें **ने** करण कारक का सूचक है। दाल को पकने के लिए आग पर रखनेवाला 'कर्ता' यहाँ लुप्त है।

'**को**' परसर्ग के विभिन्न अर्थ—

(१) "मोहन **सोहन को** पढ़ाता है"—यहाँ '**को**' कर्ताकारकीय परसर्ग है।

(२) "**गोपाल को** पाठशाला जाना चाहिए"—यहाँ **को** कर्ताकारकीय परसर्ग है।

(३) "**हाथ को** हरकत ही नहीं है"—यहाँ **को** अधिकरणकारकीय परसर्ग है।

"गो **हाथ को** जुंबिश नहीं आँखों में तो दम है।
रहने दो अभी साग़रो-मीना मेरे आगे॥" —[ग़ालिब]

ग़ालिब के शेर में आये '**हाथ को**' का अर्थ है 'हाथ में' अत: अधिकरण कारक है।

(४) **कमला को** तेज़ बुख़ार है"—यहाँ **को** अधिकरणकारकीय परसर्ग है।

(५) तुम उस ग़रीब **औरत को** पचास रुपये दे दो"—यहाँ **को** संप्रदान-कारकीय परसर्ग है।

के परसर्ग का अर्थ—

(१) "चींटी **के** भी जान है।"—इसमें **के** अधिकरण कारक को प्रकट करता है।

[२] कमला **के** लड़का हो गया।"—इसमें **के** अपादान कारक को सूचित करता है।

[३] "मोहन के एक पुत्र हुआ है।"—इसमें **के** संप्रदान कारक या करण कारक का सूचक है।

से और **में से** का अर्थ–भेद—

[१] तुम **मुझसे** परे हो सकते हो; लेकिन **मुझमें से** परे नहीं हो सकते। **से**=बाह्य पृथक्ता। **में से**=आन्तरिक पृथक्ता।

शब्दों में प्रत्यय भेद से अर्थ–भेद

अभिव्यक्ति और **अभिव्यंजना** संस्कृत भाषा के दो शब्द हैं, जो हिन्दी में भी प्रयुक्त होते हैं। इनके अर्थों में सूक्ष्म अन्तर है। अंग्रेज़ी का 'ऐक्सप्रैशन' (EXPRESSION) शब्द '**अभिव्यक्ति**' के समानान्तर है। क्रोचे के 'ऐक्सप्रैशनिज़्म का सही अनुवाद है '**अभिव्यक्तिवाद**'। शुक्लजी ने क्रोचे के 'ऐक्सप्रैशनिज़्म' का अनुवाद '**अभिव्यंजनावाद**' किया है, जो संगत नहीं है।

'**अभिव्यक्ति**' (अभि + √अञ्ज् + क्तिन्) का अर्थ है, 'प्रकट होना' और **अभिव्यंजना** (अभि + √अञ्ज् + ल्युट् + आ) का अर्थ है, 'प्रकट करना'। सारांश यह है कि '**अभिव्यक्ति**' के अर्थ में कारक का कारकत्व अस्तित्वहीन है; लेकिन '**अभिव्यंजना**' के अर्थ में कारक का कारकत्व प्रधान है, अनिवार्य है। **होना** और **करना** में जो अर्थ–भेद है, वही अर्थ–भेद **अभिव्यक्ति** और अभिव्यंजना में है।

कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त दोनों शब्दों में उपसर्ग और धातु तो एक हैं, लेकिन प्रत्यय अलग–अलग हैं। '**अभिव्यक्ति**' की निरुक्ति में '**क्तिन्**' प्रत्यय और '**अभिव्यंजना**' की निरुक्ति में '**ल्युट्**' प्रत्यय है। प्रत्यय–भेद से ही उक्त शब्दों के अर्थों में भेद हो गया है।

अभिव्यक्त होना '**अभिव्यक्ति** है और अभिव्यक्त करना '**अभिव्यंजना**' है।

(१) **अग्रणी** (अग्र + √नी + विचय्)=आगे रहनेवाला, श्रेष्ठ।

(२) **अग्रणीय** (अग्र + √नी + अनीयर)=आगे रहने योग्य श्रेष्ठता का पात्र।

शब्दों में धातु-भेद से अर्थ-भेद

(१) **निमंत्रण** [नि + √मन्त्र् + ल्युट्]=उत्सव या भोजन आदि के लिए बुलावा।

(२) **नियंत्रण** [नि + √यन्त्र् + ल्युट्]=नियमादि में रखने का बन्धन।

× × ×

(१) **सम्मति** [सम् + √मन् + क्तिन्] = सहमति, राय।

(२) **सम्मिति** [सम् + √मा + क्तिन्] = समान नाप, समानता, बराबरी।

निमंत्रण औप **नियंत्रण** में उपसर्ग और प्रत्यय एक हैं, केवल धातु–भेद से ही शब्दों में अर्थ–भेद है। यही बात **सम्मति** और **सम्मिति** के अर्थों मे है।

भाषा के शब्द-पुत्रों की क्षमताएँ अलग-अलग हैं

भाषा अपने पुत्रों को उनके गुण, योग्यता तथा क्षमता की दृष्टि से प्यार और दर्जा देती है। भाषा अपने शब्द–पुत्रों की सामर्थ्य को अच्छी तरह समझती है। भाषा को मनुष्य, पशु, सजीव, निर्जीव आदि का पूरा–पूरा ज्ञान रहता है। उसके पुत्रों की संख्या बहुत है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृत भाषा के धातु–पुत्रों की संख्या १९४४ है। उसके ये पुत्र दस गाँवों में रहते हैं। वे गाँव **'गण'** कहलाते हैं।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि हिन्दी **के लगभग** छह लाख पुत्र हैं। हिन्दी भाषा उन सबकी क्षमता जानती–पहचानती है।

हिन्दी जानती है कि उसके पुत्रों में कौन टहल सकता है और कौन नहीं टहल सकता। वह जानती है कि **'मनुष्य'** टहल सकता है, लेकिन **'घोड़ा'** नहीं टहल सकता। हम हिन्दी में कहते हैं—**"मनुष्य सड़क पर टहल रहा है।"** हम यह नहीं कह सकते कि **"घोड़ा सड़क पर टहल रहा है।"**

हिन्दी जानती है कि उसका कौन पुत्र सजीव है और कौन निर्जीव—

(१) **"कोई** ज़मीन पर पड़ा है"—यहाँ **'कोई'** से प्रकट है कि वह सजीव प्राणी है।

(२) **कुछ** ज़मीन पर पड़ा है।"—यहाँ **'कुछ'** से प्रकट है कि वह निर्जीव वस्तु है।

हिन्दी जानती है कि उसके संज्ञा पुत्रों में किस में क्या क्षमता है?

घोड़ा हिनहिनाता है; **सांप** फुसकारता है; **सिंह** दहाड़ता है; **हाथी** चिंघाड़ता है; **भेड़** मिमियाती है; **ऊँट** बलबलाता है। **चींटी** रेंगती है। **कांतर** सरकती है।

हिन्दी यह भी जानती है कि उसकी कौन-सी सन्तान कहाँ क्या काम कर सकती है?

गाय-या भैंस खेत में घास **चरती** हैं, नाँद में नहीं **चरतीं**। फूल **खिलते हैं, मुरझाते** हैं; दीपक **जलते हैं, बुझते** हैं। फूल जलते नहीं; बुझते नहीं; दीपक खिलते नहीं, मुरझाते नहीं। दोनों की अपनी-अपनी क्षमता है।

यदि भाषा का एक संकेत कई अर्थ रखता है, तो उसके पुत्र उन संकेतों के

अर्थ समझ लेते हैं, क्योंकि भाषा अपने पुत्रों को उसी तरह प्रशिक्षित करती है—

(१) कमला का **पति गुज़र गया**=अर्थात् कमला का पति **मर गया**।

(२) **हाथी** सड़क से **गुज़र गया**=अर्थात् हाथी **चला गया**।

(३) सारा वक़्त यों ही **गुज़र गया**=सारा वक़्त यों ही **बीत गया**।

चिराग़ और **दीपक** पूरी तरह एक चीज़ नहीं है। **चिराग** तो गुल होता है; लेकिन **दीपक** गुल नहीं होता। **दम** में दम आता है और **नाक** में दम किया जाता है। **दिमाग़** चक्कर खाता है, **दिल** चक्कर नहीं खाता। रात को **दुकानें** तो बढ़ती देखी जाती हैं; लेकिन **घर** नहीं। 'खाली हाथ होना' और खाली दिमाग़ होना' एक बात नहीं।

आदमी की आँखों में तो ख़ून उतर सकता है; किन्हीं अन्य अंगों में नहीं। पुण्य की जड़ सदा हरी होती है और पाप का घड़ा कभी न कभी फूटता है।

आदमी रोटी तो खाता ही है, लेकिन कभी-कभी गम भी खाता है। भंडा तो फूटता ही है; लेकिन तकदीर भी फूटती है। दोनों का फूटना एक-सा नहीं है।

पूर्वपद संख्यावाची सामासिक शब्द

हिन्दी-साहित्य में कुछ सामासिक शब्द ऐसे प्रचलित हैं, जिनका पूर्वपद संख्यावाचक विशेषण है। उनकी सन्तानें विशिष्ट हैं—

द्विरूप =(१) नर (२) नारायण।

☐ **त्रिऋण**-(१) पितृऋण (२) ऋषिऋण (३) देवऋण।

☐ **त्रिलोक**-(१) स्वर्गलोक (२) मर्त्यलोक (३) पाताललोक।

☐ **त्रिगुण**-(१) सत्वगुण (२) तमोगुण (३) रजोगुण।

☐ **त्रिहट**-(१) राजहट (२) वालहट (३) स्त्रीहट।

☐ **सगुणब्रह्मोद्भूत त्रिदेव**-(१) सत्वगुण से विष्णु (२) रजोगुण से ब्रह्मा (३) तमोगुण से शंकर।

☐ **त्रिशारीरिक विकार**-(१) वातविकार (२) पित्तविकार (३) कफ विकार।

☐ **त्रिताप**-(१) दैविक (२) दैहिक (३) भौतिक।

☐ **त्रिअग्नि**-(१) दावाग्नि (२) वाडवाग्नि (३) जठराग्नि।

[इन्हें अनल भी कहते हैं-दावानल, वाडवानल, जठरानल]

☐ **त्रियज्ञाग्नि**-(१) गार्हपत्य (२) आहलनीय (३) दाक्षिणात्य।

☐ **त्रियादववंश**-[१] भोज [२] वृष्णि [३] अन्धक।

[तीनों वंशों के यादव पाँच लाख थे—महाभारत, सातव०, मौसलपर्व अ० ६/११, १६]

☐ **अनुसूया-त्रिपुत्र**-[१] दत्तात्रेय [२] चन्द्र [३] दुर्वासा।

☐ **काशिराज त्रिसुता**–(१) अम्बा (२) अम्बिका (३) अम्बालिका।

☐ **त्रिमद**–(१) धन–मद (२) पद–मद (३) विद्या–मद।

☐ **त्रिकाल**–(१) भूत (२) वर्तमान (३) भविष्यत्।

☐ **त्रिरथी**–(१) रथी (२) महारथी [एक हज़ार से अकेला लड़नेवाला] (३) अतिरथी [दस हज़ार से अकेला लड़नेवाला]

☐ **त्रिशरीर**–(१) स्थूल शरीर (२) सूक्ष्म [लिंग] शरीर (३) कारण शरीर।

☐ **त्रिराम**–(१) परशुराम (२) श्रीराम (३) बलराम।

☐ **त्रिमानसीधारा**–(१) सतगुणजात भावना (२) रजोगुणजात कामना (३) तमोगुणजात वासना।

त्रिज्ञानप्राप्ति साधन–(१) प्रणिपात (२) परिप्रश्न (३) सेवा [भगवद्गीता ४/३४]।

त्रिकटुक–(१) सौंठ (२) मिर्च (३) पीपर।

☐ **त्रिफला**–(१) हर्र (२) बहेड़ा (३) आँवला।

☐ **त्रिशर्करा**–(१) गुड (२) चीनी (३) मिस्री।

☐ **त्रिसन्ध्यी**–(१) प्रातः (२) मध्याह्न (३) सायं।

☐ **त्रितीर्थस्थली**–(१) काशी (२) प्रयाग (३) गया।

☐ **त्रिवेद या वेदत्रयी**–(१) ऋक् (२) यजु (३) साम।

☐ **त्रिप्रस्थान या प्रस्थानत्रयी**–(१) उपनिषद् (२) ब्रह्मसूत्र (३) श्रीमद्-भगवद्गीता।

☐ **चतुर्वेद**–(१) ऋक् (२) यजु (३) साम [४] अथर्व।

☐ **चार उत्पत्ति–प्रकार**–[१] अंडज [२] स्वेदज [३] जरायुज [४] उद्–भिज्ज।

☐ **चतुरायुध**—[१] मुक्त [२] अमुक्त [३] मुक्तामुक्त [४] यंत्रमुक्त।

☐ **चतुर्वेदोपाङ्ग**—[१] पुराण [२] न्याय [३] मीमांसा [४] धर्म–शास्त्र।

☐ **चतुर्न्यायप्रमाण**—[१] प्रत्यक्ष [२] अनुमान [३] उपमान [४] आप्त–वाक्य।

☐ **चतुः पुरुषार्थ**–[१] धर्म [२] अर्थ [३] काम [४] मोक्ष।

☐ **चतुर्वाणी**–[१] परा [मूलाधार चक्र में] [२] पश्यन्ती [नाभि में] [३] मध्यमा [हृदय में] [४] वैखरी [कण्ठदेश में]।

☐ **चतुर्योग**–[१] मंत्रयोग [२] हठयोग [३] लययोग [४] राजयोग।

☐ **चतुरन्तःकरण**—[१] मन [२] बुद्धि [३] चित्त [४] अहंकार [आत्मा]।

☐ **चतुर्युगी**–[१] सत्युग =१७२८००० वर्ष
[२] त्रेतायुग =१२९६००० वर्ष

[३] द्वापर युग = ८६४००० वर्ष
[४] कलियुग = ४३२००० वर्ष
चतुर्युगी = ४३२०००० वर्ष।
चतुर्युगी × १००० = ब्रह्मा का एक दिन [एक कल्प] अथवा
१४ मन्वन्तर का काल = १ वाराह कल्प।

१ मनु का समय [१ मन्वन्तर] = १ चतुर्युगी × ७१ = ३०६७२०००० वर्ष

चतुरवस्था–[१] जाग्रत् अवस्था [२] स्वप्न अवस्था [३] सुषुप्ति अवस्था [४] तुरीय अवस्था [चतुरीय अवस्था]

☐ **चतुःपुरुषार्थ**–[१] धर्म [२] अर्थ [३] काम [४] मोक्ष।

☐ **चतुर्ब्रह्मपुत्र**–[१] सनक [२] सनन्दन [३] सनत्कुमार [४] सनातन।

☐ **चतुर्दण्ड**–[१] वाक् दण्ड [२] अर्थदण्ड [३] शारीरिक दण्ड [४] प्राण-दण्ड।—[सातव०, महाभारत, शान्ति० १६०/६८]

☐ **चतुः शरीर**–[१] स्थूल शरीर [२] सूक्ष्म शरीर [३] कारण शरीर [४] महाकारण शरीर।

☐ **अन्तःकरण-चतुष्टय**–[१] मन [२] बुद्धि [३] चित्त [४] अहंकार।

☐ **चतुस्सम**–[१] कस्तूरी [२] चन्दन [३] कुंकुम [४] कपूर।

☐ **चतुर्व्यूह**–[१] वासुदेव [२] संकर्षण [३] प्रद्युम्न [४] अनिरुद्ध।

☐ **चतुः कुम्भपर्वस्थान** [१] हरिद्वार [२] प्रयाग [३] उज्जैन [४] नासिक

☐ **चार उपवेद**–[१] आयुर्वेद [२] धनुर्वेद [३] गान्धर्व वेद [४] स्थापत्य-शास्त्र।

पंचकोश–[१] अन्नमय कोश [त्वचा से हड्डी तक]
[२] प्राणमय कोश [अपान, प्राण, व्यान, समान, उदान]
[३] मनोमय कोश [पंच ज्ञानेन्द्रियाँ + मन + अहंकार]
[४] विज्ञानमय कोश [पंच ज्ञानेन्द्रियाँ + बुद्धि + चित्त]
[५] आनन्दमय कोश [प्रीति, प्रसन्नता आदि]

☐ **पांचरात्रधर्म**–]१] परमतत्त्व [२] मुक्ति [३] भुक्ति [४] योग [५] विषय [संसार] को समन्वित रूप में माननेवाला धर्म। [इसकी प्रतिष्ठा शंकराचार्य ने की थी।]

पंच गंगा–[१] गंगा [२] यमुना [३] सरस्वती [४] किरणा [५] धूतपापा।

पंचनाथ–[१] बदरीनाथ [२] द्वारकानाथ [३] जगन्नाथ [४] रंगनाथ [५] श्रीनाथ।

पंच पल्लव–[१] आम [२] जामुन [३] कैथ [४] बेल [५] बिजौरा।

पंचयज्ञ–[१] ऋषियज्ञ [२] देवयज्ञ [३[भूतयज्ञ [४] नृयज्ञ [अतिथिपूजन] [५] पितृयज्ञ।

पंचदेवोपासना–[१] विष्णु–उपासना [२] सूर्योपासना [३] शिवोपासना

(४) शक्ति–उपासना (५) गणेशोपासना ।

☐ **पंचविष**–(१) शृंगी (२) कालकूट (३) मोथा (४) बछनाग (५) शंख-कर्णी ।

☐ **पंचक-नक्षत्र**–(१) धनिष्ठा (२) शतभिषा (३) पूर्वाभाद्रपद (४) उत्तरा-भाद्रपद (५) रेवती । (यह 'पंचक' भी कहाते हैं ।)

☐ **यज्ञ-पंचाग्नि**–(१) अन्वाहार्य (२) पचन (३) गार्हपत्य (४) आहवनीय (५) आवरुथ्य ।

☐ **पंचाक्षर मंत्र**–नमः शिवाय–(१) न (२) मः (३) शि (४) वा (५) य

☐ **पंचनद**–(१) सतलज (शतद्रु) (२) व्यास (विपाशा) (३) रावी (इरावती) (४) चिनाव (५) झेलम (वितस्ता) ।

☐ **पंच देववृक्ष**–(१) कल्पवृक्ष (२) हरिचन्दन (३) मदौर (४) पारिजात (५) संतान ।

☐ **पंचज्ञानेन्द्रिय**–(१) आँख (२) कान (३) नाक (४) रसना (५) त्वचा ।

☐ **पंचकर्मेन्द्रिय**–(१) हाथ (२) पाँव (३) मुख (४) लिंग (५) गुदा ।

☐ **पंच पाण्डव**–(१) युधिष्ठिर (२) भीम (३) अर्जुन (४) नकुल (५) सहदेव ।

☐ **पंच द्रौपदी–पुत्र**–(१) प्रतिविन्ध्य [युधिष्ठिर से] (२) सुतसोम [भीम से] (३) श्रुतकीर्ति [अर्जुन से] (४) शतानीक [नकुल से] (५) श्रुतसेन [सहदेव से]

☐ **पाण्डव याचित पंचग्राम**–(१) अविस्थल (२) वृकस्थल (३) माकन्दी (४) वारणावृत (५) कोई एक ग्राम दुर्योधन की इच्छा के अनुसार । [गीताप्रेस गोरखपुर के 'महाभारत' के अनुसार]

☐ **पंचप्राण**–(१) प्राण (२) अपान (३) व्यान (४) समान (५) उदान ।

☐ **पंचतन्मात्रा**–(१) शब्द (२) रूप (३) रस (४) गंध (५) स्पर्श ।

☐ **पंचभूत**–(१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि (४) वायु (५) आकाश ।

पंचवटी–(१) पीपल (२) बेल (३) वट (४) हड़ (५) अशोक ।

पंचदेव—(१) विष्णु (२) शिव (३) गणेश (४) दुर्गा (५) सूर्य

पंचप्राण—(१) प्राण (२) अपान (३) व्यान (४) समान (५) उदान

पंचगव्य—(१) दूध (२) दही (३) घृत (४) गोबर (५) मूत्र

पंचकामबाण—(१) सम्मोहन (२) उन्मादन (३) स्तंभन (४) शोषण (५) तापन

पंचपिता—(१) पिता (२) श्वशुर (३) अन्नदाता (४) भयत्राता (५) उपनेता

☐ **पंच मुक्ति**–(१) सालोक्य=जीवात्मा का भगवान् के लोक में रहना ।
(२) सामीप्य=जीवात्मा का भगवान् के निकट रहना ।

(३) सारूप्य =जीवात्मा का भगवान् का रूप प्राप्त करना; जैसे पानी दूध से मिलकर दूध का रूप प्राप्त कर लेता है।

(४) सायुज्य=जीवात्मा का भगवान् में लीन हो जाना; जैसे सूखे ढेले पर पानी की बूंद गिरकर उसमें समा जाती है। इसे अंग्रेज़ी में ABSORPTION कहते हैं।

(५) साष्ट्र्य=जीवात्मा का भगवान् का वैभव प्राप्त करना। 'रामचरितमानस' के अनुसार गीध जटायु ने भगवान् का वैभव प्राप्त किया था। उसकी जीवात्मा ने साष्ट्र्य मुक्ति प्राप्त की थी। भगवद्रूप-प्राप्ति का नाम ही साष्ट्र्य मुक्ति है (मानस, अर० ३२/१,२)।

पंचवेदान्तवाद=(१) अद्वैतवाद (२) द्वैतवाद (३) विशिष्टाद्वैतवाद (४) शुद्धाद्वैतवाद (५) द्वैताद्वैतवाद।

पंच कन्या–(१) अहल्या (२) तारा (३) मन्दोदरी (४) द्रौपदी (५) कुन्ती।

पंचक्लेश—(१) राग (२) द्वेष (३) अभिनिवेश (४) अविद्या (५) अस्मिता। [**अभिनिवेश**=मरण–भय। **अस्मिता**=बुद्धि और आत्मा को अभिन्न मान लेना]

षड्दर्शन—(१) सांख्य (२) योग (३) मीमांसा (४) वैशेषिक (५) न्याय (६) वेदान्त।

षड्विकार—(१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद (६) मात्सर्य

षट् राग–(१) भैरव (२) मलार (३) श्री (४) हिंडोल (५) मालकोस (६) दीपक।

☐ **षट् शरीर**–(१) स्थूल शरीर [२५ तत्त्व=५ तत्त्व+५ ज्ञानेन्द्रियाँ+५ कर्मेन्द्रियाँ+५ प्राण+४ अन्तःकरण+१ मन]

(२) सूक्ष्म शरीर [१७ तत्त्व=१० इन्द्रियाँ+१ मन+५ प्राण+१ बुद्धि]

(३) कारण शरीर [३ तत्त्व=चित्त+अहंकार+जीवात्मा]

(४) महाकारण शरीर [२ तत्त्व=अहंकार+जीवात्मा]

(५) कैवल्य शरीर [१ तत्त्व=जीवात्मा]

(६) हंस शरीर [कोई तत्त्व नहीं अर्थात् प्रकाशस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति।] **हंस शरीर**=सोऽहम्।

☐ **हठयोग-षट्कर्म**–(१) नेति (२) धौति (३) वस्ति (४) नौलि

(५) त्राटक (६) कपालभाति ।

षड्वेदाङ्ग—(१) शिक्षा (२) कल्प (३) व्याकरण (४) छन्द (५) निरुक्त (६) ज्योतिष ।

षट्रस भोजन—(१) मीठा (२) नमकीन (३) कड़वा (४) तीखा (५) कसैला (६) खट्टा ।

सप्तपुरी—(१) मायापुरी (हरिद्वार) (२) अयोध्या (३) मथुरा (४) काशी (५) अवन्तिका (६) कांची (७) द्वारका ।

सप्तस्वर—(१) षड्ज (२) ऋषभ (३) गांधार (४) मध्यम (५) पंचम (६) धैवत (७) निषाद ।

अधः सप्तलोक—(१) अतल (२) वितल (३) सुतल (४) रसातल (५) तलातल (६) महातल (७) पाताल ।

सप्तर्षि—(१) वशिष्ठ (२) विश्वामित्र (३) भरद्वाज (४) गौतम (५) जमदग्नि (६) गौतम (७) कश्यप ।

सप्तद्वीप—(१) जम्बू (२) प्लक्ष (३) शाल्मली (४) कुश (५) क्रौंच (६) शाक (७) पुष्कर ।

सप्तराज्यांग--(१) राजा (२) मंत्री (३) सामन्त (४) सेना (५) गढ़ (६) देश (७) काल ।

सप्त ऊर्ध्व लोक–(१) भू लोक (२) भुव लोक (३) स्वर्ग लोक (४) जन लोक (५) तप लोक (६) महलोक (७) सत्य लोक ।

☐ **अन्तरिक्ष–सप्त वायु**–(१) आवह (२) उद्वह (३) परावह (४) परिवह (५) प्रवह (६) विवह (७) संवह ।

[उपर्युक्त में प्रत्येक के अन्तर्गत एकज्योति, द्विज्योति, त्रिज्योति आदि नामों की सात–सात वायुएँ हैं । इस तरह पृथ्वी और अन्तरिक्ष में ४९ प्रकार की हवाएँ चलती हैं ।]

☐ **सप्त अमर व्यक्ति**–(१) हनूमान् (२) विभीषण (३) परशुराम (४) बलि (५) व्यास (६) कृपाचार्य (७) अश्वत्थामा ।

आयुर्वेद-अष्टांग–(१) शल्य (२) शालाक्य (३) कायचिकित्सा (४) भूत विद्या (५) कौमारभृत्य (६) अगदतंत्र (७) रसायनतंत्र (८) वाजीकरण ।

अष्ट सिद्धि—(१) अणिमा (२) महिमा (३) गरिमा (४) लघिमा [५] प्राप्ति [६] प्राकाम्य [७] ईशित्व [८] वशित्व ।

अष्टमेधाङ्ग—[१] शुश्रूषा [२] श्रवण [३] ग्रहण [४] धारण [५] ऊह [६] अपोह [७] अर्थविज्ञान [८] तत्त्वविज्ञान ।

अष्टांगप्रणाम—(१) घुटना (२) हाथ (३) पाँव (४) छाती (५) सिर (६) वचन (७) दृष्टि (८) बुद्धि ।

अष्टांगयोग— (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि ।

अष्टवर्ग— (१) जीवक (२) ऋषभक (३) मेदा (४) महामेदा (५) काकोली (६) क्षीरकाकोली (७) ऋद्धि (८) वृद्धि नामकी औषधियाँ ।

अष्टचक्र— (१) मूलाधार चक्र (२) मणिपूरचक्र (३) स्वाधिष्ठान चक्र (४) अनाहत चक्र (५) विशुद्धाख्य चक्र (६) आज्ञा चक्र (७) सहस्रार चक्र (८) सुरति चक्र ।

कृष्ण-अष्टपटरानी–(१) रुक्मिणी (२) सत्यभामा (३) कालिन्दी (४) मित्रबिन्दा (५) सत्या (६) भद्रा (७) लक्ष्मणा (८) जाम्बवती ।

अष्टछापी कृष्णभक्त कवि— (१) सूरदास (२) परमानन्ददास (३) कुंभनदास (४) कृष्णदास [बल्लभाचार्य के शिष्य] (५) नंददास (६) चतुर्भुजदास (७) छीत स्वामी (८) गोविन्द स्वामी [गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य]

अष्टप्रकार विवाह-(१) ब्राह्म (२) दैव (३) आर्ष (४) प्राजापत्य [५]आसुर (६) गांधर्व (७) राक्षस (८) पैशाच ।

भू–नवखण्ड— (१) भारत (२) इलावृत्त (३) किंपुरुष (४) भद्र (५) केतुमाल (६) हरि (७) हिरण्य (८) रम्य (९) कुश ।

विष–नवभेद— (१) वत्सनाभ (२) हारिद्रिक (३) सक्तुक (४) प्रदीपन (५)सौराष्ट्रिक (६) शृंगक (७) कालकूट (८) हलाहल (९) ब्रह्म–पुत्र ।

शक्ति–नवविग्रह—(१) प्रभा (२) माया (३) जया (४) सूक्ष्मा (५) विशुद्धा (६) नंदिनी (७) सुप्रभा (८) विजया (९) सर्वसिद्धदा ।

नवशायक— (१) ग्वाला (२) तेली (३) माली (४) जुलाहा (५) हलवाई (६) बरई (७) कुम्हार (८) कमकर (९) नाई ।

नवरस–रंग— (१) शृंगार का रंग श्याम (२) करुणा का रंग कपोतचित्रित (३) वीर का रंग कनक–कान्ति (४) भयानक का रंग काला (५) रौद का रंग लाल (६) बीभत्स का रंग नीला (७) शान्त का रंग कुन्दपुरुष का–सा (८) अद्भुत का रंग पीला (९) हास्य का रंग श्वेत ।

नव रस–देवता— (१) शृंगार का देवता विष्णु (२) करुण का देवता यमराज (३) वीर का देवता महेन्द्र (४) भयानक का देवता काल (५) रौद्र का देवता रुद्र (६) बीभत्स का देवता महाकाल (७) शान्त का देवता शान्तमूर्ति विष्णु (८) अद्भुत का देवता ब्रह्मा (९) हास्य का देवता शिव–गण ।

काव्य-नवरस— (१) शृंगार (२) हास्य (३) करुण (४) वीर (५) भयानक (६) रौद्र (७) बीभत्स (८) अद्भुत (९) शान्त ।

नवशरीर-द्वार— (१) दो कान (२) दो आँखें (३) दो नासापुट (४) मुख (५) गुदा (६) लिंग ।

नवदुर्गा— (१) शैलपुत्री (२) ब्रह्मचारिणी (३) चन्द्रघंटा (४) कूष्माण्डा (५) स्कन्दमाता (६) कात्यायनी (७) कालरात्रि (८) महागौरी (९) सिद्धिदात्री ।

नवधाभक्ति— (१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पादसेवन (५) अर्चन (६) वंदन (७) दास्य (८) सख्य (९) आत्म-निवेदन ।

नवनिधि— (१) शंख (२) पद्म (३) महापद्म (४) कुन्द (५) मुकुन्द (६) मकर (७) कच्छप (८) नील (९) वर्च ।

नवग्रह— (१) रवि (२) सोम (३) मंगल (४) बुध (५) गुरु (६) शुक्र (७) शनि (८) राहु (९) केतु ।

नवरत्न —(१) मुक्ता (२) माणिक्य (३) हीरा (४) नीलम (५) पन्ना (६) गोमेद (७) मूँगा (८) पद्मराग (९) वैदूर्य ।

नवखंड —(१) इलावर्त (२) रम्यक (३) हिरण्यमय (४) कुरु (५) भारत (६) हरि (७) केतुमाल (८) भद्राश्व (९) किंपुरुष ।

दशावतार —(१) मत्स्य (२) कूर्म (३) वराह (४) नृसिंह (५) वामन (६) परशुराम (७) राम (८) कृष्ण (९) बुद्ध (१०) कल्की ।

दश मानव-शरीरावस्था—(१) गर्भावस्था (२) जन्म (३) शैशव (४) कौमार (५) पौगंड (६) यौवन (७) वृद्धावस्था (८) जरा (९) प्राणसंरोध (१०) मृत्यु ।

दश धर्मलक्षण— (१) धृति (२) क्षमा (३) दम (४) अस्तेय (५) शौच (६) इन्द्रियनिग्रह (७) धी (८) विद्या (९) सत्य (१०) अक्रोध ।

दशदिशा— (१) पूर्व (२) पश्चिम (३) उत्तर (४) दक्षिण (५) ईशान (६) आग्नेय (७) नैर्ऋत (८) वायव्य (९) आकाश (१०) पाताल ।

दशक्वाथ— (१) अड़सा (२) गुडच (३) पित्तपापड़ा (४) चिरायता (५) जलभँगरा (६) नीम की छाल (७) हड़ (८) बहेला (९) आँवला (१०) कुलथी ।

दशकुलवृक्ष— (१) लसोड़ा (२) करंज (३) बेल (४) पीपल (५) कदम्ब (६) नीम (७) बरगद (८) गूलर (९) आँवला (१०) इमली।

दशदिग्पाल— (१) इन्द्र (२) अग्नि (३) यम (४) निऋंति (५) वरुण (६) मरुत (७) कुबेर (८) ईशान (९) ब्रह्मा (१०) अनन्त।

दशकामदशा— (१) अभिलाष (२) चिन्ता (३) स्मृति (४) गुण-कथन (५) उद्-वेग (६) संप्रलाप (७) उन्माद (८) व्याधि (९) जड़ता (१०) मरण (आचार्य विश्वनाथ के अनुसार)

एकादश कामदशा—(१) अभिलाष (२) चिन्ता (३) गुणकथन (४) स्मृति (५) उद्-वेग (६) प्रलाप (७) उन्माद (८) व्याधि (९) जड़ता (१०) मूर्च्छा (११) मरण (अन्य मत)

एकादश उपनिषद्—(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारा-ण्यक (११) श्वेताश्वतर।

[**विशेष**— उपनिषदों की कुल संख्या के विषय में मत-भेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार कुल उपनिषद् २२० हैं। महत्त्वपूर्ण उपनिषद् ११ हैं, जो ऊपर अंकित हैं।]

द्वादश ज्योतिर्लिङ्ग—(१) सौराष्ट्र में सोमनाथ (२) श्री शैल पर मल्लिकार्जुन (३) उज्जैन में महाकाल (४) ओंकारेश्वर अथवा अमलेश्वर (५) परली में वैद्यनाथ (६) डाकिनी में भीमशंकर (७) सेतु-बंध पर रामेश्वर (८) दारुकावन में नागेश्वर (९) वाराणसी में विश्वनाथ (१०) गौतमी (गोदावरी) तट पर त्र्यम्बकेश्वर (११) हिमालय पर केदारनाथ (१२) शिवालय में घुश्मेश्वर।

द्वादशाभरण— (१) सीसफूल (२) टीका (३) बाली (४) बेसर (५) कण्ठश्री (६) हार (७) कौंधनी (८) नूपुर (९) बाजूबन्द (१०) चूड़ी (११) कंकण (१२) अँगूठी।

द्वादशाक्षर मंत्र— (१) ॐ (२) न (३) **मो** (४) **भ** (५) **ग** (६) **व** (७) **ते** (८) **वा** (९) **सु** (१०) **दे** (११) **वा** (१२) **य**

["ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" (अथवा)

ॐ **भगवते वासुदेवाय नमः**"

१ ४ ५ २ (१+४+५+२=१२ अक्षर)।

ब्रह्मपुराण (६१/५१) में कहा गया है कि जिस कथन के आदि में ॐ हो और अन्त में **नमः** हो, वह 'मंत्र' कहलाता है। वैसे वैदिक साहित्य के 'छन्द' मंत्र कहे जाते हैं।

चतुर्दशविद्या— ४ वेद + ६ वेदाङ्ग + ब्रह्मविद्या + तर्कविद्या + न्याय + मीमांसा।

चतुर्दशभुवन (लोक)—(१) भूः (२) भुवः (३) स्वः (४) मह (५) जन (६) तप (७) सत्य (८) अतल (९) वितल (१०) सुतल (११) रसातल (१२) तलातल (१३) महातल (१४) पाताल। (सबसे ऊपर सत्यलोक और सबसे नीचे पाताल लोक है।)

चतुर्दश सागर रत्न—(१) श्री (२) रम्भा (३) विष (४) वारुणी (५) शंख (६) गजराज (७) लक्ष्मी (८) चन्द्र (९) कौस्तुभमणि (१०) कामधेनु (११) धन्वन्तरि (१२) पारिजात (१३) सप्तमुख अश्व भूरिश्रवा (१४) अमृत।

चतुर्दश मन्वन्तर—(१) स्वायंभुव (२) स्वारोचिष (३) उत्तम (४) तामस (५) रैवत (६) चाक्षुप (७) वैवस्वत (८) सावर्णि [९] दक्ष सावर्णि [१०] ब्रह्म सावर्णि (११) धर्मसावर्णि (१२) देवसावर्णि (रौच्य) (१३) इन्द्र सावर्णि (भौक्ति) (१४) गुरुसावर्णि।

षोडश चन्द्र-कला—(१) अमृता (२) मानदा (३) पूषा (४) तुष्टि (५) पृष्टी (६) रति (७) धृति (८) शशिनी (९) चन्द्रिका (१०) कान्ति (११) ज्योत्स्ना (१२) श्री (१३) प्रीति (१४) अंगदा (१५) पूर्णा (१६) मृता।

षोडश शृंगार— (१) उबटन (२) स्नान (३) वस्त्र (४) आभूषण (५) केश-विन्यास (६) सिन्दूर (७) तिलक (८) तिल (९) मिस्सी (१०) ओष्ठरंजन (११) पान खाना (१२) सुगन्धित द्रव्य (१३) महावर (१४) पुष्पहार (१५) अंजन (१६) महदी।

षोडशोपचार— (१) आवाहन (२) आसन (३) अर्घ्य (४) आचमन (५) मधुपर्क (६) स्नान (७) वस्त्राभरण (८) यज्ञोपवीत (९) गंध (१०) पुष्प (११) दीप (१२) धूप (१३) नैवेद्य (१४) ताम्बूल (१५) परि-क्रमा (१६) वन्दना।

षोडशनायिका— (१) प्रवत्स्यवल्लभा (२) प्रोषितभर्तृका (विरहपीड़िता) (३) आगतवल्लभा (४) संयुक्ता अर्थात् संयोगआनन्दिता। (५) वासकसज्जा (६) विरहोत्कण्ठिता (७) खण्डिता (८) कल-हान्तरिता (९) अभिसारिका (१०) विप्रलब्धा (११) अन्य-संभोग दुःखिता (१२) विदग्धा (१३) गुप्ता (१४) लक्षिता (१५) मुदिता (१६) अनुशयाना।

षोडशमातृका— (१) गौरी (२) पद्मा (३) शची (४) मेधा (५) सावित्री (६) विजया (७) जया (८) देवसेना (९) स्वधा (१०) स्वाहा (११) शन्ति (१२) पुष्टि (१३) धृति (१४) तुष्टि (१५) मातरः (१६) आत्म देवता।

अष्टादश महाभारत पर्व—[१] आदि पर्व [२] सभा पर्व [३] आरण्यक पर्व (वन-पर्व) [४] विराट पर्व [५] उद्योग पर्व [६] भीष्म पर्व [७] द्रोण पर्व [८] कर्ण पर्व [९] शल्य पर्व [१०] सौप्तिक पर्व [११] स्त्री पर्व [१२] शान्ति पर्व [१३] अनुशासन पर्व [१४] आश्विमेधिक पर्व [१५] आश्रमवासिक पर्व [१६] मौसल पर्व [१७] महा-प्रस्थानिक पर्व [१८] स्वर्गारोहण पर्व।

अष्टादश गीताध्याय—[१] अर्जुन-विषाद योग [२] सांख्य योग [३] कर्मयोग [४] ज्ञान-कर्म-संन्यास योग [५] कर्म संन्यास योग [६] ध्यान योग [७] ज्ञान-विज्ञान योग [८] अक्षर ब्रह्मयोग [९] राज-विद्या राजगुह्य योग [१०] विभूति योग [११] विश्वरूपदर्शन योग [१२] भक्ति योग [१३] क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग योग [१४] गुणात्रय-विभाग योग [१५] पुरुषोत्तम योग [१६] दैवासुरसंपद् विभाग योग [१७] श्रद्धात्रय-विभाग योग [१८] संन्यास योग।

अष्टादश पुराण—[१] ब्रह्मपुराण [२] पद्मपुराण [३] विष्णुपुराण [४] शिव-पुराण [५] भागवतपुराण [६] नारदपुराण [७] मार्कण्डेयपुराण [८] अग्निपुराण [९] भविष्यपुराण [१०] ब्रह्मवैवर्तपुराण [११] लिंगपुराण [१२] वाराहपुराण [१३] स्कन्दपुराण [१४] वामनपुराण [१५] कूर्मपुराण [१६] मत्स्यपुराण [१७]गुरु-डपुराण [१८] ब्रह्माण्डपुराण (अध्यात्म रामायण इसी पुराण का एक खण्ड है।]

उपर्युक्त १८ पुराण व्यासप्रणीत कहे जाते हैं। ये महापुराण भी कहलाते हैं।

चतुर्विंश प्रकृतितत्त्व (सांख्यानुसार)

[१] पंचमहाभूत [पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश]
[२] पंचतन्मात्राएँ, [रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द]
[३] पंचज्ञानेन्द्रियाँ [आँख, नाक, कान, रसना, त्वचा]
[४] पंचकर्मेन्द्रियाँ [हाथ, पाँव, मुख, लिंग, गुदा]
[५] मन, बुद्धि, अहंकार, महततत्त्व।

तेतीस देवता— १२ आदित्य + ८ वसु + ११रुद्र + २ अश्विनीकुमार।

हिन्दी में विशेषण अपने विशेष्य का अनुगामी है और नहीं भी

[१] अनुगामी विशेषण—

'काला' वंश के विशेषण अपने स्वामी विशेष्य का पूरा-पूरा अनुगमन करते

हैं । अर्थात् आकारान्त पुंलिग विशेषण लिंग–वचन में विशेष्य के अनुसार चलते हैं; अपने स्वामी के आदेश का पूरा पालन करते हैं । हिन्दी की अरण्यानी में विशेष्य यदि नन्दिनी गाय है, तो विशेषण दिलीप है । नन्दिनी जब चलती थी, तो दिलीप उसके पीछे–पीछे चलने थे । नन्दिनी जब खड़ी हो जाती थी, तो राजा दिलीप भी खड़े हो जाते थे । नन्दिनी के बैठ जाने पर दिलीप भी बैठ जाते थे । हिन्दी के आकारान्त पुंलिग विशेषण राजा दिलीप के समान हैं ।

□ **काला घोड़ा, काले घोड़े ।**

□ **अच्छा लड़का, अच्छे लड़के ।**

उपर्युक्त उदाहरणों में विशेषण अपने विशेष्य के अनुगामी हैं । '**काला**' और '**अच्छा**' का परिवर्तन अपने विशेष्य 'घोड़ा' और 'लड़का' के अनुसार ही परिवर्तित हुआ है ।

[२] **अननुगामी विशेषण**—

'**लाल**' वंश के विशेषण अपने स्वामी विशेष्य का अनुगमन नहीं करते हैं अर्थात् अकारान्त पुंलिग विशेषण अपने विशेष्य के अनुसार परिवर्तित नहीं होते—

□ **लाल घोड़ा, लाल घोड़े ।**

□ **सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़के ।**

उपर्युक्त उदाहरणों में विशेषण **लाल** और **सुन्दर** अपने विशेष्य के अनुसार परिवर्तित नहीं हुए हैं ।

हिन्दी के वाक्य–प्रदेश में वह विशेषण सेवक जो अपने विशेष्य स्वामी से दूर रहते हुए भी दूर नहीं है

कर्मधारय एवं तत्पुरुष समास में उत्तरपदीय विशेष्य अपने सेवक विशेषण पद से कितनी भी दूर हो, लेकिन वह दूर नहीं माना जाता, क्योंकि उस विशेष्य का विशेषण अपने स्वामी विशेष्य की आज्ञा का पालन पूरी तरह करता है—

[क] **कर्मधारय समास में**—

"**काला** बहुत तेज दौड़ने वाला **सुन्दर घोड़ा** मेरे मन में समा गया है ।"

"का**ले** बहुत तेज़ दौड़ने वाले **सुन्दर घोड़े** मेरे मन में समा गये हैं ।"

कर्मधारय सामासिक पद का उत्तरांश पद **घोड़ा** अपने विशेषण '**काला**' से पर्याप्त दूर है, फिर भी विशेषण अपने विशेष्य का अनुगामी है ।

[ख] **तत्पुरुष समास में**—

"**गोरा–गोरा** वह युद्ध जीतने वाला **राज–पुत्र** सभी को प्रफुल्लित करता है ।"

"**गोरे-गोरे** वे युद्ध जीतने वाले **राज-**'्त्र सभी को प्रफुल्लित करते हैं।"

उपर्युक्त वाक्यों में तत्पुरुष समास का उत्तरपदीय **पुत्र** एकवचन में है, तब उसका सुदूरवर्ती विशेषण **गोरा** है और जब उसका उत्तरपदीय **पुत्र** बहुवचन में है, तब उसका सुदूरवर्ती विशेषण **गोरे** हैं।

अतः ऐसी दशा में दूरस्थ विशेषण दूर नहीं माना जाएगा।

समास के उत्तरांश में शब्द का अर्थ बदल जाता है

एकाकी शब्द और अर्थ	समास के उत्तरांश में शब्द का अर्थ
[१] **चाल**=गति, चलने की क्रिया।	[१] हाल-चाल=दशा, अवस्था।
[२] **डोल**=पानी भरने में काम आने वाला एक वर्तन।	[२] फूल-डोल=झूला।
[३] **टाल**=लकड़ी की दुकान।	[३] माल-टाल=सामान, सामग्री।
[३[**ख़म**=टेढ़ापन।	[४] दम-ख़म=ताक़त।

हिन्दी में किस स्थिति में तत्पुरुष समास नहीं बनता ?

व्याकरण का विद्यार्थी जानता है कि तत्पुरुष समास में उत्तर पद प्रधान होता है। यदि पूर्वपद विशेषण से बनी हुई संज्ञा हो, तो उसके साथ उत्तरपद रखने पर तत्पुरुष समास अभीष्ट-अर्थमूलक नहीं बनता। उस स्थिति में सामासिक पद नहीं बनाना चाहिए।

मान लीजिए कि 'वृद्ध' विशेषण को संज्ञा बनाकर 'वृद्ध की पत्नी' असा-मासिक को सामासिक रूप प्रदान किया, '**वृद्ध पत्नी**' तो यह सामासिक पद बुड्ढी पत्नी अर्थ दे सकता है। ऐसी स्थिति में **वृद्ध की पत्नी** लिखना ही उपयुक्त है।

यदि कोई व्यक्ति पागलों का डाक्टर है तो उसे सामासिक पद के रूप में **पागल-डाक्टर** कहना ठीक न होगा। यह तत्पुरुष समास न होकर कर्मधारय बन जाएगा। विग्रह करने पर वास्तविक अर्थ प्रकट न कर सकेगा।

वे शब्द जिनका प्रयोग समास में होता है

'देनेवाला' अर्थ में **दायी** विशेषण शब्द है। इस '**दायी**' का प्रयोग समास के उत्तरांश में ही होता है, जैसे **उत्तरदायी**। 'दायी' अकेला प्रयुक्त नहीं होता।

प्रभ और **महिम** शब्द भी समास के उत्तरांश में ही प्रयुक्त होते हैं जैसे **महाप्रभ**=महती प्रभावाला। **महामहिम**=महामहिमवाला। '**महत्**' शब्द ही समास

में **महा** बन जाता है। शब्द के पूर्वांश में लगकर '**महा**' उस सामासिक शब्द का अर्थ भी बदल देता है।

महत्ब्राह्मण=बड़ा ब्राह्मण। **महाब्राह्मण**=निकृष्ट ब्राह्मण, जो प्रेतकर्म कराता है। **महत्काव्य**=बड़ा काव्य। **महाकाव्य**=प्रबन्ध काव्य का एक भेद जिसमें किसी व्यक्ति के संपूर्ण जीवन का वृत्तान्त होता है। कुछ अन्य शास्त्रीय लक्षण भी हैं।

भाषा में सब शब्द-पुत्रियों और शब्द-पुत्रों की सन्तानें नहीं होतीं

हिन्दी भाषा के संज्ञा–पुत्री–पुत्रों में कुछ ही संज्ञा–पुत्री–पुत्र ऐसे हैं, जिनकी क्रियाशील सन्तानें हैं। नाक की सन्तान **नकियाना** है। हाथ की सन्तान **हथियाना**, लात की **लतियाना** और अँगुली की **अँगुलियाना** है; लेकिन ऐसी क्रियाशील सन्तानें आँख, कान, सिर, मुँह आदि की नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि हिन्दी भाषा में अँखियाना, कनियाना, सिरयाना या मुँहियाना नहीं होता। ऐसी क्रियाशील सन्तानों को व्याकरण शास्त्र नामधातुक क्रिया कह देता है।

विशेषण पुत्रों की भी ऐसी क्रियाशील सन्तानें होती हैं। 'मोटा' से **मुटियाना** और गर्म से **गर्माना** ऐसी ही सन्तानें हैं।

निपात का अर्थ और चमत्कार

हिन्दी में निपात का प्रयोग '**नाम**' और '**आख्यात**' के साथ देखा जाता है। 'नाम' से तात्पर्य है **संज्ञा, सर्वनाम** तथा **विशेषण** और 'आख्यात' से तात्पर्य है क्रियापद।

संज्ञा के साथ प्रयुक्त निपात '**भी**' का चमत्कार—

[१] "विवाह में दिल्ली से **मोहन भी** आएगा।"

यहाँ '**भी**' निपात है तो 'मोहन' के साथ; लेकिन इशारा करता है उन दूसरे आदमियों या उस दूसरे आदमी की ओर जो दिल्ली से आएँगे या आएगा।

यह संज्ञा के साथ प्रयुक्त '**भी**' निपात का ही चमत्कार है कि वह अन्य आगन्तुक का संकेत कर देता है। वास्तव में निपात '**भी**' अद्भुत भविष्यवक्ता है।

[२] "मेहरबानी करके **ज़रा** बाहर आइए।"

यहाँ '**ज़रा**' निपात क्रियापद के साथ है अर्थात् क्रियाविशेषण है। '**आइए**' क्रिया से '**ज़रा**' सम्बद्ध है। अब विचार यह करना है कि कोई व्यक्ति बाहर आएगा, तब पूरे शरीर के साथ ही आएगा। सारांश यह कि पूरा ही आएगा, ज़रा तो नहीं

आ सकता । फिर भाषा में क्यों बोला जाता है कि 'ज़रा बाहर आइए'। भाषा के इशारे कभी–कभी ऐसे पेचीदा होते हैं कि आसानी से समझ में नहीं आते । उन्हें समझने के लिए बुद्धि को तीसरा नेत्र खोलना पड़ता है ।

"ज़रा बाहर आइए" का अर्थ है—'थोड़े समय के लिए बाहर आइए ।

भाषा में योगात्मक तत्त्व के प्रकार

योगात्मक भाषाओं में संरचना [आकृति] की दृष्टि से प्रमुख तत्त्व तीन प्रकार के पाये जाते हैं–[१] **विभक्ति** [२] **प्रत्यय** [३] **परसर्ग** ।

[१] संस्कृत भाषा में **विभक्ति तत्त्व** । **'गृह'** प्रातिपदिक का सप्तमी में बहु–वचनीय रूप **गृहेषु** [गृह+एषु] होता है । यह –एषु अधिकरण कारक और बहुवचन का सूचक है । सारांश यह कि **विभक्ति** तत्त्व एक साथ कारक और वचन को प्रकट करता है । संस्कृत विभक्ति प्रधान भाषा है । 'एषु' श्लिष्ट अवस्था में है ।

[२] मलयालम भाषा में **प्रत्यय तत्त्व** पाया जाता है । 'वीडु' [=घर] प्रातिपदिक है । इससे सप्तमी में बहुवचनीय रूप **'वीडुकळिल'** होता है । इस पद में कळ बहुवचन का प्रत्यय और–**इल** सप्तमी में अधिकरण कारक का सूचक है । इस भाषा में वचन सूचक और कारक सूचक प्रत्यय अलग–अलग दो हैं । मलयालम प्रत्यय प्रधान भाषा है । **कळ+इल** श्लिष्ट अवस्था में हैं ।

[३] हिन्दी भाषा में **परसर्ग तत्त्व** पाया जाता है । **'घर'** प्रातिपदिक का अधिकरणकारक बहुवचन में **घरों में** रूप बनता है । इस पद में **–ओं** बहुवचन का विभक्ति प्रत्यय है और अधिकरण सूचक **में** परसर्ग है । परसर्ग पद में अलग रहता है । **'में'** घरों से अलग है ।**–ओं** तो प्रातिपदिक के साथ श्लिष्ट अवस्था में है ।

'में' परसर्ग पृथक है–इसका प्रमाण यह है कि **घरों** और **में** के बीच अन्य शब्द अव्यय आदि आ सकता है । जैसे प्रायः ब्राह्मण **घरों ही में** ऐसा देखा गया है ।"

अज्ञान की भूमि से अंकुरित व्युत्पादक प्रत्यय के कुछ प्रयोग

वरिष्ठ और **श्रेष्ठ** शब्दों में 'इष्ठन्' व्युत्पादक प्रत्यय है, जो विशेषण की उच्चतम कोटि का सूचक है । फिर भी कुछ हिन्दी–लेखक **'वरिष्ठतम'** और **'श्रेष्ठ–तम'** शब्दों का प्रयोग करते हैं ।

उन लेखकों को मालूम नहीं कि **'वरीयान्'** में विशेषण की मध्यम कोटि और **वरिष्ठ** में उत्तम कोटि है । इसी तरह **'श्रेयान्'** में मध्यम कोटि और **श्रेष्ठ** में उत्तम कोटि है । 'वरिष्ठतम' और 'श्रेष्ठतम' में तो 'तमप्' प्रत्यय का योग व्यर्थ है । इसका कारण अज्ञान है ।

ब्रजभाषा की भाववाचक संज्ञा 'सुन्दरताई' में भी –आई प्रत्यय व्यर्थ है। **'सुन्दरता'** ही भाववाचक संज्ञा है। 'निकटतम' के अर्थ में **नेदिष्ठ** शब्द शतपथ ब्राह्मण [२/५/१/१] में आया था। **'नेदिष्ठ'** विशेषण की उत्तम कोटि है।

"पुरुषः प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" —[शतपथ २/५/१/१]

महाभारत में **श्रेष्ठतर** का प्रयोग मिलता है–"नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्"—इस श्रेष्ठतर 'प्रयोग को आर्षप्रयोग' संज्ञा दी जा सकती है।

भाषाएँ शब्दों को घिसकर बहुत छोटे बना लेती हैं

संस्कृत का **'उपाध्याय'** शब्द हिन्दी में 'झा' बन गया–सं० उपाध्याय > प्रा० उवज्झाय > ओझा > झा। संस्कृत का **आर्यक** हिन्दी में **जी** हो गया–सं० आर्यक > प्रा० अज्जय > अज्जइ > अज्जी > अजी > जी। संस्कृत का **आर्यिका** हिन्दी में **जीया** बना है–सं० आर्यिका > प्रा० अज्जिआ > अज्जीआ > अजीया > जीया।

गूलर के पेड़ को संस्कृत में **उदुम्बर** कहते हैं। तुलसी ने 'रामचरितमानस' में इसके लिए **ऊमरि** शब्द का प्रयोग किया है–

"**ऊमरि** तरु बिसाल तव माया" [मानस अर० दो० १३/६]

'उदुम्बर' में आठ वर्ण हैं और **ऊमरि** में पाँच ही हैं। अन्य उपर्युक्त शब्द भी इसी तरह घिसकर छोटे बनाये गये हैं।

शब्द का अर्थ संदर्भ पर आधृत है

हिन्दी के 'अंग' और **शील** शब्दों के अर्थों पर सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में विचार करना चाहिए।

[१] "पुरुष के शरीर के **अंगों** की तुलना में नारी के शरीर के **अंग** कोमल होते हैं।"

इस वाक्य में 'अंग' शब्द का अर्थ है–सिर, गर्दन, छाती, पेट, टाँग, पाँव, बाँह, हाथ आदि।

[२] "कुछ सिने तारिकाएँ **अंग–प्रदर्शन** से अच्छा धन कमा लेती हैं।"

इस वाक्य में **अंग** शब्द का अर्थ हाथ–पाँव नहीं है। यहाँ **अंग** शब्द से तात्पर्य उन्हीं शरीर–भागों से है, जिनको ढके रखना नारी के शील, सदाचरण तथा लज्जा का सूचक है।

"नारी को अपना **'उभरा अंग'** ढका रखना चाहिए"–यहाँ **'उभरा अंग'** का अर्थ 'उरोज' है।

[१] "**शील** नारी का गुण भी है और सौन्दर्य भी।"

"**शीलवती** नारी आदर पाती है ।"

उपर्युक्त वाक्यों में '**शील**' संज्ञा के अर्थ में प्रयुक्त है ।

[२] "भारत **विकासशील** देश है और अमेरिका विकसित देश है ।"

उपर्युक्त वाक्य में '**शील**' शब्द विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त है । '**विकासशील**' का अर्थ है जो विकास कर रहा है और **विकसित** का अर्थ है, जो विकास कर चुका है । **विकासशील**=विकासमान । '**विकासमान**' वर्तमानकालिक कृदन्त है और '**विकसित**' भूतकालिक कृदन्त ।

व्याकरण में परिभाषा दी जाती है कि जो शब्द किसी संज्ञा या सर्वनाम शब्द का गुण बताता है, वह गुणवाचक विशेषण कहाता है । जैसे 'अच्छा' कपड़ा में '**अच्छा**' और 'मैली धोती' में '**मैली**' शब्द गुणवाचक विशेषण है ।

व्याकरण शास्त्र के सन्दर्भ में '**गुण**' शब्द के अर्थ में सद्गुण तथा दुर्गुण–दोनों, ही समाविष्ट हैं ।

गुरु ने शिष्य को आशीर्वाद दिया, "प्रिय शिष्य ! तुम विद्यावान् और गुणवान् बनो ।"–गुरु के आशीर्वाद में प्रयुक्त शब्द '**गुणवान्**' के '**गुण**' का अर्थ है सद्गुण । **गुणवान**=सद्गुणवाला ।

मेघश्याम और चन्द्रदेव नाम के दो आदमी थे । मेघश्याम ने चन्द्रदेव से कहा, "चन्द्रदेव ! तुम उधार के मेरे रुपये जल्दी अदा कर दो, नहीं तो समझ लो मेरा नाम **मेघश्याम** है ।"

मेघश्याम के कथन में जो '**मेघश्याम**' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ केवल उसका नाम नहीं है । इस '**मेघश्याम**' शब्द में वह ज़ोर, ज़बरदस्ती, बदमाशी कठोरता, क्रूरता आदि भी समाविष्ट हैं, जो मेघश्याम द्वारा की जा सकती हैं ।

'मेघश्याभ' शब्द का यह अर्थ संदर्भ पर ही निर्भर है, अन्यथा 'मेघश्याम' तो व्यक्तिवाचक संज्ञा है सामान्य रूप से ।

होली में गोपाल के एक मित्र ने गोपाल के मुँह पर कालौंछ पोत दी । तब गोपाल के एक दूसरे मित्र ने कहा कि "अब गोपाल बहुत **सुन्दर** लगता है ।"

यहाँ '**सुन्दर**' शब्द का अर्थ उलट गया । 'सुन्दर' से अर्थ है असुन्दर अर्थात् बदसूरत ।

मोहन ने छिपकर घात करने वाले अपने साथी मेघसिंह से कहा, "मेघसिंह ? मुझे तेरी **महरबानियाँ** सदा याद रहेंगी ।"

यहाँ 'महरबानियाँ' का अर्थ है 'ज्यादती' या दुष्टता । ये सब अर्थ सन्दर्भ के आलोक में हैं ।

सन्दर्भ से अनेकार्थी शब्द के अर्थ का निश्चितीकरण

एक ही शब्द लोक या साहित्य में कितने अर्थों में प्रयुक्त होता है–यह सन्दर्भ

तथा प्रसंग से ही स्पष्ट होता है।

सामान्यतया सभी जानते हैं कि **'पानी'** एक द्रव पदार्थ है, जोदो भाग हाइड्रोजिन और एक भाग ऑक्सिजिन से मिलकर बनता है। यह प्राणियों की प्यास बुझाता है। लेकिन अन्य अर्थों में भी **'पानी'** प्रयुक्त होता है—

[१] **पानी**=प्रतिष्ठा, इज्जत, शर्म।

"उसकी आँखों में अब तनिक भी **पानी** नहीं है।" [पानी=शर्म]

"जिस दिन से गोपाल औरत भगाकर लाया है, उसका सारा **पानी** उतर गया है।" [पानी=प्रतिष्ठा]

[२] **पानी**=लेप।

"अँगूठी तो चाँदी की है। इस पर सोने का **पानी** है।

[३] **पानी**=आब, चमक।

"सच्चे मोती का **पानी** कभी कम नहीं होता।

[४] **पानी**=वीर्य। "**पानी** गये न उबरैं मोती मानस चून" [रहीम]

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए दान लेने राजस्थान के एक राजा के यहाँ पहुँचे। राजा धनपति तो था; लेकिन कृपण था। मालवीय जी उस राजा के अतिथि-भवन में ठहरे हुए थे। राजा मालवीय जी के आगमन का मंतव्य जान गया था। उसने अपने अतिथि-भवन के अधिकारी के माध्यम से मालवीय जी से कहलवाया कि यहाँ दाल नहीं गलेगी। मालवीय जी ने उस अधिकारी से कहा कि हम कल प्रातः चले जाएँगे। आप राजा साहब से हमारा आशीर्वाद कहना और फिर हमारी ओर से यह भी कहना कि मालवीय ने यह भी कहा है कि "**पानी** असली होगा तो दाल अवश्य गलेगी।" अधिकारी ने राजा से मालवीय जी के वे शब्द कह दिये। उन्हें सुनकर राजा ने तुरन्त एक लाख रुपया दान में मालवीय जी को दिया।

वे संज्ञाएँ और क्रियाएँ जो मिलकर मुहावरा बना देती हैं

- ☐ गाल+फुलाना=कैकेयी ने गाल फुलाये।
- ☐ गाल+बजाना=दुर्योधन श्रीकृष्ण के आगे गाल बजाने लगा।
- ☐ आँखें+झपाना=मुझे देखकर उसकी आँखें झपती हैं।
- ☐ आँखें+दिखाना=उधार लेने के बाद अब तुम मुझे आँखें दिखाते हो।
- ☐ हाथ+थामना=उसने ग़रीब का हाथ थाम लिया।
- ☐ हाथ+मारना=वाह, तुमने अच्छा हाथ मारा।

उपर्युक्त सभी मुहावरों में लक्ष्यार्थ प्रधान है।

संस्कृतियाँ भाषाओं में मुहावरों को जन्म देती हैं

भारत कई संस्कृतियों का देश है । इसमें हिन्दू–संस्कृति भी है और मुस्लिम संस्कृति भी ।

हिन्दू–संस्कृति के अनुसार भजन–पूजन में **टाला** और **माला** वस्तुएँ प्रमुख हैं । मुस्लिम संस्कृति के अनुसार मस्जिद में वजू करने के लिए **बदना** (मिट्टी के टोंटी–दार बर्तन) और नमाज पढ़ने के लिए **बोरिया** होता है । हिन्दू–संकृति के अनुसार मुहावरा है–"**टाला–माला उठाना**" । मुस्लिम संस्कृति के अनुसार मुहावरा है–"**बदना–बोरिया उठाना** ।"

एक हिन्दू कहेगा–"मैं अपनी **टाला–माला लेकर** यहाँ आ गया हूँ ।"

एक मुसलमान कहेगा–"मैं अपना **बदना–बोरिया लेकर** यहाँ आ गया हूँ ।"

अनुच्छेद के दो अंग : कथन और श्रवण

भाषा के अनुच्छेद के प्रमुख अंग दो ही हैं [१]**कथन**=जो किसी के द्वारा कहा जाता है । [२] **श्रवण**=किसी के द्वारा वह कथन सुना जाता है ।

"पुत्र ने माता से कहा कि माँ ! मुझे भूख लगी है । माँ यह सुनकर रसोई घर में गयी और भोजन लायी । फिर पुत्र ने खाया ।"

पुत्र के कथन को शास्त्रीय भाषा में '**सांकेतिक अनुक्रिया**' कहते हैं । माता का श्रवण '**सांकेतिक उद्दीपन**' कहलाता है ।

'सांकेतिक अनुक्रिया' का उद्दीपन पुत्र की भूख है । सांकेतिक उद्दीपन की अनुक्रिया माता का रसोई से भोजन लाना है । ये वास्तव में **कथन** और **श्रवण** के विस्तार ही हैं । अनुक्रिया का कारण उद्दीपन होता है ।

कविता का भावबोध, अर्थबोध और अनुभूति

ललित साहित्य का कोई एक वाक्य हो अथवा किसी कविता का कोई एक छन्द; एक पाठक उसका 'अर्थ' भले न समझ सके, पर उसका 'भाव' सुगमता से समझ सकता है । सारांश यह कि 'भावबोध' 'अर्थबोध' की अपेक्षा सुगम है ।

'अनुभूति' पाठक की कालक्रमिक अवस्था पर निर्भर है । प्रत्येक पाठक अव–स्था के प्रत्येक काल–खंड में भाव की अनुभूति नहीं कर सकता । कुछ कविताएँ ऐसी होती हैं कि उनकी 'अनुभूति' एक विशेष अवस्था हो जाने पर ही हो सकती है ।

उदाहरण के माध्यम से बात ठीक तरह से स्पष्ट हो सकती है ।

सन्त कबीर का एक दोहा है—

"माली आवत देखकर कलियाँ करीं पुकार ।
फूले फूले चुन लिये कालि हमारी बार ॥"

उपर्युक्त दोहे का भाव है 'मृत्यु की निकटता'। इस दोहे का अर्थ समझना कठिन है। कलियाँ कौन हैं ? माली कौन है ? फूले-फूले जो चुने जा चुके हैं, वे कौन हैं ? 'कल' से क्या तात्पर्य है ? दोहे के द्वारा कवि क्या संदेश देना चाहता है ? इसमें प्रस्तुत प्रधान है या अप्रस्तुत ? काव्यशास्त्र की दृष्टि से इस कथन को 'समासोक्ति' कहेंगे अथवा 'अन्योक्ति' ? इन सारी बातों की जानकारी 'अर्थ बोध' कहा जाएगा ।

'अर्थ–बोध' भाव–बोध की विस्तृत व्याख्या है ।

मैं जब दसवीं कक्षा का विद्यार्थी था, तब गुरु जी ने उक्त दोहे का अर्थ पूरा–पूरा बता दिया था और मैं उसे समझ भी गया था । भाव को तो मैं स्वयं ही पहले जान गया था ।

उस समय मुझे भावबोध तो हो गया था; लेकिन भाव की अनुभूति नहीं हुई थी । आज [सन् १९९३ ई० में] मुझे उपर्युक्त दोहे की भावानुभूति हो जाती है ।

मेरी अवस्था इस समय ७८ वीं रेखा को पार कर गयी है । मेरे कुछ परि–चित साथी व्यक्ति संसार से धीरे–धीरे विदा होते जा रहे हैं । उनकी मृत्यु के समा–चार सुनकर मैं भी कुछ क्षणों तक सोचता रहता हूँ कि आज नहीं, तो कल मुझे भी इस संसार से विदा हो जाना है । सारांश यह कि कबीर का उपर्युक्त दोहा मुझे तुरन्त भावानुभूति करा देता है । ऐसी अनुभूति मुझे तब नहीं हुई थी, जब मैं दसवीं कक्षा में पढ़ रहा था ।

भावोद्बुद्धि और विचारोद्बुद्धि

'साहित्य' के अन्तर्दर्शन की व्याख्या के समय दो शब्द हमारे समक्ष उप–स्थित हो जाते हैं–[१] **विचार** [२] **भाव** ।

इन दोनों शब्दों की अवधारणाओं तथा जन्मों के सम्बन्ध में प्रायः साहित्य शास्त्रियों में मतैक्य नहीं है । कोई भाव को विचार के अन्तर्गत मानता है और कोई भाव और विचार की भूमियाँ अलग–अलग मानता है । तुलसीदास के अनुसार भाव के सागर में विचार की सीप रहती है ।

मेरा अपना मत है कि भाव हो या विचार, दोनों का आधार इन्द्रियबोध है । यह इन्द्रियबोध संस्कारों से अधिक सम्बद्ध है । पदार्थ-दर्शन को हमारी इन्द्रियाँ मस्तिष्क को संप्रेषित करती हैं । मस्तिष्क में ही भावक्षेत्र और विचारक्षेत्र हैं । वस्तुदर्शन से उद्-भूत संवेदना किस रूप में तथा किस मात्रा में हमारे भाव–क्षेत्र तथा विचार–क्षेत्र को प्रभावित करती है—उसी पर भावोद्बुद्धि तथा विचारोद्बुद्धि निर्भर करती है ।

बहुत-कुछ भाव-बोध पर ही चलता रहता है

लोक–जीवन तथा साहित्य–जगत् में कुछ शब्दों का प्रयोग भाव–बोध के आधार पर ही चलता रहता है। उनका अर्थबोध न लोक को होता है और न साहित्यकार को।

'गुलछर्रे उड़ाना' मुहावरे का प्रयोग हम करते रहते हैं। कथा–साहित्य में भी कर देते हैं। हम नहीं जानते कि **'गुलछर्रा'** क्या होता है। 'गुलछर्रे उड़ाना' का भाव जो मौज–मस्ती मारना तथा तफ़री करना लिया जाता है, वह क्यों लिया जाता है? इसका लक्ष्यार्थ किस वाच्यार्थ पर आधृत है? प्रत्येक लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बन्ध अवश्य रखता है, चाहे वह वाच्यार्थ अतिदूरगामी भी क्यों न हो। **'नौ–दो ग्यारह होना'** अथवा **'तीन–तेरह होना'** मुहावरे का प्रयोग बहुत से लोग करते हैं, पर उसका अर्थ संभवतः वे नहीं समझते। बहुत–कुछ भाव–बोध पर चलता रहता है। जिस अवसर पर किसी ने कुछ प्रयुक्त किया, श्रोता ने उसी सन्दर्भ में वैसे ही अवसर पर उसे प्रयुक्त कर दिया। भाषा समाज का दान है। सहज निरन्तर दान।

लोक और साहित्य में अनेक लोकोक्तियाँ और मुहावरे बहुत कुछ भाव-बोध के आधार पर ही चलते रहते हैं। बहुत–से लेखक उन मुहावरों का पूर्ण अर्थ नहीं जानते। उनकी आत्मा का दर्शन किये बिना ही वे उनका प्रयोग करते रहते हैं। बिना अर्थ–ज्ञान के प्रयोग चलता रहता है।

'खटिया खड़ी करना' एक मुहावरा है। वार्तालाप में लोग कह देते हैं कि "उसने तो मेरी खटिया खड़ी कर रखी है।" वे बस इतना जानते हैं कि मुसीबत या परेशानी पैदा करने के विचार से यह मुहावरा प्रयुक्त किया जाता है।

लोक में यह प्रथा है कि कोई रोगी जिस खाट पर लेटता तथा सोता है, उसकी मृत्यु हो हो जाने के बाद उसकी वह खाट उल्टी खड़ी कर दी जाती है। यह रोगी की मृत्यु की सूचना का संकेत है। **'खटिया खड़ी करना'** = मौत कर देना।

एक वर्ष पहले **भोपाल** (म०प्र०) से आचार्य विनयमोहन जी शर्मा (पं० शुकदेवप्रसाद तिवारी) का एक पोस्टकार्ड आया था। वह डाक मेरी पत्नी ने ली थी। मैंने पत्नी से कहा कि पोस्टकार्ड को पढ़कर बताओ कि भोपाल से पंडित जी ने क्या लिखा है? पत्नी ने उस पत्र को देखकर कहा कि मेरी समझ में लिखावट ही नहीं आयी, न मालूम पंडित जी ने क्या लिखा है? बस **चील–बिलैयाँ**–सी दिखाई पड़ती हैं। मैंने पत्नी से पूछा कि **चील–बिलैयाँ** क्या होती हैं? **'चील–बिलैयाँ'** का क्या अर्थ है? "चील–बिलैयाँ' चील–बिलैयाँ ही होती हैं।" पत्नी ने कहा।

पत्नी ने **'चील–बिलैयाँ'**का प्रयोग कर तो दिया था लेकिन इस शब्द का

उन्हें भाव–बोध ही था, अर्थ–बोध न था।

'चील–बिलैयाँ' का अर्थ मेरी पत्नी ही नहीं, इन पंक्तियों को पढ़ने वालों में से बहुत–से पाठक भी न जानते होंगे कि **चील–बिलैयाँ** का वाच्यार्थ क्या है ? पत्र की लिखावट में **चील** और **बिलैयाँ** का प्रयोग क्यों किया गया ?

मेरी पत्नी बस इतना समझती है कि जो लिखावट पढ़ने में न आ सके, उसके लिए **चील–बिलैयाँ** कह दिया जाता है। लगभग ८० प्रतिशत हिन्दी–लेखक ऐसा ही समझते हैं। भाव–बोध के आधार पर ही वे अपने लेखों में 'चील–बिलैयाँ' प्रयुक्त करते हैं और करते रहेंगे। मेरी इन पंक्तियों को पढ़कर अर्थ–बोध के लिए यदि वे प्रयास करेंगे, तो मुझे परम प्रसन्नता होगी। साहित्य के साथ–साथ लोक–जीवन का प्रत्यक्ष अध्ययन भी अनिवार्य है।

'पहरेदार' शब्द के भाव को ही लोग समझते हैं। सामान्यतया इतना समझा जाता है कि रात में रक्षा की दृष्टि से पहरा देने वाला मनुष्य **पहरेदार** कहलाता है। इस शब्द का मूलतः अर्थ अधिसंख्यक मनुष्य नहीं समझते।

'पहरेदार' शब्दमें **पहरा** में **दार** (फ़ारसी प्रत्यय) का योग है। फ़ारसी का **'दार'** प्रत्यय 'वाला' अर्थ में आता है। सं० **प्रहर** का विकसित शब्द **पहर** है। ३ घण्टे के समय को **१** पहर कहते हैं। समय की नाप से सम्बन्ध निम्नांकित शब्द हैं—

६० विपल = **१ पल** [२४ सैकेण्ड]। ६० **पल** = **१ दण्ड** [१ घटी]।
२४ **मिनट** = **१** दंड। २$\frac{1}{2}$ दंड = १ **घंटा**। ३ घंटा = **१ प्रहर** अर्थात् दिन–रात का आठवाँ भाग = १ प्रहर। २ **दंड** = १ **मुहूर्त** [४८ मिनट]।

'परमाणु' शब्द का प्रयोग लघुतम द्रव्य के अर्थ में या अतिलघु काल–मान के अर्थ में होता है।

एक परमाणु जितने समय में गतिमान् बनता है, उतना समय भी **'परमाणु'** कहलाता है। जितने समय में एक परमाणु उलटता है, उतने समय को **क्षण** कहते हैं। जितनी देर में सुई की नोक कमल–पत्र में पार होती है, वह समय त्रुटि कहाता है।

जितने समय में एक पलक दूसरे पलक से लगता है, उतना समय **निमेष** कहाता है। छत्तीस निमेष का समय एक **लव** पुकारा जाता है।

काल की सबसे छोटी इकाई **'परमाणु'** और सबसे बड़ी इकाई **कल्प** है। एक कल्प में एक हज़ार चतुर्युगी का समय होता है। 'परमाणु' का उल्लेख तुलसीकृत रामचरितमानस' में हुआ है।

"लव निमेष परमानु जुग, बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम को, कालु जासु कोदंड॥'

—(मानस, लंका० दो०)

'प्रहर को संस्कृत में **याम** भी कहते हैं। **यामिक** का अर्थ 'पहरेदार' है। 'रामचरितमानस' (अयो० ३१६/५) में तुलसीदास जी ने **जामिक** शब्द का प्रयोग 'पहरेदार' के अर्थ में किया है।

प्राचीन काल में राजाओं के यहाँ घड़याल बजाने के लिए तीन-तीन घंटों के लिए **घड़ियाली** रखे जाते थे, जो रखवाली करते तथा सूचना दिया करते थे। उन्हें **प्रहरी** या **पहरेदार** कहते थे। पहरेदार के लिए तुलसी ने 'मानस' (सुंदर० दो० ३०) में '**पाहरू**' शब्द भी लिखा है।

हिन्दी तद्भव शब्द **पहरा**+फारसी प्रत्यय **दार** से बनाहुआ वर्णसंकर शब्द **पहरेदार** है। आज-कल **पहरेदार** प्रायः रात में ही रखवाली का काम करता है।

अब घड़ियाल बजाने के स्थान पर चौकीदारी करने का ही काम 'पहरेदार' से लिया जाता है।

'पहरेदार' शब्द का उपर्युक्त इतिहास ही वास्तव में इस शब्द का अर्थ है। इस अर्थ को कितने लोग समझते हैं? सब यों ही भाव-बोध पर चलता रहता है।

बहुत-से पढ़े-लिखे व्यक्तियों से हमारे पाठकों ने यह वाक्य सुना होगा—

"ज्वर से तो मुक्ति मिल गयी; लेकिन तबीयत अभी घाट पर नहीं आयी है।"

जिस भाव को वक्ता व्यक्त कर रहा है, श्रोता भी उस भाव को समझ लेता है। बस इसी तरह कथन और कथन का भाव-बोध चलता रहता है। हज़ार में से मुश्किल से कोई एक भाषा-चिन्तक '**घाट पर आना**' मुहावरे के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ को पूर्णरूपेण समझता होगा।

इस मुहावरे का मूल स्रोत नदी-नाव से सम्बद्ध है। जब तक नाव नदी की बीच धारा में रहती है, तब तक उसे खतरे में ही समझिए। जब किनारे पर उस स्थान पर आ जाती है, जहाँ आकर कि वह ठहर जाती है, उस अभीष्ट स्थल को 'घाट' कहते हैं।

नाव का घाट पर लग जाना ही उसका निरापद हो जाना है। '**नाव घाट पर लग गयी**' इसका अर्थ है, नाव नदी की प्रबाहवती धारा के खतरे से बाहर हो गयी। इसी वाच्यार्थ का सूचक है उपर्युक्त मुहावरा 'घाट पर आना'।

समाज के लोग मुहावरे के लक्ष्यार्थ के भाव से ही अपना काम चलाते रहते हैं। उसके प्राणतत्त्वात्मक अर्थ को अर्थात् वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को नहीं समझते या कहिए कि समझने का प्रयास नहीं करते।

उल्टी-सीधी गप मारने के लिए '**अललटप मारना**' कहा जाता है। हिन्दी के लेखक न मालूम कितने समय से इसे प्रयुक्त करते चले आ रहे हैं? कितने लोगों ने इसके अर्थ पर गहराई से विचार किया है? सब भाव-बोध पर चलता है।

यह मुहावरा 'अलल' पक्षी की उड़ान की ऊँचाई से सम्बद्ध है। आज तक किसी ने '**अलल**' पक्षी को नहीं देखा। उसके सम्बन्ध में किंवदन्ती चली आ रही है

कि वह पक्षी आकाश में इतनी ऊँचाई पर उड़ता है कि गर्भवती अलल मादा आकाश में उड़ते-उड़ते ही अंडा देती है। अंडा आकाश से धरती की ओर आता जाता है और धरती पर आने से पहले ही अंडे में से बच्चा निकलकर आकाश में उड़ने लगता है। अलल पक्षी और उसके बच्चे कभी धरती पर नहीं आते। **'अलल टप मारना'** इसी से सम्बद्ध है।

पूर्ण वाक्य का भाव-बीज एक शब्द भी होता है

कभी-कभी एक पूर्ण वाक्य के भाव को अपने में समेट कर एक ही शब्द आसन जमाकर बैठ जाता है। ऐसे एक शब्द का प्रयोग प्रतिभावान् उच्च साहित्यकार ही कर सकता है।

निम्नांकित वाक्य में एक **'हाय'** शब्द ही भाव-बीज है—

"**हाय** महादुख पायौ सखा तुम आये इतै न कितै दिन खोये।"

—(नरोत्तमदास)

ऐसे भाव-बीज शब्द की खोज बिरले उच्च कवि ही कर सकते हैं। यदि **'हाय'** शब्द को निकाल दिया जाए, तो पूरे वाक्य की करुण भाव-धारा बालू की रेती बन जाएगी।

पूर्ण छन्द का प्राण एक चरण भी होता है

कविता के पूरे छन्द के भाव का प्राण एक चरण में ही कभी-कभी होता है। नरोत्तमदास के **'सुदामाचरित'** के निम्नांकित छन्द के अन्तिम चरण में ही प्राणतत्त्व प्रतिष्ठित है—

"ऐसे बेहाल बिबाइन सौं पुनि कंटकजाल लगे पग जोये।
हाय! महादुख पायौ सखा तुम आये इतै न कितै दिन खोये॥
देखि सुदामा की दीन दशा करुना करिकै करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सौं पग धोये॥"

उपर्युक्त सवैया का चतुर्थ चरण ही पूरे छन्द का प्राण-चरण है। इसी चरण में करुणा भाव चरम कोटि पर है। वह करुणा एक **'हाय'** शब्द में सिमिटकर बैठ गयी है।

अन्य पुरुषीय कर्ता जब वाक्य के अर्थ को अस्पष्ट बना देता है

कल्पना कीजिए कि आप निम्नांकित दो वाक्य किसी पुस्तक में पढ़ते हैं—

"भागुरायण की सिंहरण से कारागार में मुकालात होती है। वह खून से लथपथ है।"

द्वितीय वाक्य का कर्ता **वह** अन्य पुरुषीय पुरुषवाचक सर्वनाम है। इस '**वह**' के प्रयोग से यह स्पष्ट नहीं होता कि खून से लथपथ कौन है? भागुरायण या सिंहरण?

ऐसी स्थिति में जो लथपथ है, उस **संज्ञा** शब्द का ही प्रयोग '**वह**' सर्वनाम के स्थान पर करना चाहिए।

"मोहन और सोहन एक दूसरे से बतियाने लगे। फिर **वह** गंभीर हो गया।" यहाँ **वह** सर्वनाम अर्थ में अस्पष्ट है। पता नहीं चलता कौन गंभीर हो गया। ऐसी अवस्था में सर्वनाम के स्थान पर संज्ञा का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् **मोहन** का या **सोहन** का प्रयोग अनिवार्य है।

मानक हिन्दी में कृदन्त पदीय वाक्य

(१) भविष्य सूचक कृदन्त विशेषण—
"लड़का **आनेवाला** है।" (क्रिया + वाला)
"लड़की **आनेवाली** है।" (क्रिया + वाली)

(२) अपूर्ण कृदन्त विशेषण—
"**सोतेहुए** लड़के को मत छेड़ो।"
"**सोतीहुई** लड़की को मत छेड़ो।"

(३) पूर्ण कृदन्त विशेषण—
"**सोयेहुए** लड़के को मत छेड़ो।"
"**सोयीहुई** लड़की को मत छेड़ो।"

(४) सतत कृदन्त विशेषण—
"**सोरहे** लड़के को मत छेड़ो।"
"**सोरही** लड़की को मत छेड़ो।"

(५) कृदन्तीय विशेषण—
"लड़की ने घाघरा **पहनाहुआ** था।"
"लड़की ने साड़ी **पहनीहुई** थी।"

(६) कृदन्तीय क्रिया विशेषण—
"लड़की घाघरा **पहनेहुए** थी।"
"लड़की साड़ी **पहनेहुए** थी।"

विशेष—मानक हिन्दी में '**वाला**' प्रत्यय धातु में भी लगता है और संज्ञा शब्द में भी।

"**सोनेवाले** लड़के को छेड़ो मत।" (धातु + वाला)–भविष्य सूचक **वाला**।
"**रंगवाला** आम अच्छा है।" (संज्ञा + वाला)--स्थायी गुण सूचक **वाला**।

[संस्कृत प्रत्यय **वलच्**=हिन्दी प्रत्यय **वाला**। सं० **शिखावल**=हि० **शिखावाला**]

हिन्दी के वे वाक्य जिनके असंभव अर्थों को भी लोग ठीक-ठाक समझ लेते हैं

(१) कमला ने दही जमा दिया।
(२) तुम चक्की से आटा पिसा लाओ।
(३) मजदूर गिट्टियाँ फोड़ रहा है।
(४) यह सड़क दिल्ली जा रही है।
(५) तुम्हारे घर की सड़क तो कल रात भर चलती रही थी।
(६) हम एक ही कोस चले कि गाँव आ गया।
(७) अभी तक सो रहे हो; देखो, दिन निकल आया।
(८) हम सूरज निकलते ही चल देंगे और उसके डूबते ही घर वापस आ जाएँगे।
(९) उसके दिमाग का स्क्रू ढीला हो गया है।
(१०) चार रातों की नींद तुमने ही हराम की है।
(११) ताला बन्द करके जल्दी चलो।
(१२) जाओ दरजी से कुरता सिलवा लाओ।
(१३) जल्दी से सेब के टुकड़े काट लो।
(१४) न मालूम उसने दाढ़ी क्यों बढ़ा ली है ?
(१५) दस मिनट में भुसी छानकर आटा ले आओ।

[प्रथम वाक्य पर ध्यान दीजिए—दही नहीं जमाया जाता। पंद्रहवें वाक्य पर ध्यान दीजिए—कभी भुसी नहीं छानी जाती।]

वे वाक्य जो रूपात्मक स्तर पर प्रश्नवाचक हैं; लेकिन अर्थात्मक स्तर पर प्रश्नात्मक नहीं हैं

सीता जी श्रीराम के साथ वन जाने के लिए आग्रह करते हुए निवेदन करती हैं—

"को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा।
सिंघबधुहि जिमि ससक सिआरा॥" —(मानस, अयो० ६७/७)

"प्रभु के साथ मेरी ओर कौन देख सकता है।" अर्थात् कोई नहीं देख सकता। यहाँ **'को'** प्रश्नवाचक नहीं है।

हनूमान् जी श्रीराम जी से कहते हैं—

"केतिक बात प्रभु जातुधान की ।
रिपुहि जीति आनिबी जानकी ।।" —(मानस, सुन्दर० ३२/४)

"प्रभो! राक्षसों की कितनी बात है।" अर्थात् राक्षसों की कुछ भी बात नहीं है। यहाँ 'केतिक' प्रश्नवाचक नहीं।

तुलसी शिशु राम जी के सम्बन्ध में कहते हैं—

"मन में न बस्यो अस बालक जौ ।
तुलसी जग में फल कौन जिये ।" —(कवितावली, बाल, छंद २)

"संसार में जीने का क्या फल" अर्थात् संसार में जीने का कोई फल नहीं। 'कौन' प्रश्नवाचक नहीं है।

तुलसीदास कहते हैं—

"ऐसे भए तौ कहा 'तुलसी' जु पै जानकीनाथ के रंग न राते ।"
—(कवितावली, उत्तर० छन्द ४४)

"ऐसे हुए तो क्या हुए।" अर्थात् ऐसा होना व्यर्थ है। यहाँ 'कहा' प्रश्नवाचक नहीं।

नूहनारवी शायर ने कहा है कि—

"कैसे–कैसे ऐसे–वैसे हो गये ।
ऐसे–वैसे कैसे–कैसे हो गये ।"

यहाँ 'कैसे–कैसे' प्रश्नवाचक नहीं है।

एक बार एक व्यक्ति ने 'दुलारे दोहावली' की प्रशंसा करते हुए दुलारे लाल भार्गव को कविवर बिहारीलाल से भी ऊँचा कह दिया। उसे पढ़कर दूसरे एक समालोचक ने दुलारेलाल के सम्बन्ध में कहा—

"कहाँ बिहारी लाल हैं, कहाँ दुलारे लाल ।
कहाँ मूँछ के बाल हैं, कहाँ पूँछ के बाल ।"

इस दोहे में 'कहाँ' का प्रयोग प्रश्नवाचक नहीं है।

श्रीराम ने सीता जी को लक्ष्मण के साथ वन भेज दिया था। सीता के वियोग में श्रीराम बिसूरते रहे। अँधेरी रात थी। बादलों में बिजली कड़क रही थी। आँधी और मेह का घोर प्रकोप था। श्रीराम लक्ष्मण से कहने लगे—

"ऐसी विकट अँधिरिया राति लछिमन कहाँ जानकी ह्वै हैं ।"

"लक्ष्मण! जानकी कहाँ होंगी।" इसका अर्थ है। जानकी जहाँ होंगी, वहाँ घोर विपत्ति में होंगी। 'कहाँ' प्रश्नवाचक नहीं है।

लंका जलाकर और सीता जी से चूडामणि लेकर हनूमान् जी श्रीराम के पास आ गये। श्रीराम हनूमान् जी के पराक्रम की प्रशंसा करने लगे। तब हनूमान् जी ने श्रीराम जी से कहा—

"प्रभो! आपका वरदहस्त जिसके सिर पर हो, उसके लिए **क्या** सम्भव नहीं है।" अर्थात् उसके लिए सब कुछ सम्भव है। यहाँ '**क्या**' प्रश्नवाचक नहीं है।

तुलसी ने हनूमान् जी के लिए कहा—

"**को** नहिं जानत है जग में कपि संकटमोचन नाम तिहारो।"

—(हनु० चा०)

यहाँ "को नहिं जानत है" का अर्थ है कि सब जानते हैं। '**को**' प्रश्नवाचक नहीं है।

संदर्भ और प्रसंग से वाक्य का अर्थ बदल जाता है

महात्मा गांधी की प्रशंसा में एक गीत है, जिसकी प्रथम पंक्ति है—

"साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल।"

दो मित्रों में एक समाज विख्यात बालब्रह्मचारी संन्यासी के विषय में बातचीत हो रही थी। उस बालब्रह्मचारी संन्यासी के सम्बन्ध में लोगों में यह चर्चा ज़ोरों से चल रही थी कि उसने एक युवती से संभोग किया है। इस चर्चा के सुनने के बाद उनमें से एक मित्र ने उपर्युक्त पंक्ति को बोल दिया--"साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल"। मित्र के मुँह से निकली यह पंक्ति तो वही है, जो महात्मा गांधी की प्रशंसा में लिखी गयी थी; लेकिन इसका अर्थ उस बालब्रह्मचारी संन्यासी के संदर्भ-प्रसंग में बिल्कुल उलट गया। प्रशंसात्मक अर्थ देने वाला वाक्य निन्दात्मक अर्थ देने लगा।

हिन्दी में अंग्रेजी से अनूदित साहित्य

मैं मानता हूँ कि एक भाषा के साहित्य को किसी दूसरी भाषा में अनूदित करना बहुत कठिन कार्य है। जो अनुवादक दोनों भाषाओं की प्रकृति, संस्कृति तथा वाक्य-रचना से पूर्णत: अवगत होगा, वही अनुवाद में सफल हो सकता है। ऐसा ज्ञान होना आसान नहीं है। अंग्रेजी जिस देश की भाषा है, उसकी प्राकृतिक दशा, जलवायु, संस्कृति, प्रतीक, उपमान, वाक्य-विधान आदि भारत से भिन्न हैं। इँगलैंड ठंडा देश है और हिन्दुस्तान गर्म। इँगलैंड के वृक्ष, पक्षी आदि भारत के वृक्षों, पक्षियों आदि से भिन्न हैं।

भाषा का निर्माण देश की जलवायु तथा संस्कृति के आधार पर होता है। इँगलैंड ठंडा देश है, वहाँ गर्मी अच्छी मानी जाती है, अत: वहाँ की भाषा अँग्रेजी में '**वार्म-रिसैप्शन**' अच्छा माना जाता है। हिन्दुस्तान गर्म देश है, यहाँ ठंड अच्छी मानी जाती है, अत: यहाँ मिलकर **छाती शीतल** होती है।

इँगलैंड की प्राकृतिक दशा, जलवायु, संस्कृति आदि भारत से नितान्त भिन्न

है। इसलिए अँग्रेज़ी के शब्दों की संस्कृति तथा मुहावरों की व्यंजना भी अपनी ही है। इससे हिन्दी में अनुवाद पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता।

शब्द का जन्म वस्तु और भाव के आधार पर होता है। इँगलैण्ड और भारत के मनुष्यों का सोचने-विचारने का ढँग अलग-अलग है। दोनों की मानसिक बिम्ब-सृष्टि भी भिन्न-भिन्न है।

किसी शब्द की अभिव्यक्ति के लिए दो देश-वासी अलग-अलग ढँग से सोचते हैं। 'सुन्दरता' के भाव को व्यक्त करने का जब प्रश्न उठा, तो अँग्रेजी भाषी-समाज ने भाववाचक संज्ञा के रूप में **'ब्यूटी'** (**BEAUTY**) शब्द मूलत: सोचा और फिर आवश्यकता पड़ने पर विशेषण शब्द **'ब्यूटीफुल'** (**BEAUTIFUL**) बनाया। अर्थात् इँगलैण्ड वासी 'भाव' से 'गुण' की ओर चला। अर्थात् संज्ञा से विशेषण की ओर।

भारत के संस्कृत भाषी-ममाज ने उसी प्रसंग पर जब विचार किया, तब उसके मस्तिष्क में मूलत: **बिशेषण** शब्द **'सुन्दर'** आया फिर आवश्यकता पड़ने पर उस विशेषण शब्द से भाववाचक संज्ञा **सुन्दरता** या **सौन्दर्य** बनाया। भारत 'गुण' से 'भाव' की ओर चला। अर्थात् विशेषण से संज्ञा की ओर।

सारांश यह है कि अँग्रेजी का मूल चिन्तन भाववाची है और संस्कृत का मूल चिन्तन 'गुणवाची' (विशेषणात्मक) है। अँग्रेजी **'सुन्दरता'** (**BEAUTY**) से **'सुन्दर'** (**BEAUTIFUL**) की ओर चली और संस्कृत 'सुन्दर' से **'सुन्दरता'** की ओर चली। शब्द-स्तर पर अनुवाद में अन्तर आएगा।

अंग्रेजी में		**संस्कृत में**	
मूल शब्द	**मूलाधृत शब्द**	**मूल शब्द**	**मूलाधृत शब्द**
BEAUTY (सुन्दरता)	BEAUTIFUL (सुन्दर)	सुन्दर	सुन्दरता, सौन्दर्य

अंग्रेज़ी में दो शब्द हैं—(१) **गूज़** (२) **स्वान**। संस्कृत या हिन्दी के कोशों में **गूज़** और **स्वान** शब्दों के समानान्तर **'हंस'** शब्द मिलता है। वास्तव में **'गूज़'** शब्द का ही अर्थ **'हंस'** है। 'स्वान' पक्षी भारतीय नहीं है और न यह भारत में दिखायी देता है। **'स्वान'** पक्षी 'हंस' से भिन्न है।

हिन्दी **मगर** शब्द का मूल शब्द सं० **मकर** है। यही अंग्रेज़ी में **'क्रोकोडायल'** कहलाता है। 'मगर' और 'घड़ियाल' में भेद है। किसी-किसी कोश में 'क्रोकोडायल' का अर्थ 'घड़ियाल' लिख दिया गया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' में 'मगर' का अर्थ 'घड़ियाल' लिखा है, जो अशुद्ध है। 'घड़ियाल' 'मगर' से भिन्न जल-जीव है। सं० **मकर** = हिन्दी **मगर**। हिन्दी साहित्य में ऐसे अंग्रेजी-हिन्दी-अनुवाद भ्रान्ति फैलाते हैं।

अंग्रेजी भाषा में उल्लू (आउल) को ज्ञान का प्रतीक माना जाता है; लेकिन हिन्दी भाषा में उल्लू (उलूक) मूर्खता का प्रतीक है। मधुर स्वर के लिए इँगलैंड का

पक्षी **'नाइटिंगेल'** है, जो भारत में नहीं है। भारत में मधुर स्वर के लिए **'कोयल'** है। अतः अंग्रेजी भाषा से हिन्दी में किया हुए शब्दानुवाद कभी-कभी भ्रष्ट अनुवाद भी माना जा सकता है।

अंग्रेजी के **'फैल इन लव'** का अनुवाद यदि हिन्दी में 'प्रेम में गिर गया' किया जाएगा, तो नितान्त भ्रष्ट माना जाएगा। हिन्दी में **जलता हुआ लैंम्प** और **जलता हुआ दिल** ठीक है। अंग्रेजी में **लाइटिंग लैंम्प** तो ठीक है; लेकिन **'लाइटिंग हार्ट'** ठीक नहीं है। अंग्रेजी में **'बर्निंग हार्ट'** ठीक माना जाएगा।

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के तत्त्वावधान में हिन्दी में पारिभाषिक शब्द-कोश बनाने की परियोजना बनायी गयी थी। वह कार्य केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, दिल्ली और वैज्ञानिक-तकनीकी शब्दावली आयोग, दिल्ली के अन्तर्गत होता था। सन् १९६० ई० से १९७५ ई० तक मैंने उस परियोजना में एक भाषा विशेषज्ञ के रूप में अंग्रेजी से हिन्दी में शब्दानुवाद का कार्य किया। हम अंग्रेजी से हिन्दी-शब्द बनाते थे।

कृषि एवं कृषक-सम्बन्धी शब्दावली के निर्माण के समय मुझे कृषि-विषय की कुछ हिन्दी-अनूदित पुस्तकें देखने का भी अवसर मिला था। एक हिन्दी-अनुवादक ने अंग्रेजी शब्द **'ग्रीन ग्राम'** का हिन्दी-अनुवाद **'हरा चना'** किया था, जबकि **'मूँग'** को अंग्रेजी में **'ग्रीन ग्राम'** कहते हैं।

विज्ञान से सम्बद्ध पुस्तकें मौलिक रूप से हिन्दी में लिखी जा सकती हैं। हिन्दी अब इतनी समर्थ हो गयी है। अंग्रेजी से अनुवाद करके हिन्दी का कल्याण न होगा। कुछ हिन्दी सेवी विज्ञान वेत्ता-लेखक हिन्दी में विज्ञान की मौलिक पुस्तकें लिख भी रहे हैं, लेकिन अंग्रेजी के हिमायती अंग्रेजी में ही दिमाग की खिड़की खोलने की शक्ति मानते हैं, हिन्दी में नहीं।

हिन्दी का विकास अंग्रेजी से अनुवाद करके असंभव है। अंग्रेजी से हिन्दी-अनुवाद की वाक्य-रचना कुछ न कुछ अंग्रेजी की वाक्य-रचना से प्रभावित हो ही जाएगी, जो हिन्दी का एक दोष माना जा सकता है।

विज्ञान तथा तकनीक से सम्बद्ध पुस्तकें हिन्दी में मौलिक रूप में ही लिखायी जानी चाहिए। मूल विषय को हिन्दी में सोचने तथा हिन्दी में ही व्यक्त करने से हिन्दी का विकास हो सकता है। अनुवाद की वैसाखी से काम न बनेगा।

अंग्रेजी की वाक्य-रचना के आधार पर हिन्दी में लिखनेवाले लेखक कभी-कभी हिन्दी के वाक्य अशुद्ध लिख जाते हैं। कुछ लोग हिन्दी में 'इंडाइरैक्ट स्पीच' (परोक्षकथन) की वाक्य-रचना करने लगे हैं। वास्तव में वह हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल है। हिन्दी में प्रत्यक्षकथन (डाइरैक्ट स्पीच) ही ग्राह्य है।

अंग्रेजी का एक वाक्य है—

"द बॉय, हू इज़ रनिंग ऑन द रोड, इज़ माई यंगर ब्रदर"

(The boy, who is running on the road, is my younger brother)

उपर्युक्त वाक्य का हिन्दी-अनुवाद कुछ लेखक ऐसा भी कर देते हैं—

"लड़का, जो सड़क पर दौड़ रहा है, मेरा छोटा भाई है।"

वास्तव में हिन्दी में उपर्युक्त अंग्रेजी-वाक्य का अनुवाद इस तरह होना चाहिए—

"सड़क पर दौड़ता हुआ लड़का मेरा छोटा भाई है" अथवा "जो सड़क पर दौड़ रहा है, वह लड़का मेरा छोटा भाई है।"

संस्कृत के स्त्रीलिंग प्रातिपदिक जिनके तृतीया विभक्ति के एकवचनीय रूप हिन्दी में गृहीत हैं

संस्कृत के स्त्रीलिंग प्रातिपदिक	तृतीया में एकवचनीय रूप	हिन्दी में गृहीत प्रातिपदिक
(१) गिर् (=वाणी)	गिरा (तृतीया एकवचन)	गिरा (स्त्री)
(२) दिश् (=तरफ, ओर)	दिशा (तृतीया एकवचन)	दिशा (स्त्री)
(३) सरित् (=नदी)	सरिता (तृतीया एकवचन)	सरिता (स्त्री)
(४) निश् (=रात्रि)	निशा (तृतीया एकवचन)	निशा (स्त्री)
(५) समिध् (=यज्ञ की लकड़ी)	समिधा (तृतीया एकवचन)	समिधा (स्त्री)
(६) विधि (=ब्रह्मा)	विधिना (तृतीया एकवचन)	बिधिना (पु०)

संस्कृत के पुंलिंग शब्द जो हिन्दी में स्त्रीलिंग हैं

संस्कृत के पुंलिग प्रातिपदिक	संस्कृत में प्रथमा एकवचन	हिन्दी में स्त्रीलिंग
(१) आत्मन् (पुं०)	आत्मा (पुं०)	आत्मा (स्त्री)
(२) कालिमन् (पुं०)	कालिमा (पुं०)	कालिमा (स्त्री)
(३) गरिमन् (पुं०)	गरिमा (पुं०)	गरिमा (स्त्री)
(४) अग्नि (पुं०)	अग्निः (पुं०)	अग्नि (स्त्री)

संस्कृत के भिन्न लिंगी प्रातिपदिक जो प्रथमा एकवचन में समान रूप हैं

संस्कृत में पुंलिग प्रातिपदिक **पुलोमन्** है, जिसका प्रथमा विभक्ति में एकवचनीय रूप **पुलोमा** है। **पुलोमा** एक दैत्य था, जिसकी पुत्री इन्द्राणी बनी थी। उसकी पुत्री को 'पुलोमजा' कहते थे।

संस्कृत में स्त्रीलिंग प्रातिपदिक **पुलोमा** है। इसका प्रथमा विभक्ति में एक-वचनीय रूप 'पुलोमा' है। '**पुलोमा**' एक नारी का नाम है। वह नारी महर्षि भृगु की पत्नी और च्यवन ऋषि की माता थी। भृगु च्यवन के पिता थे।

वे संस्कृत-शब्द जो ईरान और इँगलैण्ड तक पहुँचे हैं

संस्कृत-शब्द	**ईरान में फारसी-शब्द**	**इँगलैण्ड में अंग्रेजी शब्द**
(०) सूनु (=पुत्र)	(०) ×	(०) सन (SON)
(१) मूषक (=चूहा)	(१) ×	(१) माउस (MOUSE)
(२) कुम्भ (=बड़ा घड़ा)	(२) खुम	(२) ×
(३) अंगूष (=नेवला)	(३) ×	(३) मुंगूज़ (MUNGOOSE)
(४) श्रय (=ठहरने का स्थान)	(४) सरा	(४) सेराइ (SERAI)
(५) मर्मर (खड़खड़ाहट)	(५) ×	(५) मरमर (MURMUR)
(६) मृत: (मराहुआ)	(६) मुर्द:	(६) मर्डर्ड (MURDERED)
(७) मातृ (माता)	(७) मादर	(७) मदर (MOTHER)
(८) तनु (=शरीर)	(८) तन	(८) ×
(९) दुहितृ (=पुत्री)	(९) दुख्तर	(९) डॉटर (DAUGHTER)

डा० भगवतशरण उपाध्याय कृत पुस्तक 'बृहत्तर भारत' (राजपाल एण्ड संज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, सन् १९८१ ई०) के अध्याय ९ के पृष्ठ ७९ के आधार पर कहा जा सकता है कि यूरोपवासियों ने भारतीय बंजारों को मिस्र का समझा था। इसलिए वे उन्हें जिप्सी बंजारे कहते थे। वास्तव में वे भारतीय थे। उन भारतीय बंजारों ने भारत की लोकवार्ताओं को घूम-घूमकर पश्चिमी देशों में फैलाया था। उन लोकवार्ताओं में जातक, पंचतंत्र, शुकसप्तति आदि की कथाएँ सम्मिलित हैं। वे भारतीय बंजारे पश्चिमी एशिया और यूरोप के देशों में ईरान से स्पेन तथा इँग्लैण्ड तक और मिस्र से मास्को तक भ्रमण किया करते थे। उन कथाओं के माध्यम से संस्कृत के शब्द भी यूरोप-एशिया के देशों में पहुँचे थे। ईरान, इँग्लैंड आदि देशों में पहुँचकर उन शब्दों के उच्चारणों में देश-काल के प्रभाव से कुछ अन्तर अवश्य आ गया था। संस्कृत का '**मातृ**' ही ईरान में **मादर** और इँग्लैण्ड में **मदर** पुकारा गया। संस्कृत के **दातव्य**, **हृद्** और **पाद** इँग्लैंड में जाकर **डेटिव**, **हार्ट** और **पैड** हो गये।

संस्कृत के संज्ञा-विशेषण शब्द ही नहीं, फ़ारसी ने तो संस्कृत के क्रिया-पद भी ग्रहण किये थे। ईरान का शायर उरफ़ी कश्मीर को स्वर्ग बताते हुए कहता है—

"शर फिरदौस बररूए ज़मीं **अस्त**।
हमीं अस्तो, हमीं अस्तो, हमीं **अस्त**।" —(ईरानी शायर उरफ़ी)

फारसी की '**अस्त**' क्रिया क्या है ? संस्कृत की '**अस्ति**' क्रिया ही ईरान में जाकर '**अस्त**' हो गयी। संस्कृत में √'अस्' धातु का लट् लकारीय–अन्यपुरुष–एकवचनीय रूप '**अस्ति**' (=है) ही फारसी में ज़माना–हाल का फ़ेल '**अस्त**' बन गया। ईरान में जाकर इकार का लोप हो गया। इकार दुर्बल था भी, समाप्त हो गया। संस्कृत का **रात्रि** शब्द कालान्तर में **राति** हुआ, अब मानक हिन्दी में **रात** हो गया है। इकार समाप्त है।

हिन्दी ही नहीं भारत की अन्य आधुनिक प्रादेशिक भाषाएँ भी संस्कृत से पोषित हैं–

'हीरा' नाम के रत्न को संस्कृत में **हीरक** या **वज्र** कहते हैं। यही हिन्दी में **हीरा**, कश्मीरी में **वजर** या **हीरु**, पंजाबी में **हीरा**, सिन्धी में **हीरो**, मराठी में **हिरा**, गुजराती में **हीरो**, उड़िया में **हीरा**, बङ्ला में **हीरा**, असमिया में **हीरा**, तमिल में **वैरम्**, तेलुगु में **वज्रमु**, कन्नड़ में **वज्र** और मलयालम में **वज्रम् या वैरम्** कहाता है।

पंजाबी में छोटी लड़की को **कुड़ी** कहते हैं। यह शब्द संस्कृत के **कुटिका** शब्द से विकसित है—संस्कृत **कुटिका** > **कुडिआ** > **कुड़ी**। हरिषेणकृत 'बृहत्कथा-कोष' (सं० ९८९ वि०) में 'कन्या' के अर्थ में '**कुटिका**' शब्द आया है—

"**कुटिकां** देहि मे शीघ्रं गृहाण त्वं धनं बहु"

—(बृहत्कथाकोष ३०/८–९)

'झाड़' को ब्रजभाषा में **सोंहनी** या **बुहारी** कहते हैं। **सोंहनी** संस्कृत शब्द **शोधनी** से और **बुहारी** संस्कृत शब्द **बहुकारी** से विकसित है। प्राकृत भाषा में '**बहुआरी**' शब्द झाड़ू के अर्थ में मिलता है।

गेहूँ की बालियों में से जब गेहूँ के दाने निकाले जाते हैं, तब वह क्रिया **मड़नी** कही जाती है। संस्कृत में इसे **मृणन** कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण (१/६/१/३) में उल्लेख है :—

"कृषन्तः वपन्तः लुनन्तः मृणन्तः" सारांश यह है कि **कृषि**=जुताई+बुआई+लवनी+मड़नी। सं० **मृणन**=**मड़न**।

संस्कृत में **हस्त** शब्द है। इसे हिन्दी में **हाथ** कहते हैं। यही कश्मीरी में **अथु**, पंजाबी में हत्थ, सिन्धी में **हथु**, मराठी में **हात**, गुजराती में **हाथ**, उड़िया में हात, बङ्ला में हात, असमिया में हात, तमिल में **कै** (संस्कृत 'कर'), तेलुगु में **चेथ्यि**, कन्नड़ में **कै** और मलयालम में **कय्यु** बोला जाता है।

संस्कृत का **आत्मा** (आत्मन्) शब्द कश्मीरी में **आत्मा**, पंजाबी में **आत्मा**, सिन्धी में **आत्मा**, मराठी में **आत्मा**, गुजराती में **आत्मा**, उड़िया में **आत्मा**, बङ्ला में **आत्मा**, असमिया में **आत्मा**, तमिल में **आत्मा**, तेलुगु में **आत्म**, कन्नड़ में **आत्म** और मलयालम में **आत्मावु** बोला जाता है।

उपर्युक्त शब्द सिद्ध करते हैं कि भारत की सभी प्रादेशिक भाषाएँ संस्कृत भाषा से पोषित हैं।

कुछ शब्द : पाणिनि की मेधा तथा तपस्या

संस्कृत भाषा में भावार्थ में निम्नांकित शब्द हैं—

(१) **कौशल** (२) **कौशल्य**। पाणिनि ने बताया कि मूल विशेषण शब्द **कुशल** है। इस 'कुशल' से उपर्युक्त दोनों भाववाचक संज्ञा शब्द बने हैं—**कुशल + अण् = कौशल। कुशल + ष्यञ् = कौशल्य।**

अपत्यार्थ में दो शब्द हैं— (१) **पाण्डव** (२) **चाणक्य**। इन दोनों शब्दों के मूल में संज्ञा शब्द हैं–(१) पाण्डु (२) चणक। पाण्डु की सन्तान पाण्डव अर्थात् **पाण्डु + अण् = पाण्डव**। चणक की सन्तान चाणक्य अर्थात् **चणक + यञ् = चाणक्य**। **चाणक्य** से मिलता–जुलता शब्द **चापल्य** है। **चाणक्य** और **चापल्य** का अन्तिमांश एक–सा है; लेकिन अर्थ में भिन्न-भिन्न हैं। इस अर्थ–भिन्नता के लिए पाणिनि ने व्यवस्था दी कि **चाणक्य** में **यञ्** और **चापल्य** में **ष्यञ्** प्रत्यय है।

पाणिनि ने यह भी देखा कि संस्कृत भाषा में एक ही अर्थ में शब्दों के युग्म भी मिलते हैं––

(१) **भण्डार, भाण्डार** (२) **वराह, वाराह** (३) **मरुत, मारुत** (४) **सुरभि, सौरभ**

ऐसी स्थिति में पाणिनि ने व्यवस्था दी कि स्वार्थ में भी अण् प्रत्यय आता है। अतः **भण्डार + अण् = भाण्डार। वराह + अण् = वाराह। मरुत + अण् = मारुत। सुरभि + अण् = सौरभ।**

धनिक और **दैनिक** शब्द विशेषण हैं, जो संज्ञा शब्द से बने हैं। इन दोनों के अन्त में –इक प्रत्यय है; लेकिन **धन** से **धनिक** में तो **इक** के योग से मूल शब्द में कोई विकार नहीं आया, लेकिन **दैनिक** में मूल शब्द 'दिन' के इकार में वृद्धि हुई है। इन दोनों को स्पष्ट करने के लिए पाणिनि ने कहा—**धन + ठन्** (इक) = **धनिक। दिन + ठञ्** (इक) = **दैनिक**। इस सूक्ष्म अन्तर को बताने के लिए पाणिनि ने दो भिन्न प्रत्ययों की कल्पना की।

उस जगन्नियन्ता परम शक्ति की सृष्टि अर्थात् प्रकृति के नियम अटल हैं, शाश्वत हैं। उनमें अपवादों के लिए कोई स्थान नहीं। भौतिक विज्ञान का यह नियम शाश्वत है कि दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग ऑक्सीजन का मिलन 'पानी' बन जाता है। इस अनुपात से सम्मिलन होने पर सदा ही पानी बनेगा।

विश्व के सब प्राणियों में मानव सर्वाधिक चेतन प्राणी है। भाषा मनुष्य के मुख से निस्सृत है। अतः भाषा में भौतिक विज्ञान की भाँति नियम अटल एवं शाश्वत नहीं हो सकते। भाषा के नियमों में अनेक अपवाद होते हैं। वैयाकरण प्रयास करके

भाषा को नियमों में बाँधने वाले सूत्रों का पता तो लगाते हैं, फिर भी उनमें अपवाद मिल ही जाते हैं; क्योंकि पता नहीं चलता कि भाषा कब अपना मार्ग बदलकर किस दिशा में चली जाएगी ? 'करिन' का तृतीया के एकवचन में तो 'करिणा' नियम-बद्ध था, लेकिन 'हरि' का 'हरिणा' भी हो गया।

सामान्यतया देखा जाता है कि **ष्यञ्** प्रत्यय विशेषण में लगकर उसे भाव-वाचक संज्ञा बना देता है। जैसे–**सुन्दर + ष्यञ् = सौन्दर्य। चतुर + ष्यञ् = चातुर्य। उत्सुक + ष्यञ् = औत्सुक्य**। लेकिन कुछ भाववाचक संज्ञा शब्द ऐसे भी मिल जाते हैं, जो संज्ञा में ष्यञ् प्रत्यय लगने पर बने हैं।

'सुख' शब्द संज्ञा है। इसमें ष्यञ् प्रत्यय के योग ने **सौख्य** बना दिया। सुख + ष्यञ् = सौख्य। **सौख्य** भी भाववाचक संज्ञा है। 'सौख्य' में भाषा ने अपना मार्ग बदल दिया। बदल दिया, तो बदल दिया। इस पर वैयाकरण का कोई वश नहीं। व्याकरण चेतन का शास्त्र है, अचेतन का नहीं। मूल बात यह है कि नियम तो भाषा में होते ही हैं, वैयाकरण तो उनका पता लगाते हैं और सूत्र बनाते हैं। अद्वैत को सिद्ध करने के लिए शंकराचार्य ने माया की कल्पना की थी।

व्याकरण में क्रिया के काल

भाषा के स्वरूप को समझाने के लिए व्याकरण कुछ अपनी मान्याताएँ लेकर चलता है।

'सूर्य' से 'प्रकाश' अलग नहीं है, फिर भी समझाने के लिए अलग-अलग मानना पड़ता है। स्वर्ण से कुण्डल अलग नहीं है, फिर भी समझाने के लिए अलग-अलग मानना पड़ता है। जल से लहर अलग नहीं है। फिर भी समझाने के लिए उन्हें अलग-अलग कहना पड़ता है। शब्द से अर्थ अलग नहीं है, फिर भी **'शब्द'** और **'अर्थ'** को समझाने के लिए अलग-अलग बताना पड़ता है।

इस संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है। प्रत्येक वस्तु इस संसार में प्रति-क्षण संसरण करती रहती है। संसरणयुक्त होने के कारण ही इसे संसार कहा गया- "संसरतीति संसारः"। संसार में प्रत्येक परमाणु न्यूट्रोन, प्रोटोन, आदि घूमते ही रहते हैं। कुछ स्थिर नहीं, सब कुछ गतिशील है।

श्रीमद्‌भागवत में जो कहा गया, उसी का समर्थन हरक्युलस, एडिंग्टन और वर्ट्रेण्डरसल ने भी किया कि संसार एक नदी की भाँति प्रतिक्षण प्रवहमान है। इस नदी को कोई दो बार पार नहीं कर सकता। मैं तो यह भी कहना चाहता हूँ कि सही मायनों में यह नदी एक बार भी पार नहीं की जा सकती। सूर्य और पृथ्वी की गति से दिन-रात होते हैं। सूर्य अपने स्थान पर घूमता रहता है। पृथ्वी अपनी कीली पर घूमती हुई सूर्य की परिक्रमा करती रहती है। ठहराव एक क्षण को भी नहीं है। जब काल (समय) में कभी ठहराव ही नहीं, तब **वर्तमान काल** तो वास्तव

में कभी है ही नहीं। केवल भाषा में क्रिया की स्थिति समझाने के लिए तीन कालों की कल्पना कर ली गयी और वैयाकरणों ने कह दिया कि क्रिया के मुख्य तीन काल हैं—(१) **भूतकाल** (२) **वर्तमानकाल** (३) **भविष्यत्काल**। वास्तव में 'वर्तमानकाल' वैयाकरणों की एक कल्पना ही है।

संसार–नद के परिवर्तनशील सतत प्रवाह से सम्बद्ध महाभारत का एक बहुत सुन्दर प्रसंग है, जिसके प्रमुख पात्र कुल तीन हैं—**युधिष्ठिर**, **भीम** और **याचक**।

महाभारत युद्ध समाप्त हो गया था। सब कौरव युद्ध में मारे जा चुके थे। युधिष्ठिर हस्तिनापुर के राजा बन गये थे। तब धर्मराज युधिष्ठिर राज्य की सुव्य–वस्था में व्यस्त रहते थे।

एक दिन एक याचक दान माँगने के लिए राजा युधिष्ठिर के समक्ष उप–स्थित हुआ। उस समय भीम युधिष्ठिर के पास ही बैठे थे। राजा युधिष्ठिर ने याचक से कहा, "याचक! तुम दान के लिए कल आना, इस समय मैं अन्य कामों में व्यस्त हूँ।"

राजा युधिष्ठिर के उन शब्दों को सुनकर भीम तुरन्त वहाँ से उठ गया और एक बड़ा ढोल पीटते हुए सारे हस्तिनापुर में उच्च स्वर से घोषणा करने लगा कि हस्ति–नापुर वासियो! तुम अपने राजा युधिष्ठिर का जय–जयकार करो। तुम्हारे राजा ने संसार की परिवर्तनशीलता को और काल की गति को जीत लिया है। विश्व में कोई भी ऐसी महाविजय प्राप्त न कर सका था। युधिष्ठिर को जब उस डोंड़ी की घोषणा का पता चला, तब युधिष्ठिर ने भीम को बुलाकर कहा, "भीम! तुमने हस्तिनापुर में क्या ऊँटपटाँग घोषणा की है?" उत्तर में भीम ने कहा, "मैंने ठीक ही घोषणा की है, धर्मराज युधिष्ठिर! आपने जिस याचक को कल दान देने के लिए कहा है, उसके सम्बन्ध में तुम पूरी तरह जानते हो कि कल तक उस याचक की दान की आवश्यकता भी वैसी ही बनी रहेगी। आप भी कल तक अवश्य रहेंगे, वह याचक भी अवश्य रहेगा और इस हस्तिनापुर के राजा भी आप अवश्य बने रहेंगे। काल की गति को आपने जीत लिया है; तभी तो आपने उस याचक से दान लेने को कल आने के लिए कहा है।"

अनुज भीम की बात को सुनकर युधिष्ठिर ने उस याचक को तुरन्त बुलाया और उसे अभीष्ट दान दिया।

वह क्रियापद जिसके कर्ता पर व्यर्थ कर्तृत्व आरोपित कर दिया जाता है

निम्नांकित वाक्यों के क्रियापद और उनके कर्ता–कर्म विचारणीय हैं—

(१) "न मालूम विमलेश्वर ने अपनी दाढ़ी क्यों **बढ़ाई है**?"

इस वाक्य की क्रिया **'बढ़ाई है'** का कर्ता **विमलेश्वर** और कर्म **'दाढ़ी'** है।

दाढ़ी तो स्वयं बढ़ती है। मनुष्य उसे बढ़ाता नहीं है। फिर भी 'विमलेश्वर' पर कर्तृत्व आरोपित कर दिया गया है।

वास्तव में वाक्य यों बोलना चाहिए—

"न मालूम विमलेश्वर ने अपनी दाढ़ी क्यों नहीं कटायी है ? लेकिन प्रयोग ऐसा ही है। जैसा चल पड़ा, चल पड़ा।

(२) "हम दो कोस भी न चले होंगे कि गाँव **आ गया**।" 'गाँव' अपनी जगह स्थिर रहता है, वह कहीं आता-जाता नहीं; फिर भी कहा गया है कि 'गाँव आ गया'। वास्तव में तो हम गाँव के पास पहुँचे थे। **'आ गया'** का कर्तृत्व **'गाँव'** पर थोप दिया गया है।

(३) "गोपाल ने अपनी खिड़की से देखा कि सड़क रात भर **चलती रही**।"

सड़क नहीं चली, अपितु सड़क पर आदमी तथा वाहन चलते रहे थे। 'सड़क' में कर्तृत्व आरोपित किया गया है।

हिन्दी में निर्देशार्थपरक वर्तमानकालीन संयुक्त क्रियाएँ विधि–निषेध–स्थितियों में

हिन्दी में विधि–स्थितियों के वाक्य	**हिन्दी में निषेध–स्थितियों के वाक्य**
(१) मैं प्रति दिन गीता **पढ़ता** हूँ।	(१) मैं प्रति दिन गीता नहीं **पढ़ता**।
(२) हम प्रति दिन गीता **पढ़ते** हैं।	(२) हम प्रतिदिन गीता नहीं **पढ़ते**।
(३) क्या तू प्रति दिन गीता **पढ़ता** है ?	(३) क्या तू प्रति दिन गीता नहीं **पढ़ता** ?
(४) क्या तुम प्रति दिन गीता **पढ़ते** हो ?	(४) क्या तुम प्रति दिन गीता नहीं **पढ़ते** ?
(५) वह प्रति दिन गीता **पढ़ता** है।	(५) वह प्रति दिन गीता नहीं **पढ़ता**।
(६) वे प्रति दिन गीता **पढ़ते** हैं।	(६) वे प्रति दिन गीता नहीं **पढ़ते**।
(यहाँ सहायक क्रियाएँ हैं।)	(यहाँ सहायक क्रियाएँ नहीं है।)

उपर्युक्त वाक्यों में विधि–स्थितियों में संयुक्त क्रियापदों की सहायक क्रियाएँ मौजूद हैं, लेकिन निषेध–स्थितियों में वे सहायक क्रियाएँ नहीं हैं। फिर भी वे वाक्य निषेध–स्थितियों में पूर्ण तथा साधु माने जाते हैं।

यदि कोई हिन्दी–लेखक निषेध-स्थितियों में भी उन सहायक क्रियाओं का प्रयोग कर देता है, तो उसके वे वाक्य मानक हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध ही माने जाएँगे। तब उनमें सहायक क्रियाओं का प्रयोग 'अधिक पदत्व' दोष ही माना जाएगा।

हाँ, एकाकी क्रियापद निषेध–स्थिति में वैसा ही रहता है, जैसा कि वह विधि–स्थिति में होता है–जैसे (१) मैंने गीता **पढ़ी**; मैंने गीता नहीं **पढ़ी**। (२) मैं गीता **पढ़ूँगा**, मैं गीता नहीं **पढ़ूँगा**।

भाषा में प्रत्येक शब्द अपनी अलग पहचान रखता है

'शब्द' अर्थमयी ध्वनि–समष्टि है। यदि ध्वनि–समष्टि शब्द का शरीर है, तो अर्थ उसका प्राण है। साहित्यिक भाषा में प्रत्येक शब्द अपना निजी अर्थात्मक अस्तित्व रखता है—इसका समर्थन आचार्य कुन्तक और क्रोचे ने भी किया है। यदि नादात्मक शब्द बाहर की ओर झाँकता है, तो अर्थ की आँखें अन्दर की ओर देखती हैं।

जब शब्द का प्रयोग अर्थ के अनुसार होता है, तब भाषा सही होती है। जब शब्द का प्रयोग अर्थ के अनुसार नहीं होता, तब भाषा ग़लत हो जाती है।

सारांश यह कि भाषा कठिन–सरल नहीं होती, सही–ग़लत हो सकती है।

अर्थ की दृष्टि से पर्यायवाची शब्द पूर्णतः एकार्थी नहीं होते; उनमें कुछ सूक्ष्म भेद होता है। उनकी अर्थ–भेदक रेखाएँ सूक्ष्म दृष्टि से ही देखी जा सकती हैं।

पानी और **जल** का एक अर्थ नहीं है। **पानी** गन्दी नाली में भी बह सकता है, **जल** नहीं। **शिकवा** और **गिला** में अर्थ भेद है। **कठिन** और **मुश्किल** में एक अर्थ गर्भित नहीं है। **पंकज** का अर्थ **सरोज** के अर्थ से भिन्न है। **गिरि** और **भूधर** शब्दों में प्रभावात्मक अर्थ–भेद है। **भव** और **हर** शिव के पर्यायवाची होते हुए भी अर्थ में अलग–अलग हैं। '**भव**' स्रष्टा हैं और '**हर**' विनाशक हैं। '**शिकवा**' और **गिला** में अर्थ–भेद बताने वाला निम्नांकित शेर प्रस्तुत किया जा सकता है—

"नहीं **शिकवा** मुझे कुछ बेवफ़ाई का तेरी हरगिज़।
गिला तब हो अगर तूने किसी से भी निभाई हो।"

यदि **कठिन** और **मुश्किल** प्रत्येक दशा में एक अर्थ रखते होते, तो वाक्य में जहाँ **मुश्किल** का प्रयोग होता, वहाँ **कठिन** का भी प्रयोग अवश्य हो जाता; परन्तु ऐसा नहीं है।

हिन्दी का एक वाक्य है—

"गोपाल **मुश्किल** से दस वर्ष का होगा।" इसके स्थान पर यदि कहा जाए कि "गोपाल **कठिन से** (कठिनाई से) दस वर्ष का होगा।" तो यह वाक्य ग़लत माना जाएगा।

निरुक्तमूलक या व्याकरणिक अर्थ ही शब्द का अर्थ नहीं होता। अर्थ की किरणें कई दिशाओं में आलोक–दर्शन कराती हैं। '**पंकज**' और '**सरोज**' के निरुक्त–मूलक अर्थ निम्नांकित हैं—

(१) **पंकज**=पंक+ज=कीचड़ से जन्म लेने के कारण 'कमल' को 'पंकज' कहा गया।

(२) **सरोज**=सरः+ज=तालाब में जन्म लेने के कारण कमल को 'सरोज' कहा गया।

इतने पर भी **पंकज** का अर्थ कृष्णपक्षीय और **सरोज** का शुक्लपक्षीय है।

सुमित्रानन्दन पंत ने 'बापू के प्रति' एक कविता लिखी थी। उसकी दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"पशुता का पंकज बना दिया,
तुमने **मानवता** का **सरोज**।"
—(कविवर पन्त)

उपर्युक्त उद्धरण में पशुता का उपमान **पंकज** और मानवता का उपनाम **सरोज** है।

मन में उठी हुई आनन्द की लहर का नाम **उमंग** है। **उचंग** उमंग से ऊँची लहर है। **उचंग** कृष्णपक्षीय भी हो सकती है।

चाकू या तीर की नोक का बहुत छोटा भाग जो टूटकर शरीर में चुभा रह जाता है, उसे **गाँस** कहते हैं। बाँस या सख़्त मूँज का रेशा जो शरीर के किसी अंग में चुभकर करकराता रहता है; **फाँस** कहलाता है। खाँसी लाने वाली किसी वस्तु की तेज गन्ध को **धांस** कहते हैं। किसी वस्तु के गोल सूराख में किसी दूसरी वस्तु का सिरा घुसाया जाए और वह किसी कारण ढीला रह जाए, तो उसे कसने के लिए जो लकड़ी या कील लगायी जाती है, उसे भी **धाँस** कहते हैं। गले की साँस–नली में जब कभी अन्न–कण चला जाता है, तब गले की उस कष्टकारक स्थिति को भी **धाँस** कहते हैं। शारीरिक कष्ट देते हुए किसी को तंग करना **ताँसना** कहलाता है। इससे बनी हुई भाववाचक संज्ञा **ताँस** है।

गिरि और **भूधर** का ऊपरी अर्थ 'पर्वत' होते हुए भी, उनमें अर्थ–भेद है। 'भूधर' शब्द की महाप्राणघोष ध्वनियाँ उसे कठोर, ऊँचा और विस्तृत सिद्ध कर रही हैं। शिव का कल्याणकारी रूप **भव** और विनाशकारी रूप **हर** या **रुद्र** है। कामदेव को **हर** ने भस्म किया था, **भव** या **शिव** ने नहीं।

पर्याय शब्दों में भेदक रेखाएँ अवश्य होती हैं। उनकी पहचान भेदक रेखाएँ ही बताती हैं।

प्रसंग और प्रयोग के मंच पर 'काम' और 'कार्य' दो भिन्न अभिनेता हैं

पुष्टिमार्गी अष्टछापी भक्त कवियों में कुम्भनदास सरल, सादा और निर्लोभ

सन्त थे। उनकी भक्ति तथा वीणा–मृदंग–वादन–कला पर रीझकर राजा मानसिंह ने उन्हें स्वर्ण मुद्राएँ भेंट की थीं। उन्हें विनम्रता से अस्वीकार करते हुए कुम्भनदास जी ने राजा मानसिंह से कहा था, "मैं इन स्वर्ण मुद्राओं को लेकर क्या करूँगा; मेरा **काम** तो ब्रज के बेरों और टेंटियों (करील–फलों) से ही चल जाता है।"

कुम्भनदास जी के वाक्य में प्रयुक्त '**काम**' शब्द के स्थान पर '**कार्य**' शब्द का प्रयोग कर दिया जाए, तो कुम्भनदास जी के कथन के भाव का प्राण ही विनष्ट हो जाएगा। भाषा में पर्यायवाची भी अर्थ–भेद रखते हैं।

कर्म और **क्रिया** शब्दों के अर्थों में भी अन्तर है। एक कर्म की अनेक क्रियाएँ हो सकती हैं।

कर्म के मुख्य तीन भेद हैं– (१) मानसिक कर्म (२) वाचिक कर्म (३) शारीरिक कर्म। सारांश यह कि मन, वाणी और शरीर भी कर्म करते हैं।

मन में विचार की उद्बुद्धि मन का एक कर्म है। किसी एक सभा के प्रबन्धक के मन में विचार उठा कि इस सभा में पूरी शान्ति रहनी चाहिए। 'सभा में शान्ति रखना' उस प्रबन्धक का एक कर्म हुआ। उस कर्म की सफल सम्पन्नता के लिए वह प्रबन्धक उस सभा के चारों ओर चुप–चाप चक्कर लगाएगा। कभी अपने दोनों हाथ उठाकर शान्त रहने के लिए सभासदों को संकेत भी करेगा। अपने बन्द होठों पर तर्जनी उँगली भी रखेगा। कुछ शोर होने पर तुरन्त सीटी भी बजा सकता है। ये सब उस एक कर्म की क्रियाएँ हैं।

अनेकार्थ रखते हुए भी शब्द एक मुख्य अर्थ रखता है

'**पलक**' शब्द के लगभग चार अर्थ कोशों में लिखे हुए मिल सकते हैं; लेकिन वर्तमान काल में सामान्यतया एक अर्थ ही सर्वोपरि तथा मुख्य है, अर्थात् आँख को ढकने वाला चमड़े का वह पर्दा, जिसके गिरने और उठने से आँख बन्द होती और खुलती है। मुख्य अर्थ समाज में काल विशेष से सम्बद्ध है।

'**पर्याय**' शब्द के लगभग ग्यारह अर्थ हिन्दी–शब्द कोशों में मिल सकते हैं, लेकिन हिन्दी में आज **पर्याय** शब्द का एक ही अर्थ मुख्य है, वह है 'समानार्थक शब्द'। अन्य अर्थ किसी विशिष्ट साहित्य अथवा किसी विशिष्ट प्रसंग में ग्राह्य हो सकते हैं। शब्द के सामान्य सर्वाधिक प्रचलित अर्थ को ही कोशों में सर्वप्रथम लिखना चाहिए।

संपर्क भाषा मानक हिन्दी में ग्राह्य शब्द

भारतीय स्तर पर प्रयुक्त की जानेवाली हिन्दी भाषा में निम्नांकित शब्दों की दोनों वर्तनियाँ स्वीकृत कर लेनी चाहिए, क्योंकि हिन्दी के कोशों में दोनों प्रकार

की वर्तनियाँ मिलती हैं—

(१) गेंडा, गैंडा, गँड़ा (२) सेंहुड़, सैंहुड़ (३) सोंपना, सौंपना (४) निपटना, निबटना (५) गुलेंदा, गुलैंदा (६) चोंटना, चौंटना (७) सेंमर, सैंमर (८) गँरियत, गँरीयत (९) गोन, गौन (१०) सिरस, सिरिस (११) सिरोपाउ, सिरोपाव (१२) बताना, बतलाना (१३) सिहनी, सिहिनी (१४) सिक्ख, सिख (१५) सियाही, स्याही (१६) मुटापा, मोटापा (१७) सिवा, सिवाइ (१८) वादा, वायदा (१९) बाली, बालि (२०) पाइल, पायल (२१) पाजे़ब, पायजे़ब (२२) पाइक, पायक (२३) पंगत, पंगति (२४) दुलहनी, दुलहिनी (२५) सुहागन, सुहागिन, सुहागिनी (२६) दिवान, दीवान (२७) दिवाना, दीवाना (२८) दुंदुभि, दुंदुभी (२९) दिवाली, दीवाली (३०) दिखना, दीखना (३१) दिखाव, देखाव (३२) डब्बा, डिब्बा (३३) डाबर, ढाबर (३४) ढूँढना, ढूँढ़ना (३५) धोंकना, धौंकना (३६) भूँकना, भोंकना, झौंकना (३७) भेंट, भेंट (३८) भेड, भेड़ (३९) पौंडा, पौंड़ा (४०) पौदा, पौधा। (४१) तकड़ा, तगड़ा (४२) नवम्बर, नौम्बर (४३) गरद, गर्द (४४) गरम, गर्म (४५) सरदी, सर्दी (४६) सरदा, सर्दा। (४७) बहन, बहिन (४८) रीति, रीत (४९) गुरु, गुरू।

भारत की संपर्क राष्ट्रभाषा मानक हिन्दी में शब्द-प्रयोग

किसी शब्द का एक खा़स अर्थ में बहुल प्रयोग जब भाषा में देखा जाता है, तब उसे 'अर्थवैज्ञानिक आवृत्ति' (Semantic frequency) कहते हैं। '**प्रतिष्ठा**' शब्द का प्राचीन अर्थ है 'स्थापना'। आज '**प्रतिष्ठा**' शब्द हिन्दी में 'सम्मान' के अर्थ में ही अधिक प्रयुक्त होता है। '**अभिनन्दन**' का प्राचीन अर्थ है 'अनुमोदन' या 'समर्थन'। आज हिन्दी में 'अभिन्दन' का प्रयोग 'प्रशंसा' या 'गुणानुवाद' के अर्थ में ही अधिक होता है। वर्तमान हिन्दी में जिस अर्थ में **प्रतिष्ठा** और **अभिनन्दन** शब्द अधिक प्रयुक्त होते हैं, उसी अर्थ का प्रयोग 'अर्थवैज्ञानिक आवृत्ति' है। राष्ट्रभाषा मानक हिन्दी के लेखकों को इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। प्राचीन अर्थ का शब्द-प्रयोग पाठकों को झमेले में डाल सकता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त का पालन सामान्यतः व्यावहारिक मानक हिन्दी में करना आवश्यक है।

काव्य में तो कवि चमत्कार अथवा श्लेष-सौन्दर्य के लिए शब्दों का ऐसे ढंग से प्रयोग कर देते हैं कि एक ही शब्द में प्राचीन अर्थ और वर्तमान अर्थ की साथ-साथ संगति बैठ जाती है।

तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' के नारद राजा हिमाचल और रानी

मैना से पार्वती के भावी पति के सम्बन्ध में कहते हैं —

"जोगी जटिल अकाममन, नगन अमंगल वेष ।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख ।"

—(बाल० दो० ६७/–)

शब्द	प्राचीन अर्थ	बहुल प्रयोग वाला वर्तमान अर्थ
(१) **जोगी**	(१) योगसाधक	(१) भीख माँगकर पेट भरने वाली जाति का व्यक्ति जो प्रायः शनि का दान लेते हैं ।
(२) **जटिल**	(२) अत्यन्त गूढ़ जिसके रूप–स्वरूप की अवगति बहुत कठिन हो ।	(२) जटा धारण करने वाला दिखावटी–बनावटी मनुष्य ।
(३) **अकाममन**	(३) जिसके मन में कभी काम उत्पन्न नहीं हो सकता ।	(३) कमजोर, आलसी
(४) **नगन**	(४) दिगम्बर रूप में रहने-वाला अर्थात् उष्णता, शीत तथा वर्षा को सहनेवाला ।	(४) नंगा, जिसके पास पहनने के लिए कुछ न हो ।
(५) **अमंगलवेष**	(५) जिसका व्यक्तित्व ही अनिष्ट का नाश करने वाला है ।	(५) जिसका वेष अशोभनीय हो ।

राजा हिमाचल और रानी मैना ने **जोगी**, **जटिल** आदि शब्दों को उन अर्थों में लिया, जो अर्थवैज्ञानिक आवृत्ति वाले थे । अतः पार्वती के पिता और माता को बहुत चिन्ता हो गयी ।

हिन्दी–व्याकरण और कर्ता–कर्म

हिन्दी व्याकरण की पुस्तकों में से अब कर्ता और कर्म की पहचान की भ्रान्ति दूर हो जानी चाहिए । अंग्रेजी भाषा के व्याकरण के आधार पर लिखे गये पं० कामताप्रसाद गुरु के हिन्दी–व्याकरण में कहा गया है कि "**चिट्ठी** लिखी जाती है ।" वाक्य में '**चिट्ठी**' कर्ता है । पं० गुरु कहते हैं कि क्रिया से जिस वस्तु के विषय में विधान किया जाता है, वह कर्ता है । लेकिन आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और प्रो० फिलमोर का मत है कि क्रिया के करनेवाले को '**कर्ता**' कहते हैं । "**राम चिट्ठी** लिखता है" वाक्य में '**राम**' कर्ता है । और **चिट्ठी कर्म** है ।

वास्तव में **कर्ता** शब्द का अर्थ भी है 'करनेवाला' । कर्ता जिस काम को

करता है, वह 'कर्म' होता है। "चिट्ठी लिखी जाती है" वाक्य में चिट्ठी लिखने-वाला जो व्यक्ति है, वह कर्ता होगा। '**चिट्ठी**' तो कर्म है। 'लिखी जाती है' कर्म-वाच्य की क्रिया है, जो लिंग-वचन में कर्म के अनुसार है। आचार्य वाजपेयी का मत ठीक है।

विभक्ति और परसर्ग अलग-अलग हैं

ब्रजभाषा और अवधी की रूप-रचना से स्पष्ट है कि विभक्ति और परसर्ग अलग-अलग हैं। विभक्ति का सम्बन्ध रूप से है और वह प्रातिपदिक के साथ संश्लिष्ट अवस्था में रहती है। परसर्ग मूल पद से पृथक् रहता है। मानस में हनूमान् जी श्रीराम से सुग्रीव के सम्बन्ध में कहते हैं—

"तेहि **सन** नाथ मयत्री कीजे।" —(मानस, किष्कि० ४/३)

इस उद्धरण में 'तेहि सन' पद में -हि विभक्ति और **सन** परसर्ग है। सारांश यह कि कारक अर्थ में और विभक्ति रूप में निवास करती है।

हिन्दी निपात का दुहरा प्रयोग स्वीकारती है

निपात संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया विशेषण तथा क्रिया को प्रधानता प्रदान करता है। जैसे—

(१) "गोपाल **ही** से कहो।" ('**ही**' निपात ने संज्ञा '**गोपाल**' को प्रधानता प्रदान की है।)

(२) "तुम **ही** जाओगे।" ('**ही**' निपात '**तुम**' सर्वनाम को प्रधान बना रहा है।)

(३) "हम बेटी के लिए अच्छा **ही** लड़का देखेंगे।" (**ही** निपात ने 'अच्छा' विशेषण को प्रधान बना दिया है।)

(४) "योग्य गायक सदा अच्छा **ही** गाता है।" ('ही' निपात 'अच्छा' क्रिया विशेषण को प्रधान बना रहा है।")

(५) "तुम उससे लड़ोगे **ही**।" ('**ही**' निपात ने क्रिया 'लड़ोगे' को प्रधान बना दिया।)

निपात का दुहरा प्रयोग- (१) परसर्ग के पश्चात् (२) परसर्ग के पूर्व।

(१) परसर्ग के पश्चात्- "गोपाल **से ही** कहना।"

(२) परसर्ग के पूर्व- गोपाल **ही से** कहना।

(यहाँ 'गोपाल' के बाद '**भी**' नहीं आ सकता। "गोपाल भी से कहना"—वाक्य अशुद्ध है।) शुद्ध वाक्य है- "गोपाल से **भी** कहना।"

हिन्दी की क्रियाओं में वाच्य और प्रयोग एक ही बात है

हिन्दी के वाक्यों में वाच्य ही प्रयोग कहलाते हैं। हिन्दी के कुछ वैयाकरण जो वाच्य और प्रयोग को अलग-अलग मानते हैं, वे ग़लती पर हैं। हिन्दी भाषा में तीन वाच्य हैं—

(१) कर्तृवाच्य (२) कर्मवाच्य (३) भाववाच्य।

(१) कर्तृवाच्य में क्रिया लिंग-वचन में कर्ता का अनुसरण करती है-लड़का पढ़ता है; लड़के पढ़ते हैं; लड़की पढ़ती है, लड़कियाँ पढ़ती हैं।

(२) कर्मवाच्य में क्रिया लिंग-वचन में कर्म का अनुसरण करती है—लड़के ने ग्रन्थ पढ़ा; लड़के ने पुस्तक पढ़ी; लड़के ने ग्रन्थ पढ़े, लड़के ने पुस्तकें पढ़ीं।

(३) भाववाच्य में क्रिया भावप्रधान होती है अर्थात् सदा एक रूप रहती है-लड़के से नहीं चला जाता; लड़की से नहीं चला जाता; लड़कों से नहीं चला जाता, लड़कियों से नहीं चला जाता।

एक ही धातु से निर्मित संज्ञा और भूतकालिक कृदन्त विशेषण शब्दों का वाक्य में साधु प्रयोग

√ऋ धातु से निर्मित संज्ञा शब्द है **अर्पण** और भूतकालिक कृदन्त विशेषण शब्द है **अर्पित**। दोनों का साधु प्रयोग इस प्रकार है—

(१) **अर्पण** का प्रयोग—

"मैंने भगवान् को धूप, दीप, नैवेद्य, पत्र-पुष्प, फल आदि का **अर्पण** किया।" (इसमें एकाकी क्रिया **किया** है।)

(२) **अर्पित** का प्रयोग—

"मैंने भगवान् को धूप, दीप, नैवेद्य, पत्र-पुष्प, फल आदि **अर्पित** किये।" (इसमें संयुक्त क्रिया **'अर्पित किये'** है।)

शब्द-श्लेष किसे कहना चाहिए ?

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि **'कुल'** में शब्द-श्लेष है, क्योंकि इसके दो अर्थ हैं- एक अर्थ है 'खानदान' और दूसरा अर्थ है 'तमाम'। बात यह नहीं है। हिन्दी में **'कुल'** दो शब्द अलग-अलग हैं। संस्कृत से आगत **'कुल'** शब्द का अर्थ है 'खानदान' और अरबी से आगत **'कुल'** का अर्थ है 'तमाम'। दोनों के स्रोत अलग-अलग हैं। अतः 'कुल' दो शब्द हैं, एक नहीं।

यदि एक ही स्रोत से आगत कोई एक शब्द दो अर्थ रखता है, तो उसमें

शब्द–श्लेष माना जाना चाहिए, जैसे **परमाणु**। 'परमाणु' संस्कृत भाषा से हिन्दी में आया है। इसके दो अर्थ हैं—

(१) **परमाणु** –पलक लगने के समय को **निमेष** कहते हैं। निमेष का $\frac{1}{60}$ भाग **लव** और लव का $\frac{1}{5400}$ भाग 'परमाणु' कहलाता है। यह **समयसूचक** है। इसका प्रयोग 'मानस' में लंकाकाण्ड के प्रथम दोहे में हुआ है।

(२) **परमाणु**–एक इंच का एक सौ करोड़वाँ भाग परमाणु कहलाता है। यह द्रव्यसूचक है। अतः '**परमाणु**' में शब्द–श्लेष है।

शब्द–श्लेष का मूलाधार एक पदार्थ भी होता है अथवा एक विशेषण शब्द होता है, जो अलग–अलग दो विशेष्यों के लिए प्रयुक्त होता है। कालान्तर में वे विशेष्य तो प्रयोग में से समाप्त हो जाते हैं। तब वह एक विशेषण ही संज्ञा (विशेष्य) के रूप में प्रयुक्त होने लगता है।

समुद्र–मंथन से १४ रत्न निकले थे। उसमें एक लक्ष्मी भी थी। इसलिए '**सिन्धुजा**' के दो अर्थ हैं—(१) **लक्ष्मी** (२) **रम्भा**। समुद्र में '**सीपी**' भी होती है, इसलिए 'सिन्धुजा' का एक तीसरा अर्थ 'सीपी' भी है। अतः 'सिन्धुजा' में श्लेष है।

सिन्धु देश में घोड़े और नमक बहुत प्रसिद्धि पा गये थे। **सैन्धव अश्व और सैन्धव लवण**।

कालान्तर में दोनों **सैन्धव** शब्द से ही व्यक्त किये जाने लगे। भाषा शब्द–प्रयोग में लाघव से प्रेम करती है।

प्राचीन प्रयोग	**अर्वाचीन प्रयोग**
(१) **सैन्धव अश्व**=सिन्धु देश का घोड़ा।	(१) **सैन्धव**=सिन्धु देश का घोड़ा।
(२) **सैन्धव लवण**=सिन्धु देश का नमक।	(२) **सैन्धव**=सिन्धु देश का नमक।

अतः '**सैन्धव**' में श्लेष है। कोई शब्द श्लेषार्थी है अथवा नहीं, उसकी पहचान का यह भी एक आधार है।

ईसा की तेहरवीं शती में दिल्ली के आस–पास की जनपदीय खड़ीबोली में मनोरंजन का साहित्य रचनेवाले अबुलहसन अर्थात् अमीर खुसरो ने 'दो सखुन' की रचना की थी। उसके दो सखुनों में दो प्रश्न ऐसे होते थे, जिनका उत्तर एक श्लेषार्थी शब्द में ही होता था। श्लेषार्थी शब्दों को स्मरण रखने की वह बहुत उत्तम विनोदमयी विधि थी।

कवि अमीर खुसरो लिखते हैं—

"सितार क्यों न बजा ?
औरत क्यों न नहाई ? (उत्तर परदा न था)"

× × ×

"घोड़ा क्यों अड़ा ?
पान क्यों सड़ा ? (उत्तर फेरा न था)"

× × ×

"ब्राह्मन क्यों न नहाया ?
धोबन क्यों पिटी ? (उत्तर धोती न थी)"

× × ×

"हार क्यों न ढूँढ़ा ?
पेड़े क्यों न बने ? (उत्तर खोया न था)"

उपर्युक्त दो सखुनों में जो उत्तर हैं, उनमें **परदा**, **फेरना**, **धोती** और **खोया** में अर्थ–श्लेष है।

(१) **परदा** = (१) सितार का परदा (२) औरत का परदा।

(२) **फेरना** = (१) घोड़े का फेरना (२) पान का फेरना।

(३) **धोती** = (१) पहनने का एक वस्त्र धोती (२) कपड़े धोना।

(४) **खोया** = (१) हार का गुम हो जाना (२) पेड़ों का खोया (मावा)

अमीर खुसरो ने 'बरावरी' अर्थात् 'दो में एक' (टू इन वन) की भी रचना की थी। उनमें भी श्लेषार्थी शब्दों की पकड़ का अभ्यास निहित था।

कवि खुसरो ने दो में उभयनिष्ठ एक सम्बन्ध बताया है—

"घोड़े और बजाज में क्या सम्बन्ध है ? (उत्तर '**थान**' का)"

× × ×

"आदमी और गेहूँ में क्या सम्बन्ध है ? (उत्तर '**बाल**' का)"

× × ×

"गहने और दरख़्त में क्या सम्बन्ध है ? (उत्तर '**पत्ता**' का)"

हिन्दी में अकारान्त शब्द कभी-कभी श्लेष की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं

हिन्दी में '**तपन**' शब्द अकारान्त है। इसके दो अर्थ हैं—(१) सूर्य (२) गरमी।

(१) तपन = सूर्य—"ज्येष्ठ में **तपन** की उष्णता सही नहीं जाती।"

(२) तपन = गरमी—"तुम ऐसी **तपन** में कहाँ जाओगे ?"

हिन्दी में 'सूर्य' अर्थवाला पुंलिंग शब्द **तपन** प्रथमा विभक्ति के एकवचन में शून्य प्रत्यय रखता है। 'गरमी' अर्थवाला स्त्रीलिंग शब्द '**तपन**' भी प्रथमा बिभक्ति के एकवचन में शून्य प्रत्यय रखता है। अतः हिन्दी में पद स्तर पर '**तपन**' शब्दों में अन्तर मालूम नहीं पड़ता।

संस्कृत में पदस्तर पर सूर्यवाची पुंलिंग शब्द **तपन** का और 'गरमी' अर्थ देनेवाले नपुंसक लिंग **तपन** शब्द का पता लग जाता है।

(१) **तपन**=सूर्य [√तप्+ल्यु=तपनः (पुं०)] (तपनः तपनौ, तपनाः)

(२) **तपन**=गरमी [√तप्+ल्युट्=तपनं (नपुंसक०)] [तपनं, तपने, तपनानि]

ऐसी पदात्मक स्पष्टता हिन्दी में नहीं है। इसीलिए हिन्दी में **तपन** में पद-स्तर पर श्लेष रहता है।

संस्कृत के व्यंजनान्त शब्दों का हिन्दी में लेखन

कुछ हिन्दी-लेखक संस्कृत के व्यंजनान्त शब्दों को हिन्दी में व्यंजनान्त करके नहीं लिखते, अपितु अकारयुक्त कर देते हैं। जैसे **विद्वान्** को **विद्वान**, **श्रीमान्** को **श्रीमान**, **धनवान्** को **धनवान** के रूप में लिखते हैं।

ऐसा करने से शब्द के अर्थ में भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि संस्कृत में कुछ शब्द ऐसे हैं, जिन्हें व्यंजनान्त न लिखा जाएगा, तो अर्थ बदल जाएगा।

व्यंजनान्त शब्द और अर्थ	**व्यंजनान्त रहित शब्द और अर्थ**
(१) कीर्तिमान्=यशवाला।	(१) कीर्तिमान=यश का मानदण्ड।
(२) परिषद्=सभा।	(२) परिषद=सभासद, सभा में बैठने वाला।
(३) स्वर्=कान्ति, चमक।	(३) स्वर=संगीत में कण्ठ-ध्वनि या वाद्य-ध्वनि। ध्वनि विज्ञान में स्वर।

कविवर प्रसाद जी ने 'कामायनी' के 'लज्जा' सर्ग में लिखा है—

"कोमल किसलय के अंचल में
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती-सी।
गोधूली के धूमिल पट में,
दीपक के **स्वर** में दिपती-सी॥"

उपर्युक्त छन्द में प्रयुक्त '**स्वर**' शब्द वास्तविक अर्थ प्रकट करने में असमर्थ है। मुख्य कारण यह है कि इसे व्यंजनान्त नहीं लिखा गया यदि इसे '**स्वर्**' रूप में मुद्रित कर दिया जाता तो तुरन्त अपनी अर्थच्छवि प्रकट कर देता। दीपक के स्वर् में=दीपक की कान्ति में।

'दानदाता' के अर्थ में एक शब्द **दानवान्** है। यदि इसे '**दानवान**' करके लिख दिया गया, तो यह 'पानवान' या 'पानीवानी' का-सा अर्थ देने लगेगा। "क्या दानवान का काम हो गया?" इस वाक्य का अर्थ निश्चित नहीं है। हिन्दी-लेखन

में **दानवान**=(१) दानवाला (२) दान आदि।

व्याकरणशास्त्र की ध्वनि और काव्यशास्त्र की ध्वनि

व्याकरणशास्त्र तथा काव्यशास्त्र की ध्वनि का मूल स्रोत **'स्फोट'** है। घंटे की चोट को **'स्फोट'** और उसकी गूँज को **ध्वनि** समझिए। घंटा–नाद के बाद उसकी गूँज होती है, ठीक उसी प्रकार शब्द या वाक्य के वाच्यार्थ के बाद व्यंजना–व्यापार के द्वारा काव्यशास्त्रीय ध्वनि का जन्म होता है। साधन और साध्य के बीच में एक व्यापार होता है। व्यंजना को ही व्यापार समझना चाहिए। ध्वनि का सम्बन्ध भाषागत लावण्य से है।

ध्वनि अभिधामूला और लक्षणामूला होती है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना को शब्द–व्यापार या शब्द–शक्ति नाम दिया गया है।

अभिधामूला ध्वनि सुगमता से बोधगम्य है; लेकिन लक्षणामूला ध्वनि की बोधगम्यता कभी–कभी क्लिष्ट भी हो जाती है।

अभिधामूला ध्वनि—

"अलि हौं तौ गई जमुना–तट पै
सो कहा कहौं बीर! विपत्ति परी।
गहराइकै कारी घटा उमई
इतने ही गागर सीस धरी॥
रपट्यौ पग घाट चढ़्यौ न गयौ
कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिर जीवहु नंद कौ बारौ अरी
गहि बाँह गरीब नैं ठाड़ी करी॥" —(मंडन कवि)

यहाँ सखी के कथन में स्पर्श–सुख का गोपन ध्वनित हो रहा है।

एक नायिका नायक से कहती है—

"रे पान्थ पुस्तककर! क्षणमत्र तिष्ठ
वैद्योऽसि किङ्गणितशास्त्रविशारदोऽसि?
केनौषधेन पश्यतु मम भर्तु रम्बा
कह्यागमिष्यति पतिः सुचिरप्रवासी?"

नायिका के कथन से ध्वनित है कि सम्भोग–सुख का यह समुपयुक्त अवसर है क्योंकि मेरी सास तो अन्धी है और पति बहुत दिनों से परदेश में है।

विवक्षितवाच्य ध्वनि को अभिधामूला ध्वनि भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत ही रसध्वनि, अलंकार ध्वनि और वस्तुध्वनि समाहित हैं।

काव्य का सौन्दर्य वाच्यार्थ में नहीं, व्यंग्यार्थ में होता है। ग़ालिब ने जो

कहा है, उसमें वाच्यार्थ ही प्रधान है—

"उनके देखे से जो आ जाती है रौनक मुँह पर।
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है॥" —(ग़ालिब)

× × ×

लेकिन महाकवि बिहारी कहते हैं—

"जौ वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आपु।
तौ चलि नैंक बिलोकियै चलि औचक चुप-चापु॥"

(बिहारीरत्नाकर, दो० १४२)

जब प्रेमास्पद प्रेमी को अचानक चुपचाप चलकर देखेगा, तभी उसे प्रेमी की वियोगजनित शारीरिक क्षीणता का पता चल सकेगा। प्रेमास्पद चुपचाप न चला और किसी तरह प्रेमी को प्रेमास्पद के आगमन की सूचना मिल गयी, तो उस सूचना से ही प्रेमी स्वस्थ-सा दिखायी पड़ने लगेगा। दोहे में वस्तु ध्वनित है। अतः काव्य-सौन्दर्य है।

(२) **लक्षणामूला ध्वनि** (अविवक्षितवाच्य ध्वनि) (क) **क्लिष्ट लक्षणामूला ध्वनि**—

"शीतल ज्वाला जलती है ईंधन होता दृग जल का।
ये व्यर्थ साँस चल-चलकर करती हैं काम पवन का॥"

—(प्रसाद)

उपर्युक्त कथन में ध्वनि क्लिष्ट है। यहाँ 'विरह वेदना' ध्वनित है।

(ख) **सुगम लक्षणामूला ध्वनि**—

"रो-रोकर सिसक-सिसक कर कहता मैं करुण कहानी।
वे सुमन नौंचते फिरते, करते जानी अनजानी॥" —(प्रसाद)

इसमें प्रियतम की निष्ठुरता ध्वनित है। यह ध्वनि सुगम है।

निम्नांकित घनाक्षरी-चरण में भी 'सुगम लक्षणामूला ध्वनि' है। इसे 'वस्तु ध्वनि' भी कह सकते हैं—

"कान्ह छोड़्यौ मथुरा ते बिन्दाबन आइबौ तौ
सूर-गोपिकान छोड़्यौ पनघट जाइबौ।"

कृष्ण के बिना गोपियों के लिए 'पनघट' शून्य तथा नीरस प्रतीत होता है। पनघट पर गोपियाँ वास्तव में पानी भरने थोड़ा जाया करती थीं। पानी भरने के लिए जाना तो ऊपरी दिखावा मात्र था। वे तो अपने श्याम से मिलने तथा कुछ मन की बातें कहने-सुनने ही जाया करती थीं। जब मथुरा से वृन्दावन आना ही श्याम ने छोड़ दिया, तब पनघट पर रखा ही क्या था? 'पनघट की शून्यता' नामक 'वस्तुध्वनि' उपर्युक्त उद्धरण में अन्तर्निहित है।

एक ध्वनि विपरीत लक्षणा के आधार पर भी होती है, जो शब्दों के वाच्यार्थ सेविलोम अर्थ ध्वनित करती है। उसमें '**कृपा**' का अर्थ 'कष्ट' और '**भूषण**' का अर्थ

'दूषण' लिया जाता है ।

नन्ददास की गोपियाँ उद्धव से श्याम के सम्बन्ध में कहती हैं—

"ह्याँ **नीची** पदवी हुती, गोपीनाथ कहाइ ।
अब जदुकुल **पावन** भयौ, दासी–जूठन खाइ ।।"

—(नंददास, भँवर गीत)

अर्थात् उद्धव ! तुम्हारे वे श्याम जब यहाँ (ब्रज में) थे, तब 'गोपीनाथ' कहलाते थे, वह पदवी तो नीची थी । अब मथुरा में कुब्जा दासी की जूठन खा–खाकर उन्होंने अपने यदुकुल को पवित्र कर लिया है । वास्तव में यदुकुल को अपवित्र कर लिया है–यही यहाँ ध्वनित है । यहाँ विपरीत लक्षणा के आधार पर अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है अर्थात् "**श्याम ने यदुकुल को अपवित्र कर लिया है और ऊँची पदवी नीची करली है** ।"

गोपियों के कथन में ध्वनि यह है कि ब्रज के श्याम '**गोपीनाथ**' थे; तब तो उनकी पदवी ऊँची थी और अब मथुरा के मथुरानाथ श्याम ने दासी की जूठन खाकर अपने यदुकुल को दूषित कर दिया है ।

अतः गोपियों के उपर्युक्त कथन में विपरीत लक्षणा पर आधृत इसे 'सुगम लक्षणा ध्वनि' भी कह सकते हैं ।

व्याकरण ने '**विचार**' का अध्ययन किया और काव्यशास्त्र ने '**भाव**' का । काव्यशास्त्र का आधार व्याकरणशास्त्र है । 'विचार–बोध' के उपरान्त ही 'भाव–बोध' सम्भव है ।

परीक्षक के रूप में विचित्र अनुभव

आगरा विश्वविद्यालय की एम० ए० (हिन्दी) परीक्षा में मौखिक परीक्षा का भी विधान है । निरन्तर तीन वर्षों तक एम० ए० (हिन्दी) की मौखिक परीक्षा में मैं प्रतिवर्ष किसी न किसी महाविद्यालय में मौखिकी के लिए जाता रहा था ।

मैं प्रतिवर्ष एम० ए० (हिन्दी) की मौखिकी में निम्नांकित रूप में अलंकार विषयक प्रश्न परीक्षार्थियों से पूछा करता था और उनसे उनके उत्तर भी सुना करता था । उन उत्तरों को सुनकर मुझे छात्रों की अयोग्यता पर तो दुःखात्मक आश्चर्य होता ही था, साथ में आन्तरिक साथी परीक्षक पर भी महान् आश्चर्य होता था ।

एक महाविद्यालय में परीक्षार्थियों से मैंने जो प्रश्न किये और उनके जो उत्तर पाये, वे इस प्रकार हैं—

(१) प्रश्न– "**तुलसी रवि** ने तम मेटिकै हिन्द कौ,
हिन्दुन को सत पन्थ लखायौ ।"

यहाँ '**तुलसी–रवि**' में कौन-सा अलंकार है ?

उत्तर– 'तुलसी–रवि' में रूपक अलंकार है (परीक्षार्थियों का कथन)

(२) प्रश्न– "पद **कमल** धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं ।"

यहाँ '**पद–कमल**' में कौन–सा अलंकार है ?

उत्तर– '**पद–कमल**' में रूपक अलंकार है (परीक्षार्थियों का कथन)

उस वर्ष की परीक्षा में उस महाविद्यालय में लगभग ६० परीक्षार्थी थे। सभी ने दोनों उदाहरणों में रूपक अलंकार ही बताया था । विचित्र बात तो यह थी कि आन्तरिक परीक्षक ने भी दोनों में रूपक अलंकार ही माना था ।

मुझे ऐसा लगता है कि एम० ए० (हिन्दी) कक्षाओं को पढ़ानेवाले बहुत–से अध्यापक **रूपक** और **वाचक–धर्म–लुप्तोपमा** अलंकारों में अन्तर नहीं जानते ।

रूपक अलंकार 'उपमान–प्रधान' होता है अर्थात् क्रिया का सम्बन्ध उपमान से होता है, उपमेय से नहीं ।

प्रथम प्रश्न के उदाहरण में अन्धकार रवि ने मेटा है अर्थात् उपमान **रवि** प्रधान है, उपमेय **तुलसी** नहीं । इसलिए रूपक अलंकार है । सारांश यह कि तुलसी रूपी सूर्य ने अंधकार को नष्ट किया है ।

द्वितीय प्रश्न के उदाहरण में केवट श्रीराम के पाँव धोना चाहता है । श्रीराम के पाँव कमल के समान हैं । '**कमल**' उपमान है और **पद** उपमेय है । 'रामचरित मानस' के उद्धरण (अयो० १००/छन्द) में 'पद' **उपमेय** प्रधान है, **उपमान** कमल नहीं । जहाँ 'उपमेय' की प्रधानता होती है, वहाँ वाचकधर्म लुप्तोपमा अलंकार होता है ।

अतः '**पद–कमल**' का विग्रह होगा, कमल के समान **चरण** । यहाँ केवल उपमेय **पद** और उपमान **कमल** ही है । वाचक शब्द नहीं है और साधारण धर्म भी नहीं है । इसलिए यहाँ वाचकधर्म लुप्तोपमा अलंकार माना जाएगा ।

काव्यशास्त्र से सम्बद्ध एक दूसरा प्रश्न परीक्षार्थियों से मैंने **यह भी किया था** कि हिन्दी के अलकार–विधान में **प्रस्तुत–अप्रस्तुत** से क्या तात्पर्य है ?

"सीता का मुख चन्द्रमा के समान है"–इस वाक्य में प्रस्तुत और **अप्रस्तुत** क्या है ?

फिर मैंने पूछा कि "चन्द्रमा सीता के मुख के समान है"–इसमें प्रस्तुत–अप्रस्तुत क्या है ?

मेरे उपर्युक्त प्रश्नों के पूर्ण उत्तर परीक्षार्थी मौखिक परीक्षा में न दे सके थे ।

इसके उपरान्त मैंने यह भी पूछा कि निम्नांकित वाक्यों में अलंकार बताइए—

(१) "चन्द्रमा सीता के मुख के समान है"—इसमें कौन सा अलंकार है ?

(२) "चन्द्रमा सीता के मुख की क्या समानता कर सकता है, चन्द्रमा सकलंक है और सीता–मुख निष्कलंक"—इसमें कौन–सा अलंकार है ?

इन प्रश्नों के उत्तर भी परीक्षार्थी न दे सके थे ।

अन्त में परीक्षार्थियों को मैंने बताया कि "चन्द्रमा सीता के मुख के समान है"--इसमें चन्द्रमा प्रस्तुत और सीता का मुख अप्रस्तुत है। "सीता का मुख चन्द्रमा के समान है"—इसमें सीता का मुख प्रस्तुत और चन्द्रमा अप्रस्तुत है। उपमा अलंकार में परंपरित उपमान अप्रस्तुत कहलाता है; परंपरित उपमेय प्रस्तुत कहलाता है।

उपमा अलंकार का विरोधी अलंकार व्यतिरेक है और प्रतीप भी। अन्तर यह है कि व्यतिरेक उपमा के आँगन में ही रहता है और प्रतीप उपमा का उलटा है।

अर्थात् "सीता का मुख चन्द्रमा से बढ़कर है"—यह व्यतिरेक है, क्योंकि इसमें उपमेय–उपमान परंपरित है। यह उपमा के आँगन में भी है। मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार उपमेय का आधिक्य–वर्णन है। अतः व्यतिरेक है।

चन्द्रमा सीता के मुख के समान है"—यह प्रतीप अलंकार है। क्योंकि इसमें परंपरित उपमान और उपमेय उलट गये हैं।

"चन्द्रमा सीता के मुख की क्या समानता कर सकता है, चन्द्रमा सकलंक है, सीता–मुख निष्कलंक"—इसमें भी प्रतीप है।

मैंने कुछ परीक्षार्थियों से यह भी पूछा कि डा० नगेन्द्र ने कहा है कि "छाया-वाद स्थूल से सूक्ष्म का विद्रोह है"—इससे डा० नगेन्द्र का क्या तात्पर्य है ? वे छायावाद कविता के भाव और भाषा के सम्बन्ध में क्या कहना चाहते हैं ?

मेरे उक्त प्रश्न का उत्तर कोई परीक्षार्थी सन्तोषजनक रूप में न दे सका। बाद में पूरे परीक्षार्थियों को मैंने बताया कि छायावाद से अव्यवहित पूर्ववर्ती द्विवेदी-युग में हिन्दी–कविता इतिवृत्तात्मकता को लेकर चल रही थी। सारांश यह है कि स्थूल उपमेयों के लिए स्थूल उपमान प्रस्तुत किये जाते थे। 'मुख' के लिए प्रमुख रूप से 'चन्द्र' या 'कमल' उपमान ही रहते थे। छायावादी कवियों की कविता में स्थूल उपमेय के लिए सूक्ष्म उपमान प्रस्तुत किये जाने लगे। 'प्रसाद' जी की 'किरण' शीर्षक से एक कविता है। उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं—

"किरण तुम क्यों बिखरी हो आज;
रँगी हो तुम किसके अनुराग।
× × ×
धरा पर झुकी **प्रार्थना** सदृश,
मधुर मुरली–सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना
दूती–सी तुम कौन ?"
—(जयशंकर प्रसाद)

'किरण' स्थूल उपमेय है। इसके लिए प्रसाद ने '**प्रार्थना**' जैसा सूक्ष्म उप–मान प्रस्तुत किया है। पार्थिव प्रतीकों के माध्यम से अपार्थिव सूक्ष्म महान् सत्ता की ओर संकेत भी किया गया है। इसीलिए कहा गया है कि छायावाद स्थूल से

सूक्ष्म का विद्रोह है।

कुछ परीक्षार्थियों ने विशेष कवि 'प्रसाद' लिया था। उनसे मैंने पूछा कि प्रसाद जी की छायावादी और रहस्यवादी कविताओं में 'तुम' सर्वनाम से व्यक्त किये जानेवाला कौन है ? प्रसाद जी की कविताओं में जहाँ कवि स्वयं आश्रय है, वहाँ आलम्बन 'तुम' के अस्तित्व एवं व्यक्तित्व को स्पष्टतः बताइए।

मेरे प्रश्नों के उत्तर में दो-तीन परीक्षार्थियों ने बताया कि प्रसाद जी की कविताओं में आया हुआ 'तुम' परमात्मा है। दो-एक और ने भी यही उत्तर दिया।

अन्त में अर्थात् परीक्षा समाप्त हो जाने के बाद मैंने बताया कि प्रसाद जी की रहस्यवादी कविताओं में आया हुआ 'तुम' वास्तव में 'परमात्मा' का ही स्थानापन्न है। जैसे 'कामायनी' के आशा सर्ग के निम्नांकित छन्द में आया हुआ **'तुम'** निश्चित रूप से 'परमात्मा' की ओर इंगित करता है—

"हे विराट ! हे विश्वदेव ! **तुम**
कुछ हो ऐसा होता भान।
मंद गँभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।" —(कामायनी, आशा सर्ग)

लेकिन 'आँसू' काव्य में आया हुआ 'तुम' परमात्मा को इंगित नहीं करता। 'आँसू' साफ़-साफ़ प्रेम-काव्य है। 'आँसू' का 'तुम सर्वनाम निश्चित रूप से 'प्रेयसी' के लिए प्रयुक्त किया गया है। 'आँसू' की विरह-व्यथा का कोई सम्बन्ध जीवात्मा-परमात्मा से नहीं। प्रसाद जी उर्दू कवियों की भाँति प्रेमास्पद को पुंलिंग में व्यक्त किया करते थे। उन्होंने 'आँसू' काव्य में लिखा—

"शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से **तुम** आये॥" —(आँसू)

प्रसाद के 'तुम आये' का अर्थ वास्तव में 'तुम आयीं' है।

विनोदशंकर व्यास और राय कृष्णदास के कथनों को प्रमाण मानते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रसाद जी की एक प्रेयसी थी। मेरा अपना मत यह है कि 'आँसू' काव्य की सृष्टि के मूल में वही प्रेयसी है। जयनेन्द्र ने भी कहा था कि प्रेम-साहित्य की प्रेरणास्रोत प्रेयसी ही होती है, पत्नी नहीं। 'आँसू' की सृष्टि के सम्बन्ध में जयनेन्द्र का कथन सोलह आने सही माना जा सकता है। राय कृष्णदास (काशी) ने भी एक जगह लिखा है कि "**प्रसाद जी की प्रेयसी के लिए उनकी जनानी ड्योढ़ी का द्वार सदा उन्मुक्त रहा।**"

अतः सिद्ध है कि 'आँसू' का 'तुम' सर्वनाम सीधे-सीधे प्रसाद जी की प्रेयसी को संकेतित करता है।

एम० ए० (हिन्दी) परीक्षा की उस मौखिकी में जिन परीक्षार्थियों ने विशेष कवि 'सूरदास' लिया था, उनसे मैंने 'सूरसागर' के निम्नांकित पद में 'रससिद्धान्त'

के आधार पर स्थायीभाव और रस के सम्बन्ध में पूछा—

"पलना स्याम झुलावति जननी ।
अति अनुराग परसपर गावति, प्रफुलित मगन होति नँदघरनी ।।
उमँगि-उमँगि प्रभु भुजा पसारत, हरषि जसोमति अंकम भरनी ।
सूरदास-प्रभु मुदित जसोदा, पूरन भई पुरातन करनी ।।"
—(सूरसा० विक्रम परिषद काशी, खंड १, पद ४७)

परीक्षार्थियों ने इस पद में 'वात्सल्य' रस तो बताया, लेकिन स्थायी भाव न बता सके । जब मैंने पूछा कि इस पद में आश्रय-आलम्बन कौन है ? अनुभावन विभाव और व्यभिचारी क्या-क्या हैं ? कौनसा स्थायी भाव परिपक्व होकर उस संज्ञा को प्राप्त हुआ है ?

मेरे इन प्रश्नों का उत्तर किसी परीक्षार्थी ने सन्तोषप्रद रूप में नहीं दिया । एक समझदार-से परीक्षार्थी ने इतना-भर बताया कि यहाँ यशोदा आश्रय और बालक कृष्ण आलम्बन हैं ।

फिर मैंने एक प्रश्न यह भी उठा दिया कि सूरदास को तो भक्त कवि माना जाता है । प्रस्तुत पद में भक्ति भाव का प्रतिपादन किसी प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर एक भी परीक्षार्थी न दे सका था ।

अन्त में मैंने बताया कि प्रस्तुत पद में भक्ति भाव के आश्रय सूरदास हैं और सूरदास के भक्तिभाव के आलम्बन यशोदा और बालक कृष्ण हैं । यशोदा के पूर्व जन्म की करनी सफल करने के लिए सूर के प्रभु यशोदा के पुत्र बने हैं और आनन्द दे रहे हैं । सूरदास भी प्रभु की उस लीला का आनन्द ले रहे हैं । पारलौकिक सत्ता के प्रति प्रेम का नाम ही तो भक्ति है । वात्सल्यभाव की भी तो भक्ति होती है । पद के पाठक सूरदास के साथ तादात्म्य करके उस भाव की अनुभूति करते हैं ।

एम० ए० (हिन्दी) की उसी मौखिक परीक्षा में लगभग तीस परीक्षार्थियों से मैंने पूछा कि **'पत्रकारिता'** भाववाचक संज्ञा शब्द क्यों माना गया है ? जब 'मानव' से भाववाचक संज्ञा शब्द **'मानवता'** बनता है, तब **'पत्रकार'** से भाववाचक संज्ञा **'पत्रकारता'** बनना चाहिए; **'पत्रकारिता'** क्यों ? तीसों परीक्षार्थी मौन रहे ।

इकत्तीसवाँ परीक्षार्थी भी जब उत्तर न दे सका, तब मैंने बताया कि **'मनु'** में 'अण्' प्रत्यय के योग से बना हुआ **'मानव'** शब्द विशेषण है । विशेषण शब्द **'मानव'** में-**ता** प्रत्यय लगकर भाववाचक संज्ञा शब्द **'मानवता'** बना है; जैसे **'सुन्दर'** से **'सुन्दरता'** ।

समासान्त में **कार** शब्द **के** योग से जातिवाचक संज्ञा शब्द बनते हैं; **जैसे** **स्वर्णकार, चर्मकार, कुम्भकार** आदि ।

समासान्त में **'कारी'** (कारिन्) के योग से विशेषण शब्द बनता है; जैसे **'कल्याण'** से **कल्याणकारी** । 'पत्र' से **पत्रकारी** (पत्रकारिन्) विशेषण बन गया ।

पत्रकारी (पत्रकारिन्) विशेषण शब्द में–**ता** प्रत्यय के योग से भाववाचक संज्ञा 'पत्रकारिता' बन गया ।

'**अज्ञानी**' शब्द विशेषण है । 'अज्ञानी' का अर्थ है 'अज्ञानवाला' । इस विशे–षण शब्द में –**ता** प्रत्यय लगाकर भावभाचक संज्ञा शब्द बनेगा '**अज्ञानिता**' । जैसे '**पत्रकारी**' से 'पत्रकारिता' वैसे ही '**अज्ञानी**' से '**अज्ञानिता**' ।

देवता भी मूलतः भाववाचक संज्ञा है, जो '**देव**' विशेषण से बना है–
√दिव् + अच् = देव अर्थात् सम्मान्य, पूज्य ।

स्मरण रखना चाहिए कि –**ता** प्रत्यय विशेषण शब्द में लगकर भाववाचक संज्ञा बनाता है ।

'**पत्रकारिता**' शब्द का यही व्याकरणिक निर्वचन है ।

जिन परीक्षार्थियों ने वैकल्पिक प्रश्नपत्र 'भाषाविज्ञान' का लिया था, उनसे पूछा कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से '**प्रेम**' शब्द में कितने अक्षर हैं और कैसे ? '**स्नान**' शब्द में अक्षर –विभाजन कीजिए और छन्दःशास्त्र की दृष्टि से '**स्नान**' शब्द में मात्राएँ बताइए ।

इन तीन प्रश्नों के उत्तर परीक्षार्थी न दे सके थे । उनके उत्तरों से स्पष्टरूप से प्रकट हो रहा था कि परीक्षार्थी **वर्ण** और **अक्षर** का भेद नहीं जानते और न छन्दःशास्त्र के अनुसार मात्रा–गणना जानते हैं ।

मैंने उन्हें अन्त में बताया कि '**प्रेम**' और 'स्नान' शब्दों में अक्षर और वर्ण इस प्रकार हैं–

शब्द	**अक्षर**	**वर्ण**
प्रेम	—प्रे/म (दो अक्षर)	—प् + र् + ए + म् + अ (पाँच वर्ण)
स्नान	—स्ना/न (दो अक्षर)	—स् + न् + आ + न् + अ (पाँच वर्ण)

'**स्नान**' शब्द में तीन मात्राएँ हैं– '**स्ना**' में २ मात्राएँ + **न** में एक मात्रा । यदि 'स्' शब्द के मध्य में आएगा, तो एक मात्रा मानी जाएगी–**अस्त** में तीन मात्राएँ हैं–**अस्** में २ मात्राएँ और **त** में एक मात्रा । 'स्' से अव्यवहित पूर्व ह्रस्व स्वर होना चाहिए । यदि '**स्**' से पूर्व दीर्घ स्वर होगा तो 'स्' की मात्रा नहीं मानी जाएगी **आस्था** में **आस्** की २ मात्राएँ और **था** की दो मात्राएँ हैं । इस तरह '**आस्था**' में कुल चार मात्राएँ हैं ।

मात्रा–गणना का मूल आधार उच्चारण है । '**महावीरप्रसाद**' शब्द का उच्चारण संस्कृत के अनुसार है–'**महावीरप्प्रसाद**' । अतः १ + २ + २ + २ + १ + २ + १ = ११ मात्राएँ हैं ।

हिन्दी–उच्चारण '**महावीरप्रसाद**' है । अतः १ + २ + २ + १ + १ + २ + १ = १० मात्राएँ हैं ।

भाषाविज्ञानवाले परीक्षार्थियों में कुछ परीक्षार्थी ऐसे भी थे जिन्होंने विशेष

कवि 'तुलसी' लिया था। उनसे मैंने 'रामचरितमानस' की भाषा से सम्बद्ध निम्नांकित प्रश्न पूछा।

'मानस' के अयोध्या काण्ड में तुलसी ने लिखा है—

"सरल सुभाउ **राम महतारी**। **बोली** बचन धीर धरि भारी।"

—(अयो० दो० ५५/७)

उक्त अर्धाली में **राम–महतारी** स्त्रीलिंग–एकवचनीय कर्तृ पद है और क्रिया '**बोली**' भी स्त्रीलिंग एकवचन है, क्योंकि '**बोली**' क्रिया का कर्ता 'महतारी' स्त्रीलिंग–एकवचन है। यह क्रिया कर्ता के लिंगानुसार है।

लेकिन 'मानस' के अरण्यकाण्ड में तुलसी लिखते हैं—

"मरम बचन जब **सीता बोला**। हरिप्रेरित लछिमन मन डोला।"

—(अरण्य दो० २८/५)

इस अर्धाली में क्रिया **बोला** पुंलिंग एकवचनीय क्यों है; जबकि इसका कर्ता '**सीता**' स्त्रीलिंग एकवचनीय है? इस अर्धाली में कर्ता '**सीता**' के लिंग–वचन के अनुसार क्रिया क्यों नहीं है?

इस प्रश्न की गुत्थी किसी परीक्षार्थी ने नहीं सुलझायी। बाद में मैंने बताया कि हिन्दी भाषा में क्रिया के वाच्य तीन हैं—

(१) **कर्तृवाच्य**–इसमें क्रिया कर्ता के लिंगवचन के अनुसार आती है।

'**राम–महतारी बोली**' में **बोली** क्रिया कर्तृवाच्य की है, क्योंकि '**महतारी**' कर्ता के अनुसार लिंग–वचन रखती है। अर्थात् स्त्रीलिंग, एकवचन। यहाँ क्रियापद कर्ता के अनुसार है।

(२) **कर्मवाच्य**–इसमें क्रिया लिंग–वचन में कर्म के अनुसार आती है।

"सीता **मरम वचन बोला**"—इसमें कर्म **वचन** पुंलिंग–एकवचन में है। क्रिया '**बोला**' भी पुंलिंग–एकवचन में है। अतः '**बोला**' कर्मवाच्य की क्रिया है। यहाँ क्रियापद कर्तानुसार है।

(३) **भाववाच्य**–इसमें क्रिया भाव के अनुसार आती है अर्थात् न कर्ता के अनुसार, न कर्म के अनुसार, अपितु सदा एक रूप अर्थात् सदा पुंलिंग–एकवचन में रहती है। यहाँ क्रियापद कर्ता या कर्म से प्रभावित नहीं होता। "**नर** न **मरियत**," "**नारी** न **मरियत**।" "**लड़के** से नहीं **चला जाता**"; "**लड़की** से नहीं **चला जाता**।"

क्रियापद हिन्दी भाषा में दो प्रकार के हैं–(१) **तिङन्त क्रियापद** (२) **कृदन्त क्रियापद**। तिङन्त **क्रियापद** लिंग–भेद से प्रभावित नहीं होते। संस्कृत में भी यही बात है।

संस्कृत में **पठति** तिङन्त क्रियापद है। "बालकः **पठति**" और "बालिका **पठति**"–में कर्ता के लिंग–परिवर्तन से '**पठति**' में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

इसी प्रकार हिन्दी में निम्नांकित क्रियापद तिङन्त हैं—

(१) कक्षा में कह दो कि सब **बालक पढ़ें** ।

(२) कक्षा में कह दो कि सब **बालिकाएँ पढ़ें** ।

उपर्युक्त दोनों वाक्यों की क्रियाएँ **पढ़ें** ही रहीं, यद्यपि इनके कर्ताओं के लिंग परिवर्तित हैं । बालक पुंलिंग बहुवचन हैं और **बालिकाएँ** स्त्रीलिंग बहुवचन हैं ।

जब कर्ता या कर्म के लिंग–परिवर्तन के कारण क्रिया का भी लिंग–परिवर्तन हो जाता है, तब वे क्रियापद कृदन्त कहलाते हैं । 'क्रियापद' से तात्पर्य यहाँ 'समापिका क्रियापद' से है ।

(१) पुंलिंग में–**बालक बोला** ।

(२) स्त्रीलिंग में–**बालिक बोली** ।

कर्ता के लिंग–भेद से क्रियापद में लिंग–भेद हो गया । अतः **बोला, बोली** कृदन्त क्रियापद हैं ।

(१) पुंलिंग में–कमला ने **परांठा खाया** ।

(२) स्त्रीलिंग में–कमला ने **रोटी खायी** ।

कर्म 'पराँठा' पुंलिंग है, अतः क्रियापद **खाया** पुंलिंग है ।

कर्म 'रोटी' स्त्रीलिंग है, अतः क्रियापद **खायी** स्त्रीलिंग है । अतः **खाया, खायी** कृदन्त क्रियापद हैं ।

खाया, खायी क्रियापद कर्म **परांठा** और **रोटी** के लिंगानुसार हैं । इसलिए हम कह सकते हैं कि ये क्रियापद कृदन्त कर्मवाच्य में हैं ।

उपर्युक्त उदाहरणों में "बालक **बोला**" और "बालिका **बोली**" कर्ता बालक और बालिका के लिंगानुसार हैं । इन क्रियापदों को कृदन्त कर्तृवाच्य में माना जाएगा ।

इसी सिद्धान्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि तुलसीकृत 'रामचरित–मानस' में "**राम–महतारी** बचन **बोली**" में '**बोली**' क्रियापद कृदन्त कर्तृवाच्य है । "सीता मरम बचन बोला" में '**बोला**' क्रियापद कृदन्त **कर्मवाच्य है** ।

ध्यान रहे कि पूर्वकालिक कृदन्त पर लिंग का प्रभाव नहीं पड़ता–"लड़का **सोकर** उठा", "लड़की **सोकर** उठी" में '**सोकर**' पूर्वकालिक कृदन्त है, जो लिंग से अप्रभावित है ।

भाषाविज्ञान के उन परीक्षार्थियों से मैंने यह भी पूछा–हिन्दी का एक वाक्य है—

"गोपाल ने आम मोल लिया"—गोपाल ने तो मोल (मूल्य) दिया है और उसके बदले में आम लिया है । फिर वाक्य में '**मोल लिया**' क्यों है ?

इस प्रश्न का उत्तर कोई परीक्षार्थी न दे सका । परीक्षा की समाप्ति के बाद आन्तरिक परीक्षक ने जिज्ञासा भाव से पूछा कि "गोपाल ने आम मोल लिया"—वाक्य में '**मोल लिया**' का प्रयोग क्यों है, जब कि मोल दिया गया है । इसे तो मैं

भी नहीं जानता ।

मैंने साथी परीक्षक से कहा कि मित्र आपका प्रश्न श्रद्धापूर्ण जिज्ञासा सहित है । इस प्रकार के प्रश्न को भगवान् श्रीकृष्ण ने 'गीता' में 'परिप्रश्न' बताया है । 'परिप्रश्न' ज्ञान–प्राप्ति का एक प्रमुख साधन है । मैं आपको इस वाक्य का रहस्य बताता हूँ ।

हिन्दी में अनेक वाक्य ऐसे हैं, जिनमें कारकीय परसर्ग लुप्त रहते हैं; –"**मैंने न आँखों देखा, न कानों सुना ।**" इस वाक्य को अर्थबोध की दृष्टि से इस प्रकार समझना चाहिए–"मैंने न **आँखों से** देखा न **कानों से** सुना ।" प्रथम वाक्य में करण कारकीय परसर्ग से लुप्त है ।

ठीक उसी प्रकार अर्थबोध की दृष्टि से समझना चाहिए कि "गोपाल ने आम मोल से लिया"– '**से**' परसर्ग लुप्त हो गया और फिर वाक्य बन गया" "**गोपाल ने आम मोल लिया ।**"

भाषाविज्ञान के परीक्षार्थियों में एक परीक्षार्थी ऐसा था जो संस्कृत व्याकरण से शास्त्री कर चुका था और एम० ए० (हिन्दी) द्वितीय खंड का परीक्षार्थी था । मैंने उससे पूछा कि हिन्दी में कुछ लेखक '**व्यक्तित्व और कृतित्व**' लिखते हैं और कुछ '**व्यक्तित्व और कर्तृत्व**' । **कृतित्व** और **कर्तृत्व** शब्दों का निर्माण कैसे हुआ है और इन दोनों शब्दों का क्या अर्थ है ?

उस परीक्षार्थी ने यह तो बताया कि '**कर्तृ**' मूल शब्द है और इसमें '**त्व**' प्रत्यय लगा है । यह भावसूचक प्रत्यय है । इसका अर्थ है 'कर्तापन' । लेकिन वह '**कृतित्व**' के विषय में कुछ न बता सका ।

मैंने उस परीक्षार्थी से कहा, "तुम तो संस्कृत–व्याकरण में शास्त्री' हो । क्या तुम नहीं जानते कि √कृ धातु में **क्त** प्रत्यय के योग से **कृत** (=किया हुआ) विशेषण बन गया ? **क्त** निष्ठा का प्रत्यय है, जिसके योग से बना हुआ विशेषण संज्ञा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । **स्मित, जीवित, गीत, इंगित** आदि शब्द विशेषण भी हैं और संज्ञा भी । ये चारों **क्त** प्रत्यय के योग से बने हैं । '**स्मित**' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) हँसा हुआ (२) हँसी । उसी तरह '**कृत**' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) किया हुआ (२) कर्म, कार्य । 'कार्य' अर्थ वाले '**कृत**' संज्ञा शब्द में–**इनि** प्रत्यय लगकर 'कृतिन्' शब्द बन गया । '**कृतिन्**' विशेषण में **त्व** प्रत्यय के योग से **कृतित्व** शब्द बन गया । अर्थ है 'कृतीपन' । **कर्ता**=करनेवाला । **कृती**=कर्मवाला, करने–वाला । इस तरह **कर्तृत्व** और **कृतित्व** समानार्थी हैं ।"

भाषाविज्ञान के परीक्षार्थियों से मैंने यह भी पूछा कि गणतंत्रीय स्वतंत्र भारत का संविधान कब लागू हुआ था और उस भारतीय संविधान में हिन्दी को **राजभाषा** कब स्वीकार किया गया ?

मेरा एक प्रश्न यह भी था कि हिन्दी और हिन्दुस्तानी के पक्ष में जब संवि-धान–सभा में मत लिये गये, तब हिन्दी और हिन्दुस्तानी को कितने–कितने मत मिले

थे ? हमारी हिन्दी की विजय किसके मत से हुई थी ?

इन प्रश्नों के उत्तरों में केवल एक परीक्षार्थी ने बताया कि १४ सितम्बर, १९४९ ई० को हिन्दी **राजभाषा** घोषित हुई थी। अन्य प्रश्न अनुत्तरित ही रहें।

शेष प्रश्नों के उत्तरों में मैंने बताया कि दिनांक २६-१-१९५० ई० को गणतंत्रीय भारत का संविधान लागू हुआ था। संविधान सभा में हिन्दी के पक्ष में ३३ **मत** और हिन्दुस्तानी के पक्ष में **३२ मत** आये थे। हिन्दी के पक्ष में पं० कमलापति त्रिपाठी के कारण एक मत की वृद्धि हुई थी। मतदान से पहले पंडित त्रिपाठी हिन्दुस्तानी समर्थकों के पक्ष में बैठे थे, फिर वे हिन्दी–समर्थक–पक्ष में आ गये थे। तभी हिन्दी की विजय हुई। केवल एक मत से। पं० कमलापति त्रिपाठी पर अंतिम क्षण में राजर्षि टंडन का जादू काम कर गया।

एक प्रश्न मैंने यह भी किया कि कवर्गीय दूसरा अक्षर **ख** है। देवनागरी लिपि में अब इस ख को किस प्रकार सुधारा गया है, ताकि यह **रव** न पढ़ाजाए। इसे कोई न बता सका था।

मैंने बताया कि वर्तमान में देवनागरी लिपि का नया टाइप प्रेसों में आ गया है। अब '**रवरगोश**' शब्द को देवनागरी लिपि में '**खरगोश**' छापा जाता है। सारांश यह है कि कवर्ग के द्वितीय अक्षर की घुंडीदार नीचे की ओर जानेवाली वक्र रेखा के सिरे को लम्बवत् डंडे के नीचे के सिरे से मिला दिया जाता है, ताकि कवर्ग के द्वितीय अक्षर को **रव** न पढ़ा जा सके। वर्तमान देवनागरी लिपि का अक्षर '**ख**' है।

वाच्यार्थ की अवगति के लिए व्याकरण और अन्तःकथाओं का ज्ञान आवश्यक है

शिव जी की प्रार्थना से सम्बद्ध एक छन्द के दो चरण इस प्रकार हैं—

"स्मरच्छिदं पुरच्छिदं भवच्छिदं मखच्छिदं
गजच्छिदान्धकच्छिदं तमन्तकच्छिदं भजे।"

—(शिवताण्डव स्तोत्र, छन्द ९)

रावण शिव जी की प्रार्थना करते हुए कहता है कि मैं उन शिव को भजता हूँ, जो **स्मरच्छिद्** आदि हैं।

पाठक को पहले तो 'स्मरच्छिदं' पद में सन्धि, समास, कारक, वचन आदि का ज्ञान होना चाहिए। '**स्मरच्छिदं**'=कामदेव नाशक को (तत्पुरुष समास)।

उपर्युक्त पंक्तियों में शिव जी के सात विशेषण दिये गये हैं—

(१) **स्मरच्छिद्**=कामदेव-नाशक। (२) **पुरच्छिद्**=त्रिपुरनाशक। (३) **भवच्छिद्**=संसारनाशक। (४) **मखच्छिद्**=दक्ष-यज्ञनाशक। (५) **गजच्छिद्**–

हाथी के नाशक। (६) अन्धकच्छिद्=अन्धकासुरनाशक। (७) अन्तकच्छिद्=काल नाशक।

इतना जानने के उपरान्त उस पाठक को शिव जी के जीवन से सम्बद्ध उन अन्तःकथाओं की जानकारी होनी चाहिए कि हर ने कामदेव, त्रिपुर, संसार, यज्ञ, हाथी, अन्धकासुर और काल का नाश कब और क्यों किया था ?

उन अन्तःकथाओं की अवगति के उपरांत ही उपर्युक्त दोनों पंक्तियों का वाच्यार्थ पूरी तरह समझ में आ सकता है।

वाच्यार्थ पर ही अन्य प्रकार के अर्थ आश्रित रहते हैं।

व्याकरण भाषा से तब हार मान जाता है

किसी भाषा को बोलनेवाली जनता तथा उस भाषा के साहित्यस्रष्टा जब अधिसंख्यक रूप में किसी शब्द को अपने ढंग से बोलने तथा लिखने लगते हैं, तब वह गलत शब्द भी सही माना जाता है, भले ही व्याकरण उसे ग़लत बताता रहे। व्याकरण की तब कोई नहीं सुनता। हिन्दी में ऐसे दो शब्द हैं, जो व्याकरणिक दृष्टि से ग़लत होने पर भी साहित्य की भाषा में सही माने जाते हैं। वे हैं **जागृति** और **चिन्ह**।

वास्तव में संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'जागरण' के अर्थ में भाववाचक संज्ञा शब्द **'जागर्ति'** (√जागृ+क्तिन्) है। इसे शत-प्रतिशत हिन्दी-लेखक **'जागृति'** लिख रहे हैं। शुद्ध **'चिह्न'** शब्द को **'चिन्ह'** लिख रहे हैं। हिन्दी भाषा में **जागृति** और **चिन्ह** अब सही माने जाते हैं। व्याकरण इनके मामले में हार गया है।

हिन्दी में **'सृजन'** शब्द का प्रयोग दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। संस्कृतनिष्ठ प्रांजल एवं परिष्कृत हिन्दी भाषा लिखनेवाले हिन्दी-लेखक भी 'सृजन' शब्द अपनी कृतियों में धड़ल्ले से लिख रहे हैं।

जिन लेखकों से मैं अधिक सम्बद्ध हूँ या अधिक परिचित हूँ, उन्हें पत्र लिखता हूँ कि बन्धुवर ! शुद्ध शब्द तो **सर्जन** है; **विसर्जन** भी शुद्ध है। √सृज् धातु में ल्युट् प्रत्यय का योग होने पर गुण हो जाता है। अतः √सृज्+ल्युट्=सर्जन। आप अशुद्ध **'सृजन'** क्यों लिखते हैं ?

मैं उन्हें पत्र ही लिख सकता हूँ, प्रतिक्षण प्रत्येक के पीछे-पीछे घूम तो नहीं सकता। विवश होकर मेरे अन्तस् का वैयाकरण चुप होकर बैठ जाता है। क्या किया जाए—"महाजनो येन गतः स पन्थाः।" मेरे कुछ मित्रों ने मुझे पत्र लिखे हैं कि हिन्दी में 'सृजन' भी ठीक है। हमने कई पुस्तकों में 'सृजन' छपा देखा है। उनसे मैं क्या कहूँ ? पुस्तकों में यदि कोई शब्द अशुद्ध छप जाए, तो क्या वह शुद्ध माना जाएगा।

साहित्यिक और साहित्यकार

व्याकरण कहता है कि 'साहित्य' शब्द से विशेषण शब्द 'साहित्यिक' बनता है और 'साहित्यिक' का अर्थ है 'साहित्यसम्बन्धी'। 'उपन्यास' से बने औपन्यासिक का अर्थ है, उपन्याससम्बन्धी। यह भी विशेषण है। जैसे साहित्यिक कृति, औपन्यासिक ग्रन्थ आदि।

कुछ हिन्दी-लेखक 'साहित्यकार' के अर्थ में 'साहित्यिक' का और 'उपन्यासकार' के अर्थ में 'औपन्यासिक' का प्रयोग करने लगे हैं। इसी प्रकार कुछ लेखक 'विज्ञानवेत्ता' के अर्थ में 'वैज्ञानिक' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं।

यदि इन शब्दों का प्रयोग भविष्य में निरन्तर बढ़ता रहा और लगभग ८० प्रतिशत हो गया, तो फिर साहित्यिक, औपन्यासिक, और वैज्ञानिक शब्द साहित्यकार, उपन्यासकार और विज्ञानवेत्ता के पूर्णतः पर्यायवाची हो जाएँगे। व्याकरण हार मान बैठेगा।

X X X

आज हिन्दी का व्याकरण शुद्ध वाक्य-रचना के लिए निम्नांकित व्यवस्था देता है—

(१) तुम्हें एक ग्रन्थ खरीदना चाहिए।

(२) तुम्हें दस ग्रन्थ खरीदने चाहिए।

(३) तुम्हें एक पुस्तक खरीदनी चाहिए।

(४) तुम्हें दस पुस्तकें खरीदनीं चाहिए। (लेखक खरीदनीं नहीं लिखते।)

आज-कल हिन्दी की जितनी पुस्तकें छपरही हैं, उनमें से ९९ प्रतिशत पुस्तकों में हमें "दस पुस्तकें खरीदनी चाहिए" लिखा मिला है। मेरे साथी हिन्दी के कई आचार्य "पुस्तकें खरीदनी चाहिए" को शुद्ध मानते थे और वैसा लिखते भी थे।

मेरा यह कहना है कि यदि 'पुस्तकें खरीदनी चाहिए' जैसा प्रयोग ही निरन्तर चलता रहा, तो पचास वर्ष बाद लिखा जानेवाला हिन्दी-व्याकरण "पुस्तकें खरीदनी चाहिए" को शुद्ध वाक्य मानने के लिए व्यवस्था दे देगा।

आज का हमारा हिन्दी-व्याकरण व्यवस्था देता है कि अकारान्त पुंलिंग जातिवाचक संज्ञा शब्द सम्बोधन के बहुवचन में -ओकारान्त हो जाता है। जैसे—

(१) प्यारे बच्चे ! तू उस मैदान में खेल।

(२) प्यारे बच्चो ! तुम उस मैदान में खेलो।

आज हमारे कुछ राजनीतिक नेता अपने भाषणों में 'मेरे प्यारे बच्चों' सम्बोधन में कहने लगे हैं। यदि यह 'बच्चों' सम्बोधन का प्रयोग पचास प्रतिशत से अधिक हो गया, तो हिन्दी का व्याकरण 'बच्चों' सम्बोधन को साधु प्रयोग मानेगा।

जब से हिन्दी भाषी जनता ने दूरदर्शन पर धारावाहिक 'महाभारत' फिल्म

देखी है, तब से बहुत से फिलमनिर्माता अपनी फिल्मों के पात्रों से **'माता'** के लिए सम्बोधन में **'हे माते !'** कहलवाने लगे हैं। 'माते !' का प्रयोग बढ़ गया, तो यह अशुद्ध प्रयोग **'माते !'** शुद्ध माना जाने लगेगा।

हिन्दी में भविष्यत् काल की क्रिया **'होगा'** को सभी हिन्दी लेखक एक शिरो-रेखा में **'होगा'** लिखते हैं। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी अपने 'हिन्दी शब्दानु-शासन' के माध्यम से हिन्दी लेखकों से कहते रहे कि **'गा'** को **'हो'** से पृथक लिखा जाना चाहिए। आचार्य वाजपेयी **'हो गा'** को शुद्ध कहते रहे और हिन्दी जनता **'होगा'** लिखती रही; आज भी लिख रही है। **'हो गा'** कोई नहीं लिखता।

बाबू रामचन्द्र वर्मा (काशी) ने 'अच्छी हिन्दी' के माध्यम से बताया कि "**यह सोचना मूर्खता होगा**" वाक्य शुद्ध है। लेकिन आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' के माध्यम से बताया कि कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ जब उद्देश्य–रूप से हों, तो क्रिया विधेय के अनुसार रहती है। सारांश यह कि आचार्य वाजपेयी कहते हैं कि "**यह सोचना मूर्खता होगी**" वाक्य शुद्ध है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हिन्दी में किस वाक्य को शुद्ध माना जाना चाहिए। भविष्य का अधिसंख्यक प्रयोग ही इसका निर्णय करेगा। वर्तमान व्याकरण और वैयाकरण हार जाएँगे।

'अच्छी हिन्दी' में बाबू रामचन्द्रवर्मा ने बताया कि हिन्दी में **जो** के उत्तर में **तो** और **जब** के उत्तर में **तब** आना चाहिए। **जब** के उत्तर में **तो** का प्रयोग अशुद्ध है। "**जब** गोपाल आ गया, **तो** हरी चल दिया" वाक्य में **तो** प्रयोग अशुद्ध है। **'तो'** के स्थान पर 'तब' होना चाहिए।

हिन्दी के अधिसंख्यक लेखक **जब** के उत्तर में **तो** लिख रहे हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तकों में मैंने **जब** के उत्तर में **तो** का प्रयोग देखा है। इतना ही नहीं आचार्य किशोरीदास वाजपेयी भी अपने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में **'जब'** के उत्तर में **तो** लिखते हैं—"कृदन्त भाववाचक संज्ञाएँ **जब** उद्देश्य–रूप से हों, **तो** क्रिया विधेय के अनुसार रहती है।"—(हिन्दीशब्दानुशासन, संवत् २०१४ वि०, पृ० ३६३)

ऐसी समस्याओं का समाधान हिन्दी की जनता तथा हिन्दी के लेखकों के बहुल प्रयोग ही भविष्य में करेंगे। वर्तमान हिन्दी–व्याकरण की कुछ न चलेगी।

कहा जाता है कि आदमी गलतियों का पुतला है। इसके साथ-साथ मैं तो यह कहूँगा कि हिन्दी का कच्चा अध्यापक लेखक बनकर ग़लत शब्द–लेखन का पुतला बन जाता है।

लक्षणा और मेरी मान्यता

संस्कृत के प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने लक्षणा के दो भेद किये हैं—

(१) **जहत्स्वार्था लक्षणा** (२) **अजहत् स्वार्था लक्षणा**। मेरा मत यह है कि 'जहत् स्वार्था' नाम की कोई लक्षणा नहीं होती। प्रत्येक लक्षणा अभिधा पर आश्रित होती है। प्रत्येक लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ निहित रहता है, भले ही उस वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ अतिदूरगामी हो।

वाच्यार्थ का सम्बन्ध लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ से अवश्य रहता है। यह बात अलग है कि पाठक उस सम्बन्ध को जल्दी समझ न सके।

तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के अयोध्याकाण्ड में माता कौशल्या की वाणी के माध्यम से कहा--

"लिखत सुधाकर **गा लिखि** राहू।
बिधि गति बाम सदा सब काहू॥" —(मानस, अयो॰ ५५/२)

"लिखत सुधाकर गा लिखि राहू" का लक्ष्यार्थ है कि विधाता इष्ट करते–करते अनिष्ट कर बैठा।

इस लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध वाच्यार्थ से किस प्रकार है—इसे प्रत्येक पाठक नहीं समझ सकता।

ज्योतिष में चन्द्रमा को नीचे की ओर झुके हुए अर्ध वृत्त से चिह्नित किया जाता है। जैसे ‿=सुधाकर। यदि इस अर्धवृत्त के दाहिने सिरे पर बिन्दु–सा बना दिया जाए तो वह राहू का चिह्न बन जाता है। जैसे ᔕ = राहू।

ब्रह्मा चन्द्रमा बना रहा था, लेकिन उसके दाहिने सिरे पर बिन्दी रख बैठा अर्थात् चन्द्रमा बनाते–बनाते राहू बना गया। कौशल्या माता कहती हैं, कि विधाता की चाल सदा सबके लिए टेढ़ी होती है।

इस वाच्यार्थ को समझने के उपरान्त लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध पूरी तरह आ सकता है।

'जहत्स्वार्था लक्षणा' में भले ही 'वाच्यार्थ' अपने में सफल न हो, फिर भी वाच्यार्थ इतना तो अपना अस्तित्व रखता ही है, कि उसकी सहायता से ही लक्ष्यार्थ अपने अर्थ को व्यक्त कर पाता है।

वाल्मीकि रामायण की सीता जी गंगा की पार पर खड़ी हुई लक्ष्मण से कहती हैं, "लक्ष्मण ! मेरी ओर से तुम **महात्मा राम** से यह पूछ लेना कि मुनिजन जब मुझसे मेरे वनवास का कारण पूछेंगे, तब मैं उन्हें अपना कौनसा अपराध बताऊँगी ?"—

"कस्मिन् वा कारणे त्यक्ता राघवेण **महात्मना**" (वाल्मी०, उत्तर० ४८/७)

'महात्मा' शब्द का जो वाच्यार्थ है, वह सीता जी द्वारा कहेहुए **'महात्मा'** शब्द का नहीं है। श्लोक के 'महात्मा' शब्द में 'विपरीतलक्षणा' है। फिर भी उस विपरीत लक्षणा की अर्थावगति में 'महात्मा' शब्द का वाच्यार्थ कुछ सहायता अवश्य कर रहा है।

महात्मा गांधी के पतले–दुबले शरीर में अपार साहस अधिष्ठान देखकर एक

हिन्दी–कवि ने लिखा था—

"तीन हाथ देह पै हज़ार हाथ छाती है।"

यह माना कि किसी तीन हाथ देह वाले मनुष्य की छाती हज़ार हाथ की नहीं हो सकती, फिर भी इसके लक्ष्यार्थ में कुछ सहायता वाच्यार्थ अवश्य कर रहा है। शुद्ध 'जहत्स्वार्थालक्षणा' वास्तव में होती नहीं। यह मेरा अपना मत है।

प्रश्न लक्षणा का नहीं है, 'ध्वनि' भी वाच्यार्थ से सम्बद्ध है।

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के सुन्दरकाण्ड में एक प्रसंग है। जब हनूमान् जी सीता जी से चूड़ामणि लेकर आ गये हैं और उसे श्रीराम जी को अर्पित कर चुके हैं। तब श्रीराम जी सीता जी के जीवन–यापन के विषय में हनूमान् जी से पूछते हैं। हनूमान् जी कहते हैं—

"नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु **जनककुमारी**॥"

—(रामचरितमा०, सुन्दर० ३१/२)

उपर्युक्त अर्द्धाली में हनूमान् जी ने '**जनककुमारी**' ही क्यों कहा सीता जी के लिए? वे यह भी कह सकते थे—

"बचन कहे कछु मातु हमारी।" सीता जी हनुमान् के लिए माता थीं भी।

कवि की शब्द–साधना की ऊँचाई ऐसे अवसरों पर ही तो अधीती पाठकों को मालूम पड़ती है।

हनूमान् जी अपने प्रभु श्रीराम से संकेतात्मक भाषा में यह कह रहे हैं कि प्रभो! जनकपुर में विवाह–मंडप के नीचे राजा जनक ने अपनी पुत्री जानकी का हाथ आपके हाथ में दिया था। तब आपने सीता के संपूर्ण जीवन के दुःख–सुख का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया था। क्या आप उस उत्तरदायित्व को भूल गये? आपके होते हुए जनककुमारी सीता जी लंका में आँसू बहा रही हैं। आपको अपने उस उत्तरदायित्व को शीघ्र पूरा करना चाहिए।

'**जनककुमारी**' शब्द की यह 'ध्वनि' भी वाच्यार्थ पर ही निर्भर है।

उपमा–रूपक अलंकारों का महत्त्व कब है?

भाषा में जब उपमा–रूपक अलंकार बिम्बात्मकता तथा रसात्मकता उत्पन्न करते हैं, तभी उनका महत्त्व है, अन्यथा वे भाषा के लिए बोझ हैं।

एक प्रेमी की उक्ति है प्रेमास्पद के प्रति—

"तुझमें समाऊँ इस तरह तन–प्राण का जो तौर है,
फिर न कोई यूँ कहे मैं और हूँ, तू और है।"

अपभ्रंश भाषा में एक दूहा है। उसमें प्रेमिका प्रियतम के प्रति कहती है, "हे प्रिय! जैसे पानी नये कसोरे में प्रविष्ट हो जाता है, उसी तरह सर्वांगीण रूप से मैं

तुझ में समा–जाना चाहती हूँ।"—

"पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गे पइसीसु।"

—(हेम० शब्दा० ८/४/३९६/४)

अपभ्रंश के कवि ने कसोरे में पानी के प्रवेश की बात कहकर रति भाव को कमाल की बिम्बात्मकता प्रदान की है। यह कथन 'तन–प्राण के तौर' से बाज़ी मार ले गया है। कसोरा–पानी की उपमाएँ चाक्षुष–स्पर्श–बिम्ब हैं।

शब्द-शक्तियाँ अथवा शब्दार्थ–सम्बन्ध की शक्तियाँ

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना को शब्द की शक्तियाँ बताया है। ये शब्द की शक्तियाँ नहीं हैं, अपितु शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध की शक्तियाँ हैं।

सच्चा साहित्यकार शब्द की शक्ति को भी समझता है और अर्थ की शक्ति को भी। कविता में अकेले शब्द भी भाव की अभिव्यक्ति करते हैं और अकेला अर्थ भी भाव की अभिव्यक्ति करता है।

लक्ष्मण ने श्रीराम को भरत के आगमन की सूचना दी। सूचना सुनते ही श्रीराम की क्रिया से जो वेगवती शीघ्रता का भाव व्यक्त होना चाहिए, उसे तुलसी मात्र शब्दों द्वारा ही बतलाते हैं—

"उठे रामु सुनि पेम अधीरा।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥"

—(रामचरितमा०, अयो० २४०/८)

उक्त अर्धाली के द्वितीय चरण के शब्दों के ह्रस्व अक्षर ही शीघ्रता का भाव प्रकट कर रहे हैं।

निम्नांकित कविता–पंक्ति को अर्थ द्वारा क्रिया की शीघ्रता के भाव की अभिव्यक्ति हो रही है—

"जौ लौं एक फन कौं उठावत है नाग काली,
तौ लौं वनमाली सहसफन पै फिरत है।"

घनाक्षरी आक्षरिक छन्द है

छन्दःशास्त्र के कुछ आचार्यों ने घनाक्षरी को वर्णिक छन्द कहा है। वर्ण और अक्षर की अवधारणा में अन्तर है। अक्षर एकस्वरिक होता है। 'क्' बर्ण है और **क** (क+अ) अक्षर है। घनाक्षरी में अक्षर–गणना होती है, वर्ण–गणना नहीं। अतः हमें 'घनाक्षरी' को **आक्षरिक छन्द** कहना चाहिए।

भावी हिन्दी का रूप

भारतीय स्तर पर हिन्दी भाषा में कुछ प्रयोग ऐसे चल रहे हैं कि हिन्दी का वर्तमान व्याकरण एक निश्चित निर्णय देने में असमर्थ है, क्योंकि व्याकरण भाषा का अनुगामी है और कभी-कभी वह भाषा रूपी नदी के तटबन्ध का भी काम करता है। हिन्दी में आज से पहले लिखे हिन्दी-व्याकरण निम्नांकित प्रयोगों को साधु मानते हैं—

(१) **लड़को** ! तुम यह काम करो। (२) **मुझे** आज नहीं पढ़ना।
(३) तुम **मुझको** दस रुपये दे दो। (४) कमला ने **ही** शीशा तोड़ा है।
(५) मैं तो **बड़ा आम** लूँगा। (६) देवकी पर **भी** दोष आएगा।

उपर्युक्त वाक्य आज की हिन्दी में इस तरह भी बोले जा रहे हैं—

(१) **लड़कों** ! तुम यह काम करो। (२) **मैंने** आज नहीं पढ़ना।
(३) तुम **मेरे को** दस रुपये दे दो। (४) कमला **ही** ने शीशा तोड़ा है।
(५) मैं तो **बड़ेवाला** आम लूँगा। (६) देवकी **भी** पर दोष आएगा।

उपर्युक्त पद-प्रयोग यदि हिन्दी भाषी जनता में बहुमत में प्रयुक्त होने लगे, तो हिन्दी के व्याकरण को इन्हें भी साधु प्रयोग मानना पड़ेगा। **विद्यार्थी-परिषद्** और **महानता का कार्य** हिन्दी में साधु प्रयोग हैं।

भाषा के प्रवाह को व्याकरण नहीं रोक सकता। प्रत्येक भाषा के व्याकरण पचास वर्ष बाद नये लिखे जाने चाहिए।' क्योंकि पचास वर्ष में पद-प्रयोग बहुत-कुछ परिवर्तित हो जाते हैं। कुछ काल तक दो-दो प्रयोग चलते रहते हैं और फिर कुछ कालोपरान्त उनमें से एक प्रयोग आगे निकल जाता है। उस अग्रगामी प्रयोग को व्याकरण अपनी स्वीकृति देता ही है। संक्रान्ति काल में दुहरे प्रयोग चलते रहते हैं। जैसे—(१) **तुम में** लड्डू कौन खाएगा ? (२) **तुम में से** लड्डू कौन खाएगा ?

मेरा जन्म-प्रदेश और हिन्दी

इन पंक्तियों को मैं नौम्बर, सन् १९९१ ई० में लिखरहा हूँ। इस समय मेरे जन्म-प्रदेश अर्थात् उत्तरप्रदेश में भारतीय जनता पार्टी का शासन है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्वहिन्दू परिषद् तथा भारतीय जनता पार्टी हिन्दी तथा हिन्दू-संस्कृति की पक्षधर रही है। आश्चर्य है कि भारतीय जनता पार्टी के शासन-काल में भी उत्तरप्रदेश के सरकारी कार्यालयों में अनिवार्य रूप से राजभाषा हिन्दी में कार्य नहीं हो रहा। पूर्ववर्ती समय में उत्तरप्रदेश के सरकारी कार्यालयों में हिन्दी का जो अनिवार्य प्रचलन हुआ था, उसमें भी अब शिथिलता आने लगी है। दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार के लिए भाजपा ने मौन धारण कर लिया है। उत्तर प्रदेश के विश्व-विद्यालयों के अधिसंख्यक हिन्दी एम. ए. उत्तीर्ण छात्र हिन्दी में शुद्ध आवेदनपत्र नहीं

लिख सकते । अंग्रेज़ी माध्यमवाली शिक्षा–संस्थाओं पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता, जबकि भारतीय संविधान के अनुसार प्राथमिक शिक्षा बालकों को उनकी मातृभाषा में ही दी जानी चाहिए ।

दक्षिण भारत में प्रवास–काल और हिन्दी के लिए अलख–जगाना

सन् १९६४ ई० से १९६६ ई० तक मैंने मद्रास में रहकर दक्षिण भारत में हिन्दी का अलख जगाया था । वहाँ भाषा और साहित्य की सभाओं में कभी-कभी मैं कुछ वक्ताओं के मुख से हिन्दी भाषा के लिंग–विधान से सम्बद्ध दोष–दर्शी भाषण भी सुनता था । तब मैंने वहाँ की तमिल भाषा के लिंग–विधान को भी पढ़ा था और उसके दोष भी मालूम किये थे ।

मैं दक्षिण भारत की हिन्दी–विरोधी सभाओं में प्राय: कहा करता था कि आप लोग संस्कृत के तीन लिंग, अंग्रेज़ी के चार लिंग, अरबी के दो लिंग और फ़ारसी के दो लिंग तो सहन कर लेते हैं; लेकिन हिन्दी के दो लिंग सहन नहीं कर सकते । आप संस्कृत में कैसे जान लेते हैं कि **'ग्रंथ'** शब्द संस्कृत में पुंलिंग और **'पुस्तक'** नपुंसक लिंग है । अरबी में **'ज़िक्र'** पुंलिंग और **'फ़िक्र'** स्त्रीलिंग है, क्यों ? फारसी में **ज़हर** पुंलिंग है और **नहर** स्त्रीलिंग है, क्यों ? इनके लिंग कैसे मालूम करते हैं ? हिन्दी में तो फिर भी लिंग–नियमों में बहुत कम अपवाद हैं ।

तमिल में सप्तमी विभक्ति में शब्दान्त में – **इल** प्रत्यय लगता है । 'वृक्ष' के अर्थ में तमिल में मूल शब्द **मरम** है । **'वृक्ष पर'** के अर्थ में पद होना चाहिए 'मर-मिल'; लेकिन भाषा में **मरत्तिल** होता है, क्यों ?

मेरी इन बातों को सुनकर मद्रास के हिन्दी–विरोधी चुप तो हो जाते थे; लेकिन कुछ कसमसाते भी रहते थे और कंधे उचकाते रहते थे ।

मैं उनसे कहता था कि हिन्दी में कुल आधारभूत धातुएँ पाँच सौ हैं । इनमें **होना**, **करना** और **बनाना** तो ऐसी सामान्य क्रियाएँ हैं कि इनसे हमारा काम चल जाता है ।

अंग्रेज़ी में 'देखना' के अर्थ में कुल आठ शब्द हैं—(१) **सी** (See) (२) **बिहोल्ड** (Behold) (३) **लुक** (Look) (४) **परसीव** (Perceive) (५) **ऑबज़र्व** (Observe) (६) **वाच** (Watch) (७) **टेक** (Take) (८) **नोटिस** (Notice) । सूरदास के ग्रन्थों में तो 'देखना' के अर्थ में बारह क्रियाओं का प्रयोग किया गया है । शेक्सपियर के ग्रन्थों में कुल आधारभूत शब्द ८००० हैं; लेकिन तुलसीदास के ग्रन्थों में १७००० हैं । अंग्रेज़ी में **पतिव्रता**, **ब्रह्मचर्य**, **प्रत्याहार**, **समाधि** आदि के लिए कोई शब्द नहीं ।

तुलसी और पुराणों के सम्बन्ध में

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के अध्ययन के उपरान्त मेरी यह उपस्थापना है कि 'मानस' की अर्धालियों में अनेक अर्धालियाँ पुराणों के कथनों का छायानुवाद हैं। अठारह महापुराणों में सर्वाधिक प्राचीन महापुराण **ब्रह्माण्ड पुराण** है और अध्यात्म-रामायण' इसी महापुराण का अंश है। तुलसी के 'मानस' पर 'अध्यात्म रामायण' के कथानक और दर्शन का प्रभाव है। रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत दर्शन ही 'अध्यात्म रामायण' का दर्शन है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म विशिष्ट अद्वैत है अर्थात् **जीव** और **जगत् ब्रह्म** के ही अंश हैं। **जीव, जगत्** और **ब्रह्म** तीनों अनादि हैं। **ब्रह्म** विशेष्य है और **जीव** और **जगत्** उस ब्रह्म के विशेषण हैं। अतः ब्रह्म विशिष्ट अद्वैत है। कुछ थोड़े-से अन्तर से ऋषि दयानन्द का त्रैतवाद भी विशिष्टाद्वैत दर्शन से मेल खाता है। १८ महापुराणों में भक्ति प्रतिपादक 'श्रीमद्‌भागवत महापुराण' का महत्त्व सर्वाधिक है। भागवत का प्रतिपाद्य नवधाभक्ति है अर्थात् (१) **श्रवण** (२) **कीर्तन**, (३) **स्मरण**, (४) **पादसेवन**, (५) **अर्चन**, (६) **वंदन** (७) **दास्य**, (८) **सख्य** (९) **आत्मनिवेदन**। इनमें १,४,५, और ६ कायिका भक्ति, २ वाचक भक्ति और ३,७,८ और ९ मानसिक भक्ति हैं।

इस नवधा भक्ति की कथा शुकदेव जी ने अभिमन्यु के पुत्र राजा परीक्षित को सुनायी थी, सात दिन में। ऋषि शमीक के पुत्र श्रृंगी ऋषि ने परीक्षित् को शाप दिया था कि जिसने मेरे पिता के गले में मरा साँप डाला है, उसे सातवें दिन तक्षक नाग डसेगा और फिर उसकी मृत्यु हो जाएगी।

व्यास जी सत्यवती–पराशर के पुत्र थे और उन व्यास के पुत्र शुकदेव थे। शुकदेव जी से भागवत की कथा रोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सूत ने सुनी थी और फिर वह कथा उग्रश्रवा सूत जी ने नैमिषारण्य में अठासी हज़ार शौनकादि ऋषियों को सुनायी थी। नैमिषारण्य (नीमसार मिसरिख) का विश्वविद्यालय संसार का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय था। उसमें अठासी हज़ार विद्यार्थी थे। उन अठासी हज़ार विद्यार्थियों ने व्यास जी के प्रिय शिष्य सूत जी से ही पुराणों की कथाएँ सुनी थीं और फिर जनता को सुनायी थीं।

व्यास जी के शिष्य वैशंपायन थे और वैशंपायन के शिष्य उग्रश्रवा सूत थे। सूत जी ने वैशंपायन से महाभारत की कथा भी सुनी थी।

तुलसीदास जी के साहित्य में पंचदेवों (विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य) की उपासना का महत्त्व है। स्मार्त पंचदेव–उपासक हैं। यह उपासना पुराणों में भी वर्णित है। पुराणों में शिव को विष्णु का और विष्णु को शिव का भक्त बताया गया है। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की समन्वय–भावना पुराणों से गृहीत है। तुलसी ने पार्वती और सीता का भी समन्वय स्थापित किया है। सीता जी

पार्वती जी का पूजन करती हैं और पार्वती जी शिव जी से सीता जी की कथा सुनती हैं। अतः तुलसी ने वैष्णवों, शैवों और शाक्तों में समन्वय स्थापित किया है। 'मानस' के उत्तरकाण्ड के लोमश– काकभुशुण्डि–संवाद में ज्ञान और भक्ति का समन्वय है। तुलसी समन्वयवादी हैं।

संस्कृत के नर और नारायण हिन्दी में आकर एक नारायण भी बने हैं

हिन्दी का अपना कोई शब्द विसर्गान्त नही है। विसर्ग को पाणिनि ने माहेश्वर सूत्रों में 'हल्' से व्यक्त किया है और 'ह्' व्यंजन को 'ह य व र ट्' सूत्र द्वारा।

संस्कृत का '**छन्दस्**' या 'छन्दः' हिन्दी में 'छन्द' हो गया है। संस्कृत में छन्द और **छन्दस्** दो अलग–अलग शब्द हैं अर्थात् एक नर है, और दूसरा नारायण अकारान्त शब्द 'छन्द' का अर्थ 'छन्दस्' से नितान्त भिन्न है।

'खुशामद' अर्थात् '**हाँ में हाँ मिलाना**' अर्थ में संस्कृत में एक शब्द है '**छन्दानुरोध**' (छन्द + अनुरोध)। छह वेदाङ्गों में एक अंग 'छन्दस्' भी है। '**छन्दःशास्त्र**' सामाजिक शब्द है। इसको कविता की रचना की नाप (पैमाना) समझिए। हिन्दी में आकर उक्त दोनों शब्द एक हो गये अर्थात् **छन्द**। अतः हिन्दी में '**छन्द**' के दो अर्थ हो गये, परन्तु इसमें श्लेष नहीं है।

हिन्दी के मंचीय कवि

मंचीय कवियों में अधिसंख्यक कवि अन्य कवियों की कविताओं से शब्द–ग्रहण और अर्थ–ग्रहण करते हैं। वास्तव में इसे शब्दापहरण और अर्थापहरण कहना चाहिए।

पद ग्रहण, पाद ग्रहण (पदबन्ध-ग्रहण अथवा वाक्य-ग्रहण), **वृत्त ग्रहण** (पूर्ण छन्द–ग्रहण), **अर्ध ग्रहण** (अर्द्ध छन्द–ग्रहण) और **प्रबन्ध-ग्रहण** (अवतरण–ग्रहण) आदि को शब्द–ग्रहण के अन्तर्गत माना जा सकता है। अर्थ–ग्रहण से तात्पर्य है, अर्थापहरण (भावापहरण)।

इस प्रकार के अपहरण करने वाले रचनाकार कवि नहीं, चोर हैं। नितान्त मौलिक रचना **अयोनिरचना** कहाती है। अयोनिरचनाकार ही सच्चा कवि कहलाने का अधिकारी है।

मैं हिन्दी के मंचीयकवियों को अयोनिरचनाकार के रूप में देखना चाहता हूँ। मंचीय कवि यदि अपने व्यक्तित्व के आचरण पर एक बार गंभीरता से विचार

करलें, तो साहित्य और समाज का बहुत बड़ा कल्याण हो सकता है।

हिन्दी के वर्तमान मंचीय कवियों से मुझे यह भी शिकायत है कि वे लोक-प्रियता की ललक में भाषा की दृष्टि से जनता के स्तर पर आकर ही अधिक लिखते हैं। उनकी कविताएँ राजनीति के घेरों में बँधकर अधिक चल रही हैं। हमारे मंचीय कवि दूसरों पर अभियोग अधिक लगाते हैं। वे मानव-समाज को उदात्त भूमियों के दर्शन नहीं कराते। वे जनता के स्तर को उठाने का तथा जनता की मानसिक अभिरुचि को परिष्कृत एवं सुसंस्कृत बनाने का पूर्ण प्रयास नहीं करते। वास्तव में वे कवि नहीं, 'मज़दूर कवि' हैं। कविता उनकी सर्जना नहीं; एक धंधा है। कविता जब धंधा बन जाती है, तब वह वास्तविक साहित्य से दूर हो जाती है। उसमें सार्वभौमिक हित का भाव नहीं रहता। संप्रज्ञात समाधि में केवल 'ध्येय' रहता है—सार्वभौमिक हित का ध्येय। कवि-मानस की आँखों की पुतली में विश्व-हित ही रहता है, रहना भी चाहिए।

कवि 'जीवन' को लिखता है; 'जीव' या 'जीविका' के पीछे नहीं दौड़ता। सच्चा कवि 'ज्योति' को लिखता है, 'अन्धकार' को नहीं। कवि 'अमरत्व' को लिखता है, 'मृत्यु' को नहीं। कवि 'सत्' को लिखता है, 'असत्' को नहीं। कवि 'समष्टि' को लिखता है, 'व्यष्टि' को नहीं। कवि 'युग' को लिखता है, 'क्षणिक' को नहीं। कवि की लेखनी 'दुरितानि' को कुरेदती नहीं; 'भद्राणि' के भव्य चित्र अंकित करती है।

हिन्दी के कुछ मंचीय कवि किसी एक राजनीतिक दल के व्यक्ति बनकर दूसरे राजनीतिक दल के क्रिया-कलापों की चीड़-फाड़ करने को अपने कवि-कर्म की इतिश्री समझते हैं। कोई एक राजनीतिक दल जब तक प्रदेश या देश की शासन सत्ता में रहता है, तब तक तो वे कवि मौन बने रहते हैं; उसकी शासन-सत्ता समाप्त होने पर वे उस राजनीतिक दल की बुरी तरह चीड़-फाड़ आरम्भ कर देते हैं। यह कविता का न बाह्य रूप है, न आन्तरिक स्वरूप। मंचीय कवि कण्ठ की लोकप्रियता को अपनी कविता के कवित्व की लोकप्रियता मान लेते हैं।

हिन्दी के मंचीय कवियों में कुछ कवि वर्तमान में ऐसे भी हैं, जिनके निकट-तम संपर्क में आने पर मेरे मन में विकर्षण पैदा हुआ है। यह मेरा स्वानुभूत अनुभव है, क्योंकि कुछ वर्षों तक मैं भी हिन्दी-कविसम्मेलनों के मंचों पर कविता पढ़ता रहा हूँ। कुछ मंचीय हिन्दी-कवि अपने को जन-कवि तो कहते हैं, लेकिन उनके कार्य-कलाप जनता को रुचिकर नहीं। उनसे विशेष रूप से मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि वे विख्यात उपन्यासकार प्रेमचन्द की निम्नांकित पंक्तियों को ध्यानपूर्वक पढ़-कर अपने मन के कोने में जुगोकर रख लें।

प्रेमचन्द जी एक डायरी रखते थे। उसमें चाय, चीनी, आदि के खर्चे का हिसाब और कहानियों के कुछ प्लॉट लिखे रहते थे। उसी में साहित्य, समाज और

साहित्यकार के जीवन से सम्बद्ध सूत्र भी लिखे होते थे। उन सूत्रों में एक सूत्र यह भी लिखा मिला था—

"बिना पहले अपने आपको उठाए, कोई साहित्यकार अपने साहित्य से जनता को नहीं उठा सकता।" — (प्रेमचन्द)

मनुष्य योनि में सच्चा कवि सर्वाधिक संवेदनशील प्राणी है। उसकी संवेदना नेत्रेन्द्रिय के समान होती है। शरीर के किसी भी अंग में पीड़ा हो, उस पीड़ा की अभिव्यक्ति आँखों के आँसू ही करते हैं। राष्ट्र या समाज के किसी भी अंग की पीड़ा की अनुभूति सबसे पहले और सबसे अधिक कवि को ही होती है और उसी की लेखनी से घनीभूत पीड़ा आँसू बनकर बहती है। सच्चे कवि की करुणा की अनुभूति कभी–कभी विनाशकारी शाप भी बन जाती है। आदिकवि की करुणा निषाद के लिए शाप बन गयी थी। वह शाप निषाद की शाश्वती अशान्ति का कारण बन गया था।

सच्चे कवियों की कविताएँ

सच्चे कवियों की कविताओं के अनुशीलन के उपरान्त हिन्दी साहित्य–जगत् से मैंने कई बार कहा है कि सच्चा कवि मर्यादा में रहते हुए भी अमर्यादित है। उसके संसार की धरती पर लक्ष्मण रेखा नहीं खींची जा सकती। योगी साधना प्रधान है, तो कवि भावना प्रधान है।

सच्चा कवि योगी होते हुए योगी से बढ़कर है। कवि की सृष्टि ईश की सृष्टि से विस्तृत है। महती योगसाधना के उपरान्त एक योगी योग की तुरीयावस्था की जिस मधुमती भूमिका में पहुँचकर आनन्द की दिव्य अनुभूति करता है, उसे सच्चा कवि जाग्रत्अवस्था में ही प्राप्त कर लेता है। योगी योग–साधना के समय मौन, तो कवि काव्य–सर्जना के क्षणों में बरवाग्मी। योगी का आनन्द केवल अपने लिए है; पर कवि का आनन्द दूसरों पर बरसता है। योगी अपनी समाधि के द्वारा केवल आत्मा के लोक में ही विचरण करता है; लेकिन कवि शरीर, मन तथा आत्मा के लोकों में विचरण किया करता है। सच्चा कवि न्यायनिरत युगाकांक्षाओं को वाणी प्रदान करता है। उसकी लेखनी अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध हिमालय जैसे आततायी से भी टक्कर लेती है।

कवि घटनाओं की सूचना नहीं देता, यह काम इतिहासकार का है। कवि स्थूल उपादानों का जोड़–तोड़ नहीं करता, यह काम शिल्पकार का है। कवि वस्तु विश्लेषण नहीं करता, यह काम वैज्ञानिक का है। कवि तथ्याकलन नहीं करता, यह काम गणितशास्त्री का है। कवि उपदेश नहीं देता, यह काम धर्मप्रचारक का है। कवि अक्षुण्ण प्रतिकृति नहीं करता, यह काम फोटोग्राफर का है।

कवि तो अपनी संवेदनात्मक अनुभूति को अपनी वाणी द्वारा सर्वानुभूति बना

देता है। वह सर्वानुभूति व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और जगत् में 'दुरितानि' को दूर कर 'भद्राणि' की वर्षा करती है। उस वर्षा में सत्यं शिवं सुन्दरं की झड़ी लग जाती है। तब कवि के स्वर में स्वर मिलाकर प्रत्येक सदृश्य मानव मल्हारें गाता है। मानवता और मानवीय संचेतना शान्ति–सुख के आलोक के दर्शन करती है।

सच्चे कवि के हृदय की दुःखानुभूति या सुखानुभूति के गर्भ से सत् भावनाएँ जन्म लेती हैं। उन भावनाओं से निर्मित पुंजीभूत भाव घनीभूत होकर वाणी के माध्यम से बाहर निकलना चाहता है। कवि की वह भाषामयी अभि-व्यक्ति वक्र होती है अर्थात् विचित्र ढँग की होती है। सत् भाव की वह विचित्र अभिव्यक्ति ही 'कविता' है। अभिव्यक्ति के वे ढंग एक नहीं, अनेक हैं। उपमान, प्रतीक, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि आदि सब काव्याभिव्यक्ति के ढँग हैं।

कोई कवि यदि व्याकरण को दर्शन की भाषा में कहने लगेगा, तो वह उक्ति 'कविता' बन जाएगी। एक कवि ने लिखा—'**मैं**' पुरुषवाचक उत्तमपुरुषीय सर्वनाम नहीं, अहंकार है। '**मेरा**' सम्बन्धवाचक विशेषण नहीं, लोभ है। '**तू**' मोह है और '**वह**' परमचेतन सत्ता है।" यह काव्यात्मक अभिव्यक्ति कही जा सकती है।

त्रिपुरासुर का संहार करने के लिए रुद्र ने जब ताण्डव किया था, तब विष्णु ने मृदंग, ब्रह्मा ने खटताल और कृष्ण ने वंशी बजायी थी। ताण्डव के समय रुद्र के स्वरूप ने वीर–रौद्र रस का आकार ग्रहण कर लिया था। तब रुद्र को शिव रूप में लाने के लिए शिवा ने लास्य किया था। रावण और हनूमान् ताण्डव और लास्य के पंडित माने जाते हैं। ताण्डव में ओज और लास्य में लालित्य है। विश्व कल्याण के लिए सच्चा कवि ताण्डव भी लिखता है और लास्य भी। परन्तु सच्चे कवि का वह लेखन नितान्त निष्पक्ष होता है। वह स्वार्थवश व्यष्टि के लिए नहीं, निःस्वार्थ समष्टि-हित के लिए होता है। सामान्य जन वहाँ देखता है, जहाँ फूल खिलते हैं; लेकिन सच्चा कवि जहाँ देखता है, वहाँ फूल खिल जाते हैं। उसकी लेखनी से अद्भूत प्रबल प्रभंजन समाज के आकाश के काले मेघखण्डों को विनष्ट कर देता है।

हिन्दी के मंचीय कवियों से मैं ज़ोर देकर यह कहना चाहता हूँ कि वे अपने जीवन में भौतिक अर्थ को साध्य न बनाएँ, अपितु शब्द के अर्थ को साध्य बनाएँ। सरस्वती की पुस्तक और वीणा से जो उन्होंने वरदान प्राप्त किया है उसके द्वारा समाज के 'दुरितानि' को दूर करके 'भद्राणि' की वर्षा करें। वे अपनी काव्य–साधना के जीवन–काल में ज्ञान की द्वितीय भूमिका में ही मन-वचन-कर्म से विचरण करते रहें।

महर्षि वशिष्ठ ने श्रीराम को ज्ञान की सप्त भूमिकाओं का उपदेश दिया था। उनमें द्वितीय भूमिका का दर्शन बताते हुए महर्षि वशिष्ठ जी कहते हैं—

"राम ! मनुष्य ज्ञान को द्वितीय भूमिका में पहुँचकर सत् शास्त्र पढ़ता है, धर्मरूपी जलद को मयूर की भाँति गर्दन ऊँची करके देखता है। उसका आहार, विचार, आचार आदि सत् होता है। वह सत्संग तथा सत्शास्त्र से अपना बोध बढ़ाता है और उसे आचार में उतारता है।"

हिन्दी के मंचीय कवियों से मैं साग्रह निवेदन करता हूँ कि वे कविता को नारेबाज़ी का साधन न बनाएँ; वे साहित्य की सृष्टि करें। वे अपने देश को अपनी आँखों से देखें। सौन्दर्य की ऊँचाई और विस्तार के लिए वे हिमालय को देखें। कला की उच्चता का अवलोकन करना है, तो वे अजन्ता और एलोरा की गुफाओं को देखें। पावन जलराशि की छटा के दर्शनों के लिए गंगा, यमुना, गोदावरी, तथा कावेरी के किनारे–किनारे यात्रा करें। दर्शन तथा धर्म की महिमा जानने के लिए भारत के भव्य–दिव्य तीर्थों के दर्शन करें। तब उनके अन्तस् का रचनाकार कवित्व मयी सत् रचना का निर्माण कर सकेगा। इसके लिए पहली शर्त यह है कि वे अर्थ के लिए सच्चे 'शब्द' की पहचान करें।

आज विज्ञान की वस्तुवादिता, भौतिकता और जड़ता ने मानवता को भयं–कर त्रासदी में डाल दिया है। अब कवियों को कविता के माध्यम से मानवता की रक्षा करनी चाहिए। कवियों की जिम्मेदारी यह है कि वे विज्ञान की वस्तुवादिता का बुलडोजर मानवीयता की छाती पर न चलने दें। वे समतामयी संवेदनशीलता का भाव जगाकर समताभाव भरे सच्चे मानवसमाज का निर्माण करते चलें। वास्त-विक कविता वह है जो राक्षसत्व को मनुजत्व में बदलकर फिर मनुजत्व को देवत्व की कोटि पर पहुँचाती है। सच्चा कवि समाज के सरोवर में पशुत्व के पंकजों को मानवत्व के सरोजों में परिवर्तित कर देता है। हमारे कवियों की हृदयोद्भूत श्रद्धा निष्ठामयसंकल्प की ऊर्जा से ही लक्ष्य की प्राप्ति कर सकती है।

हमारे समाज को साहित्यकार के सच्चरित्र के दर्शन केवल उसकी लेखनी में ही नहीं मिलने चाहिए; अपितु साहित्यकार के मन–वचन–कर्म में भी हमारे समाज को भव्य दर्शन मिलने चाहिए। साहित्यकार का चरित्रवान् एवं संवेदनशील होना ही उसका वास्तविक लक्षण है, मेरी यह ध्रुव मान्यता है।

साहित्यकार यह समझ ले कि वह दधीचि और अगस्त्य का वंशज है। देवत्व और मनुजत्व की रक्षा के लिए इन्द्र को हड्डियाँ देकर और श्रीराम को मंत्र देकर जो कल्याण–कार्य दधीचि और अगस्त्य ने किया, वही कार्य हमारे साहित्यकारों को करना चाहिए। मुझे उस समय बहुत मानसिक क्लेश हुआ था, जब मेरी आँखों ने श्रीमती इंदिरा गांधी के सत्ताधिकारहीन होने के बाद उमा वासुदेव रचित पुस्तक **'इन्दिरा गांधी के दो चेहरे'** देखी थी। उसी उमा वासुदेव ने पहले इन्दिरा गांधी का प्रशंसात्मक चरित्र लिखा था, जब इन्दिरा जी भारत में प्रधानमंत्री के पद पर थीं। मैं ऐसे व्यक्ति को साहित्यकार नहीं मानता। साहित्यकार तो क्या, वह साधारण मनुष्य भी नहीं है। राजनीतिक नेताओं के पिछलग्गू बनकर वे सच्चे साहित्य का

निर्माण नहीं कर सकते और न उनकी लेखनी का कोई प्रभाव ही पड़ सकता है।

सच्चे साहित्यकार की वाणी

वेद में कहा गया है कि कवि नेता होता है—"कविः अग्रे भाति।"

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में कहा गया है कि उस विराट् पुरुष के मुख से नादात्मक वाक् निकला; उसी के साथ इन्द्र और अग्नि का जन्म हुआ। वैदिक ऋषि के इस कथन में वाणी की शक्ति और पवित्रता का संकेत मिलता है। सच्चे साहित्यकार की वाणी का स्वच्छ जल समाज की कीचड़ को पूरी तरह से तभी धो सकता है, जब साहित्यकार स्वयं भी कथनी और करनी में एक रूप हो। वैदिक ऋषि ने राष्ट्र हित में उद्घोष किया था—"वयं राष्ट्रं जागृयामः पुरोहिताः।"

आज हमारे समाज का व्यक्ति इतना क्रूर और दम्भी हो गया है कि वह अपने से बड़ा और आदरणीय किसी दूसरे को मानता नहीं। उसके मन में देवऋण तथा ऋषिऋण से उऋण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। राष्ट्र बलिदानियों ने अपने बलिदान से देश को स्वतन्त्र तो कराया; लेकिन शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा के उदय होने पर भी चन्द्रिका खिलखिलाकर हँसी नहीं। तमस् के हटने पर भी ज्योति का आगमन नहीं हुआ। साहित्यकार इस पर विचार करें। फिर विचार करें; शुद्ध मन से विचार करें।

आकाशवाणी दिल्ली पर भक्ति संगीत के पद-गायक

आकाशवाणी दिल्ली के भक्ति संगीत (वन्दना) के प्रातःकालीन कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रायः सूर, तुलसी और मीरा के पद भी गाये जाते हैं। उनकी भाषा ब्रजभाषा है। यह माना कि संगीत नाद-सौन्दर्य की ललित कला है। संगीत की धरती पर नादब्रह्म सप्त स्वरों में अवतार लेता है। हम यह भी मानते हैं कि राग में आबद्ध हो जाने पर आलापों और तानों में एक अक्षर या एक शब्द कई मात्राओं का हो जाता है। छन्दःशास्त्र में **'खायौ'** में चार मात्राएँ हैं; लेकिन संगीत में आये **'खायौ'** में चार से अधिक मात्राएँ हो सकती हैं। हम मानते हैं कि यह सब कुछ ठीक है, यह होता है और होना भी चाहिए। लेकिन इन सब बातों के साथ-साथ यह भी परम आवश्यक है कि गायन उस पद के रचयिता कवि के प्रामाणिक पाठ की रक्षा करे। उसकी मूल भाषा को विकृत न करे। साहित्य और संगीत का सच्चा सम्मिलन होना चाहिए।

आकाशवाणी के गायक सूर, तुलसी, मीरा आदि के ब्रजभाषा-पद गाते तो हैं, परन्तु उनमें मन-माने ढँग से तोड़-मरोड़ कर लेते हैं। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। मूल कवि की रचना का प्रामाणिक पाठ ही आकाशवाणी द्वारा जनता के

समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए । इस ओर कई बार मैंने आकाशवाणी दिल्ली के केन्द्र–निदेशक महोदय का ध्यान पत्र लिखकर दिलाया है; पर रहे ढाक पर वे ही तीन पात । नक़कार खाने में मेरी आवाज़ तूती बनकर रह गयी ।

सूरदास का एक प्रसिद्ध पद है—"**मैया ! मैं नहिं माखन खायौ ।**" गायक ने गाया था, "मैया **मोरी** मैं नहिं माखन खायौ ।" '**मोरी**' जोड़कर गायक ने सूर की कविता की सफेद चादर पर काला दाग लगा दिया । '**मोरी**' अवधी में होता, ब्रजभाषा में नहीं ।

'वन्दना' कार्य–क्रम के अन्तर्गत कभी–कभी तुलसीकृत 'विनयपत्रिका' के पद १६२—"ऐसो को उदार जग माहीं" प्रस्तुत किया जाता है । गायक उसे यत्र–तत्र अशुद्ध पाठ के साथ प्रस्तुत करता है । मूल पाठ के 'बिनु' को गायक 'बिन' और '**चाहसि**' को 'चाहति' कहता है । '**मेरो**' और '**तेरो**' को गायक 'मेरौ' और 'तेरौ' कहता है ।

ब्रजभाषा के प्राचीन भक्त कवियों की कविताओं को शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया जा सके, इसके लिए सरकार को आकाशवाणी केन्द्र पर एक योग्य भाषाविद् की नियुक्ति करनी चाहिए । भ्रष्ट पाठ श्रोताओं के कानों को अखरते हैं ।

एक बार प्रातः के 'वन्दना' कार्यक्रम में एक महिला ने मीराँ का यह पद गाया था—

"मेरे तौ गिरधर गोपाल दूसरौ न कोई ।"

यह ब्रजभाषा का पद है । इस पद में आगे एक पंक्ति आती है—

"जाके सिर मोर मुकुट **मेरौ** पति सोई ।"—इस पंक्ति को गायिका ने गाया था—

"जाके सिर मोर मुकुट **मेरा** पति सोई ।"

'**मेरौ**' के स्थान पर '**मेरा**' बोलकर गायिका ने मीराँ की भाषा की आत्मा को ही कुचल दिया । मीराँ का पद ब्रजभाषा में है । '**मेरा**' खड़ीबोली में होता है । मेरे द्वारा पत्र भेजे जाने पर भी केन्द्रनिदेशक ने गायिका से परिवर्तन अर्थात् संशोधन नहीं कराया । उक्त पद में वह गायिका आज भी '**मेरा**' ही बोलती है ।

दिनांक १६–३–६२ ई० के प्रातः में आकाशवाणी दिल्ली के भक्तिपरक 'वन्दना' कार्यक्रम के अन्तर्गत ब्रजभाषा का एक पद गाया गया था । उसकी टेक इस प्रकार गायी गयी थी—

"बाजै बाजै रे स्याम **तोरी** पैंजनियाँ"

ब्रजभाषा में '**तोरी**' सर्वनाम नहीं है, '**तेरी**' होना चाहिए । '**तोरी**' तो अवधी भाषा का सर्वनाम है ।

आकाशवाणी दिल्ली के पद–गायक ब्रजभाषा के पदों का गायन भाषा की दृष्टि से अशुद्ध करते हैं । कोई सुझाव भी देता है, तो उसे केन्द्रनिदेशक अनसुना कर देते हैं ।

ब्रजभाषा का एक पद है, जिसे आकाशवाणी पर 'तुलसीदास' की छाप के साथ गाया जाता है। उसकी प्रथम पंक्ति (टेक) यह है—

"ठुमक चलत रामचन्द्र बाजत पैंजनियाँ"

तुलसीदास जी के किसी ग्रन्थ में यह पद नहीं है। सारांश यह कि यह तुलसीदास की रचना नहीं, अपितु 'कृष्णरंग' की रचना है। इनका पूरा नाम **लाल कृष्ण 'कृष्णरंग'**। यह बात मुझे आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी से मालूम हुई थी। निर्दिष्ट पद की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"**कृष्णरंग** रघुबर छवि पटतर को दीजै काहि,
रघुवर की छबि समान रघुबर छबि बनियाँ।"

—(संगीतकल्पद्रुम, पुनरावृत्ति संपादक नगेन्द्रनाथ वसु, प्रकाशक बँगीय साहित्य-परिषद्, २४३/१, अपर सर्कूलर रोड, कलकत्ता, सन् १६१४ ई०)

केन्द्रनिदेशक, आकाशवाणी केन्द्र दिल्ली को उक्त तथ्य की मैंने सूचना दी थी। पतनाला आज भी वहीं गिर रहा है। भ्रम भी ज्यों का त्यों बना हुआ है।

आकाशवाणी दिल्ली पर उर्दू भाषा में समाचार

मीरतकी 'मीर' का जन्म सन् १७१२ ई० में आगरा में हुआ था। नज़ीर का जन्म सन् १७३६ ई० में हुआ था। ग़ालिब का जन्म सन् १७६७ ई० में आगरा में ही हुआ था। १७ साल की उम्र में ग़ालिब आगरा छोड़कर दिल्ली चले गये थे। इन तीनों शायरों का सम्बन्ध आगरा से अवश्य रहा था। ग़ालिब के शिष्यवत् ख्वाज़ा अल्ताफ़ हुसेन 'हाली' का जन्म पानीपत में सन् १८३७ ई० में हुआ था। ग़ालिब हाली से ४० वर्ष बड़े थे। 'हाली' अपनी कविताओं की इस्लाह ग़ालिब से कराया करते थे। पानीपत से दिल्ली हाली का जाना-आना लगा रहता था।

मीर, नज़ीर, गालिब और हाली की कविताएँ ईसा की १८वीं तथा १६वीं सदी की उर्दू कविताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनकी कविताओं की उर्दू भाषा सहज और सरल है।

उपर्युक्त चारों कवियों की कविताएँ आसानी से सबकी समझ में आ जाती हैं। 'मीर' की शायरी की तारीफ़ तो स्वयं गालिब ने अपने एक शेर में की है— उर्दू भाषा का पूर्ववर्ती नाम **'रेख्ती'** था। ग़ालिब ने कहा था—

"रेख़्ती के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो ग़ालिब;
कहते हैं अगले ज़माने में कोई **'मीर'** भी था।" —(ग़ालिब)

गालिब ने 'मीर' को जिस रेख़्ती का उस्ताद माना था, वह ज़बान तारीफ़ के क़ाबिल अपनी सरलता के कारण कहलायी थी। वह वास्तव में आमफ़हम उर्दू

थी। मीर कहते हैं—

"अहदे जवानी रो-रो काटा पीरी में लीं आँखें मूँद;
यानी रात बहुत थे जागे सुबह हुई आराम किया।" --(मीर)

इस उर्दू को कौन नहीं समझ सकता। इसी से मीर को रेख्ती के उस्ताद का दर्जा दिया गया था। क्या कोई है, जो यह कहे कि हम 'मीर' के निम्नांकित शेर को नहीं समझते—

"इस्तदा-ए-इश्क़ है रोता है क्या ?
आगे–आगे देखिए होता है क्या ?" —(मीर)

ग़ालिब का दीवान (देवनागरी में मुद्रित) मैंने पढ़ा है। उसकी भाषा समझ में आ जाती है। नज़ीर अकबरावादी की उर्दू ज़बान को तो हम हिन्दी–उर्दू दोनों ही कह सकते हैं। फारसी लिपि में यदि वह उर्दू है, तो देवनागरी लिपि में हिन्दी है। हाली की उर्दू भी हिन्दी से कन्धा मिलाकर चलती हुई दिखाई पड़ती है। नज़ीर कहते हैं—

"सब ठाठ पड़ा रह जाएगा, जब लाद चलेगा बंजारा।"
—(नज़ीर)

शायर ग़ालिब ने लिखा है—

"होगा कोई ऐसा भी जो ग़ालिब को न जाने;
शायर तो वो अच्छा है पँ बदनाम बहुत है।" —(ग़ालिब)

उपर्युक्त शेर में ग़ालिब ने 'लेकिन' के अर्थ में 'पँ' अव्यय का प्रयोग किया है। यह पँ अवधी और ब्रजभाषा का अव्यय शब्द है। तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में गंगातटवासी केवट श्रीराम से कहता है—

"बरु तीर मारहुँ लखनु पँ जब लगि न पाय पखारि हौं।"
—(मानस, अयो० १००/छन्द)

कवि हाली लिखते हैं—

"खेतों में दे दो पानी ये बहरही है गंगा;
कुछ करलो नौजवनो ! उठती जवानियाँ हैं।" —(हाली)

उपर्युक्त चारों कवियों की कविताओं की उर्दू भाषा की तुलना यदि आप आज के (सन् १९६१ ई० के) आकाशवाणी दिल्ली के उर्दू समाचारों की भाषा से करेंगे, तो आपको आकाश–पाताल का अन्तर नज़र आएगा। समाचारों की उर्दू तो आम जनता की समझ में आती ही नहीं। उसमें अरबी–फारसी के शब्दों का तथा उन्हीं के व्याकरणों का बाहुल्य रहता है।

समाचार–उद्घोषक 'कौम की खिदमत' के स्थान पर '**खिदमते–क़ौम**' कहता है। '**मकानों**' की जगह '**मकानात**' कहता है। 'मुल्क' का बहुवचन '**मुमालिक**' कहता है। वह 'माँ–बाप' कहने को उर्दू नहीं मानता; उसकी उर्दू '**वाल्दैन**' ही

है। "ख़तों को पढ़िए" को वह "ख़ु.तूत पढ़िए" कहता है। सारांश यह है कि आकाशवाणी दिल्ली की अरबी–फारसी में डूबती चली जा रही है। राष्ट्र का यह शुभ लक्षण नहीं है।

दूरदर्शन का दिल्ली केन्द्र

१६–१२–६१ ई० (वृहस्पतिवार) को दिल्ली दूरदर्शन ने अपने एक कार्य–क्रम का शीर्षक प्रस्तुत किया–'युव–मंच'। देखते ही अर्थात् सामासिक शब्द पढ़ते ही मन में खटक पैदा हो गयी। दूरदर्शन के अधिकारियों को हिन्दी के प्रयोग के लिए हिन्दी–भाषा की प्रकृति को समझना होगा।

तत्पुरुष समास में पूर्वपद में विभक्ति का लोप रहता है अर्थात् प्रथम शब्द प्राति–पदिक रूप में रहता है। संस्कृत में प्रातिपदिक '**छन्दस्**' है; लेकिन हिन्दी में प्राति–पदिक **छन्द** है। संस्कृत में सामासिक शब्द बनेगा '**छन्दोयोजना**'; लेकिन हिन्दी में समास बनेगा '**छन्द–योजना**'। संस्कृत में प्रातिपदिक है 'विद्यार्थिन्'; इससे संस्कृत में तत्पुरुष समास बनेगा '**विद्यार्थि–परिषद्**'; लेकिन हिन्दी में तत्पुरुष समास बनना चाहिए '**विद्यार्थी–परिषद्**' क्योंकि हिन्दी में प्रातिपदिक **विद्यार्थी**' है। हिन्दी में **नेतागण** साधु माना जाएगा।

इसी सिद्धान्त के आधार पर विचार करना चाहिए। संस्कृत में **मघवन्**, **श्वन्** और **युवन्** प्रातिपदिक हैं। संस्कृत के ये प्रातिपदिक हिन्दी में आकर बदल गये हैं। हिन्दी में ये क्रमशः **मघवा**, **श्वान** और **युवा** के रूप में प्रातिपदिक हैं। अतः हिन्दी में इनसे निम्नांकित तत्पुरुष समास बनेंगे--

(१) **मघवा–सभा** (२) **श्वान–ध्वनि** (३) **युवा–मंच**।

हिन्दी की प्रकृति की रक्षा करने के लिए हिन्दी–व्याकरण को अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। अतः दिल्ली-दूरदर्शन के अधिकारियों को **युवा–मंच** लिखना चाहिए, 'युव–मंच' नहीं। 'युव–मंच' संस्कृत व्याकरण का तत्पुरुषसमास है, हिन्दी-व्याकरण का नहीं।

हिन्दी के उपन्यास–कहानी–साहित्य के प्रति मेरी अभिरुचि–न्यूनता

मैंने अधिकांश में हिन्दी का काव्यसाहित्य, निबन्ध साहित्य और आलोचना–साहित्य का ही अनुशीलन किया है। भाषाविज्ञान का तो मैं प्रमुख अध्येता रहा ही हूँ।

हिन्दी के उपन्यास और कहानियाँ मैंने बहुत कम पढ़े हैं। मेरा जन्म संस्कृतज्ञ पंडित–परिवार में हुआ था। संस्कृत और हिन्दी भाषा के अध्ययन के

संस्कारों के कारण मेरी विशेष रुचि शब्दशास्त्र और दर्शन में हो गयी थी। मेरा शब्दशास्त्रीय अध्ययन काव्यशास्त्र के अध्ययन में भी सहयोगी बन गया था।

जिस पुस्तक के पढ़ने से मेरी शब्द–संपदा नहीं बढ़ती थी और दर्शन की प्यास नहीं बुझती थी, उसे मैं थोड़ी-सी पढ़कर ही छोड़ देता था।

शब्दार्थ की कुछ जिज्ञासा–पूर्ति आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों को पढ़कर हुई थी। हिन्दी की मुहावरेदारी और उपमान–विधान का कुछ सौंदर्य प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में भी मिला था। प्रेमचन्द ने लिखा है—"दुखता हुआ दिल दुखती हुई आँख है, जिसमें हवा से भी पीड़ा होती है।" X X "दीवारों के ज़बान तो नहीं, पर कान अवश्य होते हैं।" X X X "औरत का घर से निकल जाना, बात का मुँह से निकल जाना है।"—ऐसे वाक्यों को पढ़कर उनके अर्थों पर मैं पर्याप्त समय तक चिन्तन करता रहता था।

'प्रसाद' के नाटकों के संवादों में मुझे कविता का आनन्द मिला है। कवित्व-मय गद्य कैसे लिखा जाता है—यह 'प्रसाद' के नाटक–पात्रों से सीखा जा सकता है।

हिन्दी–कहानी–साहित्य में न मुझे शब्द क्षितिज का विस्तार मिला, न वैविध्य। वह सामाजिकता की एक लीक पर ही चलता रहा है। जीवन की औदात्यमयी विराट्ता और भावात्मक अन्तर्ध्वनियों की गूँज मुझे हिन्दी–कहानियों में नहीं मिली। मानव–जीवन के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक प्रश्नों को तो हिन्दी–कहानी ने कभी छुआ तक नहीं। हिन्दी–कहानी ने मानव–जीवन की जो तस्वीर खींची है, वह बहुत छोटी है। वह लोक–परलोक से सम्बद्ध तमस् और ज्योति के मृत्यु और अमरत्व के तथा असत् और सत् के गम्भीर चित्र प्रस्तुत नहीं करती। उसमें विचारों की सूक्ष्म रेखाएँ नहीं मिलतीं।

इन्हीं प्रमुख कारणों से मेरी मन–बुद्धि की आँखों को हिन्दी का उपन्यास–कहानी–साहित्य रुचिकर नहीं लगा। हिन्दी–कहानियाँ मेरे अन्तस् के गम्भीर तथा शास्त्रीय अध्येता की भूख को शान्त नहीं कर पाती थीं। अतः मैं हिन्दी–कथा–साहित्य के पठन से दूर–सा ही रहा हूँ।

भारतीय हिन्दू समाज में नारी : मेरी मान्यता

मेरी मान्यता है कि रामायण–काल से आज तक हिन्दू–समाज में पत्नी को पति के बराबर सम्मान तथा दर्जा नहीं मिला।

वेद–संहिता-काल, ब्राह्मण–काल, आरण्यक–काल और उपनिषत् काल 'वैदिक काल' कहलाता है। वैदिक काल में तो पति–पत्नी का दर्जा बराबर था। इसके उपरान्त रामायण–काल, महाभारत–काल, हिन्दू–राज्य काल, मुस्लिम–शासन काल, अंग्रेज़ी शासनकाल और स्वाधीन भारत–गणराज्य–काल में पत्नी पति से

नीची ही मानी जाती रही ।

वाल्मीकिरामायण को प्रमाण मानकर यह तो कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में कन्याओं को वैदिक तथा स्मार्त क्रियाकलापों से सम्बद्ध मंत्रों की शिक्षा दी जाती थी । पत्नी पति के साथ यज्ञादि में बैठकर धार्मिक कृत्य करती थी । रामचन्द्र जी के कल्याण के लिए कौशल्या ने स्वयं 'स्वस्तियाग' किया था (वाल्मी० अयो० २०/१५) । राजकन्याएँ अस्त्र-शस्त्र तथा रथ–सचालन आदि में प्रशिक्षित की जाती थीं । कैकेयी ने राजा दशरथ के प्राणों की रक्षा युद्ध–भूमि में की थी । कैकेयी सैन्य–शिक्षा प्राप्त थी ।

यह सब कुछ था; लेकिन परपुरुष द्वारा बलात् अपहृता नारी को पुनः घर में स्वीकार करने के लिए रामायणकालीन समाज भी तैयार नहीं था । समाज की इस हीन विचार–दृढ़ता के आगे दाशरथी राम को भी हार माननी पड़ी थी और निर्दोष पवित्र–सती–साध्वी सीता को वनवास देना पड़ा था । सीता ने अपमान के कारण प्राणोत्सर्ग किया था ।

वाल्मीकि रामायण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि तब कन्याएँ बचपन में पिताओं के द्वारा वन में छोड़ दी जाती थीं, ताकि पिता विवाह की परेशानी से मुक्ति पा सकें ।

वाल्मीकि की सीता यह भी कहती हैं कि जब मैं विवाह योग्य हो गयी थी, तब मेरे पिता जनक ऐसे चिन्तित हो गये थे, जैसे निर्धन व्यक्ति अपनी स्वल्प संपत्ति नष्ट हो जाने पर चिन्तातुर हो जाता है ।

सीता जी के उक्त कथन से भी सिद्ध होता है कि वाल्मीकि रामायण–रचना-काल में भी कन्याओं का जन्म हिन्दू–परिवारों में चिन्ता और दुःख का कारण बन जाता था । कन्याएँ पिताओं का सच्चा वात्सल्य प्राप्त न कर पाती थीं ।

रामायण–काल में समाज के पुरुष कन्या–जन्म को अच्छा नहीं मानते थे । संभवतः जन्म लेते ही कन्याएँ मार दी जाती होंगी या यों ही जंगल में फेंक दी जाती होंगी । तभी तो राजा जनक को एक शिशु–कन्या खेत के कूँड़ में पड़ी मिली थी, जो बाद में **'सीता'** अन्वर्थ नाम से विख्यात हुई । खेत में हल के फ़ाले से बनी गहरी रेखा को संस्कृत में **'सीता'** कहते हैं । इसीलिए उस कन्या का नाम 'सीता' हुआ ।

वाल्मीकि रामायण का रचना–काल ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व माना जा सकता है और महाभारत का रचना–काल भारतीय विद्वान् ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व मानते हैं । दोनों ही कालों में पत्नी पति की दासी के समान मानी जाती थी । कालिदास का जन्म ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी माना जाता है ।

कालिदासकृत 'रघुवंश' के आधार पर कहा जा सकता है कि 'इन्दुमती' के पिता ने अपनी पुत्री इन्दुमती का स्वयंवर रचा था और उस स्वयंवर–सभा में 'इन्दु-

मती' ने अपनी इच्छा से राजा 'अज' के गले में वरमाला पहनायी थी। दशरथ के पिता का नाम 'अज' था।

पहले कन्याओं के विवाह स्वयंवर की प्रथा के अनुसार होते थे। राजा जनक ने तो बेचारी सीता का स्वयंवर–प्रथानुसार पति–वरण का अधिकार भी उससे छीन लिया था। जो पिनाक पर प्रत्यंचा चढ़ा देगा, सीता उसे ब्याही जाएगी। जब शर्त ही लग गयी, तब स्वयंवर कहाँ रहा ?

यदि किसी कारण राम जनक की उस शर्त को पूरा करने में असमर्थ हो जाते, तो बेचारी सीता तो जीवनपर्यन्त अविवाहित ही बनी रहती। रामायणकाल में ही कन्याओं से उनका स्वयंवर-अधिकार छीन लिया गया था। क्या यह न्याय था ? महाभारतकाल में भीष्मपितामह के द्वारा स्वयंवर–सभा में से काशि-राज की कन्याओं का बलात् अपहरण कहाँ का न्याय था ? नारी भैंस की भाँति बलवान् की लाठी से हाँकी जातीथी।

रामायण काल में पति का दर्जा ऊँचा रखते हुए पंडित-समाज पत्नी के लिए व्यवस्था देता था कि "पति में कितने ही दोष हों, पत्नी को उनपर ध्यान न देते हुए सदा पति की सेवा करनी चाहिए और उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए।" समाज के पंडितों ने शास्त्रों को आगे रख कर पत्नी धर्म भी बना दिया था कि ऐसा करनेवाली पत्नी को स्वर्ग प्राप्त होगा। हिन्दू–समाज उन शास्त्रों की दुहाई देता था। पुरुष–समाज ने 'पत्नी–धर्म' की व्याख्या अपने हाथ में ले रखी थी।

यद्यपि स्मृतिकार पाराशर (पारा० स्मृति १०/२१) ने व्यवस्था दे दी थी कि "यदि बलपूर्वक या डरा-धमकाकर किसी स्त्री का उपभोग किया जाए, तो वह प्रायश्चित्त करने से और अपने मासिक रज–स्राव से पुनः शुद्ध हो जाती है।" ब्रह्म-वैवर्त पुराण प्रकृति खंड ६१/७६) में भी कहा गया है कि अनिच्छा में बलात्कार किये जाने पर कोई स्त्री दूषित या जातिबहिष्कृत नहीं होती; लेकिन आज तक हिन्दू–समाज ने न स्मृतिकार पाराशर की सुनी और न ब्रह्मवैवर्त पुराणकार की। स्वतंत्र भारत में भी अपहृता तथा बलात्कारभोक्ता पत्नियाँ वैसा ही नरक भोग रहीं हैं। पति अब भी पत्नी को बराबर लाना नहीं चाहता। उस संकीर्ण–अनीतिपूर्ण मान्यता पर पुरुष–समाज विचार भी करना नहीं चाहता। दिखावे के कानून तो बहुत बने हैं स्वतंत्र भारत में। अब कुछ और बन भी रहे हैं। पर बातें बहुत-कुछ संविधान के पृष्ठों पर ही हैं।

हिन्दू-समाज में आज भी नारी की वैसी ही हीन दशा है। निराला का जन्म सन् १८६८ ई० में हुआ था। आज १६६३ ई० है। तब से ६५ वर्ष बीत गये। भारत को स्वतंत्र हुए ४६ वर्ष व्यतीत हो गये। पुरुष की दृष्टि में नारी वैसी ही है, जैसा महाप्राण निराला ने उसके विषय में लिखा था।

निराला जी ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—

"स्त्री सृष्टि की सबसे बड़ी हार है, पुरुष की जीत की सबसे बड़ी प्रमाण–प्रतिमा।"—(निराला)

आज स्वतंत्र भारत में भी पुरुष नारी को अपने 'अहं' के नीचे दबोच रहा है और दबोचने में अपने को गर्वोन्नत अनुभव कर रहा है। यह कैसी विडम्बना है?

मनुस्मृति की रचना महाभारत ग्रन्थ से पहले मानी जाती है। मनु ने स्त्रियों की प्रशंसा में यह तो कहा था कि "जहाँ नारियाँ पूजी जाती हैं, वहाँ देवता निवास करते हैं।" इतना कहने पर भी मनुस्मृति (अ० ५/१४७, ५/१४८) में यह भी कहा गया कि बालिका, युवती या वृद्धा स्त्री को कोई काम घर में घरवालों की अनुमति के बिना नहीं करना चाहिए। मनु ने स्पष्टरूप से कहा कि स्त्री बाल्यावस्था में पिता के और युवावस्था में पति के अधीन है। विधवा होने पर पुत्र के अधीन है। स्त्री कभी स्वतंत्र नहीं है। "नभजेत्स्त्री स्वतंत्रताम्" (मनु० ५/१४८)।

सारांश यह कि महाभारत–ग्रंथ–रचना–काल से भी पहले पुरुष–समाज नारी के पाँवों में बेड़ियाँ डाल चुका था। मनु ने तो यह भी कहा था कि नारी को केवल पति की ही पूजा करनी चाहिए अलग से यज्ञ, व्रत, उपवास नहीं। वह पति–सेवा से ही परम पद को प्राप्त करेगी – (मनु० ५/१५५)।

कुछ विद्वानों का मत है कि महाभारत का युद्ध ईसा से ३१०२ वर्ष पूर्व हुआ था। कलियुग का आरम्भ महाभारत युद्ध के बाद ही हुआ। अब सन् १९९३ ई० है। अर्थात् महाभारत युद्ध आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पहले हो चुका था।

महाभारत युद्ध का कारण एक नारी की दुर्दशा तथा उसका नृशंस अपमान ही था। इस बीसवीं शती की समाप्ति पर भी नारी समाज और परिवार में उचित सम्मान और न्याय नहीं पा सकी है। भारतीय नारी को समाज में पराधीनता का दु:खी जीवन जीते–जीते पाँच हजार वर्षों से भी अधिक का समय हो गया; लेकिन पुरुषसत्तात्मक समाज से अभी तक उसे सच्चा न्याय, सच्चा गौरव और सच्चा सम्मान नहीं मिला है। पुरुष ग्रंथों में नारी की प्रशंसा तो करता है, लेकिन घर में और समाज में उसे कुचलता है; दासी से भी गिरा हुआ व्यवहार करता है। वह नारी को अपने बराबर लाना नहीं चाहता। नारी आज भी सामान्य हिन्दू–परिवारों में घुट-घुटकर साँसें ले रही है।

स्वतंत्र भारत में आज भी पति के पास बल है, सत्ता है, अहं की शक्ति है, धर्म शास्त्र है और प्राचीन परम्परा से परिपूर्ण प्रबल तर्क हैं। पत्नी के पास विनय है, प्रार्थना है, दयनीय विवशता है। प्रार्थना सदृश विनत पत्नी फिर भी क्रूरता भरी लातें खाती है। पत्नी की वेदना पति के दर्प का पदाघात सहती है और आँसू बहाती रहती है। पति के पौरुष का अहंकार पत्नी की विनयशीलता को कुचल देता है।

गाँव की नारी चूल्हा जलाते हुए और नगर की नारी स्टोव जलाते हुए एक दिन स्वयं को भी जला लेती है। पुरुष नारी–समाज को इसका पता भी नहीं लगनेदेता।

कल कमला जली थी, आज आशा और आनेवाली कल को कान्ता भी जलेगी। मानव फिर भी न समझेगा कि वह मनु की सन्तान है। पुरुष का पौरुष नारी पर ही प्रहार करने में ही वीरता दिखाता है। मर्द की मर्दानगी औरत के जलाने में ही दिखायी पड़ती है।

हमारे वर्तमान हिन्दू-समाज में ऐसे पुरुषों की संख्या कम नहीं है, जो पत्नी की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाना चाहते हैं। पत्नी की कमाई पर जीवन को भोगने में उन्हें लज्जा नहीं आती। आश्चर्य है, नपुंसकीय विचारवाले वे मनुष्य फिर भी अपने को पुरुष कहते हैं। मण्डप के नीचे अग्निदेव को साक्षी बनाकर जिसने जिस नारी का हाथ पकड़ा था, वही व्यक्ति कर्महीन नपुंसक की भाँति अपना जीवन बिताने के लिए उस नारी से आये दिन लड़कर भीख माँगता रहता है और बाहरी दुनिया में अपने को बड़ा आदमी सिद्ध करने का नाटक रचता है। ऐसा पति पत्नी से प्रेम नहीं करता, पैसे से प्रेम करता है। उसकी पत्नी विविक्ता के रूप में भीषण नारकीय जीवन जीने के लिए विवश हो जाती है। ऐसे व्यक्ति पत्नी का दम घोटकर ही दम लेते हैं। उन्हें हराम का खाकर आराम करने का चस्का लग जाता है।

आज भी भारत की अनेक बेटियाँ ऐसी हैं, जो न सौभाग्यवती पत्नी बनीं और न श्रद्धेया जननी; बस जीवनभर भोग्या बनी रहती हैं। स्वतन्त्र भारत में भी आज अरबपती बुड्ढा अरब हमारी जवान बहन को खरीदकर अपने अरब देश ले जाता है और अपनी अंकशायिनी बनाकर रखता है। कुछ वर्षों के बाद उसे किसी दूसरे अरब को बेच देता है।

एक द्रौपदी को नग्न करने के प्रयास में 'महाभारत' हो गया था, जिसमें दुर्योधन और दुःशासन का सर्वनाश हुआ था, आज पाँच सितारा होटलों में कितनी ही द्रौपदियाँ नंगी की जाती हैं और हमारे देश के अनेक भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और आँखों वाले धृतराष्ट्र उन्हें आँखों देखकर लज्जित नहीं होते। आज हमारे देश के भीम भी चुप हैं।

आज भी हम समाचार पत्रों में कितनी ही शाहबानुओं और रूपकुवरों के हृदयविदारक समाचार पढ़ते हैं और पढ़कर अखबार फेंक देते हैं। धन्य है हमारी चरित्रहीन नपुंसक वीरता और स्वतन्त्र भारत में हमारी नागरिकता।

अपने उपर्युक्त कथन के साथ-साथ मैं वर्तमान भारत की अपनी बहन-बेटियों से इतना अवश्य कहूँगा कि आज की नारी जितनी अपने अधिकारों के लिए लड़ती है, उतनी अपने कर्तव्यों के प्रति निष्ठावती नहीं है। उसे अपने पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों पर ध्यान देना होगा।

स्वतन्त्र भारत में आज भी मेरी लेखनी सिसक-सिसककर यही कहती रहती है—

"स्वतंत्र भारत में भी भारत की नारी की लाज बिक रही।
विधना ! अरबपती बुड्ढे को भरी जवानी आज बिक रही॥"

हे परमात्मा ! मैं तुझसे यह पूछना चाहता हूँ कि क्या भारतीय पुरुष के हृदय में मातृशक्ति के प्रति कभी न्यायनिरत श्रद्धा–भावना जगेगी ? यदि जगेगी तो कब ? भारतीय नारी को अत्याचार की शिला के नीचे दबेहुए लगभग पाँच हजार वर्ष तो बीत गये ।

हमारा अज्ञान ही है, जो हम नारी को **'अबला'** कहते हैं । नारी 'अबला' नहीं है । प्रकृति ने लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में प्रतिरोध की शक्ति अधिक दी है । लड़कियों के रक्त के कीटाणु रोग के कीटाणुओं से अधिक समय तक लोहा ले सकते हैं । उनके कीटाणु रोग के कीटाणुओं पर विजय भी पा लेते हैं ।

चूंकि लड़के जन्म के उपरान्त विवाह के समय तक सब जीवित नहीं रहते, इसलिए प्रकृति ११६ लड़के और १०० लड़कियाँ पैदा करती है । विवाह तक की अवस्था प्राप्त करने से पहले ही १६ लड़के मर जाते हैं । लड़कियाँ १०० में शादी तक १०० जीवित रहती हैं ।

एक ही रोग यदि एक घर की एक लड़की और एक लड़के को घेरता है, तो लड़की उस रोग से मुक्त हो जाएगी और लड़का उस रोग से ग्रस्त रहेगा । लड़के की मृत्यु भी हो सकती है । नारी अबला नहीं है, शक्तिस्वरूपा है । 'चाणक्यनीति' में कहा गया है कि नारी में पुरुष की अपेक्षा छह गुना साहस होता है ।

मनुष्य में बल तीन प्रकार का होता है—(१) **शारीरिक बल** (२) **मनोबल** (३) **आत्मबल** ।

मनोविज्ञान के पंडितों का कहना है कि नारी में पुरुष की तुलना में 'मनो–बल' अधिक होता है । महात्मा गांधी जी ने भी कहा था कि 'मनोबल' भी एक शक्ति है और वह शक्ति नर की अपेक्षा नारी में अधिक होती है । नारी अबला नहीं है ।

अतः अब नारी के सम्बन्ध में परम्परा से चले आतेहुए हीनतार्थी शब्द, मुहावरे और लोकोक्तियाँ आदि समाप्त कर देने चाहिए । जैसे, "नारी अबला है", "नारी पराश्रित है", "न नारी स्वातन्त्र्यमर्हति", "नारी नरक का द्वार है", "नारी माया है", "स्त्र्याः चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति" आदि ।

स्वतन्त्र भारत की वर्तमान नारी अपनी सामाजिक एवं पारिवारिक स्वतन्त्रता के लिए जागरूक होने लगी है—यह अच्छी बात है; लेकिन वह जिस 'स्वतन्त्रता' के लिए लड़ रही है, उसके सम्बन्ध में वह यह अवश्य ठंडे दिमाग से विवेकपूर्वक विचार कर ले कि वह 'स्वतन्त्रता' अर्थ की भूमि पर 'उच्छृं-खलता' तो नहीं है । नारी–स्वातंत्र्य की बहस के समय 'स्वतन्त्रता' और 'उच्छृं-खलता' शब्द अपनी-अपनी व्याख्या अपने-अपने ढँग से प्रस्तुत करने लगते हैं । दोनों शब्दों की अर्थ–परिधियों तथा भेदक–रेखाओं को वर्तमान नारी को पहले अच्छी

तरह समझना होगा, अन्यथा सामाजिक जीवन (नर-नारी का) सुखमय नहीं बन सकता। परिवार या समाज के जीवन को न अकेला पुरुष चला सकता है और न अकेली नारी चला सकती है।

मेरी मान्यता है कि सच्चा साहित्यसेवी सर्वाधिक विवेकमय संवेदनशील होता है। वह असत्य (ग़लत) के सामने कभी झुकता नहीं।

साहित्यकार के भेद

मैं मानता हूँ कि वर्तमान में साहित्यकार तीन प्रकार के हैं—(१) **बुद्धिजीवी साहित्यकार** (२) **बुद्धिवादी साहित्यकार** (३) **बुद्धिनिष्ठ साहित्यकार**।

(१) **बुद्धिजीवी साहित्यकार** वह है, जो बुद्धि द्वारा जीविकोपार्जन के लिए साहित्य रचता है।

(२) **बुद्धिवादी साहित्यकार** वह है, जो राजनीति, संप्रदाय या वाद के समर्थन में साहित्य की सर्जना करता है।

(३) **बुद्धिनिष्ठ साहित्यकार** वह है जो स्वतन्त्र एवं तटस्थ मन-मस्तिष्क से व्यक्ति के आनन्द तथा समाज के कल्याण के लिए निष्ठामयी बुद्धि से साहित्य-सृष्टि करता है।

तीसरे प्रकार के साहित्यकार ही मेरे आदर्श रहे हैं।

हिन्दी शब्दों की वर्तनी

मैंने अपने अब तक के जीवन में भारतवर्ष के हिन्दी-लेखकों, विद्यार्थियों, शोधछात्रों तथा अध्यापकों को लगभग तीन सौ पत्र लिख कर हिन्दी की वर्तनी-विषयक अशुद्धियों को सुधारा है और अब भी पत्र लिखकर सुधारता रहता हूँ; फिर भी आज हिन्दी के डाक्टर अध्यापक **पंचम** को पंचम्, **गद्गद** को गद्गद्, **विशद** को विशद्, **वाङ्मय** को वांग्मय, **प्रणाम** को प्रणाम् और **प्रत्युत** को प्रत्युत् लिख रहे हैं।

अमरकोश में खाट या पलंग के अर्थ में चार शब्द हैं—

(१) **मंच** (२) **पर्यंक** (३) **पल्यंक** (४) **खट्वा**। 'सेज' या 'बिछौना' के लिए तीन नाम दिये गये हैं—(१) **शय्या** (२) **शयनीय** (३) **शयन**।

प्राकृत भाषा में 'बिछौना' के लिए **सिज्जा** या **सेज्जा** है। संस्कृत का **शय्या**, प्राकृत का **सिज्जा** और ब्रजभाषा का **सेज** शब्द 'बिछौना' के अर्थ में ही समझिए।

मैंने आठ-दस हिन्दी-लेखकों की पुस्तकों में संस्कृत के **शय्या** शब्द को

'शैया' रूप में लिखा देखा है। संस्कृत में 'सेज' के अर्थ में 'शैया' कोई शब्द नही। √शी + क्यप् + टाप् = **शय्या**। √हन् + क्यप् + टाप् = **हत्या**।

'छिपना' अर्थ में संस्कृत शब्द **'अन्तर्धान'** है। इसे बहुत–से हिन्दी–लेखक **'अन्तर्ध्यान'** लिख देते हैं।

यद्यपि मैं ज्ञान में (स्व०) डा० धीरेन्द्र वर्मा का पासंग (फा० पारसंग) भी नहीं हूँ; पर सरस्वती–सेवक के नाते कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।

डा० धीरेन्द्रवर्माकृत 'हिन्दी भाषा का इतिहास' पुस्तक में 'पंलग' का संस्कृत शब्द 'पर्यंक' लिखा गया है। वास्तव में **'पलंग'** का संस्कृत शब्द **'पल्यंक'** है। प्राकृत में इसके लिए **'पल्लंक'** या **'पलिअंक'** शब्द है। 'पाइअ–सद्द महण्णवो' (प्राकृतशब्द महार्णव) ग्रन्थ में इसका उल्लेख है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल के संज्ञा शब्दों की अन्त्य 'क्' ध्वनि मध्यभारतीय आर्यभाषाकाल में 'क्' बनी रही थी। संस्कृत का **काक** (= कौआ) शब्द प्राकृत में भी **'काक'** बोला जाता था। उसी तरह सं० 'पल्यंक' शब्द प्राकृत में 'पल्लंक' बोला जाता था। वही 'पल्लंक' आधुनिक आर्य भाषा काल में **'पलंग'** हो गया। आज हिन्दी में 'खाट' के अर्थ में **'पलंग'** बोला जाता है। वास्तव में बड़ी खाट को ही **'पलंग'** कहा जाता है।

यदि हिन्दी में लेखकों की संख्या बढ़ी है. तो अशुद्ध लेखन भी बढ़ा है। हिन्दी की पी–एच० डी० उपाधि का शोधार्थी आज भी **छठी** को छठवीं और **छह** को **छः** लिखता है। भाषा–विवेचक ग्रन्थों को विद्यार्थी और अध्यापक पढ़ें, तब न बात बने। आज के हिन्दी पाठक में भाषा–ज्ञान–प्राप्ति की भूख नहीं है।

हिन्दी के एक प्रोफ़ेसर ने अपने एक लेख में **सृजन** लिखा, मैंने उन्हें पत्र में लिखा, "मित्रवर ! शब्द तो **सर्जन** है, √सृज् + ल्युट् = सर्जन। यदि ठेठ हिन्दी शब्द ही लिखना चाहते हो, तो **सिरजन** लिखिए, जैसे **'सिरजनहार'**।" उनका उत्तर आया कि 'सृजन' भी ठीक है, कई पुस्तकों में हमने 'सृजन' देखा है। मैंने उन्हें फिर पत्र लिखा और कहा, "मित्रवर ! कई पुस्तकों में 'सृजन' छपा देख लिया, तो क्या वह शुद्ध हो जाएगा ? मैं आपसे यह पूछता हूँ कि जब आप **सृजन** को शुद्ध मानते हैं, तब क्या **विसृजन** को भी **शुद्ध** मानते हैं ? तब आप **विसर्जन** क्यों लिखते हैं ? इसके बाद उनका कोई पत्र नहीं आया। वे चुप हो गये। हिन्दी के स्तरीकरण तथा स्थिरीकरण पर हमें गम्भीरता से सोचना होगा।

दुःख का विषय यह है कि हमारी शिक्षा–संस्थाओं में कक्षा ६ से कक्षा १६ तक 'हिन्दी–साहित्य' ही पढ़ाया जाता है, 'हिन्दी भाषा' नहीं। परिणाम यह होता है कि हिन्दी का विद्यार्थी शब्द, अर्थ और भाव का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं जानता।

आज का हिन्दी विद्यार्थी नहीं जानता कि **'मुकुट पहनना'** और **'मुकुट धरना'** में क्या भाव–भेद है ? **'षट्रस व्यंजन पाना'** और **'षट्रस व्यंजन चबाना'**

के भावों में अन्तर क्या है ? '**कुर्ता पहनना**' और '**कुर्ता लटकाना**' में क्या भेद है ?

"मोहन ने कुर्ता **पहन लिया** ।" और "मोहन ने कुर्ता **लटका लिया** ।" इन वाक्यों में '**पहनना**' क्रिया पहननेवाले के मन के सुखद भाव की सूचक है और **लटकाना** क्रिया पहननेवाले की अरुचि को प्रकट करती है ।

कवि रत्नाकर के 'उद्धवशतक' में श्रीकृष्ण व्रज की याद आने पर सखा उद्धव से कहते हैं—

"मोर के पखौवनि कौ मुकुट छबीलौ छोरि,
क्रीट मनि–मंडित **धराइ** करिहैं कहा ?
कहै 'रतनाकर' त्यौं माखन–सनेही बिनु
षटरस व्यंजन **चबाइ** करिहैं कहा ?"— (उद्धवशतक, छंद १०)

मथुराधिपति श्रीकृष्ण मणिमंडित किरीट के लिए '**पहनना**' क्रिया का प्रयोग न करके, '**धरना**' क्रिया का प्रयोग कर रहे हैं । '**व्यंजन पाना**' के स्थान पर '**व्यंजन चबाना**' का प्रयोग कर रहे हैं । इससे सिद्ध है कि मथुरानाथ श्रीकृष्ण को उनमें लेशमात्र भी कोई आनन्द नहीं आता । उनमें उन्हें कोई रुचि नहीं । यदि कवि रत्नाकर उपर्युक्त छन्द में '**धरना**' और '**चबाना**' क्रियाओं का प्रयोग न करते, तो श्रीकृष्ण के उदासी भाव की तथा खिन्न मन की अरुचि की अभिव्यक्ति न होती ।

उदीच्या और प्राच्या भाषाएँ

कुछ लोगों का कहना है कि संस्कृत सदा ग्रन्थ-लेखन की ही भाषा रही है, मानव व्यवहार की भाषा नहीं । उनके कथन में वास्तविकता नहीं है । वैदिक काल में उत्तर भारत में काटने में काम आनेवाली उदीच्या में **दात्र** (हिन्दी में दराँत) बोलते थे, उसे पूरब में **दाति** बोलते थे । यास्क ने 'निरुक्त' के नैगम काण्ड में लिखा है—

"दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दानामुदीच्येषु
—(यास्क, निरुक्त, नैगम काण्ड, २/१/२)

संस्कृत का एक शब्द कई वर्तनियों में ग्रन्थों में मिलता है । जलवाची **वारि** शब्द भारत में कहीं **वार्** भी बोला जाता था । बादल के अर्थ में **वारिद** शब्द भी था और **वार्दल** भी । अपभ्रंश के ग्रंथों में **वद्दल** शब्द मिलता है, जिसका संस्कृत शब्द **वार्दल** रहा होगा—सं० **वार्दल** > **वद्दल** > **बादल** । वायु के अर्थ में संस्कृत में **मरुत्, मरुत** और **मारुत** शब्द मिलते हैं । **ढेर** या **कोठार** के अर्थ में **भण्डार** और **भाण्डार** शब्द हैं । वाणी के अर्थ में **वाक्** और **वाक** दोनों गृहीत हैं । **शरद्, शारद; बराह, वाराह** दोनों ही साधु हैं । इसी तरह **अतिसार, अतीसार** भी ।

धान आदि कूटने में काम आनेवाली वस्तु को संस्कृत में **मुषल** कहते हैं । यही हिन्दी में **मूसल** कहलाता है । संस्कृत में **मुषल** ही नहीं, **मुशल** और **मुसल** शब्द

भी 'मूसल' के अर्थ में ही प्रचलित थे। हिन्दी **'मूसल'**=संस्कृत **मुशल, मुषल, मुसल**। संस्कृत में **कैलास** और **कैलाश**; **कौसल्या** और **कौशल्या**; **वसिष्ठ** और **वशिष्ठ**; नवपल्लव के अर्थ में **किसलय** और **किशलय**; बाण के अर्थ में **सायक** और **शायक**; सरस्वती के अर्थ में **सारदा** और **शारदा** शब्द प्रचलित थे। जानने की इच्छा के अर्थ में कोई **विविदिषा** बोलता था, कोई **विवित्सा**। ये उच्चारण भेद थे।

प्रत्येक भाषा के सामान्यतया दो रूप होते हैं—एक सीधी–सरल **जनभाषा** और दूसरी उच्चतर **परिनिष्ठत भाषा**।

वैदिक काल में प्राच्या जनभाषा थी और उदीच्या परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा।

शतपथ ब्राह्मण (३/२/३/१५) में कुरुजनपद की भाषा को अर्थात् उदीच्या भाषा को उच्चतर बताया गया है। सायण ने उसका भाष्य किया है—

"उदीची दिक् कुरुपाञ्चालाख्येषु जनपदेषु उच्चतरा वाग् वदति।"
—(शतपथ ब्राह्मण)

वृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख है कि राजा जनक द्वारा आयोजित यज्ञ में कुरुपाञ्चाल के ब्राह्मणों का स्थान सबसे आगे था। इसका कारण यही था कि वे ब्राह्मण **उदीच्या** भाषा के अच्छे वक्ता थे; विख्यात आचार्य थे।

पंजाब के उत्तर–पश्चिम में कश्मीर, अफगानिस्तान, ईरान आदि देशों में उदीच्या भाषा (संस्कृत भाषा) ही बोली जाती थी। पंजाब के दक्षिण–पूर्व में प्राच्या बोली जाती थी। प्राच्या के प्रदेशों में जनभाषा प्राकृत थी। पंजाब से बिहार तक प्राच्या का साम्राज्य था।

संस्कृत में थोड़े–से–स्वर व्यंजन–भेद से एक ही अर्थ में दो–दो शब्द मिलते हैं। कुहरे की भाँति आकाश में छाया हुआ प्रकाश संस्कृत भाषा में **नीहारिका** या **निहा–रिका** कहा जाता है। उपर्युक्त शब्दों से सिद्ध होता है कि **संस्कृत** उदीच्य देश में दैनिक जीवन में बोली जानेवाली भाषा थी। इसे पंडित भी बोलते थे और सामान्य जन भी; लेकिन प्राच्य देश में सामान्य जन **प्राकृत** ही बोलते थे।

व्याकरण का नियम है कि नञ् तत्पुरुष समास में स्वर से पहले यदि **अ** हो, तो वह **अन्** में बदल जाता है; जैसे अ+अभ्यास=**अनभ्यास**; अ+उदार=**अनु-दार**। यदि व्यंजन के पहले **अ** हो, तो **अ** ही बना रहता है; जैसे अ+क्रोध=**अक्रोध**। अ+हित=**अहित**; अ+बोध=**अबोध**।

'महाभारत' में ऋणमुक्त के लिए **'अऋणी'** शब्द का प्रयोग हुआ है-- "**अऋणी** चाप्रवासी च स वारिचर मोदते" (महाभारत, आप्टे, संस्कृतइँगलिश डिक्शनरी)। **अऋणी** शब्द से सिद्ध होता है कि महाभारतकार की दृष्टि में **ऋ** व्यं–जन है।

कालिदासकृत 'रघुवंश' (सर्ग १२/श्लो॰ ५४) में **अनृण** शब्द प्रयुक्त है—

अ + ऋण = अनृण । कालिदास की दृष्टि से ऋ स्वर सिद्ध होता है ।

अऋणी और **अनृण** शब्दों से सिद्ध होता है कि 'ऋ' का उच्चारण कहीं स्वर के रूप में था और कहीं व्यंजन के रूप में । अतः प्रमाणित है कि संस्कृत मानव-व्यवहार की भाषा भी थी । 'ऋ' का उच्चारण आज भी उत्तरप्रदेशवासी इकार के साथ और महाराष्ट्र के लोग उकार के साथ करते हैं ।

सूर का अन्धत्व

सूरसागर के रचियता सूरदास जन्मान्ध थे या नहीं—इसके उत्तर में मेरी स्पष्ट दृढ़ मान्यता इस प्रकार है—

यदि सूरदास को मनुष्य की शक्ति–सामर्थ्य की सीमाओं में ही माना जाता है, तो मेरा निश्चित मत है कि सूरदास जन्मान्ध नहीं थे, बाद में अन्धे हुए थे ।

जन्मान्ध को रँगों का ज्ञान कभी नहीं हो सकता । 'सूरसागर' के अनेक पद सिद्ध करते हैं कि सूरदास को रँगों की संयोजना का बहुत अच्छा ज्ञान था ।

● सूरसागर (पद १०८) के सूरदास नीलम, हीरा, पुखराज और लाल (माणिक्य) मणियों के रँग जानते हैं कि वे क्रमशः नीले, सफेद, पीले और लाल होते हैं । वे यह भी जानते हैं कि शनि नीला, शुक्र श्वेत, गुरु पीला और मंगल ग्रह लाल होता है । वे उन मणियों को उपमेय और ग्रहों को उपमान में प्रस्तुत करते हैं ।

● सूर सूरसागर (पद १४२६) में गोरी राधा को नीले वस्त्रों में वर्णित करते हैं । उसी सूर ने सूरसागर (पद ३२६६) में काली रात को नागिन (साँपिन) बताकर तथा उसके सफेद पेट को उपमेय और चाँदनी को उपमान बताकर तो कमाल ही कर दिया है । लोक में प्रचलित है कि काली सर्पिणी काटने के बाद तुरंत उलटी हो जाती है, तब उसके नीचे का सफेद भाग दिखायी दे जाता है । काली रात में चाँदनी का होना, ऐसा है मानो सर्पिणी काटने के बाद उलट गयी हो ।

"पिय बिनु नागिन कारी रात ।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात ।"
—(संपा० सीताराम चतुर्वेदी, सूरसागर, चतुर्थ खंड, पद ३२६६)

रँगों का ऐसा सटीक वर्णन जन्मान्ध कभी नहीं कर सकता ।

सूर–काल के भक्तकवि और संगीत (गीत, वाद्य और नृत्य)

भक्ति की भूमि पर सूर के वात्सल्य और वियोग शृंगार काव्य की प्रशंसा तो आलोचकों ने बहुत की है, लेकिन सूर को हमें विशेष प्रणाम इसलिए निवेदित करने पडेंगे कि सूरदास ने ब्रजभाषा के पदों के माध्यम से लोक–संगीत तथा शास्त्रीय संगीत की रक्षा की थी । भक्ति–काल के अनेक भक्त कवियों ने राग–

रागनियों में अपने पदों की सृष्टि की थी। सूरदास तथा हरिदास की गायकी तथा मीरा का मन्दिरों में नृत्य प्राचीन भारतीय संगीत की उच्चतम कला के प्रमाण हैं। दरबारी ध्रुपद गायकी का मूल स्रोत लोक–जीवन तथा मन्दिर–कीर्तन में मिलता है। ध्रुपद और विष्णुपद शैली का जन्म ब्रजभाषा के भक्त कवियों की वाणी से हुआ था। उन शैलियों को मुग़लबादशाहों के दरबारों में दरबारी गायक ले गये थे। तानसेन कवि भी था और गायक भी। हरिदास कवि भी थे और मूर्धन्य गायक भी। स्वामी हरिदास तानसेन और बैजू बावरा के गुरु थे।

मेरी व्याकरणिक मान्यता और साहित्य-बोध

मैं अपनी कुछ भाषिक एवं व्याकरणिक मान्यताओं के प्रति आज भी दृढ़ हूँ —

मैं मानता हूँ कि व्याकरणिक ज्ञान के बिना भाषा को ठीक–ठीक नहीं समझा जा सकता। भाषा–बोध के उपरान्त ही साहित्य के अर्थ और भाव को जाना जा सकता है। साहित्य को समझने से पहले उस भाषा को जानना होगा, जिसमें साहित्य व्यक्त हुआ है।

मेरा स्पष्ट मत है कि जो व्यक्ति जिस भाषा का व्याकरण नहीं जानता, वह उस भाषा के काव्य की आत्मा के दर्शन नहीं कर सकता। उस काव्य–भाषा को वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को भी पूरी तरह नहीं जान सकता और न बिम्ब-विधान से ही पूर्णतया अवगत हो सकता है, क्योंकि सबका आधार वाच्यार्थ है और वाच्यार्थ का आधार है, व्याकरण–बोध।

मैंने एक हिन्दी-अध्यापक को तुलसी के 'रामचरितमानस' की एक अर्धाली का प्रथम चरण सुनाया—

"प्रथम चरण भेंटी कैकेई" —(मानस, अयो० २४४/७

फिर पूछा कि इस वाक्य का कर्ता कौन है? अर्थात् भेंटने में पहल किसने की है? उनका उत्तर था कि 'कैकेयी' भेंटी है।

उनका यह ग़लत उत्तर व्याकरण न जानने के कारण था। वास्तव में उपर्युक्त अर्द्धाली-चरण में '**भेंटी**' क्रिया का कर्ता 'राम' है। 'कैकेई' कर्म है। 'भेंटी' कर्मवाच्य की क्रिया है। अर्थ है—राम द्वारा कैकेई भेंटी गयी। '**राम**' पद तृतीया विभक्ति में कर्ता है।

यदि '**राम**' पद कर्म होता और '**कैकेई**' पद कर्ता होता, तो तुलसी लिखते– "प्रथम राम भेंटे कैकेई।"

सारांश यह है कि पूरा बिम्बात्मक स्वरूप व्याकरण पर ही आधृत है। बिना व्याकरणिक ज्ञान के सारी अर्थ–प्रक्रिया अन्दाज़िया रहती है।

भरत सहित जब अयोध्या का समाज श्रीराम से मिलने चित्रकूट पर पहुँचा,

तब मुनि वशिष्ठ जी ने वहाँ निषादराज गुह को देखा और गुह ने मुनि वशिष्ठ को देखा । तुलसी अपने 'मानस' में लिखते हैं—

"रामसखा रिषँ बरबस भेंटा" —(संपा० शंभुनारायण चौबे, अयो० २४२/६)

जो पाठक अवधी का व्याकरण नहीं जानता, वह निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि पहल किसने की ? वशिष्ठ रामसखा गुह से भेंटे अथवा गुह मुनि वशिष्ठ से भेंटा । सारांश यह कि भेंटने की क्रिया का कर्ता कौन है ?

अवधी भाषा का व्याकरण जाननेवाला तुरन्त कहेगा कि उक्त चरण में '**रिषँ**' पद कर्ता कारक है, जो तृतीया विभक्ति का एकवचन है । तात्पर्य यह कि वशिष्ठ जी निषादराज से मिले हैं । उन्होंने गुह को धरती से उठाया और छाती से लगाया ।

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की भाषा के क्रियापदों के व्याकरणिक रूपों को समझने में कई शोधपंडितों ने भी भूलें की हैं ।

संवत् २०१४ वि० में लखनऊ विश्वविद्यालय से डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव का पी–एच० डी० (हिन्दी) का शोध–प्रबन्ध '**तुलसीदास की भाषा**' प्रकाशित हुआ था । उसके पृष्ट १३८ पर **जाना** और **पावा** क्रियापदों को भूतकाल में अन्यपुरुष में बहुवचन का रूप माना गया है—

"रमेउ राम मनु देवन्ह **जाना** ।" —(गीताप्रेस, मानस, अयो० १३२/६)

"तिन्ह सिय निरखि निपट दु:ख **पावा**"—(तुलसीदास की भाषा, पृ० १३८)

वास्तव में **जाना** और **पावा** अन्यपुरुष में एकवचनीय भूतकालिक कृदन्त है और कर्मवाच्य में है ।

"रिषिन्ह गौरि **देखी**" (मानस, बाल०७७/१) में '**देखी**' को डा० श्रीवास्तव भूतकाल में अन्यपुरुष, बहुवचन बताते हैं । वास्तव में **देखी** भूतकालिक क्रियापद कर्मवाच्य में स्त्रीलिंग, एकवचन है । अर्थ है ऋषियों द्वारा गौरी देखी गयी ।

कई विश्वविद्यालयों के एम० ए० (हिन्दी) पाठ्यक्रम में 'विशेष कवि' के रूप में तुलसी से सम्बद्ध एक प्रश्नपत्र है । एक प्रोफेसर लगभग दस वर्षों से तुलसी के काव्य–ग्रन्थों को एम० ए० (हिन्दी) के विद्यार्थियों को पढ़ा रहे थे ।

मैंने कहा तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की एक अर्धाली है—

"संग सती जग जननि भवानी । पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी ।।"
—(बाल० ४८ (क)/२)

कृपया बताइए कि इस अर्धाली में किसने किसको पूजा है ? उनका उत्तर था कि इसमें साफ़ तो लिखा गया है कि "ऋषि पूजे" अर्थात् ऋषि अगस्त्य शंकर

द्वारा पूजे गये हैं ।

मेरे मन ने अपना माथा ठोका । बुद्धि तुरन्त कहने लगी कि यदि किसी भाषा का साहित्य पढ़ानेवाला पहले उस भाषा का व्याकरण न पढ़ेगा, तो उसका यही हाल होगा ।

उन बेचारे प्रोफ़ेसर महोदय को क्रिया के काल तथा वाच्य का कुछ ज्ञान न था । '**पूजे रिषि**' का अर्थ अन्दाज़िया कर रहे थे । ऐसे ही अन्दाज़िया अर्थ विद्यापति की पदावली में भी चल रहे हैं, क्योंकि एम० ए० (हिन्दी) पढ़ानेवाले मैथिली भाषा का व्याकरण तो पढ़ते नहीं ।

"पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी" (मानस, बाल० ४८ (क)/२) का मानक हिन्दी-रूपान्तर इस प्रकार है—

"अखिलेश्वर जानकर शंकर जी ऋषि द्वारा पूजे गये ।"

इसमें '**शंकर**' कर्म और '**ऋषि अगस्त्य**' कर्ता है । यहाँ कर्ता तृतीया विभक्ति में है । कर्म शंकर प्रथमा विभक्ति में है । '**पूजे**' कृदन्त क्रिया भूतकाल में कर्म–वाच्य की है ।

कुछ साहित्यकार व्याकरणिक ज्ञान के प्रति हीन–भावना रखते हैं और कहते हैं कि सहृदय समाज में वैयाकरण को शास्त्राभ्यास जड़ माना गया है । उन लोगों में से कुछ से जब मैंने दो–एक कविताओं के अर्थ पूछे हैं, तो वे जड़ पकड़कर उनके पूरे अर्थ स्पष्ट नहीं कर सके हैं । बस अन्दाज़िया भावार्थ करते रहे हैं ।

हिन्दी के एक प्रोफ़ेसर से मैंने कवितावली के एक छन्द की निम्नांकित पंक्ति का अर्थ पूछा था—

"सो प्रभु **स्वै** सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव **करारे** ह्वै ठाढ़े ।"

—(तुलसीकृत कवितावली, अयो० छंद ५)

उपर्युक्त पंक्ति का जब वे प्रोफ़ेसर महोदय ऊपरी तौर पर भावार्थ–सा कर चुके, तब मैंने पूछा कि '**स्वै सरिता**' का क्या अर्थ है ? वे बोले 'अपनी नदी' । मैंने कहा कि 'अपनी नदी' के लिए तो तुलसी 'स्व सरिता' लिखते । यहाँ तो '**स्वै सरिता**' लिखा गया है । यह '**स्वै**' क्या है ?

कुछ देर मौन रहने के बाद कहने लगे कि **स्व** और **स्वै** एक ही बात है । तुलसी के छन्द–निर्वाह के लिए वैसे ही **स्वै** लिख दिया होगा ।

फिर मैंने प्रश्न किया कि **करारे** का क्या अर्थ है, तो उत्तर दिया '**किनारा**' । मैंने कहा 'किनारा' के लिए तो 'करार' शब्द है, फिर '**करारे**' का क्या अर्थ है ? उत्तर में प्रोफ़ेसर महोदय बोले कि **करार** को तुलसी ने छन्द–पूर्ति के लिए **करारे** लिख दिया है ।

यदि प्रोफ़ेसर महोदय को ब्रजभाषा के व्याकरण का बोध होता, तो वे ऐसी ऊटपटाँग बातें न कहते ।

वास्तव में **'स्वै'** का अर्थ है 'अपनी ही'; स्व+हि>स्व+इ> स्वै। 'करारे' का अर्थ है 'किनारे पर'। 'करार' शब्द का सप्तमी विभक्ति के एकवचन में रूप **'करारे'** है। **'द्वारे'** का अर्थ 'द्वार पर'।

"अवधेस के **द्वारे** सकारे गई"—(कवितावली, बाल० छन्द १)

एक यूनीवर्सिटी हिन्दी-अध्यापक दस वर्षों से हिन्दी की एम० ए० कक्षा में बिहारी कवि को पढ़ा रहे थे और दावा करते थे कि बिहारी के दोहों का अर्थ मुझे हस्तामलकवत् है।

मैंने 'बिहारी रत्नाकर' के प्रथम दोहे में उनसे **सोइ** का अर्थ पूछ लिया—

"मेरी भव बाधा हरौ राधानागरि **सोइ**" —(बिहारी लाल)

अध्यापक महोदय कहने लगे—"**सोइ**' का अर्थ है '**वह**"। मैंने कहा '**वह**' के अर्थ में तो ब्रजभाषा में '**सो**' आता है। कविवर बिहारीलाल ने '**सोइ**' क्यों लिखा? झुँझलाकर बोले **सो** न लिखकर '**सोइ**' लिख दिया; क्या फर्क पड़ता है? **सो** और **सोइ** एक ही बात है। उन्हें पता ही न था कि **सोइ** का अर्थ है 'वह+ही'=वही। सोहि>सोइ=वही।

विशेषकवि तुलसीदास को एम० ए० (हिन्दी) कक्षाओं में पढ़ानेवाले एक प्रोफ़ेसर से 'रामचरितमानस' की निम्नांकित अर्धाली में '**ओहू**' का अर्थ पूछा, तो इधर-उधर बगलें झाँकने लगे। कुछ क्षणों के उपरान्त कहने लगे, "**ओहू** का अर्थ 'स्त्री' है।"

"जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू।"

—(तुलसी, मानस, लंका० ६१/६)

अवधी में '**ओ**' सर्वनाम है। इसके लिए मानक हिन्दी में '**वह**' शब्द है। '**हू**' अव्यय है, जो **भी** के अर्थ में आता है। ओहू=वह भी।

सारांश यह कि कविता के अर्थ की आत्मा व्याकरण ही स्पष्ट कर सकता है। बिना व्याकरणिक ज्ञान के अवधी और ब्रजभाषा के काव्य-ग्रन्थों का सही बोध नहीं हो सकता।

एम० ए० (हिन्दी) कक्षाओं में 'विद्यापति-पदावली' पुस्तक पढ़ानेवाले एक प्राध्यापक से निम्नांकित पंक्ति का अर्थ मैंने पूछा था—

"नन्दक नन्द कदम्बक तरु तर धिरे धिरे मुरली **बजाव**।"

--(विद्यापति-पदावली)

उन्होंने अर्थ किया--

"हे नन्द के बेटे! कदम्ब वृक्ष के नीचे धीरे-धीरे मुरली बजाओ।"

'बजाव' क्रियापद का अर्थ उन प्राध्यापक महोदय ने आज्ञार्थ में **'बजाओ'** किया था। अर्थ सुनकर मेरा मन अपना माथा ठोकने लगा। न मालूम पूरी पुस्तक पढ़ाते समय उन्होंने कितने पदों के भ्रष्ट अर्थ किये होंगे।

मैंने उन महाशय से कहा, "मेरे भाई ! यदि 'विद्यापति–पदावली' पढ़ान स पहले मैथिली भाषा का कुछ व्याकरण आप पढ़ लेते, तो अर्थ का अनर्थ न करते। '**बजाव**' मैथिली भाषा में निर्देशार्थ में बर्तमानकाल का अन्यपुरुष का एकवचनीय रूप है। **बजाव**=बजाता है। इस प्रकार के क्रियापद तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की अवधी भाषा में भी मिलते हैं—जैसे, **आव**=आता है, आती है। **आव** तिङन्त क्रियापद है।

"उतरु न **आव** बिकल बैदेही"—(तुलसी, रामचरितमानस, अयो० ६४/३) अर्थात् बैदेही व्याकुल है, उत्तर नहीं आता है।

"कंठ सूख मुख **आव** न बानी" —(मानस, अयो० ३५/२)

(राजा दशरथ का कंठ सूख गया, मुख से वाणी नहीं आती।)

कराव=कराती है।

"गोद राखि **कराव** पय पाना" —(मानस, उत्तर० ८८/८)

(माता प्रभु को गोद में लेकर दुग्ध-पान कराती है।)

आव और **कराव** क्रियापद '**बजाव**' के समानान्तर ही हैं।

मानस की भाषा

जो व्यक्ति जिस भाषा के काव्य–साहित्य को पढ़ता–पढ़ाता है, और उस भाषा के व्याकरण की जानकारी नहीं रखता, तो वह अर्थ का अनर्थ कर सकता है।

मेरे एक साथी प्रोफ़ेसर थे; हिन्दी एम० ए० कक्षाओं को हिन्दी का मध्य-कालीन काव्य पढ़ाया करते थे। विचित्र अर्थ की खोज में अपने को अद्वितीय मानते थे। एक दिन 'रामचरितमानस' के किष्किधाकाण्ड की निम्नांकित अर्द्धाली का अर्थ करने लगे—

"कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि **बन** आए॥"

—(किष्कि० २/१)

प्रोफ़ेसर महोदय का अर्थ—"रामचन्द्र जी हनूमान् जी से कहते हैं कि हम कोसलेश दशरथ के पुत्र बनकर पिता के वचन मानकर आये हैं। सारांश यह कि हम वास्तव में दशरथ पुत्र नहीं हैं, लेकिन दशरथ-पुत्र बनकर आये है। श्रीराम ब्रह्म थे। वे दशरथ पुत्र बने थे।"

प्रोफ़ेसर महोदय के अर्थ को सुनकर अन्य साथी अध्यापक 'वाह–वाह' करने लगे। मुख्य बात यह थी कि प्रोफ़ेसर महोदय ने '**बन**' का अर्थ '**बनकर**' किया था।

मैंने मित्र प्रोफ़ेसर से कहा, "भाई, खड़ीबोली हिन्दी में तो '**बन**' को पूर्व–कालिक क्रिया (=बनकर) मानकर ऐसा अर्थ किया जा सकता है; लेकिन तुलसी

की अवधी भाषा के 'बन' का अर्थ 'वनकर' नहीं हो सकता। यदि गोस्वामी तुलसी-दास जी को आपका किया अर्थ अभीष्ट होता, तो वे 'बन' के स्थान पर 'बनि' (=बनकर) लिखते। किष्किधाकाण्ड (दो० ६/१४) में ही तुलसी 'सुनकर' के अर्थ में 'सुनि' लिखते हैं।

"सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला"
—(किष्कि० ६/१४)

मेरी इस बात को सुनकर वे कुछ क्षण चुप रहे और फिर अपनी हेठी समझ-कर अड़ियलपन दिखाने लगे, "नहीं–नहीं, मैंने जो अर्थ किया है, वह भी सही है।

कुछ रामायणी व्यास जो 'मानस' के मनमाने अर्थ करते हैं

भारत के व्यास तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की कथा का भक्ति–भाव अपने प्रवचनों के माध्यम से सामान्य जनता में प्रचारित करते रहते हैं। उससे राम-भक्ति के साथ–साथ हिन्दू–संस्कृति की भी पूत–पावनी धारा जनमानस की भूमि पर प्रवा-हित होती रहती है—यह बहुत अच्छी बात है। लेकिन कुछ रामायणी व्यास ऐसे भी हैं, जो तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की भाषा के मर्म से अनभिज्ञ होने के कारण जनता में भ्रांति फैलाते हैं और अर्थ का अनर्थ करते हैं।

एक बार मैं अलीगढ़ में एक रामायणी व्यास की राम-कथा सुनने गया था। उन्होंने 'रामचरितमानस' की निम्नांकित अर्धाली को उद्धृत करके बताया कि 'रामू' श्रीरामचन्द्र जी का बचपन का नाम था—

"सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू
—(बाल० २६/६)

राम–कथा की समाप्ति के उपरान्त मैंने उन व्यास जी को दूसरे दिन के लिए अपने घर पर भोजन हेतु निमंत्रण दे दिया। दूसरे दिन वे मेरे घर पधारे और भोजन किया।

भोजन के बाद जब उन्होंने कुछ विश्राम कर लिया, तब मैंने उनसे निवेदन किया, "भगवन्! आपने कल अपनी कथा में 'मानस' की अर्धाली (बाल० २६/६) को उद्धृत करते हुए बताया था कि श्रीरामचन्द्र का बचपन में नाम 'रामू' था। 'रामू' पद का प्रयोग 'मानस' में छह बार हुआ है। अयोध्या काण्ड में चित्रकूट पर भरत जी श्रीरामचन्द्र जी के लिए 'रामू' पद का प्रयोग करते हैं—

"गुर गोसाइँ साहिब सिय रामू" (अयो० २६१/८)

क्या भरत जी श्रीरामचन्द्र जी को बचपन के नाम 'रामू' के साथ स्मरण करेंगे? फिर एक प्रश्न यह भी है कि उसी अयोध्याकाण्ड (२६३/२) में तुलसी ने 'खभार' को 'खभारू' और 'तुसार' को 'तुसारू' लिखा है; क्यों?

'मानस' के अयोध्याकाण्ड (३/१; ३७/१) में तुलसीदास जी ने 'भुआल'

(सं० भूपाल) को '**भुआलु**' और **भुआलू** लिखा है; ऐसा क्यों ?

राजा दशरथ के लिए तुलसी ने '**भुआलू**' (अयो० ३७/१) लिखा है। क्या उन्हें भी कोई '**भुआलू**' कहता था ?"

मेरी इस बात को सुनकर व्यास जी कुछ क्षण चुप रहे और फिर कहने लगे कि हमारे गुरु जी ने तो हमें ऐसा ही बताया था कि श्रीरामचन्द्र जी का बचपन में नाम '**रामू**' था। कृपया आप बताइए कि वास्तविक बात क्या है ?

मैंने व्यास जी से निवेदन किया कि तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की अवधी भाषा में अकारान्त पुंलिंग संज्ञा शब्द जब एकवचनीय प्रथमा या द्वितीया विभक्ति में प्रयुक्त होते हैं, तब तुलसी उन्हें कभी-कभी उकारान्त कर देते हैं। जब वे उकारान्त पद अर्द्धाली के चरणान्त में आते हैं, तब तुकान्त-निर्वाह के लिए वे ह्रस्व स्वर को दीर्घ भी कर देते हैं अर्थात् **राम** को **रामा**; **रामु** को **रामू**, **भुआल** को **भुआला** और **भुआलु** को **भुआलू** लिखते हैं।

ऐसी स्थिति तभी होती है, जब मूल अकारान्त पुंलिंग संज्ञा प्रातिपदिक अर्द्धाली में कर्ता या कर्म कारक के एकवचन में प्रयुक्त होता है। यही बात '**खभारू**' और '**तुसारू**' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह तुलसीकृत 'मानस' की भाषा की अपनी एक शैली है।

ऐसी शैली जायसीकृत 'पदमावत' में भी मिलती है। '**बनवास**' शब्द को '**बनवासू**' और '**चिल्हावाँस**' शब्द को **चिल्हवाँसू** (पदमावत, नागमती वियोग खण्ड, ३५८/१) अर्द्धाली के चरणान्त में किया गया है।

दूसरे एक रामायणी व्यास से प्रत्यक्षतः वार्तालाप करते हुए मैंने उनसे '**रामचरितमानस**' के लंकाकाण्ड की निम्नांकित अर्धाली में आये हुए '**ओहू**' का अर्थ पूछा—

"जौं जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं **ओहू**॥"

—(मानस, लंका, ६१/६)

व्यास जी ने कहा कि '**ओहू**' का अर्थ 'स्त्री' है। श्रीराम कह रहे हैं कि यदि मैं यह जानता कि वन में भाई लक्ष्मण का विछोह होगा, तो पिता जी का वचन मानता, स्त्री का अर्थात् कैकेयी का वचन नहीं मानता।

व्यास जी की वाणी से यह अर्थ सुनकर मैंने माथा ठोका। व्यास जी से तो कुछ न कहा, क्योंकि उनसे कहता भी, तो उनके मन में बात बैठती नहीं।

यहाँ अब मैं अपने पाठकों से कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। वास्तव में बात यह है कि 'मानस' की अवधी भाषा में '**ओ**' सर्वनाम है, अर्थ है '**वह**'। 'हू' का अर्थ है '**भी**'। '**ओहू**' का अर्थ हुआ '**वह भी**'। "पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू" का अर्थ है—"पिता के उस वचन को भी (पिता का वह वचन भी) नहीं मानता।"

'**ओहि**' का अर्थ है 'उसको'। 'ओ+हि'=ओहि। इसमें -हि विभक्ति

प्रत्यय है । 'मानस' के अरण्यकाण्ड में तुलसीदास जी कहते हैं—

"काहूँ बैठन कहा न ओही" —(मानस, अरण्य० २/५)

अर्थात् उसको (काकरूप जयन्त को) किसी ने भी बैठने के लिए नहीं कहा। तुलसीदास ने चरणान्त में 'ओहि' को 'ओही' कर दिया है।

जब तक 'रामचरितमानस' की भाषा के व्याकरण का अर्थविज्ञानपरक गहन अध्ययन नहीं किया जाएगा, तब तक रामायणी व्यास तथा यूनीवर्सिटी अध्यापक 'मानस' के अन्दाज़िया या भ्रान्तिपूर्ण अर्थ ही करते रहेंगे।

तुलसी के 'मानस' की भाषा में अर्थ की दृष्टि से **सुहाई** और **सोहाई** में अन्तर है। **डर** और **अपडर** में अन्तर है।

'रामचरितमानस' में 'सुहाई' विशेषण है, अर्थ है 'सुन्दर'। **सोहाई** क्रिया है, अर्थ है 'सोहता है' 'अच्छा लगता है'।

"बरषा बिगत सरद रितु आई।
लछिमन देखहु परम सुहाई" —(किष्कि० १६/१)

(सुहाई सरद रितु=सुंदर शरद ऋतु)

"करौं सो बेगि जो तुम्हहि **सोहाई**" —(सुंदर० ५६/८)

(**सोहाई**=अच्छा लगता है)

तुलसीकृत 'रामचरितमानस' में **डर** (अर० २८/८; सुंदर० २२/६ का अर्थ है 'वास्तविक भय' और **अपडर** (बाल० २६/२; अयो० २४२/६) का अर्थ है 'कल्पित भय' या 'मिथ्या भय'। इसे 'हैलूसीनेटैड फियर' कह सकते हैं।

"जाकें **डर** सुर असुर डेराहीं।" —(अर० २८/८)

(**डर**=वास्तविक भय)

"भे निसोच डर **अपडर** बीता।" —(अयो० २४२/६)

(**अपडर**=कल्पित भय, मिथ्या भय)

मानस की भाषा और व्याकरण

'रामचरितमानस' की भाषा का व्याकरण जो पाठक नहीं जानता, उसके लिए '**काहू**' और '**काँहू**' में कोई अन्तर नहीं होगा। लेकिन अनुनासिक चिह्न (ँ) ने कारक और विभक्ति को बदल दिया है।

काहू=सर्वनाम, कर्म कारक, द्वितीया विभक्ति (=किसी को भी)

"सीता सुधि पूँछेहु सब **काहू**" —(मानस, किष्कि० २३/२)

(सीता का पता सब किसी से भी पूछना।)

काहूँ=सर्वनाम, कर्ता कारक, तृतीया विभक्ति (=किसी के द्वारा भी)

"**काहूँ** बैठन कहा न ओही" —(मानस, अर० २/५)

(किसी ने भी, किसी के द्वारा भी) बैठने को उससे न कहा (कहा गया)

अनुनासिक चिह्न से वाक्य का अर्थ ही बदल जाता है। अर्थ के इस मर्म को व्याकरण ही बता सकता है। व्याकरण न जाननेवाला अन्दाज़िया अर्थ करेगा। हवा में मुक्का मारेगा।

हिन्दी–व्याकरण में कारक और विभक्ति अलग–अलग हैं। कारक अर्थ में और विभक्ति रूप में होती है। हिन्दी तथा उसकी बोलियों में विभक्ति प्रत्यय और परसर्ग अलग-अलग हैं।

□ वाच्य और प्रयोग एक ही बात है। **कर्तृवाच्य** ही कर्तरि प्रयोग, **कर्म–वाच्य** ही कर्मणि प्रयोग और **भाववाच्य** ही भावे प्रयोग कहलाता है। हिन्दी में अकर्मक और सकर्मक क्रियाएँ भाववाच्य में आती हैं।

वैयाकरण–गुरु पाणिनि ने बताया है कि भाषा में शब्द प्रमुख रूप से दो तरह से प्रयुक्त होते हैं—(१) **पदरूप** में (२) **अव्यय रूप** में। व्याकरण न जानने-वाला इस अन्तर को न जानने के कारण वाक्य का सही अर्थ न जान सकेगा।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में '**बरू**' का प्रयोग कहीं पदरूप में और कहीं अव्ययरूप में किया है—

(१) पदरूप में '**बरू**' का प्रयोग—(**बरू**=दूल्हा)

"बरू बौराह बसहँ असवारा" —(मानस, बाल० ६५/८)

(**बरु**=कर्ता कारक, प्रथमा विभक्ति, पुंलिंग, एकवचन)

(२) अव्ययरूप में '**बरू**' का प्रयोग—(**बरू**=चाहे, भले ही)

"**बरु** पावक प्रगटै ससि माहीं।" —(मानस, बाल० ७१/८)

(**बरु**=अव्यय)

व्याकरण और अर्थ विज्ञान

व्याकरण कितना ही प्रयास करे, वह पूरी तरह भाषा को नियम की रस्सी में बाँध नहीं सकता। व्याकरण को हार माननी ही पड़ती है।

हिन्दी व्याकरण ने नियम बताया कि '**आया**' 'आना' क्रिया का भूतकाल है; जैसे—(१) मोहन **आता है** (वर्तमान काल (२) मोहन **आया** (भूतकाल) (३) मोहन **आएगा** (भविष्यत् काल)। अब निम्नांकित वाक्यों पर विचार कीजिए—

(१) "मैं यहाँ पिछली रात **आया**।"—इसमें '**आया**' भूतकाल की क्रिया है।

(२) रुको, मैं दस मिनट में **आया**।"—इसमें **आया** भविष्यत् काल की क्रिया है।

व्याकरण कहता है कि **होंगे** भविष्यत्काल की क्रिया है। "तुम वहाँ जाकर क्या करोगे, वे तो अभी **सोये होंगे**"—यहाँ क्रिया '**सोये होंगे**' वर्तमान काल की सूचक है। व्याकरण–काल–निर्णय की लिपि अर्थ के भाल पर लिखी होती है।

हिन्दी भाषा : रूप और स्वरूप

मैं अपने पाठकों को **राष्ट्र भाषा, राज्य भाषा, राजभाषा, विश्वभाषा, संपर्क भाषा** और **मातृभाषा** शब्दों की अवधारणाएँ भी यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

जो भाषा पूरे राष्ट्र में अधिक से अधिक बोली और समझी जाती है, वह **राष्ट्रभाषा** कहलाती है और वह एक ही हो सकती है। इस दृष्टि से **'हिन्दी'** भारत की **राष्ट्र भाषा** कहलाने की अधिकारिणी है।

जो भाषा किसी राज्य में बोली तथा समझी जाती है, वह उस राज्य की **राज्य भाषा** कहलाती है। **बँगला** बंगाल की **गुजराती** गुजरात की राज्य भाषा है। उत्तरप्रदेश राज्य की राज्य भाषा हिन्दी है।

सरकार की ओर से जो सरकारी काम–काज के लिए निश्चित की जाती है, वह **राजभाषा** कहलाती है। संविधान में भारतीय सरकार ने १४ सितम्बर, १९४९ ई० को हिन्दी को **राजभाषा** घोषित किया था।

भारत सरकार के तीन प्रमुख अंग हैं—

(१) विधायिका (२) कार्यपालिका (३) न्यायपालिका। विधायिका जो विधान बनाती है, उसका पालन कार्यपालिका करती है। न्यायपालिका देखती है कि विधायिका ने संविधान के अनुसार विधेयक बनाये हैं या नहीं? कार्यपालिका ने उन विधेयकों का ठीक–ठीक पालन किया है या नहीं?

सरकार के इन तीनों अंगों से सम्बद्ध कार्यालयों में काम में आनेवाली भाषा राजभाषा कहलाती है। संविधान में वह भाषा **हिन्दी** घोषित हुई है।

किसी राष्ट्र की राष्ट्रभाषा यदि बाहर के राष्ट्रों में भी बोली और समझी जाती है, तो उसे **विश्वभाषा** भी कह सकते हैं। मारीशस, फीज़ी आदि में हिन्दी बोली और समझी जाती है; अतः हिन्दी को **विश्वभाषा** भी कहा जा सकता है। वह हमारे राष्ट्रभारत में **राष्ट्रभाषा** भी पुकारी जा सकती है।

किसी राष्ट्र के विभिन्न राज्यों के निवासी जिस भाषा के माध्यम से अपना विचार–विनिमय करते हैं, उसे **संपर्कभाषा** कहते हैं। एक समान्य बंगाली दूसरे सामान्य गुजराती से हिन्दी में ही बात–चीत करता है। अतः हिन्दी को **संपर्कभाषा** का दर्जा भी प्राप्त है।

मातृभाषा का अर्थ माता या जननी की भाषा से नहीं है। कोई मनुष्य अपने जीवन में जन्म से जिस भाषा को बोलता और समझता आया है, वह उस मनुष्य की **मातृभाषा** कहलाती है। कुछ परिवार ऐसे भी हैं, जो जन्म से **हिन्दी** और **गुजराती** बोलते रहे हैं। उनके लिए दोनों ही **मातृभाषाएँ** मानी जा सकती हैं।

आज हमारे देश में द्विभाषी संस्कृति है—एक उन लोगों की संस्कृति, जो

अंग्रेजी के माध्यम से साहित्य–सर्जना करते हैं । दूसरी उन लोगों की संस्कृति, जो हिन्दी भाषा अथवा भारतीय प्रादेशिक भाषा के माध्यम से साहित्य–सर्जना करते हैं ।

आज विज्ञान और तकनीक को प्रायः अंग्रेज़ी के माध्यम से ही व्यक्त किया जा रहा है । हिन्दुस्तानी–अंग्रेजी–लेखक या साहित्यकार अंग्रेज़ी में ही कोई वैज्ञा–निक या तकनीकी पुस्तक लिख सकता है, क्योंकि उसने उसी में पढ़ा है । उसके विचारों के अनुगामी अन्य बहुत–से अध्यापक और रचनाकार अंग्रेज़ी में ही पढ़ना पढ़ाना तथा लिखना–लिखाना इसीलिए भी पसन्द करते हैं, ताकि वे समाज की ऊँची बिरादरी में गिने जाते रहें और रूखी–सूखी रोटियाँ खानेवालों के मुकाबिले में उन्हें अपनी रोटियाँ चुपड़ी मिलती रहें; दाल–साग में कुछ घी भी मिलता रहे ।

हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ी के उन लेखकों की वैज्ञानिक तथा तकनीकी पुस्तकों के हिन्दी–अनुवादों अथवा प्रादेशिक भाषा–अनुवादों से हमारा कल्याण न हो सकेगा । राष्ट्र के कल्याण के लिए अथवा कहिए भाषा की समृद्धि के लिए साहित्य–कार या लेखक का मौलिक चिन्तन परमावश्यक है । मौलिक चिन्तन की अभि–व्यक्ति से ही भाषा संवृद्ध होती है और उसकी अभिव्यंजना शक्ति सबल बनती है । हिन्दी सबल तब बनेगी, जब उसमें मौलिक चिन्तन के साथ विचारों की अभि–व्यक्ति की जाएगी । इसमें मूल बाधा यह है कि हिन्दी–संस्कृति का लेखक तो विज्ञान और तकनीक का ज्ञान नहीं रखता और जो अंग्रेज़ी–संस्कृति का लेखक है, वह हिन्दी में अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं रखता और न उसमें रुचि रखता है । वह अपने को भारतीय नहीं, हिन्दुस्तानीअंग्रेज़ मानता है ।

जब–जब हिन्दी या प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से उच्च शिक्षा देने का प्रश्न उठा है, तब–तब ही इन हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ों ने आपत्ति उठायी है और हिन्दी भाषा अथवा प्रादेशिक भाषाओं को विज्ञान और तकनीक के लिए अक्षम बताया है । भाषाएँ समृद्ध बनती हैं, प्रयोग से । ये हिन्दुस्तानी अंग्रेज हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं को माध्यम बनाना नहीं चाहते । भाषाएँ बोलते–बोलते, पढ़ते-पढ़ते तथा लिखते–लिखते समर्थ और सशक्त बना करती हैं । समृद्ध भाषा एक साथ आकाश से टूटकर नहीं गिरती ।

'शब्द' मात्र व्याकरण की प्रकृति और प्रत्यय से निर्मित सार्थक ध्वनि नहीं है । 'शब्द' वास्तव में वे माध्यम या साधन हैं, जिनमें किसी देश की युगों से परम्परागत रूप में प्राप्त परिवर्तित भावनाएँ, भाव–राशियाँ, चेतनाएँ और संस्कृतियाँ परिव्याप्त रहती हैं । उनमें हमारी वैयक्तिक तथा सामाजिक अस्मिता भी निहित रहती है । शब्दों का जन्म जिस देश की धरती के गर्भ से होता है, उसी देश के अन्तरिक्ष तथा आकाश में उनकी वास्तविक गूँज सुनी जा सकती है । उन्हीं शब्दों में उस देश के वृक्षों, नदियों, पर्वतों, पशुओं, पक्षियों

आदि की आवाजें भी सुनी जा सकती हैं। अंग्रेजी के शब्द भारत की प्रकृति को प्रकट नहीं कर सकते। अब प्रश्न यह है कि दुहरी संस्कृति के वातावरण का विकल्प क्या हो ? मेरी सम्मति तो यही है कि हम हिन्दी तथा भारतीय प्रादेशिकभाषाओं को हेय दृष्टि से न देखें। हम अपनी मनोभूमि में राष्ट्रीयता के अंकुरों का संवर्द्धन करें। वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा का माध्यम हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषाओं को बना दिया जाए। शीघ्र बना दिया जाए। राष्ट्र के स्वरूप की रक्षा राष्ट्रभाषा ही कर सकती है।

हिन्दी के असली दुश्मन

भारत में जो हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ हैं, वे हिन्दी के असली दुश्मन हैं। वे समाज के तीन वर्गों में पाये जाते हैं—(१) लेखकों में (२) सरकारी उच्च पदाधिकारियों में (३) ऊँचे उद्योगपतियों में।

भारत में अंग्रेज़ी लेखक अंग्रेज़ी में जरूर लिखेंगे, चाहे उनकी अंग्रेज़ी कितनी ही लूली–लँगड़ी हो, मुहावरों एवं प्रतीकों से दूर हो तथा अंग्रेज़ी भाषा की संस्कृति के विरुद्ध हो।

पचास वर्ष पूर्व मनीषी यीट्स ने कहा था कि "कोई भी कवि अपनी मातृ–भाषा के अलावा अन्य किसी भाषा में पूर्ण संगीतात्मकता एवं ऊर्जा के साथ काव्य–रचना नहीं कर सकता।"

श्रीमती कैथलीन रेन ने तो यहाँ तक कहा था कि "अंग्रेज़ों ने भारतीयों पर अपनी भाषा लादकर साहित्य की दृष्टि से न अपना भला किया, न भारत का। भारत के अंग्रेज़ी लेखकों ने अपने लेखन में हिंसा और सैक्स को चित्रित किया, जो भारतीयसंस्कृति में नहीं है।"

श्रीमती कैथलीन रेन का तो यह भी मत है कि भारतीय लेखकों को अंग्रेज़ी में ही लिखना चाहिए। भारतीय लेखक भारतीय भाषाओं में लिखकर ही अपने देश का भला कर सकते हैं।

महर्षि अरविन्द की अंग्रेज़ी कविताओं के विषय में सारे पश्चिमीय समा–लोचक एक मत हैं कि अरविन्द की अंग्रेज़ी कविताएँ निकृष्ट काव्य का अद्वितीय नमूना हैं।

भारतीय अंग्रेज़ी-लेखक ने जन्म तो भारत की धरती पर तथा भारत के आकाश के नीचे लिया है। पूरा जीवन भी भारत में ही बिताता रहा है, फिर भी अंग्रेज़ी में ही लिखता रहा है। अतः वह लेखक के रूप में न शिया रहा, न सुन्नी; बस बना रहा बीच का टुन्नी। भारतीय भाषाओं के प्रतीक और मुहावरे ही भारत को व्यक्त कर सकते हैं। हिन्दी में 'उल्लू' 'अज्ञान' का प्रतीक है; अंग्रेज़ी में 'ज्ञान' का।

हिन्दी में प्रिय अतिथि से मिलकर छाती शीतल होती है, क्योंकि भारत गर्म देश है। अंग्रेज़ी में प्रिय का 'वार्म रिसैप्शन' किया जाता है, क्योंकि इँग्लैंड ठंडा देश है। हिन्दी में **'चन्द्रमा'** पुंलिग है; लेकिन अंग्रेज़ी में वह स्त्रीलिंग है। हिन्दी में मधुरवाणी की प्रतीक **'कोकिला'** है, लेकिन अंग्रेज़ी में **'नाइटिंगेल'** है। हिन्दी में कोई व्यक्ति 'प्रेम-मग्न' होता है; लेकिन अंग्रेज़ी में 'फैल इन लव' होता है। हिन्दी में श्रद्धेय जनों के लिए **आप** सर्वनाम है और छोटों के लिए **तुम**। अंग्रेज़ी में आप के लिए कोई सर्वनाम नहीं है। **पातिव्रतधर्म**, **ब्रह्मचर्य**, **निर्वितर्क समाधि** आदि के लिए अंग्रेज़ी में शब्द नहीं हैं।

फिर भी भारतीय अंग्रेज़ी-लेखक स्वार्थ में अपनी अराष्ट्रीयता को व्यक्त किये चले जा रहे हैं। आज तक किसी भारतीय अंग्रेज़ी लेखक के साहित्य की प्रशंसा पाश्चात्य अंग्रेज़ी विद्वान् ने नहीं की।

हिन्दी के प्रति हमारी निष्ठाहीन नीति और उपेक्षा

भारतीय संविधान की धारा ५ (ख) में लिखा है—

"संविधान या किसी केन्द्रीय अधिनियम के अधीन जारी किये गये किसी आदेश, नियम, विनियम या प्रविधि का हिन्दी में अनुवाद अधिकृत प्रमाण माना जाएगा।"

फिर भी हिन्दुस्तानी अंग्रेज अपने कार्यालयों में अंग्रेज़ी पाठ को ही प्रमुख मानते हैं। हिन्दी-पाठ में सामग्री आने पर उसका पहले अंग्रेज़ी रूपान्तर चाहते हैं। परिणाम होता है कि कार्रवाई समय पर नहीं हो पाती।

बड़े-बड़े उद्योगपति भी अपने कार्यालयों में आवेदन-पत्र आदि अंग्रेज़ी में ही चाहते हैं। न मालूम हमारे देश से यह अराष्ट्रीय मानसिकता कब दूर होगी ?

आम जनता स्वतः कभी साहित्य के साथ रुचि लेनेवाली नहीं रही; वह साहित्य में रुचि लेनेवाली बनायी जाती है। आम जनता में साहित्यिक रुचि पैदा करनेवाले प्रमुख साधन हैं—विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, साहित्यिक संस्थाएँ, पत्र-पत्रिकाएँ, गोष्ठियाँ, कविसम्मेलन, आलोचनात्मक साहित्य का विस्तृत प्रसार आदि। हमारे देश में उपर्युक्त साधन शिथिल हो गये हैं। हिन्दी-साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए हमारी उक्त एजेन्सियाँ निष्ठा से काम नहीं करतीं। हिन्दी में साहित्यकार भी बहुत कम हैं। अधिकतर साहित्यिक मज़दूर हैं। साहित्यकार मौलिक चिन्तन से उद्भूत मौलिक विचार देता है। जो दूसरों के विचारों को अपनी भाषा में हेर-फेर के साथ समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है, वह साहित्यकार नहीं साहित्यिक मज़दूर है।

उत्तरप्रदेश जो हिन्दी का गढ़ कहलाता है, उसमें ६५% जनता निरक्षर है।

साहित्यिक अभिरुचिवाले मनुष्य कुल १५% हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी–साहित्य क्या उत्कर्ष करेगा ?

देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी का प्रयोग कितना प्राचीन है—इसका पता निम्नांकित तथ्य से लग जाता है।

मुग़ल सम्राट् अकबर की शासन–व्यवस्था में देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी भाषा का प्रयोग होता था। अकबर का अमल दस्तूर (चौदह पत्र) आज भी बीकानेर (राजस्थान) के अभिलेखागार में सुरक्षित है। यह देवनागरी लिपि में काली रोशनाई से लिखा हुआ अभिलेख है।

'अमल दस्तूर' से सिद्ध होता है कि अकबर के समय में राज–काज की भाषा हिन्दी थी।

अकबर के शासन-काल से आज (१९९३ ई०) तक कितना समय बीत गया ? यदि स्वतन्त्र भारत की जनता और सरकार में हिन्दी के प्रति सच्ची निष्ठा होती तो आज हिन्दी राजभाषा के रूप में कहाँ पहुँच गयी होती—इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। 'हिन्दी' वह भाषा है, जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और देवनागरी लिपि ब्राह्मीलिपि की विकसित अवस्था है। ब्राह्मीलिपि के प्रथम दर्शन हमें ईसापूर्व तीसरी शती में हुए थे।

हमारे सांस्कृतिक भारत का विस्तार

हमारे वर्तमान 'भौगोलिक भारत' से हमारा प्राचीन 'सांस्कृतिक भारत' बहुत बड़ा था। आज जो **ईरान** देश है, वही प्राचीन **आर्यायन** है। मध्यएशिया में स्थित **'अल्ताई पर्वत'** ही हमारा **सुमेरु पर्वत** है। **सुमेरु** या **मेरु** ही 'स्वर्णगिरि' कहलाता था। ब्रह्मा का निवास सुमेरु पर्वत पर था। लोमष भी सुमेरु पर रहते थे। व्यास पुत्र शुकदेव का जन्म भी सुमेरु पर हुआ था। कैलाश पर्वत तिब्बत में है। उस पर शिव का निवास था। पाणिनि की अष्टाध्यायी (४/१/९९) में **'आश्वकायन'** का उल्लेख है, इसे ही आज **अफगानिस्तान** कहते हैं। वर्तमान क**न्धार** ही प्राचीन **'गन्धार'** है। धृतराष्ट्र की पत्नी **गान्धारी** गन्धार प्रदेश की ही थी। पाणिनि की जन्मभूमि **शलातुर** थी। शलातुर आज पाकिस्तान में है। आज जो प्रदेश पामीर का पठार कहलाता है, वहीं प्राचीन काल में **काम्बोज** जनपद था। काम्बोज के पश्चिम में **वाह्लीक** जनपद था। **गन्धार, कपिश, काम्बोज** और **वाह्लीक** भारत के महा–जनपद थे। ये जनपद उदीच्य प्रदेश के अन्तर्गत थे। उदीच्या भाषा (संस्कृत भाषा) उदीच्य प्रदेश की जनभाषा थी। कश्मीर, अफगानिस्तान, ईरान आदि उदीच्या के ही प्रदेश थे। पाणिनि ने उदीच्या का ही व्याकरण लिखा था।

प्राचीन सांस्कृतिक भारत की प्राचीन भाषाओं का गहन और विस्तृत अध्ययन होना चाहिए। इसके साथ–साथ वर्तमान भारत की वर्तमान प्रादेशिक

भाषाओं के वृहत् कोश बनने चाहिए। उसी तरह से हिन्दी की सारी उपभाषाओं के जनपदीय कोश बनने चाहिए। उनके आधार पर फिर हिन्दी भाषा का एक महा-कोश तैयार होना चाहिए। तब हिन्दी के विराट् रूप के दर्शन हो सकेंगे।

शब्द बहुत लम्बी-लम्बी यात्राएँ करते हैं। संस्कृत का **पाद** इँगलैंड में जाकर **पैंड** हो गया। संस्कृत का खर (=गधा) ईरान में जाकर ख़र हो गया। वैदिकी भाषा का **सोम** ही अवेस्ता की ज़ेन्द भाषा में **हओम** कहलाता है। हिन्दी की उप-भाषा ब्रजी (ब्रजभाषा) का **वीर** (भाई) शब्द ही पंजाबी में **वीर** बोला जाता है। पंजाबी के एक लोक गीत में बहनें भाई न होने के कारण रोती हैं—"भैना रोदियाँ पिछोकड़ खड़के जिस घर वीर नहीं।"—(पंजाबी लोकगीत)।

अंग्रेज़ी भाषा ने संस्कृत से संज्ञा शब्द ही नहीं, अव्यय शब्द भी लिये हैं--

संस्कृत अव्यय		अंग्रेजी अव्यय
(१) नो, नोतु, नतु	—	(१) नो, नौट (No, Not)

संस्कृत में निषेधात्मक अव्यय **न, नो** और **नहि** हैं। हिन्दी में न और **नहीं** संस्कृत से ही आये हैं। हिन्दी का अव्यय **तो** संस्कृत के **तु** से विकसित है।

फ़ारसी भाषा ने संस्कृत के भूतकालिक कृदन्त भी ग्रहण किये हैं---

संस्कृत के भूतकालिक कृदन्त		फ़ारसी के भूतकालिक कृदन्त
(१) आप्तः	—	(१) याफ़्तः
(२) कृतः	—	(२) कर्दः
(२) मृतः	—	(३) मुर्दः
(४) आगत	—	(४) आयद

आर्य भारत के मूल निवासी थे। उनकी भाषा संस्कृत के शब्द ही ईरान और यूरोप पहुँचे थे।

हार्नले और ग्रियर्सन ने एक भ्रान्ति यह फैलायी थी कि भारत में आर्य बाहर से दो बार आये और भारतीय भाषाओं के दो वर्ग किये—(१) अन्त-रंग वर्ग (२) बहिरंग वर्ग।

सामान्य-जन और कवि

स्वाद की स्थिति पदार्थ में नहीं होती, अपितु स्वाद मुख-विवर तथा जिह्वा की रचना पर निर्भर है। नीम के पत्ते मनुष्य को कड़वे और ऊँट को मीठे लगते हैं। इसी प्रकार संसार की घटनाएँ मानव-मन में मन की रचना तथा उसके संस्कारों के अनुसार गृहीत होती हैं। सबल ग्राहिका शक्ति के कारण कवि का मानस सबसे अधिक संवेदनशील होता है। संसार की घटनाओं से कवि का मानस सबसे अधिक प्रभावित तथा द्रवित होता है। उसी प्रभाव तथा द्रविता के कारण

कवि की लेखनी उस प्रभाव को उचित शब्दों के द्वारा व्यक्त करती है। हृदयहीन व्यक्ति का मानस उन घटनाओं से प्रभावित या द्रवित नहीं होता। कविता सुसंस्कारित मन की शब्दात्मक भावमयी अभिव्यक्ति है। कविता के दर्पण में शब्द चन्द्रकान्तमणि की भाँति चमकते हैं। सच्चे कवि मनुष्य की विकृत मानसिकता को बदल सकते हैं।

मैं कह चुका हूँ कि सच्चा कवि सर्वाधिक विवेकमय संवेदनशील प्राणी है, जो कभी असत्य (ग़लत) के आगे झुकता नहीं। वह एक रसाल वृक्ष के समान है, जो मूल के रूप में एकाकी है तथा पल्लव के रूप में समाज के साथ है। फल के रूप में रसप्रदाता है।

मैं जो भी साहित्य–सृष्टि पुस्तकों के रूप में कर चुका हूँ, उसका वास्तविक श्रेय मेरी सेवापरायणा निष्ठावती पत्नी श्रीमती बसन्तीदेवी शर्मा को ही है। मैं प्रयत्न करने पर भी उसके ऋण से उऋण न हो सकूँगा।

मेरे आक्रोशी स्वभाव ने कभी–कभी उसके दिल को कुछ–कुछ दुखाया भी है, जिसके लिए मैंने बाद में मौन पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त भी किया है।

मैंने अपनी तीनों पुत्रियों (शारदा, वीणा और मधु) को उनके कौमार्य-काल में उनके कल्याण की दृष्टि से अपने कड़े अनुशासन में रखा है। मैं पूरी तरह से नहीं कह सकता कि उन्होंने मेरे अनुशासन को कहाँ तक उचित–अनुचित माना है? वैसे उन पर हुई मेरी कड़ाई की चोट पर मेरी पत्नी मरहम लगाती रही है। मैं उन पर कड़ा रहा हूँ, तो मेरी पत्नी उन पर नरम रही है। हम दोनों के गरम–नरम व्यवहार ने पुत्रियों को उठने का सुअवसर दिया है—ऐसा मैं समझता हूँ।

मैं कविसम्मेलनों में भी कुछ भाग लेता रहा हूँ। साहित्यसभाओं में साहित्य और भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करता रहा हूँ—इसे मेरी सामाजिकता माना जा सकता है।

माता सरस्वती के अनुग्रह से भारत की प्रायः सभी उच्चस्तरीय पत्र–पत्रिकाओं में मेरे लगभग ४०० (चार सौ) लेख प्रकाशित हुए हैं। मुझे इस बात का दुःखद आश्चर्य है कि मेरे समकालीन कुछ हिन्दी–लेखकों ने त्रैमासिक पत्रों में मेरे कुछ लेखों का अपहरण किया और अपनी पुस्तकों में छपवाया। 'अपहरण' शब्द का प्रयोग यहाँ मैं इसलिए कर रहा हूँ कि उन साथी हिन्दी लेखकों ने मुझसे अनुमति नहीं ली। मुझे पता चला, तो मैंने उनके पास पत्र डाले। मेरे पत्रों का भी उत्तर जब उन्होंने नहीं दिया, तब विवश होकर मैंने उनको अदालती वकालतन नोटिस दिलवाये। उसके बाद ही उनके पत्र आये और मैत्री की भाषा में लूला–लँगड़ा कारण बताते हुए क्षमा माँगी। अन्त में मैंने भी बात खत्म कर दी। उनकी वे चिट्ठियाँ अब भी मेरे पास रखी हुई हैं। मेरे प्रकाशित ग्रन्थ–**कृषक जीवन संबंधी ब्रजभाषा शब्दावली** से ब्रजभाषा–शब्द तो कई लेखकों ने लिये हैं।

हिन्दी–उर्दू की कविताओं में काम और प्रेम : मेरी मान्यता

काम अर्थात् कामवासना का सम्बन्ध शरीर-मिलन अर्थात् स्पर्श–सुख से है। इसे मांसल श्रृंगार भी कहा जा सकता है। हिन्दी–कविता में यह मिलता तो है, लेकिन अच्छा नहीं माना जाता। प्रसाद जी के 'आँसू' और 'कामायनी' में मांसल श्रृंगार अर्थात् काम की झलक एक-एक स्थल पर मिलती है—

"परिरम्भ कुम्भ की मदिरा निःश्वास मलय के झोंके।"
—(आँसू)

× × ×

"सिंधु सेज पर धरा बधू अब तनिक संकुचित बैठी-सी;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किये-सी ऐंठी-सी।"
—(कामायनी, आशा सर्ग)

महादेवी वर्मा की कविता में प्रेम है, काम नहीं। वह स्पर्श–सुख को अच्छा नहीं मानतीं। वे प्रियतम से मिलन की इच्छा की अमरता ही चाहती हैं। कहती हैं—

"इस अचल क्षितिज–रेखा–से तुम रहो निकट जीवन के;
पर तुम्हें पकड़ पाने को सारे प्रयत्न हों फीके!"
—(महादेवी वर्मा)

महादेवी जी मानती हैं कि प्रेमास्पद से मिलने की इच्छा उसके मिलन से अधिक प्रीतिकर और सुखकर है। प्रेम का सच्चा स्वरूप भी वास्तव में यही है। 'प्रेम' प्रियतम की स्मृति को आनन्ददायी मानता है।

उर्दू–कविता में माशूक के शरीर से लिपटना तथा उसका बोसा लेना अच्छा माना जाता है। मांसल श्रृंगार को उर्दू–शायरी अच्छा मानती है। एक शायर ने लिखा है—

"लिपटा मैं बोसा लेके तो हँसकरके वो बोले;
ये हुस्न की दौलत है लुटाई नहीं जाती।"

मशहूर शायर ग़ालिब लिखते हैं—

"क्या ख़ूब! तुमने ग़ैर को बोसा नहीं दिया;
बस चुप रहो, हमारे भी मुँह में ज़बान है।" —(ग़ालिब)

उर्दू की कविता में श्रृंगार में वीभत्स भी पाया जाता है। उर्दू की शायरी में आशिक क़त्ल होना, ज़ख़्मी होना, ख़ून में डूबना और ख़ून का दरिया बहाना बहुत अच्छा समझता है। लगता है यह इस्लाम की हिंसात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव है, जिसे 'हलाल' मान लिया गया है। जायसीकृत 'पदमावत' में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं।

वली, सौदा आदि की शायरी में इसके नमूने मौजूद हैं—

"दिल छोड़कर यार क्योंकर जावे,
ज़ख्मी हो शिकार क्योंकर जावे,
जब तक न मिले शराबे-दीदार-
आँखों का खुमार क्योंकर जावे।" —(वली)

X X X

"ज़ालिम मैं कह रहा कि तू इस खूँ से दर गुज़र;
सौदा का क़त्ल है ये छिपाया न जाएगा।" —(सौदा)

X X X

"मौजे-आतिश है सैल आँखों में,
शायद इस दिल का आबला फूटा। —(सौदा)

मेरे सन्तोषप्रद कुछ ग्रन्थ

मैंने अब तक (सन् १९९३ ई० तक) हिन्दी-भाषा, हिन्दी-साहित्य और भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध जो तीस पुस्तकें लिखी हैं, उनमें निम्नांकित पाँच पुस्तकें ऐसी हैं, जिन्हें लिखकर मेरे अन्तस् के साहित्य-सेवी ने कुछ सन्तोष का अनुभव किया है और मेरा साहित्यसेवी मन तटस्थ भाव से यह भी कह सकता है कि इन पुस्तकों के माध्यम से मेरी लेखनी ने हिन्दी-जगत् को कुछ नया-सा दिया है। ये पुस्तकें हैं—

(१) कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली, भाग १ और २
(२) रामचरितमानस : वाग्वैभव
(३) रामचरितमानस भाषा रहस्य
(४) भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति
(५) शब्दब्रह्म की ज्योति (शब्दार्थमीमांसा)

हमारी राजनीति

सन् १९४७ ई० से पहले हम परतन्त्र अवश्य थे; लेकिन हम अपने चरित्र में इतने पतित न थे; जितने सन् १९४७ ई० के बाद स्वतन्त्र भारत में हुए हैं। हमारे स्वतन्त्र भारत की राजनीति बदबूदार कीचड़ बन गयी है। कहने को भारत स्वतन्त्र है, लेकिन हम नरक भोग रहे हैं। जिस राष्ट्रपिता ने हमें आज़ादी दिलायी, उसे ही गोली से मार दिया गया। स्वतन्त्र भारत की निष्ठावती कर्मठ एवं समर्पित प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की निर्मम हत्या स्वतन्त्र भारत में ही हुई। इसी स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रसेवी स्व० प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के ज्येष्ठ पुत्र पूर्व प्रधान-

मंत्री राजीव गांधी को बम्ब-विस्फोट द्वारा समाप्त किया गया। माता-पुत्र की निर्मम हत्याएँ सात वर्ष के अन्दर कर दी गयीं।

'स्वतन्त्रता' और 'स्वराज्य' दो अलग-अलग अवधारणावाले शब्द हैं। अंग्रेज़ी शब्द 'इन्डिपैन्डैंस' (Independence) के समानान्तर हिन्दी-शब्द **स्वाधीनता** या स्वतन्त्रता है। महात्मा गांधी भारत में मात्र स्वतन्त्रता ही नहीं चाहते थे, वे भारत में स्वराज्य भी चाहते थे।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के **'स्वराज्य'** शब्द में स्वाधीनता की अवधारणा तो निहित थी ही, साथ में उसकी अर्थ-परिधि में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के चरित्र का औदात्य भी समाविष्ट था। दिनांक १५ अगस्त, १९४७ ई० के बाद महात्मा गांधी कहते थे कि भारत को **स्वाधीनता** तो मिल गयी, अब हम सबको **स्वराज्य** प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। महात्मा गांधी भारत में भौतिक विज्ञान की चमक देखना नहीं चाहते थे। वे भौतिकवाद के विरुद्ध थे। वे मशीनी-करण के पक्ष में न थे। वे सादा जीवनवाला समाजवाद चाहते थे। वे चाहते थे कि उसी सात्विक समाजवाद की ऊँचाइयों पर भारत चढ़ता चले और **योग** के उप-रान्त **क्षेम** की प्राप्ति करे।

सन् १९४७ ई० में भारत स्वतन्त्र हुआ। कांग्रेस को देश की शासन-सत्ता मिली। सत्ता मिलने के बाद देश की राष्ट्रीय भावना में शैथिल्य आ गया। सन् १९६६ ई० (४७ वर्ष) तक आकाशवाणी केन्द्रों पर जलियाँवाला-दिवस का नाम तक नहीं लिया जाता था। १९१९ ई० में जलियानवाला काण्ड हुआ था।

आजादी मिलने के बाद २३ साल तक हमें शहीद भगतसिंह का स्मारक बनाने की याद नहीं आयी। २३ मार्च, १९३१ ई० को भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को अंग्रेज सरकार ने फाँसी देकर उनकी लाशें मिट्टी का तेल डालकर रात में ही सतलज के किनारे जला दीं। उसके ३९ वर्ष बाद फीरोजपुर जिले के हुसैनी-वाला गाँव के निकट शहीद भगतसिंह की समाधि बनवायी गयी। उन शहीदों की याद स्वतन्त्र भारत को सन् १९७० ई० में आयी, जिनके बलिदानों ने भारत को स्वतन्त्रता दिलायी।

हम सात्विकता को छोड़कर भौतिकता की ओर बढ़े; फिर इक्कीसवीं सदी का स्वप्न देखने लगे। इसका परिणाम हुआ कि भारत में भी पश्चिम की भाँति हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ी। विज्ञान के नये-नये आविष्कारों ने हिंसा को सुकर बना दिया। भारत में विज्ञान तो जागा, लेकिन दर्शन सो गया। हमारी संस्कृति गिरी और विकृति उठी। इतनी उठी कि मनुष्य को राक्षस से भी अधिक क्रूर और नृशंस बना दिया। राष्ट्र पिता के 'स्वराज्य' के सत् स्वप्न को सदा के लिए समाप्त कर दिया।

महात्मा गांधी की मृत्यु के बाद हमारे देश में दार्शनिक एवं सांस्कृतिक साहित्य बहुत कम लिखा गया।

अध्यात्मवादी सात्विक समाज में श्रम और सदाचरण को अधिक महत्त्व दिया जाता है। श्रम के आधार पर पूँजी जब नीचे से ऊपर को जाती है, तब मानवीय मूल्य भी समाज में उठते हैं। परिश्रम–प्रेम आचरण का सहोदर है।

भ्रष्ट साधना से कमाया हुआ काला धन जब श्रम में ऊपर से नीचे की ओर प्रभावित होता है, तब उस देश के समाज के लोग मेधाहीन तथा आरामतलब बनते हैं। फिर उनमें उच्छृंखलता तथा आक्रामकता बढ़ती है। भौतिकवादी समाज भ्रष्ट-साधनों से कमाये हुए काले धन को बुरा धन नहीं मानता। हमारे भारत की आर्थिक दृष्टि बहुत कुछ ऐसी ही बन गयी है।

बोफ़ोर्स की दलाली में कौन शामिल था या कौन अलग था—प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न यह है कि तत्कालीन सत्तात्मक शासन ने उस दलाली को भ्रष्टाचार ही नहीं माना था। समाज में जब भौतिकवाद व्याप्त हो जाता है, तब अराजकता तथा हिंसा की ज्वाला में देश जलने लगता है। आज भारत की ऐसी स्थिति है।

वर्तमान स्वतन्त्र भारत में सत्ता की राजनीति को कुचक्रों और राजनेताओं के दूषित चरित्रों को देखकर मुझे नरेश मेहता कृत 'महाप्रस्थान' के वे शब्द याद आ जाते हैं, जो युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहे हैं—

"राजनीति और क्या है पार्थ ?
वह देवकन्या की नहीं
विषकन्या की आत्मजा है।"

—(महाप्रस्थान, सन् १६६० ई०, पृष्ठ ११५)

भौतिकवादी सत्ता के भूखे हमारे नेता तथा भारतीय समाज के मनुष्य अब यही चाहते हैं कि दूसरों को धकेल कर हम अपने को मालामाल करलें, अपनी भावी दो-तीन पीढ़ियों के लिए घर भरलें। जब विचारों में हिंसा है, तब कार्यों में अहिंसा कैसे आ सकती है ? वर्तमान समाज की आँखों के आगे राजनेताओं के दुराचरण और ढोंग-भरे चरित्र ही तो हैं। नेताओं के शब्दों में हिंसा की निन्दा अवश्य रहती है; लेकिन उनके अपने विचारों और कार्यों में हिंसा समाविष्ट रहती है—ऐसी स्थिति में भारत अहिंसावादी नहीं बन सकता। हमारे राष्ट्र के नेता कीचड़ से कीचड़ को साफ़ करना चाहते हैं, जो असंभव है। कीचड़ को साफ़ करने के लिए स्वच्छ जल की ही आवश्यकता होगी। वह जल हमारे नेताओं के पास नहीं है। जनतन्त्रात्मक भारत में मत-पत्र किस तरह पड़ते हैं ? मत पेटियों का उपयोग किस तरह किया जाता है ? इसे जनता अच्छी तरह जानती है। वह सब हमारे नेताओं के संकेत पर होता है। नेता ही अपने दूसरे विरोधी नेताओं की हत्या कराने का षड्यंत्र भी रचते–रचवाते हैं। फिर भी हमारे नेता भारतीय समाज को अहिंसावादी देखने का राग अलापते हैं। कैसी विडम्बना है ? कैसा विचित्र नाटक है ?

जब हिमालय से आनेवाले हिमनद का पानी बहकर इतना नीचे आ गया है, तब वह उल्टा बहकर हिमालय पर तो वापस जा नहीं सकता।

अब तो हमारे नेताओं को असत्य और अनीति का मार्ग त्यागना होगा। सब राजनीतिक पार्टियों को लेकर एक 'राष्ट्रीय अन्तर्निरीक्षण परिषद्' की स्थापना करनी होगी। उस परिषद् को पार्टियों की साधन–शुद्धि पर पूरा–पूरा ध्यान देना होगा। नेताओं का सात्विक आचरण ही इस देश को कुछ अहिंसावादी बना सकता है। राम, महावीर, और बुद्ध के देश में हिंसावाद इसलिए आया कि हमारी आध्यात्मिकता को भौतिकता ने कुचल दिया है।

ऊपर 'राष्ट्रीयअन्तर्निरीक्षण परिषद्' के लिए जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया है, उससे केवल आंशिक राजनीतिक सुधार हो सकता है। समष्टिमूलक सुधार तो वास्तव में तभी हो सकता है, जब हमारे देश की भौतिकवादी एवं भोगवादी मान–सिकता का मूलोच्छेदन किया जाए और जन–जन में ईशावास्य उपनिषद् के प्रथम मंत्र (ईशा वास्यमिदं सर्व यत् किञ्च जगत्यांजगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्) की भावनाओं को भरा जाए। इस काम को हमारे राष्ट्र के साहित्यकार, सन्त–महात्मा और सच्चे विद्वान् शिक्षक ही कर सकते हैं।

मंत्रद्रष्टा ऋषि ने मंत्र के प्रथम चरण में **जगती** और **जगत्** शब्दों के साथ **ईशावास्य** विशेषण तथा **यत्किञ्च** विशेष्य देकर सिद्ध कर दिया है कि इस परि–वर्तनशील संसार में जो कुछ है वह भी परिवर्तनशील है; और वह परिवर्तनशील भी ईश्वर का है; उसमें मनुष्य का कुछ भी नहीं है। मनुष्य को जो कुछ मिला है, वह ईश्वर द्वारा व्यक्त है अर्थात् उसी ईश्वर का दिया हुआ है। संसार के उस परि-वर्तनशील 'सर्व' में से ईश्वर ने जो अंश मुझे (मनुष्य को) दिया है, वह भी वस्तुतः सर्व का अंश होने के कारण अकेले उस मनुष्य का नहीं है, संसार के सभी प्राणियों का है अर्थात् उसमें चींटी से हाथी तक का भोग्य-भुक्त सम्मिलित है। सारांश यह कि मनुष्य को मिलेहुए भोगांश में सबका भोगांश समाविष्ट है। उसे मनुष्य यह न समझे कि वह ईशप्रदत्त भोगांश **मेरा** है, अपितु यह समझे कि **हमारा** है। '**हमारा**' में '**मेरा**' समझना ही वर्तमान भौतिकवादी मानसिकता को समूल नष्ट कर सकता है। औपनिषदिक ऋषि की यह भावना ही हमारे राष्ट्र का कल्याण कर सकती है। व्यक्ति सुधरे, तो समाज सुधरेगा। तभी राष्ट्र उठेगा।

यही वह उपयुक्त समय है, जब हमारे साहित्यकारों को ऐसे साहित्य की सृष्टि करनी चाहिए, जो यह बताए कि हमारी मानसिकता कितनी निकृष्ट बन गयी है? हमारा जीवन कितना गिर गया है? हमारा जीवन क्या है और क्या होना चाहिए?

मेरी मान्यता है कि जीवन की व्याख्या का नाम ही '**साहित्य**' है। मैं उस कवि का सर्वतोभावेन समर्थन करता हूँ, जिसने यह कहा है—

"अदब जो ज़िन्दगी के दायरे से दूर होता है;
वह तहज़ीब के सीने में एक नासूर होता है।"

साहित्यकारों से

स्वतंत्र राष्ट्र के कर्णधारों को अब राष्ट्र की चिन्ता नहीं, अपनी कुर्सियों की चिन्ता है । हम कितने क्रूर हो गये हैं, कितने चरित्रहीन हो गये हैं—यह बताना शब्दों में अब बहुत मुश्किल है ?

ऐसी स्थिति में राष्ट्र के साहित्यकारों का दायित्व कितना बढ़ जाता है—इसे साहित्यकारों को गहराई से सोचना होगा ।

भारत के कुछ हिन्दी-साहित्यकारों के चरित्रों की गिरावट भी मुझे दुःख देती रही है । इन्दिरा गांधी जब सत्ता में थीं; भारत के शासन की सूत्रधारिणी थीं, तब जो हिन्दी--साहित्यकार अधिष्ठात्री इष्ट देवी की भाँति उनकी पूजा-परिक्रमा किया करते थे, वे ही उनके सत्ता से हटने पर उनके सम्बन्ध में निन्दात्मक लेख लिखने लगे थे ।

हम हिन्दी-प्रेमी तथा हिन्दी-सेवी जन हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषा के गीत तो बहुत गाते हैं, लेकिन हमारा समाज अधिकांश में साहित्य-प्रेम से शून्य और संस्कारहीन है ।

साहित्यकार के प्रति समाज की उपेक्षा

सन् १९५३ ई० में हिन्दी-रीतिकाल के महाकवि देव के जन्म-स्थान कुसमरा (मैनपुरी) में एक विशाल देव-स्मारक की स्थापना हुई थी । तत्कालीन उत्तर-प्रदेश-राज्यपाल ने उसकी आधार-शिला सर्वश्री श्रीनारायण चतुर्वेदी, निराला, महादेवी वर्मा आदि के सान्निध्य में रखी थी । उन्हीं के प्रयत्नों से वहाँ कई कमरों का भव्य स्मारक निर्मित हुआ था । आज वह स्मारक भूतों का बसेरा बना हुआ है । उन कमरों में कुसमरा की गायें, भैंसें और गधे बाँधे जाते हैं ।

बस्ती जनपद के अगौना गाँव में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मूर्ति स्थापित की गयी थी । आज वह मूर्ति सुनसान में एक औझपे (बिजूखा)-सी दिखाई पड़ती है ।

पन्त जी के कौसानी गाँव के जन्म-गृह में कुछ समय पहले कसाई की दुकान थी । लमही में प्रेमचन्द की आदमकद मूर्ति पर वर्षों घास जमी रही थी । आयु-र्विज्ञान संस्थान दिल्ली में फिल्मी सितारे राजकपूर को देखनेवालों की भीड़ लग गयी थी । तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी भी उसे देखने गये थे; लेकिन उसी संस्थान में रुग्ण जैनेन्द्र जी को देखने उनमें से कोई नहीं गया था । स्मिता पाटिल की मृत्यु पर तो पत्रकारों ने अखबारों के कॉलम के कॉलम रँग दिये; लेकिन महा-देवी वर्मा के निधन पर उनकी लेखनियाँ बीमार हो गयीं ।

श्री राजीव गांधी यदि रुग्ण जैनेन्द्र जी को देखने उस अस्पताल में न गये,

तो हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए। राजनीति साहित्य को हेय दृष्टि से देखती आयी है।

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के प्रयास से फैजाबाद में प्रान्तीय हिन्दी–साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था। स्वागताध्यक्ष थे, आचार्य नरेन्द्र देव। उसमें आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन और बाबू संपूर्णानन्द पधारे थे। स्वागताध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने भाषण में कहा था, "आपके यहाँ दो–दो महापुरुष पधारे हुए हैं—एक हैं मानवीय बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन, दूसरे मान–नीय संपूर्णानन्द जी।"

कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य रामचन्द्रशुक्ल के उपस्थित रहने पर भी समागन्तुक महानुभावों में आचार्य नरेन्द्रदेव ने आचार्य शुक्ल के नाम का उल्लेख नहीं किया था।

इन पंक्तियों के पाठक आसानी से अनुमान लगा सकते हैं कि एक राजनीतिज्ञ किस दृष्टि से एक साहित्यिक को देखता है। बात साफ है कि राजनीतिज्ञ सरस्वती को राजनीति की दासी मानता है।

वर्तमान शिक्षक और छात्र

अब ज्ञान के क्षेत्रों से साधना उठती जा रही है। सब बिना लाग के चोखा रँग चाहते हैं। आज का न अध्यापक पढ़ता है और न विद्यार्थी। कुछ यूनीवर्सिटी टीचर भी अपने विद्यार्थियों से दोस्ती करके तथा चाय पिलाकर अपने अध्यापकीय कर्तव्य की गाड़ी खींच रहे हैं। विद्यार्थी भी अपने अध्यापक की चाटुकारी करके परीक्षा में अच्छे अंक लाना चाहते हैं। सारांश यह कि अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही परिश्रम से दूर रहना चाहते हैं। अधिसंख्यक यूनीवर्सिटी–टीचर यार शिक्षक हैं, 'गुरु' नहीं क्योंकि वे ज्ञान में भारी नहीं। गुरु का अर्थ है 'भारी'। अध्यापक ने कुछ युक्तियाँ भी सीख ली हैं, उनके माध्यम से वह ज्ञान, प्रसिद्धि और हैसियत को भी खरीद लेता है। एम० ए० के उपरान्त पी–एच० डी० का शोध छात्र भी परिश्रम करना नहीं चाहता।

आज का लेखक छोटे रास्तों तथा सँकरी गलियों में से होकर जल्दी साहित्य-कार की मंजिल पर पहुँचना चाहता है। वह कुछ मामूली–साहित्य पढ़ता है और अधकचरी भाषा सीखकर लेख लिखने तथा कविता रचने का अभ्यास करता है। उस अभ्यास में कुछ चोरी भी रहती है। चाय–पानी का खर्चा करके तथा कुछ ले–देकर छोटे-–मोटे स्थानीय समाचार पत्रों में फोटो खिँचवाकर वह छपता है और अपने को विख्यात लेखक तथा साहित्यकार समझने लगता है।

हिन्दी में कुछ शिक्षित लोग ऐसे भी हैं, जिनके पास बुद्धि और तर्क तो है; लेकिन संवेदनशील हृदय नहीं है। छन्द–ज्ञान भी नहीं हैं; वे फिर भी कवि–शिरो-

मणि विख्यात होकर जीना चाहते हैं। उन्होंने राजनीति का सहारा लेकर गुट बना लिये हैं और छोटी-बड़ी पंक्तियों में गद्य लिख रहे हैं; उसका नाम दे रहे हैं 'इन दिनों की कविता'। उनके कविसम्मेलन भी कभी-कभी हो जाते हैं। नये कवि जी अपनी 'नयी कविता' में क्या कहते हैं, उसे न उनके साथी कविगण समझते हैं और न श्रोता। कविता पाठ के अन्त में श्रोता तालियाँ अवश्य बजा देते हैं। हिन्दी साहित्य के धर्मक्षेत्र में राजनीति का कुरुक्षेत्र भी अपनी सेना सजा रहा है। उस सेना के कुछ सेनापति हैं, जो आपस में ही भिड़ जाते है और एक दूसरे के बाणों को खंडित करते रहते हैं। किस सेनापति का बाण कब और किस ओर छूटेगा, पता नहीं चलता ! प्रत्येक सेनापति अपने को धनुर्वेदाचार्य मानता है और वीराग्रणी भी।

स्वतन्त्र भारत में हिंन्दी

सन् १९४७ ई० में हमारा देश स्वतन्त्र हुआ। स्वतंत्र भारत का शासन-सूत्र कांग्रेस ने सँभाला। पं० जवाहरलाल नेहरू स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री हुए और अबुल कलाम आज़ाद शिक्षा-मंत्री।

कांग्रेस की सत्ताधारी सरकार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की जय-जयकार तो करती रही; लेकिन उसने अपने राष्ट्रपिता की जिन बातों को नहीं माना, उनमें एक राष्ट्र-भाषा हिन्दी भी थी। पं० नेहरू से लेकर आज (१९९३ ई०। तक भारत के जितने प्रधानमंत्री हुए; उनमें से एक में भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति सच्ची निष्ठा नहीं पायी गयी। सच्ची निष्ठा के अभाव के कारण ही 'राष्ट्र भाषा' हिन्दी केवल 'राजभाषा' बनकर रह गयी। सभी प्रधानमंत्री कहते रहे कि हिन्दी किसी पर थोपी न जाएगी, पर वे अंग्रेज़ी को थोपते भी रहे। कुछ राज्यों में तो उर्दू को भी द्वितीय राजभाषा बनाया गया।

सन् १९९१ ई० तक केन्द्र में कोई भी सरकार सत्ता में आयी, प्रत्येक अपनी कुर्सी के लोभ में हिन्दी की बलि देती रही।

भारत में जब तक काले अंग्रेज सत्ता में रहेंगे और जब तक कान्वेन्ट तथा पब्लिक स्कूलों की शिक्षा-पद्धति हमारे देश में चलती रहेगी, तब तक हिन्दी वास्त-विक अर्थों में न 'राजभाषा' बनेगी और न 'राष्ट्रभाषा'।

पब्लिक स्कूलों की शिक्षा ने हमारे देश में अंग्रेज़ियत की आँधी इस वेग से चलायी है कि उसे आँधी न कहकर 'प्रभंजन' कहना चाहिए। उसने भारतीय संस्कृति की जड़ें ढीली कर दी हैं। हमारे पर्वों तथा संस्कारों में डैडी-मम्मी वाली संस्कृति बुरी तरह से घुसकर बैठ गयी। हमारा समाज उसका अनुसरण करने में गौरव का अनुभव करने लगा है। हम मानसिक गुलामी को 'गौरव' मान रहे हैं।

हमारी मानसिकता में अराष्ट्रीयता की काई जम गयी है।

हिन्दी को सच्चे अर्थों में राष्ट्रभाषा के पद पर विराजमान करना न अकेले हिन्दी–लेखकों के वश में है, न अकेली हिन्दी–प्रदेशवासिनी जनता की सामर्थ्य में है और न अकेले किसी एक राज्य के काबू की बात है। सत्ता के भूखे राजनीतिज्ञों से तो हमें आशा रखना ही व्यर्थ है।

अब तो संपूर्ण भारत की जनता कटिबद्ध होकर आत्मनिष्ठा के साथ हिन्दी को यदि राष्ट्रभाषा का पद दिलाना चाहेगी, तो हिन्दी 'राष्ट्रभाषा' बनेगी। हमें काले अंग्रेज़ों को सत्ता के पदों से उठाकर दूर पटकना होगा। आम जनता द्वारा यह कार्य योजनाबद्ध रूप में चलाया जाना चाहिए; अन्यथा राष्ट्र का यह कोढ़ बढ़ता ही जाएगा। कोढ़ के साथ दिल का दर्द भी बढ़ता जाएगा।

भारत में कुल २४ करोड़, ७५ लाख साक्षर है। उनमें अंग्रेज़ी लिखने, पढ़ने और बोलनेवालों की संख्या १ करोड़ से अधिक नहीं है। हिन्दी के गीत तो बहुत गाये जाते हैं। कुछ राजनेता भी हिन्दी के प्रबल पक्षधर बनते हैं; लेकिन दुर्भाग्य है कि हिन्दी तथा भारतीय प्रादेशिक भाषाओं के समाचार पत्रों के पास अपनी समा–चार–समितियाँ नहीं हैं। हिन्दी तथा भारतीय प्रादेशिक भाषाओं के पत्रों में समा–चार अंग्रेज़ी से अनूदित होकर छापे जाते हैं। स्वतन्त्र भारत में हिन्दी के समाचार पत्र अभी तक अंग्रेजी–पत्रों की दया पर अपना जीवन बिता रहे हैं। हिन्दी में वैज्ञा-निक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग ने सभी विषयों के पारिभाषिक शब्द लगभग ८ लाख बना दिये हैं। विज्ञान और तकनीकी से सम्बद्ध ग्रन्थ–रचना के लिए हिन्दी की शब्द–सम्पदा पूर्णत: समर्थ और पर्याप्त है। फिर भी हिन्दी को असमर्थ बताया जाता है।

मेरी आत्मा सबसे अधिक तब दु:खी होती है, जब मैं हिन्दी–दिवस (१४ सित-म्बर) पर हिन्दी के प्रचार–प्रसार के सम्बन्ध में नेताओं के भाषण अंग्रेज़ी में सुनता हूँ और ग्रामीण जनों की पुत्र–पुत्रियों के विवाहों के निमन्त्रण–पत्र अंग्रेज़ी में छपेहुए देखता हूँ। ग्रामीण महिलाएँ भी जब अपनी संतानों को ज़ोर देकर 'मम्मी–पापा' सम्बोधन सिखाती हैं; सन्तानों के जन्म–दिन पर केकें काटती हैं और "हैपी बर्डे टू यू" कहकर तालियाँ पीटी जाती हैं। तब लगता है कि इँग्लिस्तान से तो इँगलिश जा सकती है, लेकिन हिन्दुस्तान से नहीं।

हमारे पत्रकार और हिन्दी

हमारे समाज पर अंग्रेज़ी सभ्यता तो छायी हुई है ही, लेकिन कोढ़ में खाज तो एक यह भी है कि अंग्रेज़ी भाषा का वाक्यविन्यास भी हिन्दी भाषा पर हावी होता जा रहा है। हिन्दी के दैनिक समाचार–पत्रों में अनेक हिन्दी–वाक्य अंग्रेज़ी

से प्रभावित देखे जा सकते हैं । 'नवभारतटाइम्स' के निम्नांकित वाक्य की रचना पर विचार कीजिए कि '**का**' का प्रयोग कहाँ पर किया गया है—

"तसछुक अहमद देव और जम्मू–कश्मीर के एक पुलिस उपाधीक्षक पूरनचन्द्र शर्मा, जिनका गत २२, २४ सितम्बर को क्रमशः अपहरण किया गया था, **का** आज भी कुछ पता नहीं ।"

हिन्दी के पत्रकार अंग्रेज़ी से अनुवाद करते समय हिन्दी भाषा की प्रकृति की रक्षा करें, उसके व्याकरण पर पूरा-पूरा ध्यान दें, तभी हिन्दी का कुछ कल्याण होगा । अन्यथा अंग्रेज़ी हमारी हिन्दी को दासी के दरजे से नीचे पटक देगी ।

हिन्दी का सामान्य पाठक और हिन्दी–लेखन

भारत में गत दस वर्षों में हिन्दी के सामान्य पाठकों की संख्या में वृद्धि हुई है । दिल्ली में हिन्दी–पाठकों की संख्या में १० प्रतिशत की वृद्धि हुई है । 'नवभारत–टाइम्स' के पाठक १६ प्रतिशत बढ़े हैं । पाठक–वृद्धि का लक्षण शुभ है, लेखक-सर्जना का लक्षण अशुभ है ।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ये हिन्दी के पाठक किस प्रकार का साहित्य पढ़ते हैं और उसी साहित्य को ही क्यों पढ़ते हैं ?

हिन्दी के वर्तमान संपूर्ण वाङ्मय को वर्गीकृत किया जाए, तो मुख्य वर्ग तीन बनते हैं—(१) **भावात्मक वाङ्मय** (२) **विचारात्मक वाङ्मय** (३) **सूचना-समाचारात्मक वाङ्मय** अर्थात् विवरणात्मक वाङ्मय । हिन्दी का सामान्य पाठक प्रायः तीसरे वर्ग के वाङ्मय को ही अधिक पढ़ता है । यदि कुछ समय मिल जाता है, तो छोटी–छोटी कहानियाँ या चुटकुले पढ़ लेता है । आज का सामान्य हिन्दी–पाठक साहित्य की अन्य विधाओं को नहीं पढ़ता । इसका कारण यह है कि अन्य प्रकार का साहित्य असल नहीं है, नकल है ।

जिस देश का लेखक सुख–सुविधा का जीवन जीना चाहता है; जिस देश के लेखक को जीवन-लक्ष्य उच्च पद और प्रभूत अर्थ की प्राप्ति हो जाती है, वह लेखक कभी सच्चे साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता ।

हमारे देश का लेखक समाज और राजनीति में जो देखता है, उसे स्वतन्त्रता पूर्वक ईमानदारी से निर्भीक होकर नहीं लिखता । उसका लेखन असली नहीं है, नकली है ।

कबीर ने 'कागद की लेखी' को झूठ और 'आँखिन देखी' को सच बताया था । आँखों से देखी हुई बात को लेखक जैसा अनुभव करे, उस अनुभूति को सचाई के साथ व्यक्त करे, कबीर उसे ही 'आँखिन देखी' कहता है । अनुभूति से हटकर स्वार्थ के वशीभूत होकर लिखना तो नितान्त असत्य है, छल का प्रदर्शन है । हिन्दी

का सामान्य पाठक हिन्दी–लेखक के छल को समझता है । अतः छलपूर्ण विचारात्मक या भावात्मक लेखन से हिन्दी का सामान्य पाठक दूर रहना चाहता है । नकली साहित्य के पढ़ने में हिन्दी के पाठक को रुचि नहीं है । हो भी नहीं सकती । असल में आकर्षण का और नकल में विकर्षण का होना स्वाभाविक है । हिन्दी का सामान्य पाठक जानता है कि हिन्दी का लेखक वह नहीं लिख रहा, जो वह अपनी आँखों से देख रहा है । हिन्दी के अधिसंख्यक लेखक संप्रेषणीयता में सहज भी नहीं है । हिन्दी के लेखक शास्त्र का पिष्टपेषण अधिक करते हैं; लोक की आत्मा की ओर बहुत कम देखते हैं । लोक के मानसिक दुःख को दूर करनेवाली लेखनी अधिकतर हिन्दी-लेखकों के पास नहीं है ।

अंग्रेजी की असलियत

आश्चर्य है कि वह अंग्रेज़ी भारत में हिन्दी को दासी बनाकर अभी तक राज्य कर रही है, जिसका आदि में अपना कोई अस्तित्व ही नहीं था और जिसने कहीं से ईंट और कहीं से रोड़ा लेकर भानमती की तरह अपना कुनबा जोड़ा था ।

'ऐंग्ल' और **'सैक्सन'** नाम के जर्मन कबीले ब्रिटेन में सन् ११०० ई० के लगभग पहुँचे थे । उनकी भाषा **'ऐंग्लोसैक्सन'** थी । वही बाद में 'इँगलिश' कहलायी । इँगलिश के कारण ही उस देश का नाम 'इँगलैण्ड' पड़ा । सन् १०६६ ई० में नार्मन जाति ने इँगलैण्ड पर अधिकार कर लिया था । बाद में फ्रेंच भाषा का प्रभाव इँगलिश पर पड़ा अर्थात् उस मूल ऐंग्लोसैक्सन भाषा में फ्रेंच भाषा के शब्दों का समावेश हुआ । १२०६ ई० में नार्मनों की पराजय हो जाने पर अंग्रेज़ी का वर्चस् बढ़ने लगा ।

१६वीं शताब्दी में अंग्रेज़ी ने ग्रीक, व लैटिन शब्दों से तथा जर्मनी डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन देशों की भाषाओं के शब्दों से अपना कुनबा बढ़ाया । अंग्रेज़ी में ७५ प्रतिशत शब्द अन्य भाषाओं के हैं, केवल २५ प्रतिशत शब्द उसके अपने हैं । संस्कृत के अनेक शब्द अंग्रेज़ी ने उधार लिये हैं । पराया माल अपना सिद्ध करने के लिए उनकी सूरत–शक्ल में अन्तर कर लिया । समझदार आँखें उन्हें देखकर तुरन्त पहचान लेती हैं कि वे संस्कृत शब्द हैं ।

संस्कृत और हिन्दी में जो शब्द हैं, वे अंग्रेजी में प्रचलित हैं, उन पर थोड़ा-सा रँग-रोगन अवश्य है—

संस्कृत शब्द	अंग्रेज़ी शब्द
(१) कर्पूर	(१) कैम्फोर (Camphor)
(२) दातव्य	(२) डेटिव (Dative)
(३) मातृ	(३) मदर (Mother)
(४) भ्रातृ	(४) ब्रदर (Brother)

(५) खट्वा	(५) काट	(Cot)
(६) पशुचर	(६) पासचर	(Pasture)
(७) लोभ	(७) लव	(Love)
(८) पद, पाद	(८) पैड	(Pad)
(९) अहिफेन	(९) ओपियम	(Opium)
(१०) मिश्रण	(१०) मिक्चर	(Mixturc)

अंग्रेजी के लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अनेक ऐसे शब्द लिये हैं, जिनका प्रयोग हिन्दी में होता है।

हिन्दी का विशेषण शब्द **'पक्का'** अंग्रेज़ी में प्रयुक्त होता है। **जंगल** और **ठग** संज्ञा शब्द कर्लाइल ने प्रयुक्त किये हैं।

धर्म, कर्म, पंडित, समाधि, ब्रह्मचर्य, पतिव्रता, बाज़ार, पर्दा, घिराव, गुंडा, अहिंसा, लूट, बन्द आदि शब्द अंग्रेज़ी में प्रयुक्त हुए हैं।

हिन्दी में **सूर्य** के लिए रवि, **अरुण, मार्तण्ड, दिनकर, प्रभाकर,** आदि शब्द हैं; लेकिन अंग्रेज़ी में केवल एक **सन** शब्द है। हिन्दी के **विधु, सुधांशु, सोम, मयंक, शशी, चन्द्र, इन्दु, राकेश** आदि को अंग्रेज़ी का अकेला **मून** व्यक्त नहीं कर सकता। हिन्दी के **'आप'** सर्वनाम के लिए अंग्रेज़ी के पास कोई शब्द नहीं।

राष्ट्रविरोधी तत्त्व

मैं यह मानता हूँ कि जो लोग जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह, वर्ष–गाँठ आदि उत्सवों पर अंग्रेजी में निमंत्रण–पत्र भेजते हैं अथवा नववर्ष, होली, दिवाली आदि पर्वों पर शुभकामनाएँ अंग्रेज़ी में प्रेषित करके अपने को गौरवशाली मानते हैं, वे निश्चित ही राष्ट्र के विरोधी हैं। मेरा सारस्वत विवेक उन्हें समाज का दूषण-तत्त्व मानता है।

हमें अपने कुटुम्बी जनों तथा सगे सम्बन्धियों से सदा अपना पत्र-व्यवहार अपनी मातृभाषा में ही करना चाहिए। निजी पत्राचार अंग्रेज़ी में करना अराष्ट्रीयता है।

जो उर्दू–लेखक उर्दू भाषा में अरबी–फारसी के क्लिष्ट शब्दों की भरमार करते हैं तथा वाक्यों की रचना में अरबी–फ़ारसी का व्याकरण अधिक प्रयुक्त करते हैं, मेरी दृष्टि में वे साम्प्रदायिक हैं। मेरा मनोविज्ञानी मन यह कहता कि वे हिन्दुस्तान को अपना देश नहीं मानते। इस देश की मिट्टी की सुगन्ध में उन्हें दुर्गन्ध आती है।

हिन्दी भारत की सम्पर्क भाषा किस तरह बनायी जा सकती है, साम्प्रदायिकता किस तरह मिटायी जा सकती है—इसे उत्तरप्रदेश के कबीर, महाराष्ट्र के एकनाथ तथा मुसलमान सन्त शहामुनी अच्छी तरह जानते थे। इन सन्तों ने

ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली की मिली–जुली हिन्दी भाषा में अपनी भावनाएँ व्यक्त की थीं। सन्त एकनाथ ने तो मराठी, हिन्दी, गुजराती और कन्नड़ में भी रचनाएँ की थीं। एकनाथ की हिन्दी में मराठी के कुछ शब्दों का पुट मिलता है। इन सन्तों ने हिन्दू–मुसलमानों की संकीर्णताओं को दूर किया था।

वर्तमान हिन्दी और उर्दू के लेखकों को उपर्युक्त सन्तों से प्रेरणा लेनी चाहिए। हिन्दी संस्कृतनिष्ठता त्यागकर आगे बढ़े और उर्दू अरबी–फारसी की कैंचली उतारकर कदम बढ़ाए, तभी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीयभावना उद्‌बुद्ध होगी और साम्प्रदायिकता की दीवारें गिरेंगी। तभी भारतीय संस्कृति का भारत में प्रसार होगा।

हमारी शिशु-शिक्षा

जहाँ तक मुझे स्मरण है, बात सन् १९६२ ई० के मई–जून महीनों की है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, भारत सरकार, नई दिल्ली की ओर से मसूरी में हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली–निर्माण के लिए दो महीनों की कार्य–शाला लगायी गयी थी। वह कार्यशाला (स्व०) डा० बाबूराम सक्सेना के तत्त्वा–वधान में चली थी। उस समय डा० सक्सेना शब्दावली आयोग के उपाध्यक्ष थे। डा० दौलतराम कोठारी उसके अध्यक्ष थे। कृषिशब्दावली–समिति का मैं भाषाविद् के रूप में एक सदस्य था। अतः मैं भी उस कार्यशाला में दो महीने मसूरी रहा था।

प्रातः–सायं जब हम मसूरी की माल रोड पर भ्रमण के लिए जाया करते थे। भ्रमण में हमारे साथी डा० रामधन शर्मा, डा० हरिहरप्रसाद गुप्त और चौधरी तेजपालसिंह विशेष रूप से रहते थे। कभी–कभी डा० रणवीर रांग्रा भी हमारा साथ दिया करते थे।

मसूरी में जो कुछ मैंने देखा, उनमें से दो चित्र मेरे स्मृति-पटल पर आज भी स्पष्टतः चित्रित हैं— एक मज़दूर कुलियों की पीठ पर के बोझे जिन्हें लेकर वे पहाड़ी की ऊँची जगहों पर चढ़ते थे; दूसरा लाल टिब्बा, जहाँ से हिमालय–पर्वत की श्वेत–पर्वतमाला साफ़–साफ़ दिखायी देती थी। उन कुलियों को झुकी हुई पीठ पर लगभग एक क्विटल बोझ लादकर और लम्बी–लम्बी साँसें भरकर चलते देखकर मेरा मन करुणा से भर जाता था। मैं सोचने लगता था कि हमारे देश में स्वतन्त्रता का सूर्य उदय तो हुआ है, लेकिन उसकी धुँधली एक किरण भी बेचारे उन मजदूर कुलियों के घर के द्वार पर नहीं पहुँची। भ्रमण–मंडली से कुछ क्षण के लिए अलग होकर मैं भाग्य और पुरुषार्थ की गुत्थी को मुरझाये मन से सुलझाने लगता था। तब साथियों की आवाज़ सुनकर ही उस करुणार्द्र स्थिति से बाहर आपाता था।

आज अपने स्वतन्त्र देश के पंचवर्षीय शिशुओं की पीठ पर जब मैं बस्तों का

बोझ देखता हूँ, तो एकदम मुझे मसूरी के उन मजदूर कुलियों की याद आ जाती है। पहले तो देश की शिक्षा–नीति को भी कोसने लगा था।

आज की प्रारम्भिक शिशु-शिक्षा-पद्धति नितान्त असहज तथा अस्वाभाविक है। पाँच वर्ष के शिशु पर किताबों का इतना बोझ लाद दिया जाता है कि उसकी विषय–सामग्री रटते–रटते उसकी बुद्धि, प्रतिभा तथा मेधा कुंठित हो जाती है। उसकी स्वयं की कल्पनाशक्ति तथा चिन्तना समाप्त हो जाती है।

श्रीमद्भागवत (११/७/·२) में महाराज यदु और अवधूत दत्तात्रेय का वृत्तान्त वर्णित है। 'दत्तात्रेय' अत्रि और अनसूया के पुत्र थे। उन्हें विष्णुभगवान् का अंशावतार माना जाता है। अनसूया के दो पुत्र और थे—ब्रह्मा के अंशावतार चन्द्र और शंकर (रुद्र) के अंशावतार दुर्वासा।

दत्तात्रेय जी ने प्रकृति के पदार्थों तथा जीवों से स्वतः शिक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने २४ गुरु बनाये थे—**(१) पृथ्वी (२) वायु (३) आकाश (४) जल (५) अग्नि (६) चन्द्रमा (७) सूर्य (८) कबूतर (९) अजगर (१०) समुद्र (११) पतिंगा (१२) मधुमक्खी (१३) हाथी (१४) शहद बटोरनेवाला (१५) हरिण (१६) मछली (१७) पिंगला वेश्या (१८) कुरर (१९) बालक (२०) कुमारी कन्या (२१) बाण बनानेवाला (२२) सर्प (२३) मकड़ी (२४) भृंगी**। इनसे शिक्षा ली और उसे जीवन में उतारा।

अवधूत दत्तात्रेय और राजा यदु का वृत्तान्त यह संकेत करता है कि बालक को प्रकृति से शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर अधिक से अधिक देना चाहिए। प्रकृति शिशु की प्रथम पाठशाला है।

दत्तात्रेय जी ने तो २४ गुरुओं की बात कही है। सन् १९५२ ई० से १९५५ ई० तक अपने पी–एच० डी० शोध–प्रबन्ध की तैयारी के लिए मैंने तो कितने ही किसानों, ग्रामीण पेशेवरों, कलाविदों, मजदूरों तथा शिल्पकारों को गुरु बनाया था। अनेक लताओं, वृक्षों, गुल्मों और फूलों–फलों को देखा था; लेकिन उनसे आत्मा का जागरण नहीं किया, केवल उपाधि के लिए समय लगाता रहा। दत्तात्रेय को मैंने पढ़ा; लेकिन उनकी वाणी की व्यंजना का अंजाम अपनी आँखों में नहीं आँजा। यह कसक सालती रहती है।

पश्चिम की साज़िश

मैं एक महान् चिन्ता से चिन्तित हूँ। उस चिन्ता से संपूर्ण भारत के साहित्य कार मिलकर योजना बनाकर ही मुक्त कर सकते हैं।

पश्चिम हमारी पारिवारिक एवं सामाजिक संस्कृति को प्रभावित ही नहीं कर रहा, अपितु हमारे साहित्य पर भी कुप्रभाव डाल रहा है। पश्चिम के भौतिक–वाद ने भारतीय अध्यात्म को कुचलकर रख दिया है।

पिछले पचास वर्षों से पश्चिम ने साहित्य को, विशेष रूप से दर्शन और कविता को, नकारना प्रारम्भ कर दिया है। वह विज्ञान के आगे साहित्य को व्यर्थ अर्थात् कालातिपात करनेवाली झक मानता है। पश्चिम का दर्शन केवल मन–बुद्धि तक सीमित था। उस दर्शन ने पहले तो आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकारा, फिर परमात्मा को नकारा। अब वह दर्शन स्वयं को भी नकार रहा है।

पश्चिम जिस उपयोगितावाद का पक्षधर बनकर विज्ञान का हिमायती बन रहा है, उसके विचारों की आँधी से भारत के साहित्यकारों को भारत को बचाना चाहिए। भारतीय समाज और साहित्य दोनों खतरे में हैं।

शिक्षा संस्थान और हिन्दी

मैं अनुभव कर रहा हूँ कि विश्वविद्यालयों में दर्शन की एम० ए० कक्षाएँ खाली पड़ी रहती हैं! संस्कृत एम० ए० की कक्षाओं में कोई प्रवेश नही लेता। एम० ए० (हिन्दी) की कक्षाओं में कुछ लड़कियाँ ही दिखायी पड़ती हैं।

पत्र–पत्रिकाओं में कविता को कोई पढ़ता नहीं। कवि जी अपनी कविता–पुस्तकें केवल 'कवि' नाम से विख्यात होने के लिए छपवा लेते हैं। ऊँचा साहित्य कोई पढ़ता नहीं। समाज के लोग थोड़ा–बहुत पढ़ते हैं, तो केवल कहानियों के संकलन या उपन्यास। वे भी चलते और अश्लील। साहित्यिक उपन्यासों के एक हजार प्रतियों के संस्करणों के बिकने में दस वर्ष लग जाते हैं। गुलशन नन्दा के उपन्यासों का प्रथम संस्करण ५ लाख प्रतियों का छपता था और जल्दी बिक भी जाता था। बेचारे अमृतलाल नागर अपने उपन्यासों की बिक्री के लिए तरसते रहते थे। इस समस्या का समाधान भारतीय साहित्यकार को सोचना होगा।

बँगला और मराठी की तुलना में हिन्दी-प्रकाशन की दशा शोचनीय है। उत्तम हिन्दी-साहित्य के प्रकाशन तथा विक्रय की कोई समुचित व्यवस्था नहीं है।

बँगला भाषा का स्थापित लेखक अपनी पुस्तक पर एक वर्ष में एक लाख रुपये के लगभग रायल्टी प्राप्त कर लेता है। हिन्दी के सुविख्यात लेखकों में से शायद ही किसी का ऐसा सौभाग्य होगा।

राजभाषा हिन्दी के ग्रंथ–प्रकाशन की ओर सरकार का विशेष ध्यान होना चाहिए। उसका यह नैतिक एवं राष्ट्रीय दायित्व भी है।

यह सन् १९९३ है। देश को स्वतन्त्र हुए ४६ वर्ष हो गये। इन वर्षों में मैंने क्या किया? क्या अपने अन्दर के 'कु' और 'सु' का हमने पता लगाया? 'धर्म' व्यक्ति का भी होता है और राष्ट्र का भी। अब व्यक्ति धर्म राष्ट्रधर्म पर अपने को बलिदान कर देता है, तभी किसी राष्ट्र की धरती गाती है और आकाश नाभि के अट्टहास करता है। तभी उस राष्ट्र में स्वतन्त्रता की ज्योति दसों दिशाओं में जगमगाती है।

क्या हमें गत ४६ वर्षों में ध्यान आया कि हमें जो स्वतन्त्रता की थाली मिली है, वह उन लोगों की है, जिन्होंने अंग्रेजों के कोड़े खाये थे, जेलों में नारकीय जीवन जिया था और जो भारतमाता की जय बोलकर हँसते–हँसते फाँसी के तख़्ते पर झूले थे। वे चिलचिलाती धूप में तपती धरती पर इसलिए चले थे कि उनके देश–बन्धु आगे शीतल भूमि पर चलेंगे और स्वतन्त्रता की साँस लेंगे। उन्हें पूरी आशा और विश्वास था कि हमारे 'योग' को हमारे भावी देश-बन्धु 'क्षेम' बनाकर उसकी रक्षा करेंगे। लेकिन हमने क्या किया और क्या कर रहे हैं ?

हमारे देश की राजनीति और नेता

हाय रे हमारे देश की वर्तमान राजनीति !

हमारे देश की राजनीति एक भ्रष्ट पेशा बन गयी है। राजनीति के धंधेखोर अधिसंख्यक नेता सत्ताधिकार पाकर देश का रक्त पी रहे हैं। सत्ताधिकार के नशे में नेताओं की आँखें और चेहरे लाल दिखायी पड़ते हैं; लेकिन इनके दिल काले और दिमाग़ पीले हैं। इनके शरीरों को ज़रा गौर से देखोगे, तो ये सतरंगे नहीं, बहुरंगे दिखायी पड़ेंगे। इन्होंने देश को खोखला करके अपनी तिजौरियाँ भरी हैं। देश का पैसा पानी की तरह बहाया है।

पहले 'नेता' संज्ञा की प्राप्ति के लिए वर्षों देश की सेवा-तपस्या में रत रहना पड़ता था। आज 'नेता' बनने के लिए केवल दो चीजें चाहिए—(१) खादी का एक लम्बा कुर्ता (२) खादी का एक पायजामा। इन्हें पहनिए और नेता बनिए।

स्वतन्त्र भारत की जनता में राष्ट्रीय भावना का ह्रास क्यों ?

ब्रिटिश शासन काल में सन् १९१९ ई० में जलियाँवाला काण्ड हुआ, जिसमें निरीह-निर्दोष पुरुष, स्त्री और बालक भून दिये गये थे। शहीद भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को दिनांक २३-३-१९३१ ई० को फाँसी दे दी गयी थी, जबकि दिनांक २४-३-१९३१ ई० को फाँसी दिये जाने का हुक्म था। फाँसी के समय भगतसिंह की अवस्था २४ वर्ष की थी। तीनों युवकों की लाशें अँधेरी रात में मिट्टी का तेल डालकर जला दी गयीं।

भारत १९४७ ई० में स्वतंत्र हुआ। सन् १९६६ ई० तक स्वतन्त्र भारत की सरकार को 'जलियाँवाला बाग' का स्मारक बनवाना याद नहीं आया। हमारी भारत सरकार ने बीस वर्ष बाद स्मारक बनवाया। आजादी के २३ साल बाद हुसैनीवाला (फिरोजपुर, पंजाब) के निकट भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव की समाधि बनवाने की याद आयी स्वतन्त्र भारत की सरकार को।

स्वतन्त्रता-युद्ध के सेनानी राष्ट्रीय वीरों के जीवन से सम्बद्ध साहित्य बहुत कम लिखा गया। केवल रामनाथ 'सुमन' ने इलाहाबाद में साधनासदन प्रकाशन स्थापित करके राष्ट्रीय नेताओं के संस्मरण प्रकाशित कराये थे। हिन्दी में ऐसे प्रकाशनों की धारा प्रवहमान नहीं रही।

हमारे फिल्मनिर्माता राष्ट्रीय भावना की फिल्में बहुत कम बनाते हैं। अधिकतर स्मगलरों, डाकुओं तथा समाजविरोधी–चरित्रहीन व्यक्तियों से सम्बद्ध फिल्में बनाते हैं। अश्लील फिल्मों पर हमारी सरकार प्रतिबन्ध नहीं लगाती। दूर–दर्शन पर चित्रहार में खुला मांसल बेहूदा शृंगार हमारे देश के बालकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। हमारे समाज का पूँजीवादीवर्ग विदेशी माल को बढ़िया बताकर उसीका उपयोग करता है। देशीमाल को घटिया बताकर उसकी निन्दा की जाती है। भारतीय प्रादेशिक भाषाओं की तुलना में अंग्रेजी को महत्त्व दिया जाता है। इन्हीं कारणों से हमारी राष्ट्रीय भावना का ह्रास हो रहा है।

वर्तमान राष्ट्र की दशा विचित्र बन गयी है—

"न है खौफ़ ऐ ख़ुदा ! हमें तेरे आस्माँ से,
ऐ जमीं ! हम तेरे आदमी से डरते हैं।"

पत्रकारों से

मेरे प्यारे संपादको और पत्रकारो !

अपने आदि पुरखा कृष्णद्वैपायन वेदव्यास को प्रणाम करो और सत्य–न्याय का व्रत लेकर अपने कर्तव्य कर्म पर डट जाओ। स्मरण करो उन आराध्यचरण श्री वेदव्यास जी को, जिन्होंने अपने शिष्य पैल, वैशंपायन, जैमिनि और सुमन्त को साथ लेकर हमारी वैदिक संहिताओं के संपादन का कितना महान् कार्य किया था। उन्हीं महर्षि वेदव्यास ने अपने शिष्य सूत रोमहर्षण, सुमति, अग्निवर्चा, अकृतव्रण आदि को अठारह पुराणों की रचना के लिए प्रेरित किया। विश्व में पाँचवे वेद के नाम से विख्यात 'महाभारत' उन्हीं व्यास जी की वाणी से ही तो उद्भूत हुआ था। 'भागवत महापुराण' के मूलप्रणेता भी तो वे ही थे।

प्रणाम कीजिए साप्ताहिक 'केसरी' के सम्पादक लोकमान्य श्री गंगाधर–तिलक को, जिन्होंने न्याय और सत्य के पालन में जेल की यातनाओं का हँसते-हँसते आलिंगन किया था। हमारे वर्तमान पत्रकारों को जनता को न्याय दिलाने के लिए दृढ़ता से सत्य के मार्ग पर चलना है। सच्ची पत्रकारिता काँटों का मार्ग है, फूलों की शय्या नहीं, योग है, भोग नहीं। श्रद्धा से याद कीजिए, हिन्दी के प्रथम पत्र 'उदन्तमार्तण्ड' के सम्पादक महोदय को, जिन्होंने सन् १८२६ ई० में हिन्दी की सेवा करते हुए देश को जगाया था। 'उदन्तमार्तण्ड' साप्ताहिक पत्र था। हिन्दी का प्रथम दैनिक पत्र सन् १८५० ई० में 'सुधावर्षण' के नाम से प्रकाशित हुआ। दोनों हिन्दी

पत्रों के संपादक कलकत्ता में रहकर हिन्दी-सेवा करते थे ।

प्रणाम कीजिए, उस गान्धीवादी संपादकप्रवर गणेशशंकर विद्यार्थी को, जिसने स्वातंत्र्यप्रेमी क्रान्तिकारी देशभक्तों को प्रश्रय दिया था । सन् १९३१ ई० से पहले स्वातंत्र्य–आन्दोलन को देश के कोने–कोने में विद्यार्थी जी के 'प्रताप' पत्र ने ही पहुँचाया था । तब हमारे देश का बच्चा–बच्चा गाता था—

"छीन सकती है नहीं सरकार वन्दे मातरम् ।"

X X X

"नहीं रखनी सरकार ज़ालिम नहीं रखनी ।"

X X X

"सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है ।
देखना है ज़ोर कितना बाज़ु–ए–क़ातिल में है ।"

देश के स्वातंत्र्य–यज्ञ में **प्रताप** की बहुत बड़ी आहुति थी ।

मेरी आकांक्षा

मेरे देश–बन्धुओ ! प्रश्न उठाना सहज है । प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा करना भी सहज है; लेकिन प्रश्न का सही उत्तर देना बहुत कठिन है । प्रायः प्रश्नों के उत्तर '**यदि**' के साथ दिये जाते हैं, इसलिए उनका कथ्य शाश्वत सत्य के साथ हमारे समक्ष नहीं आता ।

आज जो प्रश्न हमारे राष्ट्र की धरती से उठ रहे हैं, उनके उत्तर देने में मत जूझो । मेरे बन्धुओ ! प्रश्नों के उत्तर देना व्यर्थ कालातिपात है । तुम समाज की शृंखला में कड़ी के रूप में जहाँ हो, वहीं रहते हुए सच्चे मन से कार्य करो और करते रहो । यदि तुम अपने कार्य में सच्चे हो, देश का भला अवश्य होगा और शनैः शनैः निरन्तर भला होता रहेगा ।

मेरे नवयुवक हिन्दीसेवी उदीयमान साहित्यकारो ! मैं डाली पर खिलकर झड़नेवाला फूल हूँ, तुम विकसित होनेवाली कलियाँ हो । मैं अन्त हूँ, तुम 'आदि' हो । 'अन्त' ह्रास की पराकाष्ठा है, 'आदि' विकास की आशावती किरण है । मैं दिन पर दिन गिरूँगा, तुम दिन पर दिन उठोगे । मुरझाकर मैं एक दिन मौन हो जाऊँगा, तुम खिल–खिलाकर आवाज दोगे । इसी आशा से मैं अपनी आकांक्षाओं की थाती तुम्हें अर्पित करता हूँ । अब हिन्दी भाषा में योग–क्षेम को मैं तुम्हारे कर्मठ करों में सौंपता हूँ ।

प्राचीन भारतीय संस्कृत–साहित्य के हिन्दमहासागर के विस्तार और गहराई को नापा नहीं जा सकता । प्रकृति और परम शक्तिमान् सत्ता की परमामयी महिमा तो हमारी चारों वैदिक संहिताओं में ऐसे निहित है, जैसे अरणि (अरणी) में अग्नि । यज्ञकाण्ड (कर्मकाण्ड) की ऊर्ध्वगामिनी अर्चियों को ब्राह्मण ग्रन्थों में देखा जा सकता

है। उपासनाकाण्ड के लिए हमारे वैदिक ऋषियों ने आरण्यक ग्रंथों की रचना की थी। हमारे उपनिषद् ग्रंथ कथाओं एवं प्रश्नोत्तर संवादों के द्वारा ज्ञानकाण्ड की व्याख्या करते हैं। सामाजिक व्यवस्था तथा नीति के लिए हमारे आचार्यों ने कई स्मृतियों का प्रणयन किया था। पुराणों में सृष्टिवित्तान और इतिहास का विस्तृत वैभव मिलता है। महाशक्ति कौन है और उसकी पूजा–विधि क्या है—इसका साथी हमारा तंत्र–साहित्य है। यदि कोई अधीती पाठक इतिहास और काव्य का समन्वित रूप देखना चाहता है, तो वाल्मीकि रामायण और महाभारत का अध्ययन कर सकता है।

मेरे व्यक्ति ने ही जीवन में संघर्ष नहीं किया, मेरे साहित्यसेवी ने भी संघर्ष किया है।

मैं इस समय अवस्था के चतुर्थ चरण में चल रहा हूँ। मेरा व्यक्ति तो अब संघर्ष की परिधि से बाहर आ गया है; लेकिन मेरा साहित्यसेवी अभी भी संघर्ष करता रहता है। मैं समझता हूँ कि यह संघर्ष तब तक चलता रहेगा, जब तक मेरी लेखनी चलती रहेगी।

साहित्यकार के अन्तर्जगत् का यह संघर्ष विचार–भाव और उसकी अभि–व्यक्ति का संघर्ष है। विचार की महिमा तथा गरिमा के समक्ष शब्द की लघिमा एवं अणिमा सदा नगण्य रही है। शब्द विचार को ऊपर उठाने का पूरा प्रयास करने पर भी असमर्थ रहता है। फिर भी साहित्यकार प्रयास करता रहता है। प्रयास का यह संघर्ष ही उसकी साधना है। तपस्या है।

ज्ञान का सागर असीम है, अथाह है। साहित्यकार उससे कितनी बूँदें अपने जीवन में उठा सकता है।

ज्ञान के इस महासागर की एक बूँद भी मैं नहीं उठा सका हूँ। ममतामयी दादी माँ से कुछ संस्कार मिले थे और पूज्य गुरुवर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल से कुछ प्रेरणा प्राप्त हुई थी, उसी के ही फलस्वरूप मैंने वाल्मीकिरामायण, महा–भारत और श्रीमद् भागवत महापुराण के कुछ पन्ने पलटे थे। शब्दों के गर्भ में अर्थ की ज्योति के दर्शन किस प्रकार किये जाते हैं, इसकी सुगंध मुझे गुरुवर डा० अग्रवाल जी के सान्निध्य से प्रसादरूप में मिली थी। दादी माँ से बाल्यकाल में रामायण और महाभारत की कथाएँ सुनी थीं, उन कथाओं के अंकुर ही मेरी युवावस्था में वृक्षों का रूप ग्रहण कर गये थे। इन्हीं सब कारणों का बल–संबल पाकर मैं हिन्दी की पटिया पर कुछ साहित्यिक–भाषिक किलकिलकाँटियाँ करता रहा हूँ। जब तक जीवन है, करता रहूँगा। कुछ किलकिलकाटियाँ मेरे पाठकों को पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित मेरे ४०० लेखों में देखने को मिल सकती हैं।

संसार में जो आता है, वह अवश्य जाता है। मैं भी आया हूँ, अत: मैं भी जाऊँगा यहाँ किसका अनन्त जीवन ?" अवस्था की ७७ वीं रेखा पार

कर रहा हूँ; पका आम हूँ; कभी भी डाली से गिर सकता हूँ । काल देवता का बुलावा कब आजाएगा, कह नहीं सकता ? वैसे यजुर्वेद (अ० ४०/२) का यह मंत्र जपता रहता हूँ—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा: ।"

अत: राष्ट्र के साहित्यकारों तथा राष्ट्रभाषा–सेवियों से मेरा यह नम्र निवेदन है कि वे अपनी लेखनी को देखें, राष्ट्र को देखें और राष्ट्र भाषा को देखें ।

मेरे श्रद्धेय साहित्यसेवियो ! राष्ट्र को बचाइए, राष्ट्रभाषा को उठाइए । यही मेरी अन्तिम कामना है, यही मेरी प्रार्थना है ।

□□

o परिशिष्ट-१

व्यक्तिनाम-अनुक्रमणी



० परिशिष्ट–२

लेखक का संक्षिप्त परिचय

☐ **नाम**—राशि का नाम नौरंगीलाल; पितामह का दिया हुआ पूरा नाम अम्बाप्रसाद; हाई स्कूल परीक्षा (१९३६ ई०) में अम्बाप्रसाद 'सुमन'।

☐ **जन्म–तिथि**—२१ मार्च, सन् १९१६ ई०।

☐ **माता–पिता**—(श्रीमती) श्यामा देवी, पं० श्यामसुन्दरलाल गौड़ वैद्य (दिवंगत)

☐ **परिवार**—सहोदर भाई दो छोटे (१) ओम्प्रकाश गौड़ (२) महावीरलाल गौड़। पत्नी (श्रीमती) बसंतीदेवी शर्मा, विवाहित तीन पुत्रियाँ—डा० (श्रीमती) शारदा शर्मा, डा० (श्रीमती) वीणा शर्मा, डा० (श्रीमती) मधु शर्मा।

☐ **जन्म–स्थान**—ग्राम–शेखूपुर, तहसील–कोल, जिला–अलीगढ़; (उ०प्र०)

☐ **विद्या प्राप्ति की स्थलियाँ**--प्राइमरी स्कूल, बुढ़ाँसी (अलीगढ़); मिडिल स्कूल, जलाली (अलीगढ़); सांगवेद महाविद्यालय, नरवर, (बुलन्दशहर); धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)।

☐ **उत्तीर्ण उच्च परीक्षाएँ**—हिन्दी प्रभाकर, साहित्यरत्न, एम०ए० (हिन्दी), पी-एच० डी० (हिन्दी), डी० लिट्०, (हिन्दी भाषा–शास्त्र)।

☐ **मानद उपाधियाँ**--साहित्याचार्य, विद्यावारिधि, साहित्यवाचस्पति (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

☐ **अध्यापन के शिक्षा–संस्थान**—विद्याभवन सासनी (अलीगढ़); माहेश्वरी कालेज, अलीगढ़; एन० आर० ई० सी० कालेज, खुर्जा (बुलन्दशहर); अलीगढ़ मु० विश्वविद्यालय, अलीगढ़; दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का हिन्दी स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग, मद्रास (अध्यक्ष के रूप में)

☐ **साहित्य–संस्थाओं की सदस्यता**—ब्रजसाहित्य मंडल, मथुरा; अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य परिषद् इलाहाबाद; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा; लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, पूना (महाराष्ट्र)।

☐ **प्रकाशित साहित्य**—पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित लगभग **चार सौ** लेख; **तीस** पुस्तकें। उन पुस्तकों में से **नौ** पुस्तकें उत्तर प्रदेश राज्य, बिहार राज्य, डालमिया पुरस्कार समिति, दिल्ली तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना (बिहार) द्वारा पुरस्कृत तथा सम्मानित।

☐ **हिन्दी कविता–पुरस्कार**—सन् १९३७ ई० में अलीगढ़ कृषि–औद्योगिक प्रदर्शनी, अलीगढ़ के कवि–सम्मेलन में प्रथम पुरस्कार (स्वर्णपदक)।

☐ **विश्वविद्यालय जिनमें भाषण दिये**—आगरा विश्वविद्यालय, आगरा; वैंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति; पूना विश्वविद्यालय, पूना; बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई; कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र; मेरठ विश्व–विद्यालय, मेरठ; शान्ति निकेतन विश्वभारती, जोधपुर विश्व–विद्यालय, जोधपुर और महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

☐ **अन्य लेखकों की पुस्तकों में भूमिकाएँ**—लगभग पन्द्रह।

☐ **निर्देशन-शोध**—लगभग ५० शोधार्थियों को शोध-निर्देशन (प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष)।

☐ दक्षिण भारत प्रचार सभा, मद्रास में अध्यक्ष, हिन्दी–विभाग के रूप में अध्यापन और भाषणों द्वारा हिन्दी का अलख जगाया।

☐ **अन्य लेखकों की पुस्तकों में संशोधन**—हिन्दी प्रयोग (छठा संस्करण) लेखक (स्व०) रामचन्द्र वर्मा (वाराणसी), हिन्दी व्याकरण और रचना, लेखक व्यथित हृदय, जुगलपद-बन्दन, आत्मजा, रचयिता कृष्णा माँ (मथुरा)। मानस की भाषा का व्याकरण, ले० गया प्रसाद शर्मा।

☐ **प्रविष्टियाँ**—हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, संपादक डा० नगेन्द्र; हिन्दी काव्य शास्त्र शब्दकोश, संपादक डा० नगेन्द्र; हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पादक डा० नगेन्द्र। लगभग ३० विभिन्न अभिनन्दन ग्रंथों में।

☐ **विदेशी विद्वान् मित्र**—सर्वश्री डा० पी० ए० वारान्निकोव (रूस), डा० नार्मनाज़ाइड (अमेरिका)।

☐ **भाषा विशेषज्ञ के रूप में भारत सरकार की सेवा**—हिन्दी-सेवा लगभग पन्द्रह वर्ष तक (सन् १९६० ई० से १९७५ ई० तक), केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय भारत सरकार, दिल्ली तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, दिल्ली में हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली निर्माण का कार्य।

☐ **जीवन की विशिष्ट अभिरुचि**—अध्यापन तथा लेखन द्वारा हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य की सेवा।

☐ **वर्तमान पता**—डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन', ए–८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड, सहारनपुर–२४७००१ (उ०प्र०)।

☐

० परिशिष्ट–३

लेखक के भाषा एवं भाषाशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ

(१) कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा–शब्दावली, प्रथम खण्ड, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, सन् १९६० ई० [उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत]

(२) कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा–शब्दावली, द्वितीय खंड, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, सन् १९६१ ई० [उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत]

(३) हिन्दी भाषा (अतीत और वर्तमान), विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड, आगरा, सन् १९६५ ई०।

(४) हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (उ०प्र०), सन् १९६६ ई० [उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत]

(५) मानस शब्दार्थतत्त्व, विज्ञान भारती, नई दिल्ली–११०००३, सन् १९७१ ई०।

(६) रामचरितमानस : वाग्वैभव, विज्ञान भारती, १४६७, वजीरनगर, नई दिल्ली–११०००३, सन् १९७३ ई० [उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा एवं डालमिया पुरस्कार समिति, दिल्ली द्वारा पुरस्कृत]

(७) रामचरितमानस भाषा–रहस्य, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना (बिहार) सन् १९७४ ई० [उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा एवं बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (बिहार) द्वारा अखिल भारतीय ग्रन्थ पुरस्कार से पुरस्कृत]

(८) संस्कृति, साहित्य और भाषा, वासन्ती प्रकाशन, ए–८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड, सहारनपुर (उ०प्र०), सन् १९७९ ई० [उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कृत]

(९) भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग, सस्ता साहित्य भंडार, अशोक विहार, दिल्ली, सन् १९८२ ई०।

(१०) आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और हिन्दी भाषा–व्याकरण, कुसुम प्रकाशन

नवेन्दु–सदन, आदर्श कालोनी, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०), सन् १९८३ ई० ।

(११) भाषा चिन्तन, कुसुम प्रकाशन, नवेन्दु सदन, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०), सन् १९८६ ई० ।

(१२) भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति, वासन्ती प्रकाशन, ए–८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड, सहारनपुर (उ०प्र०), सन् १९८९ ई० [उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा नामित पुरस्कार से पुरस्कृत]

(१३) शब्दब्रह्म की ज्योति (शब्दार्थ मीमांसा), प्रकाशक उपर्युक्त, सन् १९९० ई० ।

(१४) मैं और मेरा भाषा–चिन्तन, प्रकाशक उपर्युक्त सन् १९९४ ई० ।

(१५) तुलसीकृत कवितावली–पदकोश, (प्रकाश्य)



० परिशिष्ट–४

लेखक के अन्य प्रकाशित ग्रंथ

(१) वाङ्मयी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, १९४९ ई०

(२) अछूत और हम, भारत प्रकाशन मन्दिर अलीगढ़, १९५० ई०

(३) आदर्श विभूतियाँ, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, १९५० ई०

(४) हिन्दी साहित्य दिग्दर्शन, भाग १, २, और ३ भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, सन् १९५२, १९५३, १९५४ ई०

(५) तुलसी–काव्यचिन्तन, ग्रंथायन, सासनी गेट, आगरा रोड, अलीगढ़, सन् १९८२ ई० ।

(६) गीता : एक नव्यचिन्तन, वासन्ती प्रकाशन, ए–८७, विवेकनगर, सहारनपुर, सन् १९८२ ई० [उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा पुरस्कृत]

(७) औदात्य के चितेरे महाकवि तुलसी, वासन्ती प्रकाशन, ए–८७, विवेकनगर, सहारनपुर, सन् १९९३ ई० [बिहार सरकार के राजभाषा विभाग, पटना द्वारा सम्मानित तथा पुरस्कृत]

(८) अन्तर्धारा (कविता–संग्रह), वासन्ती प्रकाशन ए–८७, विवेकनगर, सहारनपुर, १९८३ ई०

(९) आचार्य शुक्ल और उनके उत्तराधिकारी, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, सन् १९८५ ई०

(१०) मेरे मानस के श्रद्धेय चित्र, वासन्ती प्रकाशन, ए–८७, विवेकनगर, सहारनपुर, १९८८ ई०

(११) ब्रजी कबि बन्दन (ब्रजभाषा की कविताएँ), वासन्ती प्रकाशन, ए–८७, विवेकनगर, सहारनपुर, १९८९ ई०

(१२) महाभारत के नारी पात्र, वासन्ती प्रकाशन, ए–८७, विवेकनगर, सहारनपुर, १९९२ ई०

दूरभाष–२५०३२

(श्रीमती) बसन्ती देवी शर्मा
व्यवस्थापिका
वासन्ती प्रकाशन
ए–८७, विवेकनगर, दिल्ली रोड,
सहारनपुर–२४७००१ (उ० प्र०)

□□